

GYAN PRAKASHAN
21, DARYA GANJ
DELHI-6

भारतीय दर्शन-परम्परा
और
आदिग्रन्थ

डा. हरवंशलाल शर्मा

भारतीय

दर्शन-परम्परा

और

आदिग्रन्थ

16

GYAN PRAKASHAN
21, DARYA GANJ
DELHI-6

भारतीय दर्शन-परम्परा
और
आदिग्रन्थ

भारतीय दर्शन-परम्परा के समूचे सन्दर्भ को
सम्मुख रखकर आदिग्रन्थ के दार्शनिक
चिन्तन सम्बन्धी प्रथम मौलिक शोध-कृति

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

डा. हरवंशनाथ शर्मा

5056

भारतीय दर्शन-परम्परा
और
आदिग्रन्थ

© १९७८, डॉ० हरवन्शल शर्मा

मूल्य मंतीम रूपय पन्नाम पैस
प्रथम संस्करण १९७७
साधारण गावर्धन वर्मा
प्रकाशक नेशनल पब्लिशिंग हाउस
 २३, दरियागज, दिल्ली-६
मुद्रक रघुनाथ प्रिंटिंग प्रेस,
 राजासही, छांगरा

BIHARIYA DARSHAN PARAMPARA AUR AADIGRANTH

by Dr. Harvansh Lal Sharma

Rs. 37.50

समर्पण

परम वैष्णवी ममतामयी

स्वर्गीया

माँ

के चरण-कमलों में

श्रद्धाबन्त भाव से

प्राक्थन

प्रस्तुत अध्ययन मे भारतीय दर्शन-परम्परा के सदस्य में आदिग्रन्थ की दार्शनिक मान्यताओं के प्रस्तुतीकरण का प्रयास किया गया है। आदिग्रन्थ की विचारधारा मुख्यतः मिश्र गुरुओं के भक्ति परक उद्गारों मे प्रवाहमान है। इसमे हिन्दू और मुसलमान की साम्प्रदायिक भेद-भावना से ऊपर उठ कर अन्य मतों की रचनाये भी सगृहीत है। परन्तु कलेवर और अन्तःप्रवाहित मूल चेतना की दृष्टि से समूचे ग्रन्थ के विचार-सागर को मिश्र गुरुओं के विश्वासों का प्रतिपादन ही माना जायेगा। जर्मन विद्वान टूप महोदय से लेकर आज तक कई विद्वानों ने इस महान रचना का अध्ययन किया है और विभिन्न कोणों से इसे देखा परखा है। लेकिन किसी ने भी इस रचना के दार्शनिक पक्ष को भारतीय दर्शन-परम्परा के प्रसंग मे आलोच्य नहीं बनाया। अतः इस दृष्टि से अब तक आदिग्रन्थ की विचारधारा के प्रस्तुतीकरण का कार्य-क्षेत्र अनवगाहित ही रहा है। यह कार्य कितना परिश्रम-साध्य था, इसका साक्ष्य स्वयं यह अध्ययन है। आदिग्रन्थ भक्ति-काव्य है। इसमें मिश्र गुरुओं के वे सभी भावोद्गार हैं, जिन्हें उन्होंने समय-समय पर व्यक्त किया है। 'गुरबानी' भक्त-हृदय की 'बानी' है। परन्तु ऐसे भक्त की 'बानी' नहीं जो पहले से ही किसी सम्प्रदाय विशेष मे दीक्षित हो और जिसकी बानी के दार्शनिक स्वरूप पर विचार करने के लिए हमारे सम्मुख पूर्व-निर्धारित मानदण्ड पहले से ही मौजूद हो। विस्तार भय से यहाँ पूर्ववर्ती अध्ययनों की चर्चा नहीं की जा सकती। सुधी पाठक स्वयमेव इस सम्बन्ध मे जान जायेंगे कि यह अध्ययन आदिग्रन्थ के दार्शनिक विश्वासों की जानकारी को किस सीमा तक अग्रसर करता है।

भारतीय चिन्तन-परम्परा निरन्तर दो स्वतन्त्र विचारधाराओं मे प्रवाहमान रही है। एक विचारधारा आदर्शवादी है और दूसरी भौतिकवादी (लोकायतिक) विचारधारा है। इसे भौतिकवादी केवल सीमित अर्थ में ही कहा जा सकता है क्योंकि इसका स्वरूप भौतिकवादी मान्यताओं का प्रारूप है और केवल उसी सीमा तक आदर्शवाद का विरोध करती है, जिसके अन्तर्गत जीव-चैतन्य, जगत-रचना और निर्विशेष एव निरपेक्ष शाश्वत-स्वतन्त्र चेतन शक्ति (ब्रह्म) का प्रश्न है। लेकिन आदर्शवादी दृष्टि के प्रभाव-बाहुल्य के कारण यथार्थवादी या भौतिकवादी विचारधारा कमजोर हो गयी और बाद मे चार्वाक-चिन्तन के नाम से अभिहित कर इसे

ऐहिक सुख-भोग से सम्बद्ध कर ज्ञान्यागद ग्निहि मे ला विठाया गया । आदर्श-वादी मान्यताओं का निमोण जिन परिस्थितियों मे हुआ वे अधुण बनी रही, अतः लोकायत-विचारधारा को पुन प्रभावशाली बनने का अवसर ही नही मिला । आदर्शवाद का एकाधिपत्य स्थापित हो गया एव मध्ययुग की समूची चिन्तन-धारा का वही प्रेरणा-स्त्रोत बना रहा । शंकराचार्य के अनुयायी माधवाचार्य ने चार्वाको की घोर निन्दा की है तथा उन्हें भोगवादी बतलाया है । कई आचार्यों ने तो चार्वाको को प्रतिवादी का स्थान देने की आवश्यकता ही अनुभव नही की । इससे सिद्ध होता है कि लोकायत विचारधारा की ओर में चिन्तकों का ध्यान ही हट गया और समूचा चिन्तन-जगत आदर्शवादी प्रभाव के अन्तर्गत आ गया । बाद मे अत्यन्त गौरव-पूर्ण शब्दों मे यह घोषित किया गया कि भारतीय दर्शन मात्र आत्म-चिन्तन है तथा आत्मा और परमात्मा स्वतन्त्र चेतना सत्ता है ।

आधुनिक युग मे भारतीय दर्शन पर विचार करते समय भी तदन्तर्गत भौतिक-वादी मान्यताओं के प्रति उदासीनता ही दिग्गतायी गयी है । लेकिन प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत आदिग्रन्थ की दार्शनिक विचारधारा के प्रसंग मे भारतीय दर्शन-परम्परा का उल्लेख करते हुए इस बात का समुचित ध्यान रक्खा गया है कि भौतिकवादी दृष्टि को भी उचित स्थान दिया जाय । इसमें सन्देह नही कि भारतीय चिन्तन आदर्श प्रधान रहा है, लेकिन इस तथ्य से आलस्य मूढ़ लेना कि भारतीय चिन्तन का एक क्षेत्र भौतिकवादी मान्यताओं का भी प्रतिनिधित्व करता है, उचित नही है । जवाहरलाल नेहरू ने 'भारत का खोज' नामक अपनी पुस्तक मे इस ओर स्पष्ट संकेत किया है कि इस देश मे भौतिकवादी दृष्टिकोण के प्रतिनिधि ग्रन्थों की कमी नही थी, लेकिन उन्हें विरोधी विचारकों ने या तो नष्ट करवा दिया या वे स्वयं ही आदर्शवादी प्रभाव के कारण काग-कबलित हो गये । अब पुन विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है और प्राचीन साहित्य के अन्तर्गत उपलब्ध भौतिकवादी विचारों के सूत्रों को एकत्रित कर लोकायत-विचारधारा के नाम से उसका निर्माण किया जा रहा है । हमारे मत मे भारतीय दर्शन-परम्परा के इस महत्वपूर्ण दृष्टिकोण का उपेक्षा न तो उचित ही है और न ही बुद्धिमत्तापूर्ण । आदि-ग्रन्थ शुद्ध आदर्शवादी (परमात्मवादी) रचना है और उसमें आत्म और परमात्म के स्वतन्त्र चेतन अस्तित्व को स्वीकार किया गया है । आवागमन और कर्म-सिद्धान्त गुरुनानक तथा अन्य सिक्ख गुरुओं की पूर्णतया स्वीकृत मान्यताये है । अतः केवल आदर्शवादी दृष्टि से भी भारतीय दर्शन-परम्परा का उल्लेख किया जा सकता था । परन्तु क्या इस एकांगी दृष्टिकोण को अपनाकर हम भारतीयों की चिन्तन-विधि के एक महत्वपूर्ण विचार-रत्न की अवहेलना के अपराध के भागीदार नही कह-लायेंगे ? सत्य तो यह है कि आदर्शवादी रचनाओं मे वर्णित मान्यताओं के पठन-पाठन मे भौतिकवादी विचारधारा के विश्वासों का उल्लेख वास्तविक स्थिति को पर्याप्त स्पष्टता प्रदान करना है ।

आदिग्रन्थ की दार्शनिक मान्यताओं के सम्बन्ध में अपने मत का प्रतिपादन करते समय किसी भी पूर्वग्रह से काम नहीं लिया गया। बल्कि बार-बार के अध्ययन से ऐसा लगा कि विद्वान विचारक आदिग्रन्थ की दार्शनिक मान्यताओं को निर्णयात्मक रूप में प्रस्तुत करते समय इतरतनः भटकते रहे हैं। गुरुनानक के पाँचसौवें प्रकाशोत्सव के उपलक्ष्य में जिनगी रचनायें प्रकाश में आयी हैं, उनमें भी आदिग्रन्थ की दार्शनिक मान्यताओं के तर्क-संगत अवगाहन का अभाव है और प्राप्त निष्कर्ष विद्वन्ना-पूर्ण अध्ययन के साक्षी नहीं हैं। आदिग्रन्थ के विविध पक्षों का अध्ययन करते हुए शोधकर्ता भी उसके दार्शनिक विचारों के प्रस्तुतीकरण में पर्याप्त सीमा तक असफल रहे हैं। मर्यादी दृष्टि से ही उन्होंने परम्परागत मान्यताओं को अपने निष्कर्षों का आधार बना लिया है। आदिग्रन्थ की चिन्तन-धारा की सही पकड़ के लिए जिस अध्ययन की आवश्यकता है, वह भी सुधी आलोचकों में दिखाई नहीं देता। आदिग्रन्थ को पञ्जाबी भाषा के साहित्य के अन्तर्गत मानकर, उसका अध्ययन करने वाले अनुसन्धानकर्ता भारतीय दर्शन-परम्परा के गहरे अध्ययन की ओर से उदासीन दिखाई देते हैं। जिन विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास की ज्ञान मार्गी निर्गुण धारा के अन्तर्गत आदिग्रन्थ के दार्शनिक विश्वासा की चर्चा की है, वे यह भूल गये हैं कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा दूसरे इतिहासकार स्वयं 'गुरुवाणी' का अध्ययन किये बिना ही अपने अभिमतों की चर्चा करते रहे हैं। आदिग्रन्थ का दार्शनिक पक्ष आशिर रूप में ही कबीर आदि निर्गुण सन्तों की विचारधारा का अनुसरण है। हिन्दी-साहित्य का ज्ञानकार आदिग्रन्थ की भाषा का पठित न होने के कारण प्रायः दूसरों के अध्ययन को ही साध्य मान लेता रहा है। वह या तो निर्गुण धारा के अध्ययन के फलस्वरूप प्राप्त निष्कर्षों को ही आदिग्रन्थ की विचारधारा पर आरोपित करता रहा है अथवा दूसरों की दृष्टि का मुखापेक्षी रहा है। यहाँ तक कि डा० पीताम्बरदत्त बडवाल जैसे सुधी विद्वान भी इस दोष में नहीं बच पाये। डा० जयराम मिश्र का शोध प्रबन्ध 'आदिग्रन्थ-दर्शन' दार्शनिक चिन्तन की दृष्टि में पर्याप्त हल्का है। इसे आधार बनाकर सिक्ख गुरुओं की दार्शनिक मान्यताओं को सही रूप में नहीं समझा जा सकता।

यहाँ इस तथ्य की ओर संकेत करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि निर्गुण सन्तों द्वारा किये गये ब्रह्म, जीव, जगत् और माया सम्बन्धी उल्लेखों को समूची विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में परीक्षण करने के मार्ग का अवलम्बन न कर सकने के कारण जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उनका भी पुनः परीक्षण आवश्यक प्रतीत होता है। कबीर के सम्बन्ध में आज तक पी० एच० डी० और डी० लिट् की उपाधियों के लिये जितना कार्य हुआ है, उसमें इस तथ्य पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है कि वे अमुक-अमुक माधना-पद्धतियों तथा दार्शनिक मान्यताओं से प्रभावित हैं। अतः निर्गुण आन्दोलन की पृष्ठभूमि एवं कबीर के समाज-दर्शन के अध्ययन की उपेक्षा के कारण ही उक्त भ्रान्त धारणायें बना ली गयी हैं। कबीर का दार्शनिक चिन्तन उनके समाज-

दर्शन पर आधारित है। इसलिये कबीर और कबीर के माध्यम में समूची निर्गुणधारा के सन्तों की दार्शनिक मान्यताओं का पुनःपरीक्षण करने की अब भी आवश्यकता है। गुरुनानक को निर्गुण आन्दोलन की महान विभूति माना जाता है। इस आन्दोलन को प्राणवान बनाने की दृष्टि से कबीर के उपरान्त उनका दूसरा स्थान है। लेकिन गुरुनानक को कबीर का अनुयायी अथवा ज्ञानमार्गी निर्गुण-शाखा की विचारधारा का अक्षरशः अनुवादक नहीं माना जा सकता। गुरुनानक के परवर्ती सिक्ख गुरु उनसे भिन्न एवं स्वतन्त्र विचारधारा के संस्थापक नहीं हैं। बल्कि आदिग्रन्थ में वर्णित 'बानी' को गुरुनानक की ही बानी माना गया है। सिक्खमत में प्रचलित मान्यता के अनुसार अन्य गुरु, गुरुनानक की ज्योति के ही भिन्न-भिन्न शरीर हैं। महला की संख्या को हटा देने पर सम्पूर्ण 'बानी' गुरुनानक की ही 'बानी' बन जाती है।

आदिग्रन्थ में उल्लिखित बाहगुरु (ब्रह्म), जीव, माया और जगत के स्वरूप के आधार पर ही प्रस्तुत अध्ययन में उसकी दार्शनिक मान्यताओं का विवेचन किया गया है। आदिग्रन्थ में वर्णित बाहगुरु-स्वरूप आचार्य शंकर के निविशेष ब्रह्म के स्वरूप से पर्याप्त भिन्न है। उसका कुदरति-सिद्धान्त भी स्वतन्त्र ढंग का है। सिक्ख गुरु जगत को मिथ्या नहीं बतलाते। तदनुसार 'ब्रह्म की कुदरत' और 'माया' दो भिन्न अवधारणायें हैं। इसी तरह 'जगत' और 'ससार' की अवधारणाओं में भी पर्याप्त अन्तर है। जीव के स्वरूप के बारे में भी आदिग्रन्थ में स्वतन्त्र दृष्टिकोण का परिचय दिया गया है। आज तक विद्वानों ने विद्वत्समाज के सम्मुख आदिग्रन्थ के दार्शनिक पक्ष के इस वैशिष्ट्य को प्रस्तुत ही नहीं किया। इस ओर ध्यान न जाने के कारण ही शोधकर्ताओं ने यह कठिनाई अनुभव की है कि वे आदिग्रन्थ की विचारधारा के सम्बन्ध में किस निष्कर्ष का उल्लेख करें। सिक्ख गुरु जगत को 'बाहगुरु' (ब्रह्म) की रचना मानते हैं, जबकि ससार को उन्होंने 'सुपना' और मिथ्या माना है। माया को उन्होंने जीव को भ्रमों में भटकाने वाली बाहगुरु की रचना बतलाया है। इसके साथ ही जगत को भी 'बाहगुरु की कुदरति' की रचना माना है। यही स्थिति उनकी जीव-सम्बन्धी मान्यताओं की भी है। भारतीय दर्शन-परम्परा में जीव, जगत और प्रकृति के सम्बन्ध में अलग-अलग दृष्टियों में विचार किया गया है। भारतीय दर्शन-प्रणालियों को आदर्शवादी और भौतिकवादी दर्शन-प्रणालियों के अन्तर्गत विभक्त करना ही उचित है। हमने आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन-प्रणालियों वाला विभाजन इसलिये स्वीकार नहीं किया, क्योंकि जैन एवं बौद्ध विचारधारा के अनुसार 'परमात्मा' को तो स्वीकार नहीं किया गया, लेकिन जन्मान्तरवाद आदि अवधारणाओं के प्रति उनकी अस्था को देखते हुए उन्हें भौतिकवादी दर्शन-प्रणाली न कहकर आदर्शवादी दर्शन-प्रणाली कहना ही अधिक सगत है। वे आस्तिक दर्शन-प्रणालियाँ भी नहीं कही जा सकती। इसका कारण यह है कि वे ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखती। आदर्शवादी दर्शन-प्रणालियों में भी पर्याप्त मत-भेद पाया जाता है।

आदिग्रन्थ की विचारधारा आदर्शवादी दर्शन-प्रणाली के अन्तर्गत है, लेकिन उसमें प्रवाहित चिन्तन-धारा का स्वतन्त्र स्वरूप है एवं निजी वैशिष्ट्य भी है।

आदिग्रन्थ जैसे विशालकाय ग्रन्थ का बारम्बार अध्ययन करने के उपरान्त ही उसकी चिन्तन पद्धति से भलीभाँति अवगत हुआ जा सकता है। साथ ही उक्त रचना की विचारधारा की सागोपांग जानकारी के हेतु आवश्यक है कि भारतीय दर्शन की समूची परम्परा को सम्मुख रखा जाये। जो विचारक किसी पूर्वग्रह या साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रेरित है, वे ही ऐसा मानते हैं कि आदिग्रन्थ की विचारधारा भारतीय चिन्तन-परम्परा से बिल्कुल भिन्न एवं स्वतन्त्र चिन्तन की उपलब्धि है। लेकिन तनिक ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरुनानक तथा अन्य सिक्ख गुरु जो भी बात कहते हैं, उसका मूलधार भारतीय चिन्तन-प्रणालियाँ ही होती है। सिक्खमत के नाम से अलग सम्प्रदाय की कल्पना करने के उपरान्त ही इस प्रकार के दावे किये जाने लगे हैं कि गुरु-विचारधारा हिन्दू धर्म की विचारधारा के अन्तर्गत नहीं आती। लेकिन इस प्रकार का पूर्वग्रह भी अब समाप्त हो रहा है और आदिग्रन्थ की विचारधारा के वैशिष्ट्य को भारतीय दर्शन-परम्परा के सदर्भ में ही परीक्षित करने के यत्न किये जाने लगे हैं। अन्तर केवल यह है कि अन्य निर्गुण सन्तो की भाँति सिक्ख गुरुओं ने भी हिन्दुओं और मुसलमानों को समान भाव से सम्बोधित किया है और दोनों के मिथ्या धार्मिक विश्वासों एवं सामाजिक मान्यताओं को चर्चा का विषय बनाया है। लेकिन यह तथ्य विशेषकर ध्यातव्य है कि इस्लाम को गलत राह की ओर ले जाने वाले मुत्लाओं और काजियों को वास्तविकता से अवगत करवाते हुए एवं मुसलमानों को असली मुसलमान की परिभाषा की ओर प्रेरित करते हुए भी सिक्ख गुरुओं की प्रधान दृष्टि उसी धर्म पर रही है, जिसके वे अग थे। अतः उनकी विचारधारा की चर्चा करते समय केवल सूफियों की प्रेम-साधना के प्रभाव को ही स्वीकार किया जा सकता है। अन्यथा वे सुधारवादी हिन्दू धार्मिक एवं सामाजिक नेता ही हैं और उन्होंने दार्शनिक चिन्तन के घरातल पर हिन्दू धर्म को ही अपने ढंग से पुनराख्यात किया है।

आदिग्रन्थ में अवतारवादी दृष्टिकोण का विरोध है। अवतारी विभूतियों को उसमें महापुरुषों की कोटि में रखा गया है। वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी पौराणिक मान्यताओं को भी आदिग्रन्थ में हेय दृष्टि से देखा गया है और जाति-भेद का पूरी तरह खण्डन किया गया है। कर्मकाण्ड के माया-जाल को मिथ्यादम्बर बतला कर गुरु-साधना, नाम-सिमरन और सत्कर्मों पर ही गुरुओं ने अधिक बल दिया है। इस प्रकार की सभी धारणाएँ सिक्ख गुरुओं के समाज-दर्शन से प्रेरित एवं उसी पर आधारित हैं। प्रस्तुत अध्ययन में आदिग्रन्थ के समाज-दर्शन के सम्बन्ध में विचार नहीं किया गया है। 'भारतीय दर्शन-परम्परा और आदिग्रन्थ' शीर्षक से स्पष्ट है कि यह अध्ययन भारतीय आदर्शवादी दर्शन-प्रणालियों के सन्दर्भ में आदिग्रन्थ की दार्शनिक विचारधारा के प्रस्तुतीकरण का प्रयास है। हम किसी दूसरी रचना में

आदिग्रन्थ के समाज-दर्शन को आधार बनाकर उसके माधना-पक्ष पर विचार करेंगे । आदिग्रन्थ का अध्ययन लेखक को वर्षों से प्रेरित करता रहा है ताकि हिन्दी साहित्य की निर्गुणधारा के इस महान आकर ग्रन्थ के दार्शनिक पक्ष पर विचार किया जाये । इस क्षेत्र में प्रवेश करते ही उक्त प्रेरणा को और अधिक बल मिला क्योंकि एक ओर मूल रचना का बारम्बार परायण करने एवं साथ ही इस रचना पर लिखे गये ग्रन्थों का अध्ययन करने से ऐसा लगा कि अभी तक विद्वानों के सम्मुख आदिग्रन्थ की दार्शनिक विचारधारा समस्या ही बनी हुई है । वे यह निश्चय ही नहीं कर सके कि इस रचना के दार्शनिक चिन्तन के सम्बन्ध में किन्हीं अन्तिम निष्कर्षों पर पहुँचा जाये । इसी न्यूनता के एहसास ने लेखक को पीछे की ओर जाने को बाध्य किया । लेखक का यह विश्वास है कि द्रुप महोदय की भाँति यह मत प्रस्तुत कर देना कि आदिग्रन्थ में विचारों की मौलिकता का अभाव है, बिल्कुल असंगत है तथा अपने अज्ञान का ही उल्लेख करना है । लेकिन जो लोग आदिग्रन्थ के दार्शनिक चिन्तन को भारतीय चिन्तन-परम्परा से बिल्कुल विलग मानते हैं, लेखक उसे साम्प्रदायिक पूर्व ग्रह से अधिक मानने को किसी भी स्थिति में तैयार नहीं है । दोनों ही स्थितियाँ आदिग्रन्थ के दार्शनिक विश्वासों के अपेक्षित गौरव के मार्ग में बाधा प्रस्तुत करती हैं । इस दुविधा-ग्रस्त स्थिति से निपटने के लिए ही आदिग्रन्थ का अध्ययन किया गया है और उस में व्यक्त दार्शनिक विश्वासों को भारतीय दर्शन-परम्परा के सन्दर्भ में देखा-परखा गया है । इस प्रयत्न में जो सूत्र पकड़ में आये उन्हीं को मूलाधार बनाकर निष्कर्ष प्राप्त किये गये हैं । अनुसन्धान में सफलता की यह पहली शर्त है आरम्भ में ही हर प्रकार के पूर्वग्रह का परित्याग कर दिया जाये । तदनन्तर तटस्थ दृष्टि बनाकर किसी रचना का अध्ययन किया जाये । अतः लेखक का ध्येय आदिग्रन्थ की विचारधारा को किसी बने बनावे चौखटे में मर्याजित करना नहीं रहा । न ही किसी मत-सम्प्रदाय की महत्ता दर्शाने के हेतु यह अध्ययन किया गया है । इसके पीछे कोई विशिष्ट राजनैतिक कारण भी नहीं है, जिसे प्रेरणाधार बनाकर मैकालिफ महोदय की भाँति रचना-कार्य में प्रवृत्त हुआ गया हो । लेखक की दृष्टि पूर्णरूपेण अनुसन्धान की दृष्टि है और तथ्यों एवं प्रमाणों के आधार पर ही अपने मन्तव्यों को प्रस्तुत किया गया है । वर्षों से इस कार्य को सुसम्पन्न बनाने की मेरी इच्छा थी । आज यह कार्य पूरा होने जा रहा है । मुझे इस बात का हर्ष है कि मैं ने पूरी ईमानदारी के साथ अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है । इसके लिए मुझे भारतीय दर्शन-परम्परा के प्रायः हर पक्ष को देखना, समझना और परखना पड़ा है । मैं इसे एकांगी अध्ययन नहीं रहने देना चाहता था । जो कुछ मैं कह पाया हूँ वह आप के सम्मुख प्रस्तुत है ।

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा मे ब्रह्म

अध्याय	पृष्ठ
१. दर्शन-प्रणालियों का वर्गीकरण और आदिग्रन्थ	३-१०
२. पूर्व-वेदान्तिक चिन्तन-परम्परा और ब्रह्म	११-२०
३. बौद्ध दर्शन मे तत्त्व विचार	२१-२८
४. भौतिकवादी दर्शन-परम्परा में परम तत्त्व	२९-५४
५. शांकर अद्वैतवेदान्त मे ब्रह्म	५५-६६
६. शैव एवं शाक्त दर्शनों में परमसत्ता का स्वरूप	६७-८१
७. अवतारवादी वैष्णव दर्शनों मे ब्रह्म	८२-१०८
८. आदिग्रन्थ में स्वीकृत ब्रह्म (वाहगुरु) का स्वरूप	१०९-१४१
९. आदिग्रन्थ मे वर्णित ब्रह्म (वाहगुरु) के स्वरूप का वैशिष्ट्य	१४२-१५२

द्वितीय खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा मे जीव

अध्याय	पृष्ठ
१. जीव-स्वरूप सम्बन्धी आरम्भिक धारणाएँ	१५५-१५८
२. वेदोपनिषद् मे जीव-स्वरूप सम्बन्धी विचार	१५९-१७०
३. पूर्व-वेदान्तिक चिन्तन-परम्परा और जीव	१७१-१८०
४. भौतिकवादी दर्शन के अनुसार जीव-स्वरूप	१८१-१८६
५. अद्वैत वेदान्त एवं शैव-शाक्त दर्शनों में स्वीकृत जीव-स्वरूप	१८७-२०५
६. अवतारवादी वैष्णव दर्शनों में जीव	२०६-२१८
७. आदिग्रन्थ में वर्णित जीव का स्वरूप	२१९-२५१
८. आदिग्रन्थ में वर्णित जीव-स्वरूप का वैशिष्ट्य	२५२-२५९

तृतीय खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा में माया

अध्याय	पृष्ठ
१. माया-सिद्धान्त की अवधारणा के आधार	२६३-२६८
२. वेदोपनिषद् एवं गीता में माया-विचार	२६९-२७४
३. अद्वैतवेदान्त, काश्मीर शैव एवं तन्त्र दर्शनों में स्वीकृत माया का स्वरूप	२७५-२८३
४. अवतारवादी वैष्णव दर्शनों में माया	२८४-२८९
५. आदिग्रन्थ में वर्णित माया का स्वरूप	२९०-२९८
६. माया-बाह्यगुरु की रचना	२९९-३०५
६. आदिग्रन्थ में वर्णित माया के स्वरूप का वैशिष्ट्य	३०७-३१२

चतुर्थ खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा और जगत

अध्याय	पृष्ठ
१. उपनिषत्पूर्व जगत रचना-सम्बन्धी विचार	३१५-३२०
२. जगत-रचना सम्बन्धी आदर्शवादी परम्परा	३२१-३२८
३. जगत-रचना सम्बन्धी भौतिकवादी परम्परा	३२९-३३६
४. पूर्व-वेदान्तिक चिन्तन-परम्परा और जगत	३४०-३४२
५. शांकर अद्वैतवेदान्त का जगत-सिद्धान्त	३४३-३४४
६. शैव-शाक्त दर्शनों का जगत-सिद्धान्त	३४५-३४८
७. अवतारवादी वैष्णव दर्शनों का जगत-सिद्धान्त	३४९-३५१
८. आदिग्रन्थ में स्वीकृत जगत का स्वरूप जगत-संसार	३५२-३७१
९. आदिग्रन्थ में वर्णित जगत-सिद्धान्त का वैशिष्ट्य	३७२-३७६
सहायक ग्रन्थ-सूची	i-vi
अनुक्रमणिका	vii-xii

सहायक-ग्रन्थ संकेत-सूची

ऋ० वे०	ऋग्वेद
श्वे० उप०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
बृ० उप०	बृहदारण्यकोपनिषद्
छा० उप०	छान्दोग्योपनिषद्
ईश० उप०	ईशोपनिषद्
म० या० वि०	महायान विंशतिका
स० द० स०	सर्वदर्शन सग्रह
म० वि० सू० टी०	मध्यान्तविभागसूत्र-टीका
क० उप०	कठोपनिषद्
न्या० सि० मु०	न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली
तैत्ति० उप०	तैत्तिरीयोपनिषद्
केन० उप०	केनोपनिषद्
वे० सू० शां० भा०	वेदान्तसूत्र-शांकर भाष्य
शिवदृष्टि वि०	शिवदृष्टिदृष्टि
श० प० ब्रा०	शतपथब्राह्मण
ब्र० सू० भा० रा०	रामानुजाचार्य ब्रह्मसूत्र-भाष्य
शु० मा०	शुद्धाद्वैत मार्तण्ड
मध्व, ब्र० सू० भा०	मध्वाचार्य ब्रह्मसूत्रभाष्य
ई० प्र०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
ई० प्र० वि०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी
आ० श्र०	आदिग्रन्थ
त० आ०	तन्त्रालोक

प्रथम खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा में ब्रह्म

भारतीय मनीषियों एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय दर्शन को प्रायः 'आत्मा का विज्ञान' कह कर उसे या तो आदर्शवादी दृष्टिकोण के रूप में प्रस्तुत किया है अथवा उसे पहले से ही आदर्शवाद से समीकृत कर तदनुसार उसकी व्याख्या प्रस्तुत करने की प्रणाली को अपनाया है।^१ लेकिन तनिक गम्भीरता से विचार करें तो उक्त धारणा में अन्तर्विरोध की सम्भावना दिखाई देने लगती है। यह अन्तर्विरोध तब और अधिक स्पष्ट हो जाता है, जब हम यह देखते हैं कि भारतीय दर्शन-परम्परा में एक ऐसी दर्शन-प्रणाली भी रही है, जो भौतिकवादी विचारधारा से प्रेरित है और जिसकी व्याख्या हम यथार्थवादी दृष्टिकोण के आधार पर ही कर सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भारतीय दर्शन में प्राधान्य आदर्शवादी विचारको का ही है, और लोकायत विचारधारा पर्याप्त सघर्ष के बावजूद भी अपने लिए वह स्थान प्राप्त नहीं कर सकी, जैसा कि उसे मिलना चाहिए था। लेकिन आदर्शवादी स्वर की मात्र प्रधानता के कारण ही यह मान लेना कि भारतीय दर्शन 'आत्मा का विज्ञान' है, उचित एवं सगत निष्कर्ष स्वीकार नहीं किया जा सकता। भारतीय दर्शन को आत्मा का विज्ञान कहते समय यदि यह मान लिया जाये कि आत्म-सिद्धान्त में वे विचार भी सम्मिलित हैं, जिनके अनुसार आत्मा को शरीर से भिन्न, स्वतन्त्र चेतन सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता, तब भी 'आत्मा के विज्ञान' वाली मान्यता किसी सीमा तक ठीक मानी जा सकती थी, लेकिन यह स्पष्ट है कि भारतीय-दर्शन को आत्मा का विज्ञान मानने वालों का आशय यह कदापि नहीं है।

उपर्युक्त प्रस्तावना बान्धने का आशय केवल इतना ही है कि भारतीय दर्शन-परम्परा में आरम्भ से ही आदर्शवाद और भौतिकवाद में निरन्तर सघर्ष होता चला आया है। यह बात दूसरी है कि भौतिकवादी विचारधारा समय-समय पर प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण भारतीय चिन्तन-प्रणाली की प्रभुता एवं अभिन्न अंग नहीं

^१ नारायणरावः इंट्रोडक्शन टु वेदान्त, डा० राधा कृष्णनः भारतीय दर्शन।

बन सकी है। वस्तुतः दर्शन अपने आप में सम्पूर्ण नहीं हुआ करता, और न ही कभी ऐसा हो पाना सम्भव ही है। दर्शन का प्रेरक आधार हमेशा युग विशेष का समग्र परिवेश हुआ करता है। जिस युग का सामाजिक ढाँचा जैसा होता है, उसी के अनुरूप परिवर्तनों के प्रतिबिम्बों के आकार में मानव-मस्तिष्क दार्शनिक अवधारणाओं के निर्माण में प्रवृत्त होता आरम्भ कर देता है। इस देश में अनुकूल परिस्थितियों के वातावरण में, मानव-जीवन को बिना किसी पूर्व-निर्धारित दार्शनिक चिन्तन की प्रणाली के ही, भौतिकतावादी जीवन-पद्धति ने प्रभावित, प्रेरित एवं तदनुसृत व्यवहार करने रहने का अवसर भी दिया है। लेकिन परिस्थितियों के बदल जाने के उपरान्त वैचारिक स्तर पर परिवर्तन होना स्वाभाविक है, इसलिए परिस्थितियाँ ही ऐसे रूप में परिवर्तित हुई हैं, जिन में आदर्शवादी चिन्तन-प्रणाली के लिए अवकाश निकल आया और बाद में आवश्यकता के बने रहने पर भी आदर्शवाद के विरोधियों के प्रयत्न सफल नहीं हो सके हैं।

दर्शन की चर्चा का प्रधान विषय जगत और उस के साथ हमारे सम्बन्धों की समीक्षित अवधारणा प्रस्तुत करना होता है। इसलिए उसमें मनुष्य की मूल उत्पत्ति एवं उसे (मनुष्य को) प्रभावित करने वाली परिस्थितियों, तत्त्वों और समस्याओं पर किये जाने वाले चिन्तन को ही उसके प्रधान प्रतिपाद्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। साधारण धर्मों में हमें इस प्रकार भी कह सकते हैं कि दर्शन में मनुष्य और उसको चारों ओर से प्रभावित करने वाले जगत के सम्बन्ध में ही प्रधान रूप से विचार किया जाता है। लेकिन मानव की मूल उत्पत्ति और जगत के प्रमग में उसकी समस्याओं आदि पर विचार करते समय प्रकृति (ब्रह्माण्ड) आदि स्वयमेव दार्शनिक विचारणा के विषय बन जाते हैं। इस तरह ज्ञान, विचार, जीवन, कला और धर्म भी उस के अन्तर्गत मान लेने पड़ते हैं। दार्शनिक लोग इस सम्बन्ध में भी विचार करते हैं कि ब्रह्माण्ड की रचना ईश्वर (परम चैतन्य सत्ता) करता है अथवा जगत का अस्तित्व अनादि है। पदार्थ और मस्तिष्क (चेतना) के सम्बन्धों के बारे में विचार करना भी दर्शन का ही विषय माना जाता है। दर्शन में इस सम्बन्ध में भी विचार किया जाता है कि क्या पहले अस्तित्व की स्थिति होती है अथवा विचार (Idea) की। इस तरह पदार्थ और आत्मा की प्राथमिकता का प्रश्न भी दर्शन के ही अन्तर्गत है। दर्शन में इस तथ्य पर भी विचार किया जाता है कि वास्तविक के मज्ञान को प्राप्त कर मकान में विचार कहाँ तक सक्षम या अक्षम है। जगत के स्वतन्त्र अस्तित्व या मानव-विचारों में उसकी सत्ता के बारे में भी दार्शनिक अपनी-अपनी अवधारणाएँ बनाते रहते हैं। दर्शन की विचार-परिधि यहाँ तक व्यापक है कि वह इस तथ्य का भी पता लगाने कि क्या विचार वस्तुगत यथार्थ को सही-सही प्रतिबिम्बित कर भी सकता है या कि नहीं।

दार्शनिकों ने उपर्युक्त विषयों को सम्मुख रख कर विचार करते हुए जो-जो निष्कर्ष प्राप्त किये हैं, उनके कारण ही भिन्न-भिन्न दर्शन-प्रणालियों का निर्माण हुआ

है। अतः दर्शन-परम्परा को हम चिन्तन एवं अस्तित्व की जानकारी के प्रयास का इतिहास भी मान सकते हैं। भारतीय दर्शन-परम्परा के इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि ऐतिहासिक काल में ही अधिकांश चिन्तन-प्रणालियों का निर्माण किया गया है। फिर भी इस तथ्य में पर्याप्त बल है कि उपलब्ध साहित्य के अनुसार ऋग्वेद में ही दार्शनिक चिन्तन का मूलपात हो गया था। तदनन्तर उपनिषदों के रचना-काल में दर्शन के क्षेत्र में अत्यन्त भव्य और तीव्र गति आ गयी थी। इसी बीच वैदिक आर्यों की सामाजिक व्यवस्था में पर्याप्त परिवर्तन हो गए और पुरोहितों को अपनी शक्ति का प्रसार करने के लिए अनुकूल अवसर मिलने लगा। इसका फल यह हुआ कि पुरोहितों ने वर्ग-हित से प्रेरित होकर याज्ञिक कर्मकाण्ड का इतना अधिक प्रसार कर दिया कि मनु को भी उन्हें देवत्व से विभूषित करना ही पड़ा। वे इस मान्यता का प्रचार करने के लिए बाधित हो गये कि ब्राह्मणों की शिक्षाओं के सम्मुख नतमस्तक होना प्रत्येक वर्ण का कर्तव्य है।^१

ब्राह्मणों (पुरोहितों) द्वारा उक्त स्थिति प्राप्त कर लेने के कारण उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में नये स्वर प्रबल विरोध का रूप धारण करने लगे। इस विरोधी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वेदों की सत्ता को ही अमान्य ठहराने के प्रयत्न किये जाने का आन्दोलन चलाया गया। विरोधी विचारकों के पास यही एक साधक शस्त्र था, जिसका प्रयोग कर वे ब्राह्मण-शक्ति के मूल आधार को ही डीवा-डोल बना सकते थे। इसलिए इतिहास की (ईसा पूर्व) सातवीं शताब्दी से लेकर ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के मध्यवर्ती युगों में ऐसी कई दार्शनिक प्रणालियाँ प्राप्त होने लगती हैं, जिनमें उपनिषदों में मान्य ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की वेदान्ती अवधारणाओं का जोरदार शब्दों में खण्डन किया गया है। इस सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि वैदिक विचारधारा के विरोध में जो नयी दार्शनिक प्रणालियाँ मैदान में आईं, उनमें प्रधान रूप में वेदों का ही विरोध किया गया है। विशेषकर वैदिक विचारधारा के उस पक्ष पर प्रहार किये गये हैं, जिसके अनुसार आत्मा को पदार्थ में भिन्न स्वतन्त्र सत्ता के रूप में मान्यता प्रदान की गयी थी। इस प्रकार नयी चिन्तन-प्रणालियों में वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषदिक वेदान्ती दोनों के चिन्तन का खुल कर विरोध किया गया है। ये प्रणालियाँ मुख्यतः सांख्य, लोकायत, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन और बौद्ध धर्म हैं। वास्तव में उपनिषदों को पराविद्या मान कर, उनमें अपराविद्या (वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्ड) के विरोध की जो बात कही जाती है, वैदिक विचारधारा का विरोधी स्वर वही नहीं है। क्योंकि वादरायण ब्रह्म-विद्या के प्रबल समर्थक होते हुए भी वेद-विरोधी विचारकों

^१ उत्तमाङ्गोद भवाज्येष्ठयाद ब्रह्मश्चैव धारणात् ।
सर्वरयैवात्म्यं सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः । मनु स्मृ० १-६३,
ब्राह्मणः सम्भवेनैव देवानामपि देवतम् ।
प्रमाणं चैव लोकेभ्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥ वही० ११-८४,

की कोटि में नहीं गिने जाते। इसलिए भारत की मुख्य-मुख्य दार्शनिक प्रणालियों को किसी दूसरे ही ढंग से विभाजित एवं वर्गीकृत करने की आवश्यकता है।

वैदिक कर्मकाण्ड एवं वेदोपनिषद की आदर्शवादी एवं यथार्थवादी विचारधारा बिल्कुल भिन्न है। इस दृष्टि से भारत की समूची दार्शनिक परम्परा को सामान्यतः आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन के इन दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पतंजलि के अनुसार नास्तिक दर्शन से आशय ऐसी विचारधारा से है, जिसकी दृष्टि में परलोक की सत्ता को स्वीकारना एवं तदनुकूल आचरण करना भ्रम अथवा मिथ्या ज्ञान है। इसके विपरीत आस्तिक दर्शन परलोक के अस्तित्व को स्वीकारते हैं तथा इस लोक में तदनुकूल आचरण करने में विश्वास रखते हैं। लेकिन कालान्तर में आस्तिक और नास्तिक की परिभाषा में भी पर्याप्त अन्तर दिखाई देने लगता है। इस नये दृष्टिकोण के अनुसार आस्तिक उसे माना जाने लगा, जिसका वेदों की सत्ता में पूर्ण विश्वास था। परन्तु जो विचारक वेदों की सत्ता को नकारते थे, उन्हें नास्तिक की सजा दी गयी। जिन्होंने इस नये वर्गीकरण को माना है, उनके अनुसार न्याय, सांख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा और वैशेषिक की चिन्तन-प्रणालियाँ आस्तिक दर्शनों के अन्तर्गत आती हैं एवं जिनमें वेदों का विरोध किया गया है वे दार्शनिक प्रणालियाँ नास्तिक मान ली गई हैं। इनमें लोकायत, माध्यामिक सौत्रान्तिक और वैभाषिक बौद्ध एवं जैन दार्शनिक शामिल हैं। आरम्भिक न्याय, वैशेषिक और सांख्य (अपने आरम्भिक या मूल रूप में) ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। वे यह भी नहीं मानते कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का मूल कारण ब्रह्म (परम चेतना) ही है। अतः उनका यह स्वर भौतिकवादी स्वर है।

ईश्वर की सत्ता को न मानने वाले एवं ब्रह्माण्ड को ईश्वर की रचना अस्वीकार करने वाले जिन दर्शनों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके मत में ब्रह्माण्ड की रचना का मूल कारण परमाणु अथवा प्रकृति (मन्वरजतमोगुणरूपा प्रधान) है। ये दर्शन मूल रूप में ईश्वर की सत्ता को भी अस्वीकारते हैं और परमसत्ता (ब्रह्म) को ब्रह्माण्ड का रचयिता भी नहीं मानते, लेकिन साथ ही वे वेदों का विरोध करने वाले दर्शन भी नहीं हैं। इसलिए इन्हें नास्तिक दर्शन न मान कर आस्तिक दर्शनों का दर्जा ही दिया गया है। लोकायत दर्शन न तो वेदों को ही मानता है और न ही ब्रह्माण्ड की रचना का मूल कारण ब्रह्म (परम स्वतन्त्र चैतन्य) को स्वीकार करता है, इसीलिए उसे नास्तिक दर्शन कहना ही ठीक है। अन्यथा वह भी उसी कोटि का भौतिक दर्शन है, जिस कोटि में सांख्य, न्याय और वैशेषिक की गणना की जाती है। न्याय, वैशेषिक और सांख्य में ईश्वर की सत्ता को तो किसी न किसी रूप में मान लिया गया है, लेकिन वेदों और उपनिषदों की भाँति वे ब्रह्माण्ड का मूल कारण प्रधान को ही स्वीकार करते हैं—पुरुष या ईश्वर को नहीं। इसके साथ ही वे यह दावा भी करते हैं, कि उनकी विचारधारा का मूल स्वर उपनिषदों की तत्त्वमन्वी विचारधारा का विरोधी नहीं है। जीव का साध्य वे भी शाश्वत आनन्द की प्राप्ति एवं उसकी बन्धन से मुक्ति

ही स्वीकार करते हैं। सम्भवतः इन दर्शनों में मध्यम मार्ग को इसलिए अपना गया है ताकि वे लोगों की दृष्टि में समाज विरोधी न माने जाएँ। अन्यथा उनमें वेदों की स्वीकृति मात्र कथन से अधिक महत्त्व नहीं रखती।

भारतीय दर्शन-परम्परा के कतिपय अधिकारी विद्वानों का यह भी विचार है कि सांख्य, वंशेषिक, न्याय, योग, मीमांसा और वेदान्त रुढ़िवादी दर्शन-प्रणालियाँ हैं, जबकि वे लोकायत, बौद्ध धर्म और जैन धर्म को विधर्मी दर्शन-प्रणालियों के अन्तर्गत मानते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि स्वयं बौद्धों के अनुसार वे (बौद्ध) अपने आपको रुढ़िवादी बतलाते हैं तथा वेदान्त दर्शन की प्रणाली को विधर्मी प्रणाली के अन्तर्गत रखने का मुद्दा देते हैं। यह समस्या विचित्र सी है, जिसने भारतीय दर्शन-परम्परा के वर्गीकरण को दोलायमान स्थिति में डाल दिया है। इसलिए बेहतर यही है कि भारतीय दर्शन की परम्परा का वर्गीकरण भौतिकवादी और अध्यात्मवादी, इन दो प्रणालियों के रूप में ही किया जाय। इस प्रकार से किये गये वर्गीकरण में मात्र इतनी कमी रह जाती है कि कुछ ऐसी दर्शन-प्रणालियाँ तब भी शेष बच जाती हैं, जिनमें उक्त दोनों प्रणालियों की समान एवं असमान दोनों विशेषताएँ मौजूद हैं। क्योंकि कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं, जो प्राथमिक सत्ता पदार्थ की न मान कर आत्मा की मानते हैं। उनका मत है कि संसार एक है एवं उसकी रचना सृष्टि-कर्ता का कौशल है। ऐसे विचारकों को अध्यात्मवादी दार्शनिकों की कोटि में रखा जा सकता है। दूसरी कोटि के विचारकों में उनकी गणना की जाती है, जो आत्मा की प्राथमिक सत्ता तो नहीं मानते, लेकिन प्रकृति के अनादित्व का दावा अवश्य करते हैं। ऐसे विचारकों को भौतिकवादी विचारक मान लेने में विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। भारतीय दर्शन की परम्परा का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत रचना में इसी प्रणाली को आधार बनाया गया है।

सिक्ख गुरुओं का जीवन-काल पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक से शुरू होता है। तब तक अवतारवादी वैष्णव दर्शनों का निर्माण हो रहा था। 'बौद्ध सहजिया' और 'वैष्णव सहजिया' भी अपने साम्प्रदायिक विश्वासों के प्रचार में रत थे, लेकिन इन मतों (आम्नायों) के अनुयाइयों में ऐसी साधनाएँ प्रचलन प्राप्त कर चुकी थी, जिनके कारण सामाजिक अनेकिकता में अधिक वृद्धि हो रही थी। भागवतपुराण का भी अत्यधिक प्रचार था क्योंकि गुरुओं ने अपनी बानी में रामधारियों (रासलीला रचाने वालों) को संकेतित कर, उनके धार्मिक अन्धविश्वासों का खण्डन किया है। ऐसा लगता है कि मत्स्येन्द्रनाथ की कौल साधना का विरोध कर गोरखनाथ ने, जिस योग-साधना का प्रचार किया था, वह भी तब तक पतनोन्मुखी हो चुकी थी। गुरुओं ने विभिन्न सम्प्रदायों के योगियों से सत्संग किया होगा और वे उनकी इन कमजोरियों से भी भली-भाँति परिचित रहे होंगे। उन्होंने जहाँ पंडित (पाण्डे) के नाम से कर्मकाण्डी पुरोहितों को, उनके मिथ्याडम्बर से परिचित करवाया है; और जहाँ वे मुल्ला और काजी को उनके धार्मिक अन्धविश्वासों का खण्डन कर उपदेश देते हैं, वहीं पर वे औषड़

आदि योगियों को भी वास्तविक योग से परिचित करवाने रहते हैं। गुरुओं के साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी दृष्टि अपने युग के समूचे धार्मिक समाज पर पड़ी है और उन्होंने उनमें प्रचलित सभी प्रकार के बाह्याङ्गम्वरों की व्यर्थताओं में धर्म के तथाकथित नेताओं को परिचित भी करवाया है।

सिक्ख गुरु निगुण भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख प्रचारकों में गिने जाते हैं, बल्कि कबीर के बाद यदि किसी ने निगुण-भक्ति के आन्दोलन को सशक्त आधार दिया है तो वे सिक्ख गुरु ही हैं। जिस प्रकार लोकायतो द्वारा किमी समय ब्राह्मणवाद का विरोध किया गया था, उसी प्रकार का विरोध अपने-अपने समय में निगुण सन्तों ने किया है। अन्तर केवल इतना है कि लोकायतो (आरम्भिक) के विरोध का माध्यम उनकी भौतिकवादी विचारधारा थी। आरम्भ में ही उन्होंने ऐहिक जीवन को ही अपने सामने रखा था, क्योंकि उस समय तक शारीरिक एवं बौद्धिक धर्म के अन्तर्भाव की स्थिति सामने आने का प्रश्न ही नहीं था। भौतिकवादी दृष्टि में सामाजिक स्थितियों का अध्ययन करने वालों ने उस समय के भौतिकवाद को इसी कारण आरम्भिक भौतिकवाद की ही संज्ञा दी है। दार्शनिक प्रणाली के रूप में लोकायत विचारधारा उस युग की उपलब्धि है, जब वैदिक और औपनिषदिक काल में सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप आदर्शवादी विचारधारा के लिए भूमिका का निर्माण हो गया, और पुरोहित वर्ग, वर्ग-हित की भावना से प्रेरित होकर आत्मा और ब्रह्म की मान्यताओं के प्रचार में अग्रसर हुआ और अन्त में उसने आदर्शवादी विचारधारा की स्थापना में सफलता भी प्राप्त कर ली।

निगुण की भक्ति के आन्दोलन-काल की परिस्थितियाँ उक्त परिस्थितियों से बिल्कुल भिन्न थी। उस युग की सामाजिक व्यवस्था और शासन-मत्ता के नन्दर्भ में ऐसी विचारधारा को ही जन्म मिल सकता था, जिसमें ईश्वरवाद को ही सहारा बताया जाता, लेकिन युगव्यापी पाखण्ड एवं वर्ण-व्यवस्था की शक्तिशाली प्राचीर का भेदन करना ही एक प्रकार की अनिवार्य आवश्यकता बन चुकी थी।

गुरुओं के समय, समाज के तौर पर धर्म के दो रूप प्रचलित थे। व्यापक अर्थों में पहले को हिन्दू धर्म कहा जा सकता है और दूसरे को इस्लाम—जिस धर्म की तुलना में 'मजहब' कहना ही अधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है। लेकिन जहाँ तक सामन्तवादी व्यवस्था का प्रश्न है, हिन्दुओं और मुसलमानों की सामाजिक दृष्टियाँ एक जैसी ही थी। सामन्तवादी युग में धर्म का जैसा स्वरूप हो सकता है, तनिक अन्तर के साथ दोनों की धार्मिक मान्यताएँ प्रायः एक जैसी ही थी। हिन्दुओं में यदि अवतारवाद की अवधारणा का प्राबल्य था, तो मुसलमानों में वही रूप पैगम्बरवाद में प्राप्त किया हुआ था। दोनों ही परलोक को मानते थे। एक का पुनर्जन्म का सिद्धान्त यद्यपि दूसरे की जन्नत (स्वर्ग) की कल्पना से भिन्न था, फिर भी मुसलमानों में भी यह विश्वास प्रचलित था, कि प्रलय के बाद सारी रूहें (जीव) अपनी-अपनी कबर से उठ खड़ी होंगी और पैगम्बर की सिफारिश पर अल्लाह (खुदा) उन्हें स्वर्ग या नरक

मे जाने की आज्ञा देगा। अतः कर्म और उसके फल के रूप में स्वर्ग और नरक की प्राप्ति की धारणा दोनों में किसी न किसी रूप में समान दृष्टिकोण से ही सम्बन्धित थी।

मिक्ख गुरु जिस सामाजिक व्यवस्था में स्वयं सँम ले रहे थे, उसी का प्रभाव एवं परिवेश ही उनके जीवन-दर्शन को प्रभावित कर सकता था। इसलिए हम उन में भौतिकवादी विचारधारा का प्रचार करने की आज्ञा कर ही नहीं सकते थे। वे प्रगतिशील विचारक थे और यह चाहते थे कि सामाजिक असमानता का अभिगाप मानव-जीवन में दूर होना चाहिए। वे अपनी इच्छा को तभी क्रियान्वित कर सकते थे, जब वे सामाजिक विषमता को बढ़ावा देने वाली अवतार के सिद्धान्त जैसी मान्यताओं का खण्डन करते। देवतावाद एवं बहुदेववाद का विरोध करते ताकि उसके द्वारा सामाजिक वैषम्य को दूर किया जा सके। हिन्दू धर्म का रूप वर्ण-व्यवस्था की श्रृंखलाओं की सीमा के भीतर ही अपने आप को अभिव्यक्ति दे सकता था, और मुसलमान भी सामन्तवादी व्यवस्था में उसी ढंग में सोच सकते थे, जैसा कि वे सोच रहे थे। परममत्ता सम्बन्धी प्रचलित मान्यता को परिवर्तित रूप देकर ही किसी सामाजिक एवं धार्मिक सुधारक द्वारा सुधार की कल्पना की जा सकती थी। गुरुओं ने किया भी यही। उन्होंने अवतार के सिद्धान्त का खण्डन कर परममत्ता (बाहगुरु) को निराकार, निर्गुण एवं जगत के रूप में मगुण मान लिया। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था में प्रेरित एवं सम्बन्धित सभी मान्यताओं के आगे प्रश्न चिन्ह लगा दिए। वे बार-बार पंडितों (कर्मकाण्डी पुरोहितों) एवं काजी-मुल्लाओं से यथार्थ और सत्य की पहचान का उपदेश देने रहे। वे इस यत्न में सलग्न रहे कि सभी पारम्परिक परन्तु रूढ़ परिभाषाओं को बदल दें।

आदिग्रन्थ में पांडे को सम्बोधित करते हुए, उसे समझाया गया है कि पण्डित का असली अर्थ क्या है। वास्तविक योगी कौन है। मच्चा अवधूत किसे कहना चाहिए। यज्ञोपवीत क्या है, अर्थात् प्रायः सम्पूर्ण पारम्परिक मान्यताओं को उन्होंने फिर से व्याख्यात किया। उन्होंने काजी और मुल्ला को नमाज और रोजे की नयी व्याख्या दी, पण्डित को एकादशी और तीर्थयात्रा का नया महत्त्व समझाया। भाव यह कि परमतत्त्व (ब्रह्म) को नयी दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत कर गुरुओं ने वर्ण-समाज की अवधारणा पर गहरी चोट की है। वे आजीवन धर्म के ठेकेदारों को धर्म के वास्तविक स्वरूप से परिचित करवाते रहे हैं। राम और कृष्ण को भगवान (परमात्मा) मानने का उन्होंने विरोध किया। उन्होंने कहा कि राम यदि परमात्मा होते तो वे सीता की खोज में वन-वन यूँ ही भटकते न रहते। रावण उनकी सीता को चुरा ले गया और वे विलाप करते रहे—झूठे रहे। इसी तरह कृष्ण के अवतारी रूप का भी उन्होंने भिन्न-भिन्न माध्यमों द्वारा खण्डन किया है। सभी को परमात्मा (बाहगुरु) की रचना माना है और इस उपाय के माध्यम से वर्ण-व्यवस्था की उस मान्यता का विरोध

किया है, जिसके अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण वाले, समाज में विशेषाधिकारों को प्राप्त किये हुये थे ।

आदिग्रन्थ में जगत को मिथ्या मानने की बजाय उसे परमात्मा का शरीर माना गया है । गुरु संसार की समरणशीलता तो स्वीकार करते हैं, लेकिन जगत के कण-कण में ब्रह्म (वाहगुरु) की व्यापकता के कारण उसे सत्यस्वरूप परमसत्ता की सच्ची रचना ही मानते हैं । इस प्रकार उन्होंने किसी पूर्ववर्ती पारम्परिक दार्शनिक प्रणाली को यथातथ्य रूप में स्वीकार करने के स्थान पर स्वतन्त्र रूप में ही ब्रह्म के स्वरूप पर विचार किया है । वर्ण-व्यवस्था की मान्यता के विरोध में उन्होंने ब्रह्म (वाहगुरु) द्वारा अवतार धारण करने की वंणव परम्परा को अस्वीकार तो कर दिया है, लेकिन परमात्मा की अवधारणा के अध्यात्मवादी दृष्टिकोण को पारम्परिक रूप में ही माना है । ब्रह्म (वाहगुरु) को वे प्रकाश-विमर्श-परिपूर्ण चैतन्यसत्ता स्वीकार करते हैं तथा साथ ही उपास्य के रूप में वंणव भक्तों की भाँति उसके सम्पूर्ण गुणैश्वर्य को उसी रूप में मान भी लेते हैं । यद्यपि जगत को उन्होंने सत्यस्वरूप ब्रह्म (वाहगुरु) की सच्ची सृष्टि माना है, लेकिन संसार की अवधारणा उन्हें यथार्थवादी चिन्तन से दूर ले जाती है । वे पदार्थ की प्राथमिक सत्ता स्वीकार करने के स्थान पर वाहगुरु को अद्वैत परम चैतन्य मान लेते हैं । कर्म और कर्म-फल एवं पुनर्जन्म को भी उन्होंने मान लिया है, यद्यपि परलोक के बारे में उनके विचार पौराणिक परम्परा से बिल्कुल भिन्न हैं । उनका मुक्ति-सिद्धान्त स्थितप्रज्ञता जैसा भी है और वंणव आचार्यों (विशेषकर रामानुज और बल्लभ) के मुक्त जीवों की स्थिति जैसा भी । सारांश यह कि वे हर दृष्टि से अध्यात्म-वादी विचारकों के वर्गीकरण में ही रखे जा सकते हैं । एक विशेष आन्दोलन की परम्परा से सम्बन्धित होने तथा स्वतन्त्र विचारक के नाते उनके दार्शनिक चिन्तन के पारम्परिक एवं मौलिक दोनों रूप देखने को मिलते हैं । इसलिए प्रस्तुत खण्ड में उनके द्वारा वाहगुरु के स्वीकृत रूप के निरूपण एवं उनके एतत्सम्बन्धी स्वतन्त्र दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने से पहले अध्यात्मवादी और भौतिकवादी दर्शन-प्रणाली के अन्तर्गत दर्शनों की मान्यताओं की चर्चा की गई है, और उसके बाद उनके वाहगुरु-स्वरूप पर विचार कर उनकी विचारधारा के वैशिष्ट्य से परिचित करवाया गया है ।

अध्यात्मवादी परम्परा को काल-क्रम का रूप देकर उसे जिस पद्धति में प्रस्तुत किया गया है, उसकी चर्चा प्राक्कथन में ही कर दी गयी है । भौतिकवादी दर्शन-प्रणाली की बात इसलिए करनी पड़ी है कि ऐसा न करने से भारतीय दर्शन-परम्परा का पूरा प्रसंग खण्डित होता था, नहीं तो आदिग्रन्थ की विचारधारा के सन्दर्भ में उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । केवल वर्ण-व्यवस्था आदि की खण्डन-परम्परा पर ही कुछ प्रकाश प्राप्त होता है ।

भारत की अध्यात्मवादी दार्शनिक चिन्तन-धारा में ब्रह्म का विशेष महत्त्व रहा है। प्राकृतिक शक्तियों में देवत्वारोपण एवं उसके उपरान्त देवाधिदेव की अध्यात्मवादी धारणा ही परमसत्ता (ब्रह्म) की ओर प्रथम सकेत है। पहले 'पुरुष सूक्त' में और उसके बाद 'नामदीय सूक्त' में वैदिक विचारक देवाधिदेव (हिरण्यगर्भ-ब्रह्म) की मान्यता की ओर सकेत करते दिखाई देते हैं। परन्तु ब्रह्माण्ड के रचियता के रूप में देवाधिदेव की धारणा वेदों में स्पष्ट रूप में प्राप्त नहीं होती। उपनिषदों में ही स्वर्ग की कामना से यज्ञ करने में हट कर जगत के आधार (प्राण-शक्ति) 'ब्रह्म' का विशेष निरूपण हुआ है। इस समय वैदिक कर्मकाण्ड को अपराविद्या मान कर अध्यात्म की ओर अधिक ध्यान देने के प्रयत्न किये गये हैं। एव जीव और जगत के प्रसंग में ब्रह्म के स्वरूप का अधिक स्पष्ट एवं विस्तृत विवेचन हुआ है। उपनिषदों में घूम-फिर कर निश्चित रूप से ब्रह्म को सृष्टि का कर्ता मान लिया गया है, जो कि वैदिक देवाधिदेव का ही परवर्ती विकास है। उपनिषदों के उपरान्त गीता में पुरुषोत्तम-मिद्धान्त के रूप में वैदिक देवाधिदेव एवं उपनिषदों के ब्रह्म के स्वरूप-विकास का और अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट विवेचन प्राप्त होने लगता है। अन्त में बादरायण द्वारा 'ब्रह्मसूत्रों' के रूप में उपनिषदों और गीता के ब्रह्म के स्वरूप को सुसम्बद्ध एवं निश्चित रूप प्राप्त हो गया, जिसमें शंकराचार्य का विशेष योगदान है। इस प्रकार ई० पूर्वं तीसरी शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी पर्यन्त की ब्रह्म सम्बन्धी सम्पूर्ण चिन्तन-धारा के मूल-स्रोत किसी न किसी रूप में उपयुक्त आधार ही रहे हैं। इसलिए परवर्ती भारतीय चिन्तन-धारा में इन्हें (उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र) प्रस्थानत्रयी की संज्ञा दी गई है। ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रस्थानत्रयी की मूल स्थापनाओं का परवर्ती चिन्तकों द्वारा युगानुकूल मौलिक विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इन सबके समुचित अध्ययन में ही आदिग्रन्थ की ब्रह्म सम्बन्धी मान्यताओं का सही सधान पाया जा सकता है।

उपयुक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि आदिग्रन्थ की ब्रह्मस्वरूप सम्बन्धी विचारधारा या उसके दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्धारण इस कोटि के दर्शनों के सन्दर्भ में ही किया जाए। इसलिए प्रस्तुत प्रकरण में आदिग्रन्थ

मे वर्णित परमनस्व-मिद्धान्त का निश्चय करने से पहले पूर्ववेदान्तिक विचारधारा की परिसीमा के भीतर पड़ने वाले विचारों की चर्चा कर ली गई है।

हम यह भी कह सकते हैं कि सभी गुरुओं ने भक्ति-भावना के उद्गारों में ही वाहगुरु के स्वरूप के विभिन्न पक्षा का स्तवन किया है, जो उनके अध्यात्मवादी दृष्टि-कोण का परिचायक है। सभी भारतीय दर्शनों, विशेषकर अद्वैत दर्शनों में, परमतत्त्व को अकाल या कालानीन सत्ता स्वीकार किया गया है। तदनुसार वह क्षर और अक्षर, चेतन एवं अचेतन, सभी का अधीश्वर है वही विश्व की रचना करने वाला, उसका पालक एवं सहर्ता बतलाया गया है। इस मान्यता में विश्वास रखने वाले सभी दार्शनिकों के अनुसार वह अपरिणामी सत्ता है और समार की रचना, उसका पालन एवं संहार उसकी स्वतन्त्र इच्छा के परिणाम है। जानमार्गी भक्तों एवं भक्त जानियों ने उसकी प्राप्ति गुरु की कृपा द्वारा स्वीकार की है।

परमतत्त्व के परात्परस्वरूप के सम्बन्ध में सभी पूर्ववेदान्तिक चिन्तकों की धारणाएँ अन्ततः एक ही केन्द्र-बिन्दु का स्पर्श करती हैं। परन्तु जीव और जगत तथा इन दोनों के मन्दर्भ में परमसत्ता के स्वरूप, शक्तियों एवं कार्यों आदि की चर्चा करने समय, उनमें परस्पर पर्याप्त मत-भेद भी पाया जाता है। जीव और जगत के स्वरूप का सैद्धान्तिक विवेचन ऐसे सभी दर्शनों में अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार ही हुआ है। सभी पूर्ववेदान्तिक दर्शनों एवं धर्म-मतां के आचार्यों ने परमतत्त्व को स्वतन्त्र अभिधान ही प्रदान नहीं किए हैं, अपितु उसके द्वारा सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में भी स्वतन्त्र चिन्तन में काम लिया है। जीव की सृष्टि कैसे और क्यों हुई, जगत की रचना परमात्मा ने कैसे, किम लिए और क्यों की, आदि प्रश्नों को लेकर ही चिन्तकों ने अनग-अलग मिद्धान्तों एवं मान्यताओं की 'उपस्थापना' की है। यही कारण है कि बाद में भारतीय चिन्तन-परम्परा अनेकान धाराओं में विभक्त हो गई है।

इस अध्याय में काल-क्रम की उपेक्षा करते हुए, 'वैदिक देवाधिदेव' एवं 'उपनिषदों में ब्रह्म' की चर्चा के साथ गीता के 'पुरुषोत्तम-मिद्धान्त' का उल्लेख जान-बूझ कर किया जा रहा है। पुस्तक के नामकरण से स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन-परम्परा के मन्दर्भ में 'आदिग्रन्थ की दार्शनिक मान्यताओं का अध्ययन' ही इसका प्रतिपाद्य है, न कि दर्शन की परम्परा के इतिहास के परिचय का प्रस्तुतीकरण। यहाँ से लेकर गीता तक की परमतत्त्व-विचार-परम्परा में ही हमें वे सूत्र उपलब्ध होते हैं, जिन की आदिग्रन्थ के ब्रह्म-स्वरूप की अवधारणा में तुलना (समानता-असमानता) की जा सकती है। साथ ही बौद्धों एवं जैनों के परमसत्ता-सिद्धान्त का परिचय भी इसी अध्याय में दे दिया गया है क्योंकि इन दोनों दर्शनों की परमतत्त्व सम्बन्धी मान्यताओं में बहुत ही कम सम्बन्ध होते हुए भी आदर्शवादी (Idealist) विचारों के रूप में कुछ समानता भी है। ये दर्शन पदार्थ को प्राथमिक तत्त्व मानने वालों की पंक्ति में नहीं आते। अतः इनका उल्लेख करते हुए ही ब्रह्मसूत्रों और शंकराचार्य की एवं वैष्णवाचार्यों के वेदान्त के मन्दर्भ में आदिग्रन्थ की ब्रह्म विषयक विचारधारा की

समानताओं एवं असमानताओं का सन्धान पाना संगत एवं उचित प्रक्रिया है। भारतीय दर्शन की सभी मुख्य-मुख्य दर्शन-प्रणालियों को रूप देने वाले विचार प्राचीन धर्म-रूपों में ही विद्यमान रहे हैं।

● वैदिक देवतावाद और एकाधिदेववाद

ऋग्वेदादि संहिताओं में ब्रह्म-चिन्तन के पूर्णरूपेण अभाव की धारणा के बारे में विद्वानों में पूर्ण सहमति नहीं है। कइयों का मत है कि इन्द्र एवं वरुण आदि देवता प्राकृतिक शक्तियों को दिए गए नाम हैं एवं इन्हें विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के अधिष्ठाता देवता भी स्वीकार किया जा सकता है। वैदिक ऋचाओं द्वारा की गई स्तुतियाँ देवताओं के प्रति निवेदित प्रार्थनाएँ हैं, जिनमें अपने अभ्युदय के लिए याचनाएँ की गई हैं। वेदों में वीरपुरुषों को भी स्तुति का विषय बनाया गया है और उन्हें धीरे-धीरे देवत्व प्रदान करने की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है। जो प्राकृतिक शक्तियाँ अभ्युदय एवं सुख-समृद्धि में सहायक होती थी; और जिन से धन और जीवन की हानि होती थी, स्तुतिपरक ऋचाओं में उन दोनों के प्रति कृतज्ञता-भाव की अभिव्यक्ति हुई है और उन्हें अपने अनुकूल बनाने के लिए उनकी प्रशस्तियाँ एवं याचनाएँ की गई हैं। सुख की प्राप्ति और दुःख का निवारण मनुष्य की स्वाभाविक मांग है; और इसी में प्रेरित होकर उस युग का समाज देवताओं के प्रति नम्र हुआ है।

वैदिक देवताओं के प्रति निवेदित प्रार्थनाओं में यह भी पता चलता है कि जहाँ-कहीं जिम्मेदार देवता विशेष की स्तुति की गई है, उसे ही सर्वोपरि देवता भी मान लिया गया है। प्रार्थी का स्वर सदा अपने उपास्य को सर्वोच्च स्थान देने में ही विद्यमान रहता है। इस प्रकार के देव-परिवार में कुछ देवता अभ्युदय के देने वाले मान लिए गए हैं, और कुछ एक देवता ऐसे भी मिलते हैं, जिनके बारे में यह विश्वास बन गया था कि उनके प्रकोप से व्यक्ति को कई प्रकार के कष्टों को सहना पड़ता है। ऐसे देवताओं को प्रसन्न करने के लिए ही लोग उनकी कृपा-दृष्टि की कामना करते रहते थे। संहिताकालीन धार्मिक समाज के द्वारा स्वीकृत देवतावाद के पीछे मुख्यतः ये दोनों ही मूल कारण माने जा सकते हैं। विभिन्न देवताओं की प्रार्थना सम्बन्धी ऋचाएँ भी इसी तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं।

वैदिक युग में किए जाने वाले यज्ञ आदि अनुष्ठानों द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता था। एकाधिदेव के सिद्धान्त के लिए यह देवतावाद प्रारम्भिक भूमिका बना है। ऊपर इस तथ्य की ओर संकेत किया जा चुका है कि जो, जिस देवता की स्तुति करता था, उसी को वह सभी देवताओं का अग्रणी भी मान लेता था। इस प्रकार धीरे-धीरे परमदेव की स्वीकृति के लिए मार्ग बनता रहा। विद्वानों का विश्वास है कि 'पुरुष सूक्त' में ही वर्णित पुरुष में परमदेव या परमसत्ता-सिद्धान्त के तत्त्वों का अस्तित्व निहित है। इस सूक्त की ऐतिहासिक महत्ता ब्रह्माण्ड के सर्वोपरि एवं सर्वशक्तिमान देवाधिदेव के सिद्धान्त की मान्यता के प्रसंग में ही स्वीकार की जा सकती है। इसमें उस युग के दार्शनिक विश्वासों की चर्चा के प्रसंग में इस तथ्य का भी संकेत

मिलता है कि उस समय का धार्मिक व्यक्ति यह विश्वास करता था कि यज्ञ के प्रसार के रूप में परमसत्ता अपनी असीम शक्तियों एवं अनेक रूपों को अभिव्यक्ति प्रदान करती रहती है। ऋग्वेद का 'नामदीय सूक्त' परमसत्ता या देवाधिदेव की मान्यता की अन्तिम परिणति है।^१ बल्कि यह कहना चाहिए कि इसी सूक्त में उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के निगुण और निराकार स्वरूप की मान्यता ने अपने लिए आधार भूमि प्राप्त कर ली थी। अभीप्पिन की मिद्धि के लिए प्रार्थित देवता को देवाधिदेव मानना, और 'पुरुष सूक्त' तथा 'नामदीय सूक्त' में वर्णित विश्वाम, वैदिक युगीन देवाधिदेव की धारणा के क्रमिक विकास की सूचना देते हैं।

● उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप

वैदिक काल के बाद उपनिषत्काल का आरम्भ होता है। यह काल पराविद्या के प्रति अटूट निष्ठा का काल है। इस समय आर्य एवं आर्योत्तर जातियों में परस्पर सामाजिक मेन-जोन के कारण तथा मानव-चिन्तन के उत्तरोत्तर विकास के फलस्वरूप धार्मिक विश्वासों एवं आध्यात्मिक चिन्तन में नये सूत्र जुड़ने लगे थे। यह युग सामाजिक अन्नभृक्ति के अत्यन्त अनुकूल था। क्योंकि इस काल में अथर्ववेद की मान्यताओं के प्रति विश्वामी समाज एवं आर्यों के समाज में पाए जाने वाले विरोधी स्वर क्षीण होने आरम्भ हो गए थे। धार्मिक विश्वासों का परस्पर आदान-प्रदान होने लगा था एवं नए धार्मिक विश्वास भी उभरने लगे थे। धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन के साथ ही दर्शन के क्षेत्र में भी नवीन दृष्टिकोण पनपने लगे थे। लेकिन हम इस नए आध्यात्मिक आन्दोलन के आरम्भ के ऐतिहासिक कारणों की ओर न जाकर केवल इतना ही कहेंगे कि अपराविद्या-यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड—की अपेक्षा पराविद्या-अध्यात्म मार्ग—को उत्तम मान लिया गया था और अश्वमेध आदि यज्ञों को आध्यात्मिक अर्थ देकर उन्हें नए मिर्रे से व्याख्यायित करने के प्रयत्न भी आरम्भ कर दिए गए थे। 'नामदीयसूक्त' में परमात्मा को निराकार एवं अनिवर्चनीय सत्ता के रूप में पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका था,^२ परन्तु यज्ञ आदि अनुष्ठानों को 'कमजोर नौकाएँ' मान कर ब्रह्म-विद्या के प्रति अत्यधिक झुकाव इसी समय हुआ। 'पुरुष सूक्त' और 'नामदीय सूक्त' में ही विश्व की 'सर्जना करने वाली परमसत्ता अर्थात् ब्रह्म नामक शक्ति के बारे में सोचना आरम्भ हो चुका था। यह विश्वास भी दृढ़ होने लगा था कि उसके स्वरूप के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म का उपनिषदों में आत्मा के रूप में भी उल्लेख

^१ नामदीय सूक्त, ऋ० वे० १०-११६, वही० पुरुष सूक्त, १०-६०।

^२ नामदीय सूक्त, ऋ० वे० १०—१२६ नामादासीज्ञो सदानीतदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् । ... व्योमोऽध्याध्वक्ष परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद ।

हुआ है।^१ इस प्रकार उनमें ब्रह्म और आत्मा में पाई जाने वाली एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी हमें मिल जाता है।^२ ईशोपनिषद् में परमसत्ता को सर्वव्यापी और परम-आत्मा दोनों ही बतलाया गया है,^३ जिसका समर्थन हमें छान्दोग्योपनिषद् एवं श्वेताश्वर-उपनिषद् में भी प्राप्त होता है।^४

● गीता का पुरुषोत्तम-सिद्धान्त

उपनिषदों में 'पुरुषसूक्त' एवं 'नासदीयसूक्त' को विचारधारा को ही बार-बार एवं किमो न किसी रूप में दुहराया गया है। गीता की रचना में पहले ज्ञान, कर्म और भक्ति के बारे में अलग-अलग खेमें बनने लग गये थे। एक ओर तो यज्ञों के रूप में कर्म-काण्ड का प्राबल्य था और दूसरी ओर उमके विरोध में विचारक आध्यात्म-विद्या की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित कर रहे थे। साथ ही भक्ति की ओर भी लोगो का झुकाव बढ़ रहा था। गीता में तीनों के मन्तुलन पर बल दिया गया है और भक्ति को ज्ञान एवं कर्म के समकक्ष खड़ा किया गया है। महाभारत में ही ऐतिहासिक कृष्ण के ब्रह्मत्व की ओर सकेत मिलने लगता है तथा उनके वामदेव रूप की झलक भी महा-भारत में ही मिल जाती है। गीता में उम समय तक के उपयुक्त तीनों साधना-मार्गों में समन्वय प्रस्तुत किया गया है। इसमें प्रतिपादित पुरुषोत्तम-सिद्धान्त उम युग के दार्शनिक चिन्तन की महान उपलब्धि है। पर्वर्ती विचारकों ने उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्रों को प्रमुख आधार के रूप में स्वीकार कर अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापनाएँ की हैं। इसलिए सब में ब्रह्म, जीव, जगत् और माया के स्वरूप के विश्लेषण में भी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण दिखायी देते हैं।

गीता में क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम का उल्लेख कर पुरुषोत्तम-सिद्धान्त में जीव और जगत् की अपने ढंग से व्याख्या की गयी है। क्षर में सम्पूर्ण जगत् की गणना की गयी है और अक्षर को आत्मा मान कर पुरुषोत्तम को क्षर और अक्षर से अतीत

^१ 'श्वे उप० १—२, काल स्वभावो नियतिर्वहच्छा भूतानि योनि पुरुष इति तित्त्यम्। सयोग एषा नत्वनतमभावादात्माऽऽपनीश सुख-दुःख हेतो ॥

पुरुष सूक्त, ऋ० वे० १०—१०, पुरुष एवेदं सर्वं यदभूत् यच्च भाव्यम् ... ॥ इस सूक्त में परम की अवधारणा ऐसे पुरुष के रूप में की गई है, जिसके सहस्र सिर, नेत्र और पैर हैं। ब्रह्माण्ड परमपुरुष का अंग है। आकाश मस्तक, सूर्य आँख, पृथ्वी पाँव, पवन श्वास और नक्ष केश-जाल है।

^२ बृ० उप० २—४—१२, बही० ४—५—१४, छा० उप०, उद्दालक एवं श्वेतकेतु सवाद, बही० ३—१४—१, रा० कृष्णन, दि प्रिंसिपल उपनिषद्, पृष्ठ १६८-६९।

^३ ईशोपनिषद्, ५, मुण्डक० उप० २—२—१२।

^४ छा० उप० ८—१२—३, श्वे० उप० ८—१—१०, बृ० उप० २—३—१।

मत्ता स्वीकार किया गया है।^१ तदनुसार पुरुषोत्तम ही परमात्मा है, जो दृश्य एवं अदृश्य सृष्टि का अधिष्ठाता बतलाया एव माना गया है। गीता के अनुसार वह अव्यय ईश्वर है एव सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त परमसत्ता है। माथ ही इस तथ्य की ओर भी स्पष्ट संकेत है कि परमात्मा शरीरी और अशरीरी दोनों है। वही विश्व भी है और विश्व की सचालिका शक्ति भी। परन्तु अपने सत्यस्वरूप या परात्पररूप में वह निराकार एव निगुण हो रहता है। गीता का पुरुषोत्तम-सिद्धान्त ऋग्वेद के पुरुषसूक्त एवं उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मस्वरूप से प्रभावित प्रतीत होता है।^२ ईशोपनिषद में परमसत्ता को सर्वव्यापक एव परात्पर दोनों माना गया है।^३ छान्दोग्य, श्वेताश्वतर एवं दूसरे उपनिषदों में भी इसी मत का समर्थन हुआ है।^४

● आरम्भिक जैन विचारधारा . निर्माण-काल

जैन धर्म को एक विशेष मत का रूप वर्धमान महावीर ने दिया है, जो बुद्ध के समकालीन थे और जिन्होंने वैदिक पुरोहितवाद को अस्वीकार कर स्वतन्त्र चिन्तन प्रणाली का प्रचार किया था। बुद्ध की भाँति वे भी ब्राह्मण धर्म के विरोधी विचारकों में माने जाते हैं। ब्रह्माण्ड की रचना के सम्बन्ध में औपनिषदिक आत्मा-सिद्धान्त के स्थान पर उन्होंने इस धारणा का प्रचार किया है कि ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते हुए भी ब्रह्माण्ड की रहस्यमयता से अवगत हुआ जा सकता है। परम (अध्यात्म) ज्ञान के बारे में उनका विश्वास था कि प्रत्येक जीव विशेष प्रकार के अनुशासन एव आचरण का पालन कर, देवीय शक्तियों का अधिकारी बनने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। पुद्गल (जीव) का शरीर के साथ ही नाश नहीं होता और उसकी परमानन्दस्वरूपता सम्भव है। जैन मतावलम्बियों के अनुसार आदि पुरुष पाश्वनाथ की मान्यताओं में विश्वास रखने वाले निग्रन्थों (निगठ) ने ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुरूप एक सम्प्रदाय का निर्माण कर लिया था। अन्त में जैन विचारधारा (आरम्भिक) ने मत का रूप प्राप्त कर लिया, और महावीर तीर्थंकर के रूप में पूजे जाने लगे।

वेदोपनिषद की विचारधारा एव ब्राह्मणवादी धर्म के स्वरूप का, बौद्ध एव जैन मतों की अवधारणाओं के मन्दर्भ में अध्ययन के द्वारा यह पक्ष स्पष्ट हो जाता

^१ गीता, अध्याय १५।१८, यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपिचोत्तम । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम ॥

^२ वही० अध्याय १५।१६—१६—डाविमी पुरणी लोके क्षरश्चाक्षरमेव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षरमुच्यते ॥१६॥ उत्तमं पुरुषस्त्वन्व परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य विभक्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपिचोत्तमः ॥ अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ वृ० उप० २।३।१ ।

^३ ईश० उप० ५ ।

^४ छा० उप० ८।१२।३, श्वे० उप० ८।१।१० ।

है कि उस समय के उपनिषदों के वैदान्तिक आदर्शवाद, कर्मकाण्डात्मक वैदिक धर्म की यज्ञ-अवधारणा और लोकायतो की अनात्मवादी विचारधारा के विरोध में जैन विचारधारा का आरम्भ हुआ था। तब तक उपनिषदों के विचारक आत्मा को जगत का मूल एवं आदिकारण मान चुके थे। जैन सूत्रों की विचारधारा की चर्चा करते हुए जैकोबी ने कहा है कि आरम्भिक जैन विचारधारा को सूत्र-बद्ध करने वालों ने आत्मा के विकास की कोटियाँ स्वीकार करली थी, लेकिन आत्मा का सभी प्राणियों एवं मनुष्यों में एक जैसा विकास स्वीकार नहीं किया गया था।^१ सूत्रों में प्राणियों पर दया करने पर बल दिया गया है और वर्ण-व्यवस्था की मान्यता के आधार पर ऊँच-नीच की भावना को अमान्य ठहराया गया है। जैन सूत्रकारों ने जिस रूप में दर्शन की अवधारणाओं की चर्चा की है, उससे इस तथ्य का संकेत प्राप्त होता है कि इस विचारधारा के निर्माण-काल में ही इस अवधारणा की पृष्ठभूमि निमित्त हो चुकी थी कि प्रत्येक वस्तु का ज्ञान सभाविक है। यही कारण है कि बाद में पदार्थ के सम्बन्ध में 'स्याद्वाद' की एक अवधारणा ही बन गई। तदनुसार किसी भी पदार्थ के 'या यह' 'या वह' दोनों ही पक्ष स्वीकार किए जाते हैं। यहाँ तक कि अनुमान पर आधारित यह आरम्भिक विचार परवर्ती जैन दर्शन का प्रधान सिद्धान्त ही बन गया है। इस मान्यता के अनुसार जगत की सत्ता अस्ति (है) और नास्ति (नहीं है) के रूप में स्वीकार की गई है।

आरम्भिक जैन विचारधारा के अनुसार जगत परिवर्तनशील एवं गतिशील सत्ता है। वह औपनिषदिक धारणाओं के अनुरूप न तो मात्र प्रतीति सत्ता है और न ही उसका पूर्ण यथार्थ अस्तित्व ही माना गया है। जैन साहित्य में ऐसी अनेक कथाएँ एवं प्रसंग प्राप्त होते हैं, जिनके द्वारा यह समझने का प्रयत्न किया गया है कि किसी वस्तु के स्वरूप, गुण एवं धर्म आदि की जानकारी अन्य वस्तुओं के सम्पर्क या आधार (माध्यम) पर ही प्राप्त की जा सकती है। जैन दर्शन की 'अस्ति-नास्ति' की अवधारणा का सम्भवतः यही आधार है। इस दर्शन की मान्यता के अनुसार हम न तो किसी वस्तु को निरपेक्ष रूप में प्रस्तुत ही कर सकते हैं और न ही उसके अस्तित्व का पूर्ण निषेध ही।^२ यही कारण है कि जैन धर्म की विभिन्न कथाओं में यथार्थ के बहुमुखी पक्षों के साथ ही उसकी सापेक्षता पर भी अधिक बल दिया गया है। आत्माओं को अणु की भाँति ही यथार्थ माना गया है। तदनुसार प्रत्येक आत्मा और अणु स्वतन्त्र एवं एक दूसरे से भिन्न होता है। असंख्यधर्मिता का आधार भी इन्हीं आरम्भिक विचार-णाओं में ही दे दिया गया था। यथार्थ के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए यह कहा गया है कि वह आरम्भ में ही संश्लिष्ट, अनेकरूपी एवं परिवर्तनशील अस्तित्व है। यही

^१ जैन सूत्र २६-२७, जैकोबी का अनुवाद।

^२ जैनसूत्र, २६-२७।

कारण है कि जैन दार्शनिक यथार्थ के सर्वपक्षीय ज्ञान की स्वीकृति के सम्बन्ध में अत्यन्त संकोच से काम लेते हैं। उनकी इस धारणा का आधार सम्भवतः यही है कि वे ज्ञान के द्वारा किए गए मानव-निर्णयों को भी अन्तिम सत्य स्वीकार नहीं करते। इस सम्बन्ध में उनके मत के अनुसार मानव-ज्ञान के निर्णय भी सीमित ही माने गए हैं।

जैन कथा-साहित्य, जिसके द्वारा विचारको ने अपने अभिमतों का स्पष्टीकरण किया है, में जीव (चेतन) और अजीव (अचेतन) की श्रेणियों के रूप में जगत के दो प्रधान भेद स्वीकार कर लिए गए हैं। तदनुसार चेतन अचेतनमय जगत की रचना किसी (ईश्वर आदि) से नहीं होती, वह स्वतन्त्र अस्तित्व है और शाश्वत काल से इसी रूप में चला आ रहा है। चेतन और अचेतन के बीच सापेक्ष सम्बन्ध मानते हुए दूसरे को पहले का सावन और पहले (चेतन) को दूसरे से प्राप्त होने वाले आनन्द का भोक्ता माना गया है। कर्म और चेतना को कमी या अधिकता के आधार पर जीव के कई भेद भी माने गए हैं। जीव को ईश्वर की रचना न मानकर तत्त्वों—आकाश, काल, धर्म और अधर्म, का मिश्रण स्वीकार किया गया है। प्रकारान्तर से इसे हम परमाणुओं का समुदाय भी मान सकते हैं। आत्मा (जीव-पुद्गल) को, आरम्भिक जैन विचारधारा के अन्तर्गत, उचित आवरण के मार्ग का अनुसरण कर ज्ञान को पूर्ण बना सकने में सक्षम मान लिया गया था। आत्मा की बद्धता (पुद्गलरूपता) की चर्चा करते हुए इस विश्वास का प्रतिपादन भी किया गया था कि कार्मिक परमाणु और आवेग ही उसे बद्ध बनाते हैं। लेकिन इन बन्धनों से मुक्ति की प्राप्ति ईश्वर के अनुग्रह या अनुकम्पा के भाव से स्वीकार करने के स्थान पर स्वयं आत्मा के द्वारा किए गए यत्नों से मानी गई है। आरम्भिक जैन विचारकों की इस सम्बन्ध में यह धारणा रही है कि सम्यक् चरित्र के द्वारा कार्मिक परमाणुओं और आवेगों के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

जैन मत में मोक्ष की अवधारणा आरम्भिक विचारकों के द्वारा ही मान ली गयी थी, लेकिन उसकी व्याख्या उन्होंने ईश्वरवादी आदर्शवादियों से भिन्न रूप में की थी। इस सम्बन्ध में वे ईश्वर की सत्ता की धारणा का विरोध करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि नैतिक एवं आध्यात्मिक अनुशासन से ही पुद्गल (जीव) को मोक्ष की अवस्था प्राप्त होती है। सूत्र-काल में सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्र की मान्यताओं का अत्यन्त विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है और आत्मा की अवधारणा को दर्शन की प्रणाली में प्रस्तुत करने के प्रयत्न हुए हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि जैनियों की आत्मा की अवधारणा बौद्धों की आत्म-अवधारणा से पर्याप्त भिन्न है। बौद्ध आत्मा के यथार्थ अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, जबकि जैनों का आत्मा की अनश्वरता में पूर्ण विश्वास है। निर्वाण को वे आत्मा का निषेध नहीं मानते, बल्कि उसके द्वारा प्राप्त तीर्थंकर की स्थिति को आरम्भ में ही स्वीकार कर लेते हैं। ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार न करने के बारे में बौद्धों एवं जैनों का पूर्ण

मतेष्य है। दोनों कर्म-विधान में प्रगाढ़ आस्था रखते हैं। दोनों ही आदर्शवादी विचारक हैं, यद्यपि दोनों का तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण पर्याप्त भिन्न है। संक्षेप में यही आरम्भिक विचार धारा है, जिसका सूत्रपात पार्श्वनाथ के समय हुआ और जिसे वर्धमान महावीर ने गौतम बुद्ध के प्रचार-काल में ही वेद-विरोधी विचारधारा के रूप में अपने युग और समाज में प्रचारित किया। बाद में दार्शनिकों ने इसे सूत्रों में बाँधा। इस समूची विचारधारा के सन्दर्भ में ही जैन दर्शन के 'परम-आत्म-सिद्धान्त' से अवगत हुआ जा सकता है।

● जैन दर्शन का परम-आत्म-सिद्धान्त

आर्यों में वर्ण-व्यवस्था के नियम धीरे-धीरे कठोर होते गये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज में आर्यों के प्रमुख धार्मिक कृत्यों का विरोध होने लगा। तथ्यों की खोज करने पर पता चलता है कि इस विरोध के पीछे जाति-विरोधी भावना ही मुख्य रूप में कार्य कर रही थी। इस प्रकार की विरोधी प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि दो नये धर्म-मत, नये धार्मिक आन्दोलन के रूप में हमारे सामने आये। ये धर्म हैं—जैन और बौद्ध धर्म। इन के प्रवर्तक नेता महावीर और गौतम बुद्ध आर्य जाति में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था की कठोरता एवं यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड को मानवीय कल्याण के मार्ग में बाधक मानते थे। उन युग के समाज में स्वयं भीतर ही भीतर विद्रोह की भावना सुलग रही थी, जो अन्ततः उपर्युक्त दोनों नेताओं के नेतृत्व में साकार हुई। ऐतिहासिक माध्य के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय के समाज में लोकायत विचारधारा भी प्रचलित थी। चार्वाक या लोकायत भौतिक जगत के अतिरिक्त किसी 'स्वतन्त्र चेतनसत्ता' में विश्वास नहीं रखते थे। उनके मत में पुनर्जन्म की मान्यता भी व्यर्थ का विचार था। चार्वाक इसी कारण ईश्वरवादियों की दृष्टि में नास्तिक थे। हमारे विचार में महावीर और गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित धर्मों का अनुगमन करने वालों को नास्तिक कहना गलत है। ऐसा न मानने का प्रधान कारण यह है कि इन दोनों मतों में आवागमन के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, जबकि चार्वाकों की प्रधान मान्यता इस विश्वास का विरोध करती है। जैन विचारक तो आरम्भ में ही 'परम-आत्मा' के सिद्धान्त को स्वीकार करते आये हैं। उन का यह विचार 'अहं ब्रह्मास्मि' की विचारधारा में अधिक हटा हुआ नहीं है। अतः जैन दर्शन में, प्रकारान्तर से ही मही, 'परम-आत्मा नाम' से स्वतन्त्र एवं सर्वशक्तिमान चेतन सत्ता के सिद्धान्त को मान लिया गया है। इसी तरह परवर्ती बौद्धों ने भी किसी-न-किसी रूप में चेतन परमसत्ता को मान्यता दे दी है। अतः इस धर्म के आम्नायों में बाद में भक्ति-माधना के लिए भी पर्याप्त अवकाश निकल आया है।

जैन दर्शन में 'परम-आत्म-सिद्धान्त' की चर्चा करने हुए डा० उमेश मिश्र ने आत्मा के पृथक् अस्तित्व की स्वीकृति को उसको एक विशेषता माना है।^१ उक्त

^१ भारतीय दर्शन (हिन्दी) पृ० १०८।

दर्शन में जीव की कई कोटियाँ मानी गयी हैं। अतः अन्तिम अवस्था अर्थात् तीर्थंकर के जीव-स्वरूप तथा उपनिषदों और गीता के आत्म-मिद्धान्त में अधिक अन्तर नहीं दिखाई देता। जैनियों के मतानुसार सिद्धशील जीव का दर्जा वहाँ है, जो गीता और उपनिषदों के अनुसार आत्मनिष्ठ का है। इस धर्म में क्रमशः तीन रत्न माने गये हैं, जिन्हें जैन आचार्य 'मम्यक् दर्शन', 'मम्यक् ज्ञान' और 'मम्यक् चरित्र' का अभिधान देते हैं। उस में जीव के तीन मुख्य भेद भी किये गये हैं। साथ ही यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि जीव उन्नति (अध्यात्म) के मार्ग पर उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ तीर्थंकर की उपाधि प्राप्त कर लेता है।

उक्त तथ्यों में यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन के अनुसार ममारी दशा का सिद्धशील या तीर्थंकर ही जीव है जो जीवन में उत्तरोत्तर ऊपर उठकर तीर्थंकर बन सकता है। इस दर्शन में जीव में प्राण-सत्ता की स्थिति का भी विश्वास किया जाता है। इस मन की साधनाओं में शारीरिक, मानसिक एवं इन्द्रिय-जन्य विभिन्न शक्तियों की मान्यताओं के सम्बन्ध में भावात्मक दृष्टिकोण भी प्राप्त होने है। साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि कर्मों के प्रभाव से आत्म (जीव) की शुद्ध स्वरूपता का धीरे-धीरे तिरंगभाव होने लगता है। तिरंगभाव की ओर उन्मुख बह (शुद्ध जीव) अन्त में पुद्गल-रूप धारण कर आवागमन में भटकने लगता है।^१ जैन विचारक आत्मा को अवयवी मानते हैं। उनके इस विश्वास का कारण यह है कि वे भेद में अभेद वाले सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। इस साधना में जीव (पुद्गल) ऊपर बल्लाये गये तीनों रत्नों की प्राप्ति के लिए ही यत्नशील हुआ करता है और वह इस यात्रा के अन्तिम छोर पर पहुँचकर ज्ञान स्थिति को प्राप्त कर लेता है, उसे भारतीय अध्यात्म-दर्शन में आत्मा का शुद्ध स्वरूप माना गया है। अतः हम कह सकते हैं कि जैन धर्म का 'परम-आत्म-सिद्धान्त' ही उनका 'परमात्म-मिद्धान्त' है। इस सन्दर्भ में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जैनियों का उपर्युक्त 'परम-आत्म-सिद्धान्त' एवं ब्राह्मण धर्म का 'परमात्म', 'परब्रह्म' या 'पुरुषोत्तम-सिद्धान्त', त्रिकुण्य भिन्न विचार है, क्योंकि यह परम-आत्म, ब्रह्माण्ड का कर्ता नहीं है।

^१ उमेशमिश्र, भारतीय दर्शन (हिन्दी) पृ० १०८।

● आरम्भिक बौद्ध विचारधारा

बौद्ध धर्म हीनयान के रूप में पुरोहितवाद के विरुद्ध जन्मा और बाद में स्वयं महायान के तान्त्रिक रूप को प्राप्त कर समाप्त भी हो गया। आरम्भ में इसका उदय ऐसी परिस्थितियों में हुआ था, जिस समय पुरोहित-वर्ग हर दृष्टि से सामाजिक आधिपत्य का आनन्द ले रहा था उस समय समाज में अर्थ (धन) और बुद्धि (ज्ञान) दोनों, वैदिक समाज के द्वारा ही नियन्त्रित थे। समाज के शक्तिशाली अंग के ऊपर उनका पूर्ण आधिपत्य था। वर्ण-व्यवस्था की कठोरता के कारण सामाजिक असमानता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। युग की आत्मा इस प्रकार के आदेशों के शासन में मुक्ति चाहती थी, जो कालान्तर में गौतम बुद्ध के माध्यम में बौद्ध विचारधारा के रूप में अवतरित हुई। जर्मन विद्वान मैक्समूलर के अनुसार पूर्व और दक्षिण में जब ब्राह्मणवाद के विरुद्ध बौद्ध धर्म अपनी विचारधारा का प्रचार कर रहा था, उस समय ब्राह्मणवाद पश्चिम में अपने पूरे जीवन पर थिरक रहा था।^१

गौतम (बुद्ध) ५६७ ईसा पूर्व नेपाल के सीमान्तवर्ती लुम्बिनी वन में शुद्धोदन के घर पैदा हुए। सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं के प्राप्त रहने हुए भी उन्हें चारों ओर व्याप्त पीड़ा ने व्याकुल बना दिया और अन्त में यह राजकुमार घर-बाहर छोड़कर मृत्यु की खोज में निकल पड़ा। मानव की व्यथाओं के निदान एवं इलाज की खोज में मात वर्ग इधर-उधर भटकते रहने के उपरान्त भी उसे कोई रास्ता न मिला। अन्त में गया में वह बुद्ध (ज्ञानमय) बना और आजीवन (लगभग ईसा पूर्व ४८३ तक) वह अपनी उपलब्धियों की मारे देश में बाँटता-बिखेरता रहा। उसने लोगों को यह बतलाया कि यथार्थ (जीवित) जगत में ही दुःख और पीड़ा में मुक्त हुआ जा सकता है। उस ने जीवन का अर्थ दुःख माना है। दुःखों की असंख्यता, उनके कारणों एवं उन से मुक्ति पाने की सम्भावना एवं उनसे पीछा छुड़ाने का मार्ग इन चार महान

^१ मैक्स मिस्ट्रिज ऑफ फिलॉसफी, पृ० १५।

सत्त्यों को जानना उन्होंने जरूरी बतलाया है। 'चार महान सत्य' और 'अष्टधा मार्ग' बुद्ध की विचारधारा के दो प्रधान सूत्र हैं। बुद्ध का कहना था कि अभिलाषा (तृष्णा) सम्पूर्ण दुःखों का मूलकारण है, अतः कारण को दूर करने का यत्न करना चाहिए। वे यह मानते हैं कि न तो इन्द्रियासक्तियों में डूबे रहना ठीक है और न ही कृच्छ्र साधनाओं को अपनाना ही श्रेयस्कर है। उन्होंने मध्यममार्गी बनने का उपदेश दिया है। उनका पहला विचार 'कारण-कार्य-सम्बन्ध' से शुरू होता है। बुद्ध ने यह स्वीकार ही नहीं किया है कि वृक्ष की उत्पत्ति बीज का रूप-परिवर्तन या विकास नहीं। उस समय प्रचलित दार्शनिक विचारों के अनुसार यह माना जाता था कि वृक्ष की उत्पत्ति बीज में ही निहित 'वृक्ष-आत्मा' की अभिव्यक्ति मात्र है। बुद्ध ने इस मान्यता के विरोध में यह स्वीकार किया है कि पुरानी वस्तु के विनाश के बाद ही नयी वस्तु का जन्म हो सकता है। उनका यह विचार कालान्तर में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' या 'आश्रित उद्भव' के नाम से प्रतिपादित किया गया है। इस मान्यता को दर्शन का रूप देकर आरम्भिक (हीनयानी) बौद्ध यह स्वीकार करते हैं कि कारण के विलुप्त हो जाने पर कार्य भी विलुप्त हो जाता है। वे नये को पुरातन का पुनरावर्तन नहीं मानते।^१ साराण यह कि बुद्ध के विचार (प्रतीत्यसमुत्पाद) के अनुसार सर्वत्र कारण-कार्य का नियम ही चल रहा है। कारण प्रभाव को जन्म देता है और प्रभाव प्रत्यावर्तित रूप में कारण में रूपान्तरित हो जाता है। इस के अनुसार मृष्टि की रचना का यह उत्तर दिया गया है कि जगत की उत्पत्ति (उद्भव) बिना-किसी ज्ञात आरम्भ के है और कारण और प्रभाव का नियम शाश्वत है। बौद्धों के अनुसार समस्त अस्तित्व निरन्तरधारा है, जो तत्त्वों से उत्पन्न होती है। इसलिए वे जगत को क्षणिक एवं तात्कालिक स्फुरणों की एक शृंखला मात्र मानते हैं। बुद्ध से पहले यह माना जाता था कि सभी जागतिक परिवर्तन ऊपरी (आभास) हैं और प्रत्येक वस्तु मूल रूप में शाश्वत है। कुछ विचारक यह भी मानते थे कि पदार्थ अनश्वर हैं और इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त संवेदन-अनुभव पदार्थ में होने वाले परिवर्तनों की अभिव्यक्ति मात्र हैं। इसके विरोध में बौद्धों ने यह स्वीकार किया कि प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण में बदलती रहती है। अतः देखने वाली स्थिरता हमारी दृष्टि का भ्रम है। एक दूसरे से अलग कतिपय भौतिक तत्त्वों का ही अस्तित्व है, जो अस्थायी एवं निरन्तर बदलता रहता है। उन्होंने किसी भी वस्तु को अनश्वर नहीं माना। और न किसी की शाश्वतता ही स्वीकार की है।

बौद्ध किसी भी पार्थिव अथवा आध्यात्मिक सत्ता को अपरिवर्तनशील एवं शाश्वत तत्त्व स्वीकार नहीं करते। उन्होंने यहाँ तक मान लिया है कि वस्तु का यवार्थ अस्तित्व ही नहीं—है तो मात्र घटनाएँ, जिन्हें वे धर्म की संज्ञा देते हैं। वे इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव को किसी ठोस या शाश्वत पदार्थ की परिवर्तनशीलता की

^१ राइस डेविड्स, डायालाग्स ऑव दि बुद्ध।

अभिव्यक्ति भी नहीं मानते थे। उनके अनुसार अस्तित्व का केवल प्रवाह (धारा) है। इसी तर्क के आधार पर उन्होंने आत्मा को शाश्वत या अपरिवर्तनशील सत्ता मानने का विरोध किया है, जिस से ऐसा अनुमान होता है कि बौद्ध धर्म के आरम्भिक काल में आत्मा को शाश्वत सत्ता माना जाता था। बुद्ध ने आत्मा को मात्र कल्पना मानकर उसकी चर्चा ही नहीं की। बौद्धों ने बाद में पदार्थ, अनुभूति-समूह, सज्ञा एवं आवेग के समुच्चय को 'आत्मा' मानकर 'पञ्चस्कन्ध-सिद्धान्त' की स्थापना की है।

बुद्ध ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखते थे, इसलिए उन्होंने किसी के भाग्य का नियन्त्रक अलौकिक शक्ति (ब्रह्म) के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दिया है।^१ वे यह कहा करते थे कि ईश्वर में विश्वास का यह दुष्परिणाम निकलता है कि मनुष्य अपना चारित्रिक विकास न कर, एषणाओं का दास बन जाता है।

उपर्युक्त अवधारणाओं का प्रणेता होने के बावजूद भी बुद्ध भौतिकवादी विचारक नहीं है। वे ईश्वर और आत्मा के आदर्शवादी अस्तित्व का निषेध करते हुए भी यह मान लेते हैं कि वैयक्तिक चेतना मृत्यु (शरीर-नाश) के बाद भी बनी रहती है। मृत्यु का अर्थ उन्होंने धर्मों (मंयोग) का बिखराव माना है और कहा है कि यह संयोग पुनः बन जाया करता है। इसी लिए बौद्ध धर्म में पुनर्जन्म को मान लिया गया है। राहुल साह्यायन का यह कथन अत्यन्त सटीक लगता है कि बुद्ध ईश्वरवाद और भौतिकवाद में भी मध्यम मार्गी है।^२ बौद्धों का निर्वाण का सिद्धान्त भी आदर्शवादात्मक है, क्योंकि वे उसे निरन्तर रहस्य-पूर्ण बतलाते हैं। उन्होंने मुक्ति (निर्वाण) को मानसिक प्रयत्नों द्वारा प्राप्य स्वीकार किया है। बुद्ध धर्म की इस मान्यता का परवर्ती बौद्धों द्वारा खूब प्रचार किया गया है। 'भलाई से भलाई और बुराई से बुराई' की बात कह कर भी बुद्ध ने ईश्वर की सत्ता को नकारा था। इसी कारण बुद्ध धर्म में कर्म और उसके फल को विशेष रूप से स्वीकार कर लिया गया है।

बुद्ध ने वर्णाश्रम की व्यवस्था को दैवीय विधान नहीं माना। उनकी दृष्टि में वेदों को पवित्र मानने का कोई महत्त्व नहीं है। ऋग्वेद के 'पुरुष सुक्त' को आधार मान कर ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने अपने प्रभुत्व के लिए स्थान बनाया था। ब्राह्मण धर्म में स्वीकृत इस मान्यता का बौद्धों ने कई बार अत्यन्त उपहासात्मक शैली में खण्डन किया है और खण्डन की यह परम्परा हमें मध्यकालीन निगुंण सन्तों तक प्राप्त होती है। कबीर और गुरुनानक ने भी ऐसे विश्वासों का बराबर खण्डन किया है। 'धम्मपद' के अनुसार बुरा वह है जो बुरे कर्म करता है—वर्ण विशेष में जन्म ले लेने पर ही किसी को बड़ा (सच्चरित्र) नहीं माना जा सकता। बुद्ध कहा करते थे कि तर्क और अनुभव के परीक्षण के उपरान्त ही किसी बात को ग्रहण करना चाहिए। वर्ण-

^१ डा० राधाकृष्णन, इण्डियन फिलासफी, खण्ड १, पृ० ३५६।

^२ न्यू ज, (१९५६)।

भेद को उन्होंने अमान्य ठहराया था और इसी आधार पर सभी वर्ण वालों को संघ में दीक्षित होने का अधिकार भी दे दिया था।

उत्थान-पतन—अशोक के राज्य काल में बौद्ध-धर्म के परम्परागत रूप में कई प्रकार के परिवर्तन हो गये थे। उसकी व्यवस्था मठात्मक बन गयी थी, जिससे जीवन की सादगी के आदर्श को पर्याप्त धक्का पहुँचा था। राजाओं ने ब्राह्मणवादी युग में ब्राह्मणों को आश्रय दिया था, वही बौद्ध भिक्षुओं को बौद्ध धर्मानुयायी राजाओं से प्राप्त हुआ। बौद्ध धर्म में स्वीकृत आध्यात्मिक मूल्य उस युग के शासकों एवं सम्भ्रान्त समाज वालों के अनुकूल पड़ते थे। बुद्ध ने समाज की आर्थिक व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जिसमें शोषितसमाज की वर्ग-चेतना पूर्ववत् कुण्ठित ही रह गयी थी। बुद्ध के मादा जीवन बिताने के उपदेशों का भी शासक वर्ग एवं धनी-समाज को लाभ ही हुआ। क्योंकि संसार की नश्वरता के प्रचार ने लोगों से अपने अधिकारों के लिए लड़ने की प्रेरणा ही छीन ली। ब्राह्मणवाद को परिस्थितियों ने जन्म दिया था, लेकिन बाद में उनकी विचारधारा ने स्थिर रूप धारण कर समाज के हित का विरोध किया। परवर्ती बौद्ध धर्म के प्रभाव-काल में भी यही हुआ है। केवल दया, नैतिकता और अहिंसा आदि के द्वारा मानवतावाद को कुछ शक्ति मिली लेकिन बाद में तान्त्रिक बौद्धों ने उसे भी विकृत बना डाला।

सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर इसके प्रचार को बहुत अधिक बढ़ाया लेकिन पुण्य मित्र के राज्य-काल में बौद्धों की स्थिति बिगड़ने लगी। इसकी क्षति-पूर्ति पुनः कनिष्क के समय में ही हो सकी। राज्याश्रय बौद्ध धर्म को चिर काल तक स्थिर रख सका, क्योंकि उसमें सैद्धान्तिक स्तर पर विभिन्न प्रकार के परिवर्तन आरम्भ हो गये। बुद्ध वेदों की भाँति किसी ग्रन्थ की रचना को आपकृति का रूप नहीं देना चाहते थे, लेकिन इसका परवर्ती बौद्धों ने गलत इस्तेमाल किया और बुद्ध के उपदेशों को स्वतन्त्र ढंग में व्याख्यात करना आरम्भ कर दिया गया। फलस्वरूप बौद्ध समाज कई दलों में विभक्त होकर अपनी-अपनी दर्शन-प्रणाली का अनुयायी बनता गया और अन्त में वर्ग-हितां के प्रवेश ने बुद्ध के उपदेशों को अपने हितों और स्वार्थों के अनुरूप ढाल लिया, जो बाद में शक्यचार्य के एक धक्के से ही समाप्त प्राय हो गया।

● हीनयानी बौद्ध दर्शन का परमसत्ता—सिद्धान्त

बुद्ध, भिक्षुओं को परमात्मा के बारे में अधिक ऊहापोह करने की अपेक्षा जीव के निजी प्रयत्न पर ही अधिक बल दिया करते थे। उन्होंने चार आर्यसत्त्वों के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर तदनुसार आचारण द्वारा वासनाओं के क्षय को ही निर्वाण माना है। परन्तु बुद्ध के मोन की परवर्ती बौद्धाचार्यों ने कई रूपों में व्याख्याएँ की हैं। उनकी मुख्य व्याख्या यह है कि बुद्ध ने परमतत्त्व के सम्बन्ध में मोन का सहारा लेकर यह ध्वनित किया है कि परमतत्त्व अनिर्वचनीय सत्ता

है। इसी अनिवर्चनीयता को लेकर इस धर्म के विभिन्न मतों और सम्प्रदायों में परमनित्य के स्वरूप की अलग-अलग परिभाषाएँ और व्याख्याएँ की गयी हैं।

विज्ञानवादी बौद्धों के विचार में सत्य या अन्तिम सत्ता केवल विज्ञान की है। विज्ञान को वे स्वप्रकाशचैतन्य स्वीकार करते हैं।^१ उसे सतत परिवर्तनशील सत्ता माना गया है प्रथम विज्ञान दूसरे विज्ञान को जन्म देता है और दूसरा विज्ञान प्रथम विज्ञान में पूर्णतया भिन्न न होकर केवल प्रथम विज्ञान में कुछ विशिष्टता को सम्मिलित कर देता है। इसे आलातचक्र के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है।^२ विज्ञानों का नैर्गन्तव्य ही सामूहिक रूप में 'संवृत्तिमत्य' का अभिधान प्राप्त करता है, परन्तु उसे परममत्य नहीं माना जा सकता। इसी आधार पर स्थिर एवं स्वतन्त्र चैतन्य या आत्मा के शाश्वत अस्तित्व का उन्होंने खण्डन किया है। यह भी बतलाया गया है कि विषय और विषयी भी केवल विज्ञान ही है, उनका स्वभाव भी क्षणिक है और उनकी प्रतीति या अनुभूति का आधार केवल 'संवृत्तिमत्य' है।^३ आलम्ब विज्ञान में विषय और विषयी की स्थिति के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। विज्ञानवादी अस्मिन्त्र की प्रतीति अर्थात् आलम्बविज्ञान को भी अन्ततोगत्वा क्षणिक ही मानते हैं।^४ अन्त में इस सम्बन्ध में इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि विज्ञान वादियों के अनुसार अनादि वामनाओं का आधार आलम्बविज्ञान है। इसी वामना के कारण हमें विषय और विषयी के रूप में अपने में भिन्न पदार्थों और अपने आप के अस्मिन्त्र का अनुभव होता रहता है। विज्ञान को 'प्रभास्वर' बतलाया गया है एवं वह अपने वामनारहित स्वरूप में विशेषणानीन सत्ता है। वही चित्त समूह का रूप धारण करती है। इसी के कारण जीव या पञ्चभूतात्मक चेतन प्राणी को अपने अस्तित्व का अनुभव होता रहता है।^५

^१ म० या० वि० २०, वित्रमात्रमिदं सर्वं मायावदवतिष्ठते। ततः शुभाशुभं कर्म ततो जाति शुभाशुभा ॥ म० द० म० प्र० २ पृ० १३; नान्योऽनुभावो बुद्धयस्ति तस्य नानुभवोऽपरः। ग्राह्य ग्राहकवैद्ययानि स्वयं सर्वं प्रकाशते ॥

^२ भारतीय दर्शन (डा० रा० कृ०) भाग १, पृ० ६२६।

^३ म० द० स० पृ० १३।

^४ वही० पृ० १५, तत् स्यात् आलम्बविज्ञानं यद् भवेदहमात्मकम् तथा तत्स्यात् प्रवृत्ति विज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ॥

^५ मा० वि० मू० टी० १-२, शून्यताहिविशुद्धलम्बना। सात्र ग्राह्यग्राहक रहितता ॥ वही० १-२२; यद्ययं न भवेत्लोकेशो मुक्ता स्युः सर्वं देहिना। विशुद्धा यदि सा न स्यात् प्रयत्नो निष्फलो भवेत् ॥ वही० १-२; अभूतपरिकल्पो हि ग्राह्य ग्राहक रहितः शून्य इति न सर्वथा स्वभावतो नास्ति। इयमेव हि शून्यता या ग्राह्यग्राहक रहितता ॥

● शून्यवादी बौद्ध दर्शन का परमसत्ता-सिद्धान्त

माध्यमिक योगाचार-सिद्धान्त के मानने वाले हैं। वे विज्ञान की शाश्वत सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इस सम्प्रदाय के वैभाषिक और सौत्रातिक मतों में पहले मत के अनुसार जगत इन्द्रियग्राह्य अर्थात् प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, जबकि सौत्रातिक उसे अनुमानगम्य ही मानते हैं। योगाचार दर्शन में ज्ञाता और ज्ञेय के स्थान पर केवल विज्ञान की सत्ता को स्वीकार किया गया है। परन्तु माध्यमिक विज्ञान को भी शाश्वत तत्त्व नहीं मानते। वे शून्यता को ही परम सत्य बतलाते हैं।^१ शून्यता को वसुबन्धु ने केवल अभाव नहीं माना बल्कि उसे विज्ञान के रूप में कल्पित या प्रतीतिरूप प्रकाश स्वीकार किया है। असग और मंत्रय ने इसे अभूतपरिकल्प का अभिधान दिया है। अभूतपरिवर्त-सिद्धान्त के अनुसार विज्ञान का अस्तित्व किमी इकाई विशेष के रूप में नहीं है। उसमें ज्ञाता और ज्ञेय की केवल परिकल्पना ही की जाती है। विज्ञान इसी दृष्टि से अभूतपरिकल्प सत्ता है।^२ संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है कि ज्ञाता और ज्ञेय के अभाव में विज्ञान 'शून्य' है। इसे योगाचार का ज्ञान, वैभाषिकों और सौत्रातिकों का ज्ञात और हिन्दू दर्शनों का ज्ञाता नहीं कहा जा सकता। इसी दृष्टि में इसको अनिवर्चनीय कहा गया है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वैष्णव भक्त और निगुणवादी सत् अनिवर्चनीय सत्ता का वही स्वरूप नहीं मानते जैसा कि बौद्धों ने स्वीकार किया है। शून्यवादी बौद्ध दार्शनिकों ने ज्ञाता और ज्ञेय को 'शून्य' का धर्म बतलाया है और उनके मेल से जीव-विज्ञान के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। असल में विज्ञानों का कोई आधार नहीं होता। अतः इनका धर्म भी कोई नहीं हो सकता। नागाजुन ने शून्य को परमसत्ता तो माना है परन्तु उसके स्वरूप का उल्लेख नहीं किया है। यही कारण है कि गौडपादाचार्य का 'ब्रह्म' और नागाजुन का 'शून्य' दो स्वतन्त्र एवं अलग-अलग सिद्धान्त बन गये हैं।^३

बौद्ध धर्म महायान शाखा से वज्रयान और सहजयान के रूप में भक्ति प्रधान बन गया। भक्ति-साधना के लिए उपास्य और उपासक की स्वीकृति आवश्यक होने के कारण बोधिसत्त्वों के अवतारी रूप जैसे सिद्धान्त को भी इनमें स्वीकार कर लिया गया है। बौद्ध धर्म द्वारा भक्ति प्रधान रूप धारण करने के ऐतिहासिक कारण ये हैं। महायान में हर एक स्तर के व्यक्ति को दीक्षित किया जाने लगा था, इस लिए साधना

^१ भारतीय दर्शन (डा० रा० कृ०) भाग १, पृ० ६१६; तत्रलोक, प्र० ४, भाग १, पृ० ६५;

^२ म० वि० सू० टी० १-२,

^३ माध्य० वि० सू० १-२, वही० टीका १-२, भारतीय दर्शन (डा० रा० कृ०), भाग १, पृ० ६६२, माध्य० विभा० सू० १-२, टीका, भा० दर्शन (डा० रा० कृ०), भा० १, पृ० ५४६, ६६०, वही० पृ० ४६४।

पद्धतियों में सरलीकरण की आवश्यकता महसूस हुई। जिन लोगों ने बौद्ध धर्म के इन नये आम्नायो में दीक्षा ले ली थी, वे अपने-अपने समाज में प्रचलित देवी देवताओं के प्रति विश्वास एवं धार्मिक साधनाएँ लेकर आये थे। बौद्धाचार्यों ने उनके देव परिवार को भी दीक्षित कर लिया था। इस प्रकार बौद्ध दर्शन की रंगत दे कर उन्हें बौद्ध देव-परिवार में सम्मिलित कर लिया गया। हिन्दू धर्म के अवतारों की देखा देखी बौद्ध देवताओं में भी वृद्धि होने लगी। बौद्ध धर्म में मान्यता प्राप्त देव-परिवार का इतना अधिक विस्तार हुआ कि हिन्दू धर्म के देवी-देवताओं की तुलना में वह आगे बढ़ गया।

महायानियों ने धीरे-धीरे धारणियों और मन्त्रों वाले साधना-मार्गों को अपना लिया था।^१ शून्य गगन में 'नैरात्म्यदेवी' के निवास के सिद्धान्त का निर्माण हुआ। इस साधना को महासुख की साधना मान कर आत्मा और परमात्मा के मिलन जैसे सुख अर्थात् अद्वयावस्था की प्राप्ति के प्रयत्न किये जाने लगे। औपनिषदिक संयोग-सुख की भाँति ही प्रस्तुत साधना की सिद्धावस्था में एकाकार होने के आनन्द पर अधिक बल दिया गया है।^२ सहजयान में अवधूती, चाण्डाली और डोमी अर्थात् इडा पिंगला और सुषुम्ना की साधना को मोक्ष की प्राप्ति का प्रधान साधन स्वीकार कर निर्वाण की अभावात्मक स्थिति को भावात्मक स्वरूप में बदल दिया गया है।^३ युगनन्द की साधना को प्रेमी-प्रेमिका की आनन्द-केलि मान कर उससे प्राप्त होने वाले आनन्द को सहज प्रेम बतलाया गया है।^४ इस प्रकार सहजयान में केवल शून्य में विहार करने के स्थान पर परमतत्त्व एवं उसकी शक्ति के मिलन-सुख की उपसना प्रधान हो गयी।^५

● बौद्ध दर्शन की परमतत्त्व की सर्वसामान्य अवधारणा

महात्मा बुद्ध ने आत्मा और परमात्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व के सम्बन्ध में मौन से काम लिया है। उन्होंने साधक (जीव) के प्रयत्न को ही महत्त्व दिया है। साथ ही चार आर्यसत्या के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर अनुकूल आचरण द्वारा वासनाओं के क्षय की अन्तिम स्थिति को ही निर्वाण (निब्बान) माना है। महायानी बौद्धाचार्यों ने ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में बुद्ध के मौन की व्याख्याएँ इस तरह से की हैं, जिनके

^१ आधुनिक बौद्धधर्म, नगेन्द्रनाथ बसु, पृ० ५।

^२ वही० पृ० ६-७।

^३ वही० पृ० ६; मिलिन्द पण्हो; सम्पादक ट्रेकनकर, पृ० ३१५-१६; रहिम डेविड, राट्टिकशनरी आफ पाली लैंग्वेज—निब्बान शब्द—धम्मपद, श्लो० २०३-४—निब्बान परमं सुखम् ... ॥

^४ साधनामाला, भा० २, पृ० ५०५; आन्सक्योर रिलिजस सेकल्ट्स (दास गुप्ता), पृ० ३६।

^५ बागची दोहाकोश, पृ० १२७।

सहारे परवर्ती अनुयाइयो ने स्वतन्त्र, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान परमतत्त्व के सिद्धान्त के लिए पर्याप्त अवकाश निकाल लिया है। इस दृष्टि से महायान के रूप में बौद्ध धर्म को एक नया ही रूप प्राप्त हुआ है। उसमें धीरे-धीरे तान्त्रिक साधनाओं का भी समावेश हो गया। अपने इस नये रूप में पहुँचते ही बौद्ध धर्म भी भक्ति प्रधान धर्म बन गया। भक्ति प्रधान धर्म की सर्व प्रमुख विशेषता परमात्मा को स्वतन्त्र चैतन्य अर्थात् सर्वज्ञ एवं सर्वशक्ति सम्पन्न मानना है। इसके साथ ही उसमें यह भी स्वीकार किया जाता है कि वह जीवा के हेतु अथवा भक्तों के कल्याण एवं रक्षा के लिए, अवतार धारण करता है। नगेन्द्रनाथ बसु ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'आधुनिक बौद्ध धर्म' में लिखा है कि बौद्ध धर्म में धीरे-धीरे धारणियों और मन्त्रों की साधना का अत्यधिक प्रचार हुआ है।^१ बौद्ध धर्म की इन शाखा के आम्नायों का यह स्वरूप अपने मूल रूप में हटकर वैष्णव धर्म के अधिक निकट आ गया था।

महायान के प्रसिद्ध आम्नायों—वज्रयान और सहजयान—में उपनिषदों के ब्रह्म-सिद्धान्त की भाँति ही परमसत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है। उसके भावात्मक अस्तित्व के बारे में उनकी मान्यताएँ वैसी ही हैं जैसी कि हिन्दू-धर्म के भक्ति प्रधान सम्प्रदायों की। विज्ञानवादी बौद्धों के मन में परमात्म-सत्ता के सम्बन्ध में बहुत ही कम विचार किया गया है। शून्यवादी बौद्धों का भी यही दृष्टिकोण है। तान्त्रिक बौद्धों का 'शून्यता' और कर्णा-सिद्धान्त यद्यपि परवर्ती है, पर वे आत्मा और परमात्मा के अद्वैत-सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते हैं। उनका मुख्य लक्ष्य मानव का द्वित अथवा उसे निर्वाण प्राप्त कराना है। चेतन प्राणियों के उपरान्त उन्होंने जगत के बारे में ही अपनी चिन्तन-शक्ति को लगाया है। विज्ञान-वादी 'आलस्य विज्ञान' के सिद्धान्त के प्रस्तावता हैं और उसी (विज्ञान) को वे परम-सत्ता स्वीकार करने हैं। विज्ञान के अनिर्विकृत किसी दूसरी स्वतन्त्र चैतन्य शक्ति के अस्तित्व को वे मान्यता नहीं देते। शून्यवादी बौद्धों ने विज्ञान के स्थान पर 'शून्य' का अन्तिम सत्ता या अवस्था माना है। वे शून्य की विभिन्न व्याख्याएँ करते हैं। उनका यह भी विश्वास है कि जीव द्वारा अपने अस्तित्व की प्रतीति या अनुभूति भी क्षणिक है। उनकी दृष्टि में जगत वासना एवं सस्कार-प्रवाह में अलग स्वतन्त्र एवं अनादि सत्ता नहीं है। माध्यमिक बौद्धों ने विज्ञान को भी वास्तविक सत्ता मानने में इन्कार किया है। लेकिन आचार्य वसुवन्धु का विचार उपर्युक्त धारणा के अन्तर्गत नहीं आता। वे यह मानते हैं कि विज्ञान द्वारा प्रतीत होने वाले रूपों में 'शून्य' पूर्ण-तया भावात्मक सत्ता है। आचार्य नागार्जुन 'शून्य' के स्वरूप के बारे में 'भाव' और 'अभाव' की चर्चा करके ही चुप हो जाने हैं। परवर्ती बौद्धाचार्यों ने बुद्ध और बोधिमत्त्वों के स्वरूप की अलग-अलग व्याख्याएँ की हैं। वज्रयान और सहजयान नामक तान्त्रिक आम्नायों में इस प्रकार की व्याख्याओं पर अधिक बल दिया गया है।

^१ नगेन्द्रनाथ बसु, आधुनिक बौद्ध धर्म, पृ० ५-७।

● लोकायतः अर्थ-सौमा

भौतिकवादी विचारक भारतीय दर्शन-परम्परा में लोकायत या चार्वाक माने गये हैं। आदर्शवादियों और इनमें आरम्भ से ही परस्पर संघर्ष चलता रहा है। चित्ताकर्षक एवं मनोहारी (चारु) तर्कों और युक्तियों द्वारा लोगों को अपने वाग्जाल में फँसाने के कारण अध्यात्मवादी विचारकों ने इनकी बार-बार भर्त्सना भी की है। इनके विरोध में उनका यह आक्षेप रहा है कि ये लोगों को विषय-गामी बनाते हैं। यही कारण है कि उन्होंने (अध्यात्मवादियों) 'चार्वाक' शब्द की व्युत्पत्ति भी 'चारु' और 'वाक्' के मेल से ही मानी है, जब कि चार्वाकों की दर्शन-प्रणाली को देखने हुए उक्त व्युत्पत्त्यर्थ उनके प्रति किया गया मात्र उपहास ही प्रतीत होता है। डा० दास गुप्ता के अनुसार भौतिकवादी विचारकों अर्थात् चार्वाकों के विचारों को सही सन्दर्भ में प्रस्तुत करने वाला शब्द 'लोकायत' है। लोकायत से उनका आशय उस मान्यता से है, जो आम लोगों में उनकी जीवन-पद्धति को सहज रूप में प्रेरित करती है। यही विचारधारा आगे चल कर एक दर्शन बनी है, जिसके अनुसार इसी लोक (जगत) को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस दर्शन-प्रणाली में स्वर्ग, नरक और मुक्ति की अवधारणाओं को निरर्थक परिकल्पनाएँ बतला कर यह कहा गया है कि इन अवधारणाओं का मानव के यथार्थ जीवन में कोई सम्बन्ध नहीं है।

जैन विचारक हरिभद्र एवं उनके शिष्य मणिभद्र ने भी अपनी रचनाओं में लोकायतों की दर्शन-प्रणाली के सम्बन्ध में यही संकेतित किया है कि वे केवल लोक (जगत) को ही यथार्थ मानते हैं। अतः सिद्ध है कि भौतिकवादी विचारकों के लिए 'लोकायत' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से ही होता रहा है। डा० राधा कृष्णन का मत है कि 'लोकायत' संस्कृत का शब्द है, जिसका प्रयोग दार्शनिकों द्वारा भारतीय भौतिकवादियों के लिए किया जाता रहा है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि इस दर्शन-प्रणाली का पहला प्रसिद्ध विचारक बृहस्पति है, जिसकी स्थिति वैदिक काल में ही स्वीकार कर ली गयी है। पदार्थ को प्राथमिक सत्ता मानने की बात

सम्भवतः सबसे पहले इसी बृहस्पति ने कही थी। इस सम्बन्ध में यह जान लेना संगत होगा कि आदर्शवादी चिन्तकों द्वारा बहुत पहले ही आत्मा की प्राथमिक सत्ता में विश्वास का प्रचार हो चुका होगा और इसीलिए बृहस्पति को उनकी इस मान्यता का खण्डन करना पड़ा। यह भी सम्भव है कि प्रारम्भिक भौतिकवादी दृष्टि-कोण अत्यन्त प्राचीन रहा हो, लेकिन आत्मा या चेतना की प्राथमिक सत्ता की स्वीकृति के उपरान्त वह और अधिक सक्रिय बन गयी हो। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने भी अध्वेताओं का ध्यान इस तथ्य की ओर खींचा है कि बृहस्पति की विचारधारा को प्रस्तुत करने वाले सूत्र, जो अब उपलब्ध नहीं हैं, आरम्भिक भौतिकवादी विचारधारा का पर्याप्त प्रतिनिधित्व करते हैं। तदनुसार लोकायतिक ही भौतिकवादी विचारक है। लोकायतिकों के अनुसार इन्द्रिय-बोध (प्रत्यक्ष) से आगे किसी की भी सत्ता नहीं है। महाभाष्यकार पतञ्जलि द्वारा लोकायत पर भागुरी की टीका का उल्लेख भी यही संकेत करता है कि यह विचारधारा अत्यन्त प्राचीन है। इसी तरह कौटिल्य और शान्तिरक्षित के साक्ष्यों से भी लोकायत विचारधारा की प्राचीनता मिट्ट होती है। बहुत बाद के आदर्शवादी विचारक माधवाचार्य द्वारा चार्वाकों (लोकायतों) का जोरदार खण्डन इस तथ्य का साक्ष्य है कि लोकायतों का दृष्टिकोण उनके समय भी लोगों में पर्याप्त प्रभाव बनाये हुए था। दूसरी और माधवाचार्य का समय आदर्शवादियों के आत्यन्तिक प्रभाव का समय भी है। सम्भवतः माधवाचार्य के जोरदार खण्डन को दृष्टि में रखते हुए ही मैक्समूलर को यह कहना पड़ा है कि भारतवर्ष को केवल आदर्शवादी विचारकों का देश स्वीकार करना संगत नहीं है।^१

लोकायतों अथवा चार्वाकों की भौतिकवादी विचारधारा की प्राचीनता का एक और उदाहरण यह है कि प्राचीन जैन एवं बौद्ध साहित्य में भी उस समय के यथार्थवादी विचारकों के उल्लेख हुए हैं। रामायण और महाभारत में भी इस विचारधारा का प्रतिपादन किया गया है तथा अपने युग के प्रसिद्ध अध्यात्मवादी विचारक आचार्य शंकर ने भी विभिन्न प्रसंगों में इसका उल्लेख किया है। ऐसा अनुमान भी लगाया गया है कि सातवीं और आठवीं शताब्दी ई० पूर्व में ही वैदिक पुरोहितवाद के विरोध में भौतिकवादी विचारक (लोकायत) विशेष रूप से प्रतिपक्षी आलोचक का स्थान ग्रहण करने लग गये थे। उक्त सभी तथ्यों के साक्ष्य के आधार पर यही स्वीकार करना पड़ता है कि भारत में भौतिकवादी अपनी विशिष्ट मान्यताओं के साथ वैदिक काल में ही, उसकी कर्मकाण्डी दृष्टि का खण्डन करने एवं अपनी धारणाओं का प्रचार करने में जुट गये थे। यह आरम्भिक विरोध तब तक निश्चिन्त दार्शनिक मान्यताओं की निर्माणावस्था की स्थिति में ही था। उस समय तक

^१ दि मिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिजॉमफी, पृ० ८६।

^२ वही० पृ० ९७।

अन्य आस्तिक दर्शन-प्रणालियाँ भी अभी स्पष्ट नहीं हो पायी थीं।^१ डी० भट्टाचार्य के अनुसार बृहस्पति भारतीय भौतिकवाद के प्रथम विचारक है क्योंकि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर उन्होंने ही सबसे पहले पदार्थ को परमसत्य मान कर युगीन आदर्श-वादी विचारधारा का विरोध किया था। उनका कहना था कि आत्मा को अविनाशी सत्ता स्वीकार करना व्यर्थ है क्योंकि मृत्यु के बाद जीवन की स्थिति स्वीकार करना भ्रम के सिवाय और कुछ नहीं है।^२

● आरम्भिक भौतिकवादी दृष्टिकोण

पौराण्य साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर के अनुसार वैदिक कालीन मान्यताओं—याज्ञिक कर्मकाण्ड एवं मन्त्र आदि—के विरोध का आरम्भ स्वयं उसी काल में ही होने लग गया था। इस सम्बन्ध में विचार करते हुए हरियाना महोदय ने यह अनुमान लगाया है कि ई० पूर्व आठवीं शताब्दी के आम-पास पाश्चनाथ नामक विचारक ने ही वेदों को निरर्थक एवं पारस्परिक विरोधों का भण्डार बतला कर, तदनुसार कर्मकाण्ड में आस्था रखने वाले लोगों पर, व्यंग्य करना आरम्भ कर दिया था।^३ लोकायत के लेखक के मत में उपनिषदों में ही वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध की शुरुआत हो चुकी थी। बौद्ध एवं जैन काल में ऐसे कई विचारकों के नाम मिलने लगते हैं, जिन्होंने अध्यात्मवादियों के आत्म-सिद्धान्त का घोर विरोध करते हुए, उनकी कड़ी आलोचना की है। उन समय की अध्यात्म-विचारधारा के विरोधियों में 'पुरान कस्सप' और 'मत्तलिगोत्तल' आदि छ. प्रमुख विचारकों की मान्यताओं के बारे में भी बौद्ध एवं जैन साहित्य में चर्चा की गयी है। ये विचारक अत्यन्त विश्वास के साथ यह दावा करते हैं कि शरीर से अलग आत्मा (चेतना) का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। उनके अनुसार मानव-शरीर का निर्माण चार तत्वों से होता है और इस के नष्ट हो जाने के बाद हर एक तत्व पुनः अपने मूल उत्स में समा जाता है। 'अजीत केशकम्बलिन' की शरीर और आत्मा सम्बन्धी मान्यताओं के सम्बन्ध में जैन सूत्रों में बतलाया गया है कि वे शरीर और आत्मा को दो एवं भिन्न स्वीकार नहीं करते थे। उनका मत था कि शरीर के नाश के साथ ही आत्मा (चेतना) का भी नाश हो जाता है।^४

आरम्भिक भौतिकवादी विचारधारा में धीरे-धीरे मूल तत्वों की संख्या में वृद्धि होती रही है। जैन सूत्रों में वर्णित आरम्भिक भौतिकवादियों की मान्यताओं के अनुसार तत्वों की संख्या चार से बढ़ कर पाँच हो गयी है। सम्भवतः आत्मा को

^१ डा० राधाकृष्णन, हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी, ख० १, पृ० २७७।

^२ वही० हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी, ख० १, पृ० १३३।

^३ एम० हरियाना, औटलाइन्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृ० ४३-४४।

^४ एच० जंकोबी, जैनसूत्राज, इंट्रोडक्शन, पृ० ३४।

पाँचवाँ तत्त्व मानने के हेतु ही ऐसा किया गया है। तब तक यह माना जाने लगा था कि प्रत्येक मनुष्य की अपनी एक अलग-अलग आत्मा होती है। तदनुसार समस्त ब्रह्माण्ड अर्थात् भौतिक जगत के मूल कारण पाँच तत्त्व ही माने गये हैं। आत्मा को स्वतन्त्र चैतन्य स्वीकार करने का विरोध करते हुए कहा गया है कि पाँचों के पाँचों तत्त्व जब एक दूसरे के समवाय में न रह कर परस्पर विघटित हो जाते हैं उस समय आत्मा के अस्तित्व का भी लोप हो जाता है। यही से यह ध्वनि भी निकलती है कि पदार्थ के रूप में ही सही, लेकिन आत्मा की सत्ता को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया जाने लगा था। तत्त्वों की प्रत्यक्ष या परोक्ष सृष्टि की मान्यता का भी इन विचारकों ने खण्डन किया है। वे केवल इतना ही मानते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि पाँचों ही तत्त्व स्वयं अपने आप में या अपने से भिन्न किसी अतिरिक्त अनादि सत्ता के न तो परिणाम हैं, और न ही किसी से इनकी उत्पत्ति ही होती है। यही कारण है कि उन्होंने नस्वों को आदि और अन्त की सीमाओं में अनीत मान लिया है। उनके अनुसार तत्त्वों की सत्ता शाश्वत है, वे शाश्वत तत्त्व (पदार्थ) का पूर्णनाश स्वीकार नहीं करते। वे यह भी स्वीकार नहीं करते कि मूल तत्त्व (पदार्थ) ने किसी अन्य तत्त्व का जन्म हो सकता है।^१ कालान्तर में तत्त्व मान मान लिए गये जिनमें चार तत्त्व पहले के थे और मुख, दुःख एवं आत्मा को और जोड़ दिया गया।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भिक भौतिकवाद में ही शाश्वत पदार्थों की सख्या में वृद्धि हो गयी थी। तदनुसार आत्मा का अस्तित्व स्वीकार तो कर लिया गया था, लेकिन उसकी अजरामरूपता का विरोध तदन्व बना रहा था। ये विचारक आत्मा के पुनर्जन्म की मान्यता का भी खण्डन करने थे और इस अवधारणा पर अधिक बल देते थे कि शरीर के नाश के साथ ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है। यही पर अध्यात्मवादियों के साथ उनका प्रधान विरोध है- अध्यात्मवादी आत्मा का प्राथमिक अस्तित्व मानते हैं और साथ ही यह भी स्वीकार करते हैं कि उसका चैतन्य स्वतन्त्र है। वह अजरामर सत्ता है और शरीर के नाश या त्याग के उपरान्त वह नया जन्म भी ग्रहण कर लेती है। आरम्भिक भौतिकवादियों ने कम ही स्थान नियति को दिया है। चेतना के सम्बन्ध में उनकी यह अवधारणा है कि वस्तुओं के सज्ञान से अतिरिक्त उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती उनके अनुसार दो अलग-अलग शरीरों में एक ही चेतना की स्थिति सम्भव नहीं है।

भौतिकवादी विचारकों और अध्यात्मवादी चिन्तकों में निरन्तर सन्धर्ष की स्थिति बिरकाल तक बनी रही। कालान्तर में सामाजिक व्यवस्था में हुए परिवर्तनों के कारण अध्यात्मवादियों की साधन-शक्तियों में वृद्धि हो गयी और भौतिकवादी विचारधारा का प्रभाव कम हो गया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इस विचारधारा ने अपनी मान्यताओं का पूर्ण परित्याग कर आदर्शवादियों से अन्तिम समझौता

^१ जैनसूत्राज (जंकोवी) पृ० ३३६-४१, वही० पृ० २३६, ३४२-४३, २३७।

से परिचालित स्वीकार कर यह बतलाया गया है कि हमें परमात्मा या किसी अनौकिक शक्ति एवं पदार्थ की नियामक चेतन सत्ता को स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं है। ब्रह्माण्ड भौतिक तत्त्वों का समवाय मात्र है—इससे अधिक वह कुछ भी नहीं। वह स्व-परिचालित रहता है, अतः उसकी उत्पत्ति, स्थिति एवं नियमन आदि के लिए किसी अतिरिक्त परमचेतन्य के अस्तित्व को स्वीकार करना व्यर्थ की कल्पना है। परलोक की अवधारणा का खण्डन करते हुए ऋषि ने यह भी कहा है कि इस (प्रत्यक्ष) जगत को छोड़कर दूसरा कोई लोक नहीं है। जीव और शरीर को सहजात मान कर वह इस मत का प्रतिपादन करता है कि दोनों की सहजन्मना प्राकृतिक एवं स्वभाविक है। दोनों साध-माय विक्रम, ह्याम एवं अन्त में विनाश को प्राप्त होते हैं। जगत के अस्तित्व की चर्चा में इस मान्यता का प्रतिपादन भी कर दिया गया है कि सभी जागतिक पदार्थ अपने स्वभाव (प्रकृति) के कारण ही सत्तावान हैं। उत्पत्ति, नियमन और रक्षा आदि भी प्रकृति (स्वभाव) का ही धर्म है। इसलिए जगत और उसके सभी व्यापारों की खोज प्रकृति में भिन्न किसी दूसरी अनौकिक सत्ता में करना बिल्कुल व्यर्थ का विचार है।^१

महाभारत में हमें यहच्छावाद की चर्चा भी मिलती है, जिसके अनुसार जगत किसी चेतन सत्ता (खण्डा) की रचना नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्म की अवधारणा के खण्डन करने वाले भौतिकवादी विचारको ने अपने विचारों का प्रचार करते रहना बन्द नहीं किया था। यहच्छावाद के अनुसार प्राथमिक सत्ता पदार्थ कणों (परमाणुओं) की है और वे स्वयं ही स्फूर्त होकर मिश्रण की प्रक्रिया के द्वारा जगत का रूप धारण कर लेते हैं। यहच्छावाद में किसी निश्चित कारण की उपस्थिति को भी अस्वीकार किया गया है। तदनुसार प्रत्येक व्यापार आकस्मिक घटना है।^२ महाभारत के शान्तिपर्व में भौतिकवादी विचारको की मान्यताएँ यद्यपि प्रतिपक्षों के रूप में ही प्रस्तुत की गयी हैं, लेकिन इसमें यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वैदिक काल में लेकर रामायण और महाभारत के रचना-काल पर्यन्त भौतिकवादी विचारक आत्मवाद के साथ ही अनात्मवाद या प्रकृति-सिद्धान्त की चर्चा भी करते रहे हैं। इसमें यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि उनके इन विचारों को स्वीकार कर, जीवन-यापन करने वाला समाज भी अवश्य रहा होगा।

● लोकायत दर्शन-प्रणाली की परमतत्त्व की अवधारणा

गत पंक्तियों में भारतीय भौतिकवाद के आरम्भिक रूप का ही उल्लेख किया गया है। इसके साथ ही यह संकेत भी कर दिया गया है कि कालान्तर में सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के कारण आदर्शवादी विचारको का प्रभुत्व बढ़ गया

^१ महाभारत, शान्तिपर्व, १२, २२४, ७-६, २३७, ३-६।

^२ हरियाना, ओट लाइज ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृष्ठ १०३-१०४।

था, और उन्होंने लोकायत विचारधारा को तोड़-मरोड़ कर ऐसे रूप में प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया था, जिसने जनता का ध्यान ही इस ओर से हट गया और वह ईश्वरवाद की कायल बनकर भौतिकवादी दृष्टि में दूर हट गई। लोकायत-साहित्य स्वयं धीरे-धीरे अन्धकार के गर्त में बिलीन हो गया, इसलिए उसके शीघ्र पुनरुत्थान का अवसर भी हाथ से जाना रहा। आजकल हमें लोकायतों की मूल रचनाओं के माध्यम से उनके विचार किसी निश्चित एवं नियमित शृंखला के रूप में प्राप्त नहीं होते। जो कुछ भी हमें आज प्राप्त है, वह उनके द्वारा नहीं, बल्कि उनके विरोधी अध्यात्मवादियों के ग्रन्थों में ही मुलभ हो सका है। इस सम्बन्ध में पण्डित जवाहर लाल अपनी पुस्तक 'भारत की खोज' में लिखते हैं कि लुप्त एवं नष्ट कर दिये गये ग्रन्थों में वह सम्पूर्ण भौतिकवादी दर्शन भी था, जो प्रधान (आरम्भिक) उपनिषदों के तत्काल बाद रचा गया था। आज हमें उस साहित्य की विचारधारा के उल्लेख उसके खण्डन के रूप में ही प्राप्त होते हैं। यह तथ्य इस सत्य का प्रमाण है कि भारत में किसी समय भौतिकवादी दर्शन का पर्याप्त प्रचलन रहा है। यहाँ तक कि कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में भौतिकवादी दर्शन-प्रणाली की चर्चा की है, और उसे सम्मानित रूप में ही ग्रहण किया है। यदि यह दर्शन उस समय पर्याप्त प्रिय एवं प्रचारित न होता, तो वे इस की चर्चा की आवश्यकता ही अनुभव न करते। पण्डित जी के अनुसार आजकल इस दर्शन की बातें हमें जिस माध्यम में प्राप्त होती हैं, उसके रचयिता वे लोग हैं, जिन्होंने अपने आदर्शवाद की स्थापना के लिए भौतिकवादियों का घोर विरोध एवं उनकी विचारधारा को गलत ढंग में प्रस्तुत करने का यत्न किया है। वे यह भी मानते हैं कि सम्भवतः रुढ़िवादी धर्म में विश्वास रखने वालों एवं स्वयं पुण्डितों ने ही जान-बूझ कर इस दर्शन के साहित्य को नाश के गर्त में पहुँचा दिया है।^१ माधवाचार्य के अनुसार लोकायत-तत्त्व-विचार संक्षेप में इस प्रकार है

(क) लोकायत चार तत्त्वों की प्राथमिक सत्ता स्वीकार करते हैं। ये तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु।

(ख) वे केवल उन्हीं वस्तु आदि का अस्तित्व मानते हैं, जो इन्द्रिय-ग्राह्य होती हैं। अप्रत्यक्ष के प्रत्यक्ष के अस्तित्व के सर्वथा अभाव के कारण, वे उसे प्रमाण स्वीकार नहीं करते।

(ग) प्रत्यक्ष के अस्तित्व के सम्बन्ध में वे यह युक्ति एवं तर्क देते हैं कि जिस प्रकार खरगोश के मिर पर सींगों के प्रत्यक्ष अस्तित्व के अभाव के कारण, उनकी सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती, इसी तरह जिसका अस्तित्व कभी इन्द्रिय-ग्राह्य हुआ ही नहीं, उसकी सत्ता मानना ही असंगत है।

(घ) हर एक व्यक्ति (प्राणी) यदि सुखी या दुःखी होता है, तो उसका कारण प्रकृति-निग्रम है। इसमें अलग कोई दूसरा कारण स्वीकार करना ठीक नहीं है।

^१ भारत की खोज, पृष्ठ ८६।

(ङ) आत्मा की शरीरी स्थिति है, अतः वह शरीर में भिन्न कुछ भी नहीं है। पदार्थ से उत्पन्न जीवियों में चेतना की अभिव्यक्ति तत्त्वों के आपसी मिश्रण एवं समवाय से उत्पन्न होती है। इस संसार के अतिरिक्त दूसरा कोई लोक नहीं है। स्वर्ग और नरक मात्र कल्पना है। लोकों की अवधारणा कोरी कल्पना से अधिक कुछ भी नहीं।

(च) स्वर्ग का केवल इतना ही अर्थ है कि यदि व्यक्ति को सभी प्रकार के सुखों एवं सुविधाओं की प्राप्ति है तो यह मान लिया जाये कि वह स्वर्ग में रह रहा है। इसी तरह सभी प्रकार की असुविधाएँ, दुःख और कष्ट ही नरक है।

(छ) अग्निहोत्र-कर्मकाण्ड, तीनों वेद, त्रिदण्ड और भस्म-लेपन आदि की अवधारणाएँ एवं कल्पनाएँ उन लोगों के मस्तिष्क की उपज हैं, जो अपनी पेट-पूजा के लिए दिन-रात दूसरों को ठगने की बात सोचने रहते हैं।

माधवाचार्य की भाँति ही टुची महोदय ने भी चार्वाकों की दर्शन-प्रणाली की मूलभूत मान्यताओं का उल्लेख किया है, जिसका सारांश इस प्रकार है :—

(क) चार्वाक, धार्मिक साहित्य को मिथ्या मिथ्य कर उसके प्रति उपेक्षा-भाव का प्रचार करते हैं। उनके अनुसार देवी-देवता या अलौकिक शक्ति का कहीं-कोई अस्तित्व नहीं है।

(ख) वे आत्मा की अमरता का खण्डन करते हैं और यह मानते हैं कि शरीर के नाश (मृत्यु) के बाद कुछ शेष नहीं रहता।

(ग) उनके मत में कर्म की धारणा भ्रम है, क्योंकि वह प्रवर्तन-हीन है। भौतिक तत्त्व (महाभूत) ही उनकी दृष्टि में सब की उत्पत्ति के मूल कारण हैं।

(घ) प्रजा कोई स्वतन्त्र चेतना विशेष नहीं, वह भौतिक तत्त्वों में ही उत्पन्न होती है। ज्ञान के लिए आप्त वचन एवं आर्य ग्रन्थों को प्रमाण मानना ठीक नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान ही मात्र सच्चा ज्ञान है। धार्मिक आदेशों एवं पुरोहितों का कहना मानना मूर्खता है और जीवन का परम साध्य अधिक में अधिक आनन्द का लाभ एवं उसका उपभोग करना है। मक्षेप में लोकायत विचारधारा का यही स्वरूप है।

लोकायतों की विचारधारा परवर्ती दार्शनिक युग में भी सक्रिय रही है। पीछे यह बतलाया गया है कि आज हम लोकायतों के ग्रन्थ, उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु बौद्ध ग्रन्थों, जैन सूत्रों, रामायण, महाभारत एवं माधवाचार्य की रचना 'सर्वदर्शन-संग्रह' के साथ-साथ शंकराचार्य के माध्यों के आधार पर उनके जिन दृष्टिकोण का गत पश्चित्तियों में प्रतिपादन किया गया है, उसे दृष्टि में रखते हुए यह माना जा सकता है कि द्वैत दर्शनों में (भागवत दर्शनों को छोड़कर) लोकायतों की यथार्थवादी विचारधारा का ही प्रभाव है। न्याय और वैशेषिक तथा साह्य और योग दर्शन में लोकायतों के दृष्टिकोण को पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ है। इन दर्शनों की विचारधारा अपने मूल रूप में वैसी ही नहीं थी, जैसी आज हमें प्राप्त है। परिवर्तन के उन कारणों का सकेन भी पीछे कर दिया गया है। बात असल में यह है कि आदर्शवादी मान्यताओं का प्रभाव

इतना अधिक बढ़ गया था कि दर्शन का रूप प्राप्त करने तक सांख्य और बौद्धिक की उपस्थापना के रूप को परिवर्तित ढंग में प्रस्तुत करना अनिवार्य हो गया था। इन दर्शनों की अर्वाचीन रचनाओं, भाष्यों एवं टीकाओं में यह रूप-परिवर्तन और अधिक मात्रा में कर दिया गया है। फिर भी इन दर्शनों के मूलस्वर की ओर सावधानी के साथ ध्यान देने से पता चल जाता है कि तत्त्व-विचार को ही इनमें प्रधान आधार के रूप में स्वीकार किया गया है और ईश्वरवाद का प्रभाव मात्र सामाजिकों को अपनी ओर आकर्षित किये रहने के लिए ही अपनाया गया है। यही स्थिति प्रायः शैव एवं शाक्त दर्शनों की भी मानी जा सकती है। इनमें मन्देह नहीं कि शैवों का परमशिव-मिष्ठान्त पूर्ण रूप से आदर्शवादी दृष्टिकोण है लेकिन प्रत्यभिज्ञावादियों ने उसे आदर्श-वादी दृष्टि में आध्यात्मिक परमिष्ठान्त कर दिया है, अन्यथा शक्ति-मिष्ठान्त में हम अब भी प्रकृति-मिष्ठान्त की झलक देख सकते हैं। यही स्थिति शाक्त विचारकों की भी है। यह ईश्वरवादी प्रभाव ही है, जिसके कारण परवर्ती काल में भौतिकदृष्टि प्रधान विचारधारा में सर्वत्र ईश्वरवादी रगत दे दी गई है।

● भौतिकवादी एकत्व-अवधारणा

वैदिक आर्य पर्याप्त समय तक बहुदेववादी आस्था के द्वारा प्राकृतिक शक्तियों में देवत्वारोपण के माध्यम से अपनी धार्मिक भावनाओं को सन्तुष्ट करने रहे। लेकिन वे इस तथ्य के अपवाद भी नहीं बन रहे कि मानव-मस्तिष्क उत्तरोत्तर अन्वेषण की जिज्ञासा से प्रेरित होकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नवीन उपलब्धियों की खोज में क्रियाशील बना रहता है। धीरे-धीरे बहुदेववादी विचार ने एकाधिदेव की ओर उन्मुखता दिखाना कर आर्यों की नवीन उपलब्धि का प्रमाण दिया है, जो कालान्तर में उनकी चिन्तन-परम्परा में एकत्व की अवधारणा का आधार बनी है। संहिताओं की मान्यताओं के तत्काल बाद ही औपनिषदिक विचारधारा ने जन्म ले लिया था और यह स्वीकार किया जाने लगा था कि आत्मा (ब्रह्म) ही जगत का मूलकारण है। संक्षेप में आदर्शवादियों की एकत्व की अवधारणा का यही अर्थ या स्वरूप है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि एकत्व के स्वरूप के सम्बन्ध में भी आदर्शवादी विचारकों में पर्याप्त मत-भेद रहा है। एकत्व (जगत के मूलभूत आदि कारण) के विषय में जो विचार ब्रह्मवादियों (उपनिषत्कालीन) के हैं, वे ही बौद्धों एवं जैनियों के नहीं हैं। यहाँ तक कि बौद्ध एवं जैन स्वयं भी काल-यापन के साथ-साथ विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में एक ही मूल अवधारणा की भिन्न-भिन्न ढंग से व्याख्या करते दिखाई देते हैं।

भौतिकवादी विचारकों एवं आध्यात्मिकिन्तकों की एकत्व की अवधारणाएँ स्वतन्त्र मान्यताओं के आधार पर स्थित होने के कारण बिल्कुल भिन्न प्रकार की हैं। 'पुण्य सूक्त' और 'नासदीय सूक्त' के आधार पर यह माना जा सकता है कि संहिताओं के रचियताओं ने अनेकत्व से एकत्व की ओर ध्यान देना आरम्भ कर

दिया था। यदि ध्यान से देखा जाय तो उससे भी पहले इन्द्र, वरुण और ऋतु आदि प्रमुख देवताओं के स्वरूप में ही एकत्व की अवधारणा ने आरम्भिक रूप प्राप्त करना शुरू कर दिया था। अनेक ऐसी वैदिक ऋचाएँ मिलती हैं, जिनमें एक समय यदि इन्द्र को देवताओं का देवता बतलाया गया है तो दूसरे स्थान पर वरुण को भी देवाधिदेव के रूप में वर्णित किया जाता रहा है। 'ऋतु' के वर्णनों में तो एकत्व का विचार निर्विशेष ब्रह्म के स्वरूप-विचार जैसा प्रतीत होता है। सामाजिक व्यवस्था का भौतिकवादी दृष्टिकोण से अध्ययन करने वालों का मत है कि जिस समय समाज कबीली व्यवस्था में हट कर साम्राज्य या सामन्तवादी व्यवस्था का रूप ग्रहण करने लगता है, तभी से किसी एक (अद्वैत) परम सत्ता (ईश्वर) की अवधारणा अपनी भ्रूण-स्थिति प्राप्त कर लेती है और धीरे-धीरे ऐतिहासिक कारणों के परिवर्तन के फलस्वरूप वह विकास की अन्तिम सीमा तक जा पहुँचती है। उनके अनुसार ये कारण ही बहुदेववाद से एकेश्वर की ओर बढ़ने का प्रेरक तत्व बने हैं।

एकत्ववाद और एकेश्वरवाद : भिन्न अवधारणाएँ—भौतिकवादी एकत्व-धारणा के सम्बन्ध में विचार करने में पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि पहले इस विषय पर विचार कर लिया जाए कि क्या 'एकत्व' और 'एकेश्वर' एक ही अवधारणा के दो भिन्न अभिधान तो नहीं हैं। हमारे विचार में एकत्व और एकेश्वर दो भिन्न अवधारणाएँ हैं। एकेश्वरवाद एक ही देवता में आस्था अथवा धार्मिक विश्वास है, जबकि एकत्ववाद की अवधारणा में ईश्वर (परमतत्त्व) की सत्ता को अस्वीकार कर दिया गया है। इस अवधारणा के अनुसार प्रकृति (मूल पदार्थ) ही जगत का आधार है, इसलिए 'एकत्व' मूल कारण प्रकृति की ओर सकेत है। तदनुसार सम्पूर्ण जागतिक घटना-व्यापार एवं दृष्ट वैविध्य प्रकृति का विलाम है, जो ईश्वर (चैतन्य) की तुलना में जड़तत्त्व या जड़ है। इस कारण इसे धार्मिक विश्वास न मानकर एक दार्शनिक धारणा (तत्त्व-विचार) के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। एकेश्वर की अवधारणा में उन विचारों का खण्डन है, जिनके कारण एकत्ववाद और एकेश्वरवाद एक न होकर स्वतन्त्र, भिन्न और साथ ही परम्पर विरोधी अवधारणाएँ बन गई हैं।

भौतिकएकत्व-अवधारणा—भौतिकवादी दर्शन ईश्वर (ब्रह्म) को जगत का मूलकारण (प्राथमिक तत्त्व) स्वीकार नहीं करते। वे यह भी नहीं मानते कि शरीर से भिन्न आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। उन्होंने प्रकृति को जगत का मूल कारण माना है और सम्पूर्ण घटना-व्यापार एवं वैविध्य को प्रकृति के स्वतः परिणमित होते रहने का फल स्वीकार किया है। उनके अनुसार ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु को इसी एक ही मूल पदार्थ (प्रकृति) का विकास भी मान सकते हैं। जगत के आदि में केवल मूल प्रकृति का ही अस्तित्व माना गया है और जगत के अन्त में भी। उनके मत में ईश्वर नामक कोई अलौकिक शक्ति न जगत की रचना करती है और न ही जगत के पालन और सहार के कार्य उसकी इच्छा के अधीन माने जा सकते हैं। ब्रह्माण्ड को समवाय के रूप में स्वीकार कर यह बतलाया गया है कि यह समवाय जिस

समय दृढ़ता है, उस समय वह पुनः अपने मूल उत्स (मूल पदार्थ प्रकृति) में ही समा जाता है, अतः ब्रह्माण्ड का खण्डा ईश्वर नहीं, बल्कि आदिकारण (मूल प्रकृति) का परिणाम ही जगत की रचना है।

वस्तुतः जगत की रचना की समस्या ने ही एकेश्वर और भौतिकएकत्व की अवधारणाओं को जन्म दिया है। आदर्शवादियों ने ईश्वर की सत्ता की स्वीकृति के द्वारा इस समस्या का संधान पाया है और यथार्थ-चिन्तकों ने द्रव्य या पदार्थ (प्रकृति) को मूल कारण मान कर उसी से जगत की रचना की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं। यह अवधारणाएँ अपने मूल रूप में जगत के अस्तित्व के विचार की उपलब्धि हैं। आरम्भ से ही जगत की रचना के विषय में ऊहापोह चलता रहा होगा और जिस समय जगत की रहस्यमयता का समाधान ईश्वर की सत्ता की स्वीकृति के माध्यम से प्राप्त कर लिया गया, तब इस मान्यता का विरोधी विचार भी क्रियाशील बन गया होगा। ऐसा विश्वास किया जाना है कि कोई मान्यता अपने आप में न सम्पूर्ण होती है और न अन्तिम सत्य ही। इसलिए उनके परीक्षण का कार्य अबाध रूप से चलता रहता है। यहाँ तक कि जिस समय एक मान्यता अधिक विश्वस्त रूप प्राप्त कर लेती है, उसी समय उसे परखने वाली आलोचक बुद्धि भी विशेष सक्रिय हो उठती है।

यह सम्भव है कि ईश्वरवाद के विरोध में भौतिकवादी विचारों का सूत्रपात उपर्युक्त सहज प्रक्रिया की उपलब्धि बन कर हुआ हो। एक ही प्रकार की अवधारणा सभी के लिए समान रूप में मान्य नहीं होती। यही कारण है कि एक समय जब कोई विचार या मत अवधारणा बन जाता है, तभी उसके पक्ष या विरोध में विचारों में गति आ जाती है। अतः भारतीय चिन्तकों के एक सम्प्रदाय ने जिस समय एकेश्वर के रूप में 'परमसत्ता-सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया, उसी समय उसका विरोध करने वाले विचारक भी सामने आ गए। एकेश्वर या ईश्वर के समकक्ष उन्होंने प्रकृति को जगत का मूलकारण सिद्ध करना आरम्भ कर दिया। जगत की रचना के प्रसंग में जिन्होंने 'अनुभवातीत सत्ता' की अवधारणा बनाई, उन्होंने ही इस मत का प्रचार किया कि वही जगत का रचयिता, शासक एवं नियन्ता शक्ति है।

जगत के मूलतत्त्व की खोज में सलग्न विरोधी विचारकों ने आदर्शवादियों के द्वारा मान्य वेदों की प्रामाणिकता का खण्डन करने हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ईश्वर की अवधारणा मात्र कल्पना है। वास्तविकता यह है कि जगत का निर्माण पदार्थ में होता है और पदार्थ ही जगत का मूलकारण है। जागतिक घटनाओं एवं रूप-वैविध्य के धर्म (गुण) स्वयं पदार्थ में ही निहित रहते हैं। माख्यो ने प्रकृति को, नैयायिकों ने परमाणुओं और वैशेषिकों ने पदार्थ को प्राथमिक सत्ता माना और आदर्शवादियों से भिन्न जगत की रचना-प्रक्रिया पर विचार किया। बाद में सांख्य और न्याय आदि दर्शन तो ईश्वरवाद की ओर झुक गए, लेकिन लोकायत अपनी मान्यताओं

पर दृढ़ रह कर इसी अवधारणा का प्रचार करते रहे कि जगत की रचना यादृच्छिक है और उसका मूलतत्त्व पदार्थ है। मक्षेप में भौतिकवादी एकत्व की अवधारणा का मूलभूत विचार इस प्रकार है—

(१) चित् और अचित् दो स्वतन्त्र अनादि तत्त्व नहीं हैं। जगत का प्राथमिक कारण पदार्थ है और पदार्थक प्रक्रिया या समवाय के कारण आत्मा (चेतना) उद्भूत हो जाती है। इसी आधार पर उन्होंने आत्मवादियों के आत्म-सिद्धान्त का खण्डन किया।

(२) प्रमाण केवल प्रत्यक्ष ही स्वीकार किया जा सकता है। अनुमति आशिक सत्य होता है और शब्द (वेद) को प्रमाण मानना मिथ्याडम्बर है।

(३) प्राथमिक तत्त्व (जगत का मूलकारण) में ही गति, और सम्मिश्रण की क्रियाएँ अन्तर्निहित हैं और वही परिचालित एवं परिवर्तित होकर जगत का रूप धारण करता है।

(४) ईश्वर नामक कोई स्वतन्त्र चैतन्य नहीं, जिसे जगत का मूलाधार, उस का नियन्ता आदि माना जा सके।

(५) जन्मान्तर और कर्म-फल के अनुसार पूर्वजन्म में किए गए कर्मों का मानव जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(६) प्रकृति यहच्छा या सत्कार्यवाद (कारण-कार्य) के नियम के अनुसार जगत में स्वतः परिणमित होती रहती है।

● सांख्य-योग दर्शन-प्रणाली आरम्भिक मान्यताएँ

सांख्य विचारधारा को दार्शनिक प्रणाली में बान्धने वाले आचार्य कपिल माने जाते हैं, जिनका जीवन-काल ईसा पूर्व छठी-सातवीं शताब्दी माना गया है। ऐतिहासिक दृष्टि में यह युग कुल-कथील वाली सामाजिक व्यवस्था के बीच में राज्य-संस्था के उद्भव एवं स्थापना का युग है। तब तक सन्नान्त-काल पुरे तीर पर समाप्त नहीं हुआ था, इसलिए पूर्ववर्ती सामाजिक अवधारणाएँ भी पूर्ववत् अपना स्थान बनाये हुए थीं। एक ओर आदर्शवादी विचार-परम्परा उत्तरोत्तर विकसित होती थी तो दूसरी ओर यथार्थवादी (भौतिकवादी स्वर-प्रेरित) दृष्टिकोण भी विचारको को प्रभावित करता रहता था। यहाँ तक कि महाभारत में भी पदार्थ से ब्रह्माण्ड के उद्भव को स्वीकार करने वाले विचार उपलब्ध हो जाते हैं। इस रचना के कई उल्लेखों से इस मत की पुष्टि होती है कि उस समय ऐसे विचारक विद्यमान थे, जो प्रकृति को अविनाशी, अनादि और अनन्त सत्ता स्वीकार करते थे तथा ब्रह्माण्ड के स्रष्टा एवं नियन्ता के रूप में ईश्वर की अवधारणा का खण्डन करते थे।

विद्वानों का यह भी मत है पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सांख्य विचारों के तुलनात्मक अध्ययन में ऐसा अनुमित होता है कि यह चिन्तन-परम्परा मूल रूप में अवैदिक है। इस अनुमान का आधार आदर्शवादी विचारको द्वारा इस प्रणाली की बहुत सी मान्य-

ताओं का स्वीकार कर लिया जाना है। गावें के अनुसार मूल सांख्यदर्शन में ब्रह्माण्ड की स्रष्टा एवं नियन्ता शक्ति, ईश्वर की मान्यता को स्वीकार नहीं किया गया और वेदी के विधि-निषेध को भी व्यर्थ मानकर त्याग दिया गया है। वे यह भी मानते हैं कि मूल सांख्य विचारधारा में बौद्धिक तत्त्व बाद में जोड़ दिये गये हैं और वे इतने आरोपित लगते हैं कि यदि उन्हें अलग कर दिया जाय, तब भी मूल सांख्य विचारधारा के किसी सूत्र को क्षति नहीं पहुँचती।^१ कुछ इसी तरह के विचार जिम्मर ने भी व्यक्त किये हैं। तदनुसार सांख्य और योग दर्शनों का मूल आदि-कालीन अवैदिक विचार-परम्परा में खोजा जा सकता है।^२

सांख्य प्रणाली के उक्त मूलभूत विचारों का अस्तित्व सन् ईस्वी के आरम्भ से पुराना है। महाभारत में प्रह्लाद के द्वारा कहलवाया गया है कि सभी वस्तुएँ प्रकृति से उद्भूत हैं और जो यह विश्वास बना कर जीवन की यात्रा में अग्रसर होते हैं, उन्हें दुःख-पीड़ाएँ व्यथित नहीं करती। ठीक इसी आशय का प्रतिपादन सांख्य-कारिका में आरम्भिक उद्देश्यों की चर्चा करते हुए किया गया है। इस उद्देश्य-चर्चा का माराश यह है कि ज्ञान (मानव-जीवन के सर्व प्रधान ध्येय, की प्राप्ति के माध्यम) से ही दुःखों और पीड़ाओं का निराकरण सम्भव होता है। जीवन में हम आन्तरिक, (मनस् से उत्पन्न) बाह्य (आधिभौतिक) एवं अप्रत्याशित कारणों से ही सुखी या दुःखी होते हैं। सांख्यकारिकाकार का मत है कि दुःख और पीड़ा में मुक्ति का उपाय वह नहीं, जिसका बौद्धिक पुरोहित विधान करते हैं। मानव यदि इन दुःखों और पीड़ाओं में मुक्ति चाहता है तो उसे इस तथ्य को जानने का यत्न करना चाहिए कि जगत का और मानव का आपस में क्या सम्बन्ध है।

आरम्भिक सांख्य विचारधारा में पुरुष (जीव) द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के उपायों एवं स्वयं ज्ञान के रूप के सम्बन्ध में जिन मान्यताओं का उल्लेख हुआ है, उनके अनुसार कोई भी वस्तु शून्य से उत्पन्न नहीं मानी जा सकती। तदनुसार सृष्टि पूर्व-स्थित पदार्थ (प्रकृति) का विकास (अभिव्यक्ति) है। कारण और कार्य में अविनाभाव-सम्बन्ध है, इसलिए प्रत्येक वर्तमान कार्य (वस्तु) का कोई पूर्व-वर्तमान कारण अवश्य मानना पड़ता है। इन्द्रियों को प्रत्यक्ष होने वाला नाम-रूप, प्रकृति का कार्य है। इसलिए उसमें जो गुण हैं, वे गुण उसके मूल कारण में भी होते हैं।

मूल रूप में जिसका सूक्ष्म अस्तित्व ही नहीं, उसकी सृष्टि कर सकना असम्भव कल्पना है। कारण में निहित प्रभाव को ही प्रकट किया जा सकता है। प्रकाशान्तर में कारिका की इस मान्यता का उल्लेख 'सांख्य प्रवचन सूत्र' में भी हुआ है। तदनुसार उत्पन्न या उत्पादित की जाने वाली हर वस्तु का मूल कारण पहले ही

^१ एन डट्रोडक्शन टु अनिक्रद्धाज कमेटरी आन माधवाचार्याज इण्टरप्रेटेशन ऑफ दि माख्य टेनेट्स।

^२ फिलामोफी ऑव इण्डिया, पृ० २८।

होता है, अन्यथा वह उत्पादित प्रकट या विकसित नहीं हो सकती।^१ यही सांख्यो का 'सत्कार्यवाद' है और इसी पर उनका प्रकृति-सद्धान्त आधारित है। तर्कों की इस प्रणाली का अनुसरण करते हुए पहले सांख्यो ने केवल प्रकृति (आद्यपदार्थ) को ही मूलकारण माना था। अतः स्पष्ट है कि मूल सांख्य विचारधारा के अनुसार मानव (प्राणिमात्र) के शरीर के अन्तर्गत होने वाली मानसिक क्रियाएँ एवं स्वयं शरीर मूलकारण (आरम्भिक पदार्थ-प्रकृति) के ही प्रकटीकृत रूप हैं। सभी जागतिक पदार्थों एवं मानवी शरीर के सम्पूर्ण इन्द्रिय सन्धान प्रकृति के ही रूपावरण हैं। इसी कारण सांख्यो ने औपनिषदिक आदर्शवादी विचारधारा का प्रबल विरोध किया था। सांख्य-कारिकाकार ने प्रत्येक विकसित (मूलकारण-प्रकृति-से उद्भूत) वस्तु को शाश्वत, सव्ययापी, चल, बहुरूपी, निर्भंग, विलयधर्मी एवं साग माना है। प्रकृति (मूलकारण) को वे अविकसित आदिकारण (मूल पदार्थ) स्वीकार करते हैं।^२ ये ही सांख्यो की आरम्भिक मूल मान्यताएँ हैं।

उपर्युक्त सांख्य विचारधारा की आरम्भिक मान्यताओं एवं उनमें अपनाई गयी आलोचनात्मक शैली को देख कर यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि तब तक वेदोपनिषद की आदर्शवादी विचारधारा का पर्याप्त प्रचार हो चुका होगा। उसी का खण्डन करने के लिए ही सांख्य विचारकों को यह विरोध करना पड़ा। उन्होंने सृष्टि को मृष्टिकता की रचना की अवधारणा को मात्र ढकोसला बतलाया है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का समाराधन सत्कार्य-सिद्धान्त के द्वारा करते हुए वे इस मत की स्थापना करने हैं कि जगत का प्रकटीकृत रूप मूलकारण (प्रकृति) पर आधारित है। प्रकृति को उन्होंने शाश्वत, अकारण और सव्ययापक पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार प्रकृति बोध और संवेदना से हीन, अविकसित तथा अरूप, लेकिन आदि पदार्थ है। प्रकृति के विकास का व्योरा यहाँ देने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि जगत की रचना के मन्दभं में सांख्यो के पक्षीमो तत्त्व प्रायः सभी ईश्वरवादी सत-सम्प्रदायों में भी स्वीकार कर लिए गये हैं। इस सम्बन्ध में इस तथ्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि कपिल (सांख्यकारिकाकार) मूल पदार्थ (प्रकृति) के लिए किन्नी वाह्य शक्ति (ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर) की प्रेरणा की आवश्यकता अनुभव नहीं करते। इसके विरुद्ध विपरीत वे यह मानते हैं कि गति और कारणता की प्रक्रिया स्वयं प्रकृति में अन्तर्निहित रहती है। तदनुसार पदार्थ के विकास की प्रक्रिया में ही चेतन (विचार सन्धान-मास्तिष्क) का भी उद्भव होता है, जिसके द्वारा हम वस्तुगत जगत को जानने और समझने के योग्य बन जाते हैं। 'सांख्य प्रवचन भाष्य' के पहले अध्याय में बेंलाग ढग से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ईश्वर के अस्तित्व

^१ मोनियर विलियम्स, इण्डियन विज्ञान, पृष्ठ ८६-९०।

^२ सांख्यकारिका, सूत्रा, १०,

को मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।^२ हमें फलों की प्राप्ति अपने कर्मों के द्वारा हांती है। इसके लिए ईश्वर की सत्ता को मानना व्यर्थ है।

योग दर्शन—सिन्धु-मन्यता के अवशेषों के अध्ययन के उपरान्त पुरातत्त्ववेत्ताओं ने अनुमान लगाया है कि योग की साधना का पूवरूप अत्यन्त प्राचीन है। संहिताओं के तत्काल बाद उपनिषदों में भी अध्यात्म के ज्ञान के अनुगामन के हेतु शरीर को विशेष मुद्रा में बनाये रखने के सकेतोल्लेख प्राप्त होते हैं।^१ इसी तरह जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन में भी यही अवगत होता है कि गौतम और बर्धमान दोनों सत्य को प्राप्त करने के लिए उस समय के योगियों के निर्देशन में योगाभ्यास की साधना करते रहे थे। बाद में पतञ्जलि ने योग-सम्बन्धी मान्यताओं को एकाग्रित कर, उन्हें सूत्रों में बान्ध दिया है। पातञ्जल योग का सीधा सम्बन्ध सांख्य से इसलिए जोड़ा जाता है कि उन्होंने तत्त्व-विचार और शरीरानुशासन को परस्परसंयुक्त माना है। आरम्भ में योग-साधना शरीर और मन पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक प्रयास या अनुशासन के रूप में ही स्वीकार की गयी प्रतीत होती है। जैन एवं बौद्ध काल में यदि इसके द्वारा ईश्वर की उपलब्धि की मान्यता प्रचलित होनी तो वे इसका अभ्यास करने में कदापि प्रवृत्त न होते। योग को स्वतन्त्र दर्शन की स्थिति प्रदान करने के बारे में भी विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद है। वस्तुस्थिति यह है कि योग का सम्बन्ध जितना अधिक अनुशासन की प्रणाली से है, उतना विचारधारा या तार्किक उद्घोषों से नहीं है। उस समय एक ओर वैशेषिकों का परमाणु-मिद्धान्त प्रचलित था और दूसरी ओर सांख्य विचारधारा में प्रकृति के साथ-साथ आत्मा (पुरुष) की अवधारणा (चाहे स्वतन्त्र दृष्टिकोण के अनुसार) के निर्माण के प्रयत्न भी किये जा रहे थे। योग इन दोनों की निकटवर्ती अवधारणाओं के मिश्रण के रूप में अपने लिए पहल ही पृष्ठभूमि का निर्माण कर चुका था और कालान्तर में दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित किया गया और योग एक स्वतन्त्र दर्शन-प्रणाली के रूप में सामने आया।

योग दर्शन में परमाणविक मान्यताओं को स्वीकार कर सांख्यो के पञ्चीस तत्त्वों और तीन प्रमाणों—प्रत्यक्ष, अनुमान और साध्य, को स्वीकार कर लिया गया। सांख्य में भिन्न स्वतन्त्र दृष्टिकोण का सहारा लेकर योग में ईश्वर के अस्तित्व को मान्यता दी गयी है। योग की अष्टांग-साधना में ईश्वर के ध्यान का विधान स्वीकार कर लिया गया है। इस पर भी कुछ विद्वान पातञ्जल योग के ईश्वर को सृष्टि की रचयिता शक्ति की अवधारणा मानने से इन्कार करते हैं। लेकिन यह सभी मानते हैं कि योग दर्शन का स्वर प्रधानतः ईश्वरवादी ही है।

^१ सांख्यप्रवचनभाष्य, १—६३, ६५।

^२ श्वेता० उप० २—८, कठ० उप० २—२—२।

आर० गाँवें का विचार है कि योग-विचारधारा का मूल स्वर ईश्वरवादी नहीं था। धीरे-धीरे परिवर्तित होकर ही उसे बाद में यह रूप प्राप्त हुआ है। सम्भवतः यह ईश्वरवादियों के प्रभाव का ही परिणाम है। हम देखते हैं कि सभी वेद एवं ईश्वर-विरोधी दर्शन-प्रणालियाँ और विचारधाराएँ आदर्श एवं अध्यात्मवाद के प्रभाव के कारण अपनी मगति ईश्वरवाद में स्थापित करने में प्रयत्नशील रही हैं। मध्यकाल में साम्राज्यवादी एवं सामन्तवादी व्यवस्था के चरण सुट्ट हो जाने पर, यह प्रभाव और अधिक गहरा दिखायी देने लगता है। कहीं-कहीं तो मात्र साम्प्रदायिक शब्दावली के आवरण के अतिरिक्त शेष सभी कुछ ईश्वरवाद के गेरूप रंग में रजित है। अतः गाँवों के ये विचार—कि सांख्य के सिद्धान्तों को सुगम बनाने एवं आदर्श-वादी चिन्तकों को सन्तुष्ट करने के कारण योग दर्शन में ईश्वर का प्रवेश हो गया सटीक एवं सगत प्रमाणों पर आधारित प्रतीत होता है।^१

● सांख्य-योग दर्शन में ईश्वर-विचार

सांख्य और योग दर्शन का प्रधान सम्बन्ध क्रमशः तत्त्व-विचार एवं चिन्तन की एकाग्रता से सम्बन्ध रखने वाले अनुशासन से है। इस दृष्टि में दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध भी है और दोनों एक दूसरे के पूरक के रूप में भी कार्य करने हैं। सांख्यो के अनुसार पुरुष अपने मूल स्वरूप में शुद्ध एवं केवल सत्ता है लेकिन प्रकृति के धर्मों का अपने ऊपर आरोपण कर लेने के कारण वह निजस्वरूपता को भूल जाता है। यही उसकी बद्धता है और इसमें मुक्ति प्राप्त कर पुनः निजस्वरूपता में अवस्थित होने के लिए जहाँ उसे तत्त्व-विचार की आवश्यकता है, वहाँ उस स्थिति की उपलब्धि के लिए इन्द्रियों को सम्यमित-नियमित करने की भी। योग दर्शन में योग की साधना पर विशेष बल दिया गया है ताकि प्राणायाम आदि के रूप में अपनी इन्द्रियों को अनुशासन के भीतर रख कर आत्म-साक्षात्कार किया जा सके अथवा जीव और ईश्वर का मेल करवाया जा सके।

सांख्य और योग की मूल (आरम्भिक) अवधारणाओं की चर्चा के प्रसंग में यह बतला दिया गया है कि आरम्भ में जीव (चेतना) को पदार्थक सत्ता ही माना जाता था और यह विश्वास किया जाता था कि चेतना (जीव) की स्थिति तभी तक है जब तक तत्त्वों या पदार्थों का समवाय बना रहता है और तत्त्वों के उस मिश्रण में—जिसके कारण चेतना उद्भूत होती है, बिखराव (अलगाव) आते ही शरीर के नाश के साथ चेतना भी लुप्त हो जाती है। उस समय अन्य सभी तत्त्व अपने-अपने महाभूतों में जा मिलते हैं। परन्तु ईश्वरवाद के प्रभाव के कारण जब यह मान लिया गया कि आत्मा (जीव-पुरुष) पदार्थक सत्ता न होकर स्वतन्त्र चैतन्य है, तब उसके दो स्वरूप—शुद्ध और बद्ध, भी मान लिए गये। उसकी बद्धता ही उसकी जगतस्वरूपता

^१ एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड ऐथिक्स, भा० १२ पृ० संख्या ८३१।

स्वीकार की गयी और यह मान लिया गया कि जब तक वह पुनः अपने शुद्धस्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता, वह पुनर्जन्म के चक्कर में भटकता रहता है। पुनर्जन्म की अवधारणा के साथ ही ईश्वर को नियन्ता एवं जीवों को उनके कर्मों के अनुसार फल देने वाली मत्ता स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार सांख्य और योग दर्शन भी ईश्वरवादी दर्शनों की कोटि के दर्शन स्वीकार किये जाने लगे। योगसूत्रों में ईश्वर के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वह जीव की तुलना में हर प्रकार की सीमाओं एवं जागतिक सुख दुःख आदि की अनुभूतियों से अतीत सत्ता है।^१ संक्षेप में सांख्य और योग दर्शन के अनुसार यही ईश्वर का स्वरूप है। ईश्वर को इन दोनों दर्शनों में मान्यता तो प्राप्त हो गयी लेकिन आदर्श प्रधान ईश्वरवादी (अवतारवादी) दर्शनों में परमात्मा (ईश्वर) एवं जीव और जगत के सम्बन्ध में जिस रूप में वर्णन हुआ है, वैसी स्थिति सांख्यों के द्वारा ईश्वर को प्राप्त नहीं हो सकी क्योंकि वह मूल रूप में ही तत्त्व विचारक दर्शन है।

● न्याय-वैशेषिक दर्शन-प्रणाली : प्रारम्भिक मान्यताएं

वैशेषिक दर्शन-प्रणाली के अनुसार जगत का मूल कारण परमाणु है। वे अन्तिम सत्ता परमाणुओं को ही मानते हैं। इस दर्शन-प्रणाली के प्रणेता कणाद का जीवन-काल अनुमानतः ईसा पूर्व छठी एवं दसवीं शताब्दी का मध्यवर्ती काल माना गया है। पदार्थ (परमाणुओं) की सूक्ष्मता की अवधारणा सम्भवतः अत्यन्त प्राचीन विचार है, क्योंकि हमें जैन मत में सूक्ष्म परमाणुओं के मेल में रत्नियों के निर्माण के उल्लेख प्राप्त होते हैं। हो सकता है कि उक्त विचार ने ही कालान्तर में इस चिन्तन-प्रणाली का रूप धारण कर लिया हो, जिसका नाम बाद में वैशेषिक रखा गया है। वैशेषिक नाम में ही इस चिन्तन-प्रणाली का मूल सूत्र-रूप में निहित है। कणाद 'धर्म' का नाम तो लेते हैं लेकिन उसकी (धर्म) परिभाषा वही नहीं करते जिस प्रकार अध्यात्मवादियों ने की है। वे धर्म की व्याख्या ईश्वर या 'शाश्वत नियति' के रूप में नहीं करते। उनके विचार में धर्म प्रगति और कल्याण का ही दूसरा नाम है।

वैशेषिक सांख्यों से भिन्न विवेकपूर्ण अथवा पूर्ण ज्ञान के लिए पच्चीस तत्त्वों के स्थान पर वस्तु जगत को छः पदार्थों—द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष और समवाय, के रूप में स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि पदार्थ अनगित एवं विभिन्न वस्तुओं का समवाय है। जिन वस्तुओं में पदार्थ का निर्माण होता है, उसे वे कालिक, अवकाशक, तात्किक एवं मानसिक धर्म मानते हैं। उनमें पाए जाने वाले गुणों, क्रियाओं एवं रूपान्तरणों (Modifications) में ही उन्होंने पदार्थ का निर्माण माना है।^२

^१ योग सूत्र, १/२४-२५, लोकेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषः ईश्वर। स सर्वेषामपि गुरुकालेनानवच्छेदात् ।

^२ कणाद वैशेषिक सूत्र, १—४, धर्मविशेषप्रसूतादद्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसम् ॥

जिस तरह सांख्यों के अनुसार प्रकृति मूल है, उसी तरह इन्होंने द्रव्य को भी मूल माना है। द्रव्य की परिभाषा में कणाद ने पदार्थ या द्रव्य को प्रभाव का अन्तर्निहित कारण, गुण और क्रियाशील तत्त्व स्वीकार किया है।^१ उनका मत है कि अलग-अलग अंशों (Parts) के मेल से सम्पूर्ण (Whole) का निर्माण होता है, इसलिए उन अंशों को फिर से अलग भी किया जा सकता है। इस दर्शन के अनुसार अन्तिम एवं अतिसूक्ष्म इकाई परमाणु है।

वैशेषिक दर्शन-प्रणाली में परमाणुओं को शाश्वत एवं अविनश्यकर सत्ता स्वीकार किया गया है। उनका विचार है कि विभिन्न परन्तु समान वर्गों एवं गुणों वाले परमाणुओं के मेल से ब्रह्माण्ड का निर्माण होता है। तदनुसार परमाणु परिवर्तित एवं परिचालित रहते हैं, वे मृत, निष्क्रिय एवं स्थैतिक (Static) नहीं। परमाणुओं की संरचना एवं मिश्रण (समवाय) के लिए वे किसी भिन्न अभिकरण (Agency) की आवश्यकता अनुभव नहीं करते। वे परमाणुओं को स्वतः परिचालित एवं सारी सृष्टि की विधायक शक्ति मानते हैं। जैनों ने चार तत्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) के साथ आत्मा को भी पांचवाँ तत्व मानकर एक प्रकार से आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया था। वैशेषिक इस विचार से अनवगत नहीं थे। उन्होंने जैनों की उपर्युक्त धारणा के विपरीत परमाणुओं से ही पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु की संरचना मानी है। वे परमाणुओं को अनिर्मित एवं शाश्वत मानते हैं।

कणाद के द्वारा स्वीकृत कर्म की अवधारणा बौद्धिक चिन्तकों एवं अध्यात्म-विचारकों से बिल्कुल भिन्न है। वे कर्म का अर्थ 'करना' करते हैं, जिसकी व्युत्पत्ति 'कृ' वातु' से है। कर्म उनके अनुसार 'हर प्रकार की गति' है। इसलिए कर्म को परिभाषित करते हुए उन्होंने उसे पदार्थ का धर्म या पदार्थ में अन्तर्निहित उसकी गति माना है। इस पदार्थक गति (कर्म) को वे संयोग और अलगव (विभाग) का परिणाम मानते हैं।^२ कणाद ने मन और आत्मा की क्रियाएँ भी अलग-अलग स्वीकार नहीं की, और न ही पदार्थ से स्वतन्त्र चेतना को ही स्वीकार किया है।

न्याय हेतुविद्या है, और उसमें ज्ञानान्वेषण पर अधिक ध्यान दिया गया है। आरम्भ में वाद-विवादात्मक शैली ही न्याय कहलाती थी। इसी को गौतम ने एक दर्शन-प्रणाली का रूप दिया। न्याय दर्शन में वैशेषिक की भाँति वास्तविकताओं के वस्तुगत क्रम की मान्यता स्वीकार कर ली गई है। इसीलिए वैशेषिक के साथ इसका निकट-सम्बन्ध मानकर इसे न्याय-वैशेषिक ही कह दिया जाता है। न्याय की आरम्भिक अवधारणाओं के अनुसार ब्रह्माण्ड की रचना के लिए ईश्वर (अलौकिक शक्ति) को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। उसमें मूलभूत पाँच शाश्वत तत्त्व पृथ्वी,

^१ वपी० १, १—१५, क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥

^२ सूत्र सं० १७, एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेऽपनपेक्षकारणमिति कर्म लक्षणम् ॥

जल, अग्नि, वायु और आकाश, माने गये हैं। नि श्रेयस को मनुष्य-जीवन का परम उद्देश्य स्वीकार करते हुए, उसे 'यथार्थ का पूर्णज्ञान' माना गया है। तदनुसार यथार्थ में चेतन और अचेतन दोनों सम्मिलित हैं। इन दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व भी माना गया है। दोनों के स्वातन्त्र्य से नैयायिकों का यह आशय नहीं है कि वस्तुगत और मानसिक यथार्थ में किसी प्रकार का सम्बन्ध होता ही नहीं, बल्कि वे इन दोनों में अभिन्नरूप सम्बन्ध स्वीकार करते हैं।

न्याय-विचारधारा के अनुसार मृष्टि का गठन परमाणविक तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, आकाश) से होता है। इन तत्त्वों को शाश्वत एवं यथार्थ मानते हुए यह कहा गया है कि जगत् की रचना के हेतु किसी दैवी शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करना उचित नहीं है। आरम्भिक नैयायिक परमाणुओं को ही 'जैव-अजैव-सरचना' का मूलधार मानते हैं। अर्थात् उनके अनुसार जिस समय सूक्ष्म अणुओं का मिश्रण होता है, उसके प्रभाव के फलस्वरूप ब्रह्माण्ड का निर्माण स्वतः हो जाता है।^१ इसके साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि सीधे सम्पर्क के अभाव में ज्ञाता और ज्ञेय के बीच निहित सत्य को प्राप्त करना सम्भव नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञान को इस दर्शन में विशेष महत्त्व दिया गया है। चेतना (मस्तिष्क) में ही वस्तुगत जगत् का अस्तित्व मानने के स्थान पर चेतना में भिन्न वस्तुगत अस्तित्व की अवधारणा न्याय को वैशेषिक से तर्किक भिन्न बना देती है। वे इसी भेद के कारण आदर्शवादी विचारकों में भिन्न प्रकार के चिन्तक बन जाते हैं। पदार्थों के सत्य की जानकारी को ही उन्होंने ज्ञान माना है। इसी आधार पर उन्होंने प्रत्यक्ष ज्ञान की परिभाषा की है^२, और ज्ञान के अन्य अनुमान आदि साधनों को तुलना में प्रत्यक्ष ज्ञान को अधिक एवं विशेष महत्त्व दिया है।

● न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर-विचार

वैचारिक दृष्टि से न्याय और वैशेषिक दर्शन एक दूसरे के अधिक निकट हैं। दोनों में याद में ईश्वर का अस्तित्व अनादि मान लिया गया है। इनमें जीव और ईश्वर की सापेक्षता के मन्दभ में ईश्वर को सर्वत्र और सर्वशक्तिमान सत्ता स्वीकार कर लिया गया है। ईश्वरवादी दर्शनों की भाँति इन दर्शनों में भी ईश्वर को मृष्टि का कर्ता, पालक और सहारक के रूप में वर्णन करना आरम्भ कर दिया गया था। पदार्थ में चेतना के आविर्भाव वाली धारणा दब गई थी और जीव की सत्ता भी कुछ-कुछ ईश्वरवादियों की जीव की अवधारणा जैसी ही हो गई थी।^३ आरम्भ में वैशेषिक

^१ रिचार्ड गार्ड, फिलामफी इन एनशेंट इण्डिया, पृ० ३३।

^२ गौतम, न्यायसूत्र, १. १-४, इन्द्रियार्थमन्त्रिकर्पोत्पन्नज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि-व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥

^३ न्या० सि० मु० १—५१, भारतीय दर्शन (डा० रा० कृ०) भा० १, पृ० ३२०—३३, वही० पृ० ६५—६६।

दर्शन-प्रणाली में जगत के मूलकारण के रूप में पदार्थ की अवधारणा पर विशेष विचार किया गया था, लेकिन ईश्वरवाद की ओर झुकाव के कारण परवर्ती रचनाओं में वह बात उतने सशक्त शब्दों एवं मान्यताओं के साथ उपस्थापित करने की प्रवृत्ति में पर्याप्त ढील दिखलाई देने लगनी है। कणाद की धर्म की मूल परिभाषा में भी अन्तर की गुंजायण देख ली गई है। पदार्थों की सख्या में अनगिनत मानना तो चलता रहा परन्तु उन्हीं के समवाय से जीव (चैतन्य) की उत्पत्ति की अवधारणा पर कम बल दिया जाने लगा—यह ईश्वरवाद का ही प्रभाव था।

इन दोनों दर्शनों का उपान्तरण-सिद्धान्त (Theory of Modification) कालान्तर में पर्याप्त भिन्न हो गया। मान्यता की पद्धति की भौति पदार्थ द्वारा जगत की रचना या स्वयं पदार्थ के रूपान्तरण की मान्यता को इस प्रकार का मोड़ दे दिया गया जिस के साथ ही ईश्वर की सत्ता का आभाम भी झलकता दिखाई देता रहे। इन दर्शनों में सम्पूर्ण (whole) की अवधारणा में आगे चलकर पर्याप्त अन्तर आ गया। पहले यह माना जाता था कि अलग-अलग लेकिन समान वर्ग वाले पदार्थ एवं परमाणु ही परस्पर मिलते हैं और इस मेल के फलस्वरूप वे ब्रह्माण्ड का रूप धारण करने हैं, इन्हें किसी अलौकिक चेतन मत्ता को आपस में जोड़-मिलाकर ब्रह्माण्ड की रचना नहीं करनी पड़ती। लेकिन परमाणुओं (पदार्थों) के स्वतः परिचालित एवं परिवर्तित होते रहने की अवधारणा बदलकर अन्त में कुछ भिन्न सा रूप प्राप्त कर लेती है, जिससे ऐसा लगने लगता है कि वह पूर्णतया जड़, मृत, एवं स्थैतिक (Static) है। भाव यह कि इन्हें एकत्रपता देकर ब्रह्माण्ड के रूप में साकार करने के लिए किसी अतिरिक्त अभिकरण (Agency) अर्थात् ईश्वर की मत्ता को मान्यता दे दी गई है।

न्याय और वैशेषिक (विशेष कर न्याय) दर्शन में कर्म की जिस अवधारणा का आरम्भ में प्रतिपादन किया गया था, वह पूर्णरूपेण बदलकर नवीन अवधारणा में परिणत हो गई। अब कर्म का पुराना अर्थ 'क्रिया' या करना न होकर जीव के कर्म मान लिया गया, जिसके कारण जीव के स्वरूप की अवधारणा में भी अन्तर आ गया। मन और आत्मा की भी अलग-अलग क्रियाएँ मान ली गईं और ज्ञानान्वेषण का स्थान ईश्वर की इच्छा-शक्ति को सौंप दिया गया। अब मूलभूत शाश्वत तत्त्व पदार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, नहीं रहे, बल्कि ईश्वर को ही मूलकारण स्वीकार किया जाने लगा। एकत्व की अवधारणा द्वैत में बदल गई और पदार्थ एवं ईश्वर दो प्राथमिक कारण मान लिए गए। अन्त में प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करने हुए भी अनुमिति और शब्द (वेद) की भी प्रामाणिकता स्वीकार कर ली गई। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रायः सभी मुख्य-मुख्य भारतीय दर्शन कालान्तर में ईश्वरवाद के व्यापक प्रभाव के अधीन से हो गए, लेकिन उनमें अपनी मूल अवधारणाओं की स्थिति भी किसी न किसी रूप में अवश्य बनी रही है। इसलिए न्याय और वैशेषिक दर्शनों में ईश्वर का अस्तित्व भवे ही स्वीकार कर लिया गया हो लेकिन उनमें

पदार्थ और परमाणु के सम्बन्ध में परम्परागत धारणाएँ पूर्णतया समाप्त दिखाई नहीं देतीं ।

● भौतिकवादी दर्शन-परम्परा : पुनर्स्थापी अन्तराल

मानव-जीवन को प्रभावित करने वाली मान्यताओं को आधार बनाकर धार्मिक विश्वासों का ऐतिहासिक सन्दर्भ में पर्यालोचन करने वालों का मत है कि परमसत्ता, जीव और जगत सम्बन्धी अवधारणाएँ सदा परिवर्तित होती रहती हैं । इस परिवर्तन का प्रधान कारण वे युग विशेष की परिस्थितियों को स्वीकार करते हैं । उनका विचार है कि इस जागतिक प्रपञ्च में कुछ भी शाश्वत एवं परम (सत्य) नहीं है । जिस समय तक किसी सामाजिक ढाँचे में आगे-पीछे कोई नया परिवर्तन घटित नहीं होता, उस समय तक पूर्ववर्ती अवधारणाएँ ही समूचे मानव-समाज की प्रेरक शक्तियाँ बनी रहती हैं । लेकिन परिवर्तनशीलता जगत का धर्म है और मूलाधारों में परिवर्तन हो जाने पर सामाजिक व्यवस्था का बदल जाना भी स्वाभाविक हो जाता है । कोई युग विशेष जिस समय नवीन परिस्थितियों में गुजरता है, उसी समय सामाजिक व्यवस्था एवं उसमें सम्बन्धित शक्तियाँ भी नवीन परिवेश प्राप्त कर लेती हैं । जगत में कुछ भी स्थैतिक (Static) नहीं, सभी कुछ गतिमय है, जो क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में हमारे सम्मुख आता रहता है ।

भारतीय भौतिकवाद का प्रथम सोपान—भौतिकवादी दर्शन-परम्परा के उल्लेख के समय इस तथ्य की ओर संकेत कर दिया गया है कि भौतिकवादी विचारधारा के हमें दो सोपान प्राप्त होते हैं । प्रथम सोपान का सम्बन्ध उस युग से है, जिस समय भारतीय जीवन में अभी सांस्कृतिक काल ने जन्म नहीं लिया था । जीव, जगत और ईश्वर की अवधारणाएँ उस समय या तो अपने निर्माण-काल में थी अथवा उन के विषय में मोचने-विचारने का समय ही नहीं आया था । इस सम्बन्ध में भौतिकवादी विचारकों का मत है कि जब तक मानव-समाज में शरीर और मस्तिष्क के बीच अलगाव की स्थिति उत्पन्न नहीं होती, तब तक अमूर्त विचारों की ओर अग्रसर होने का अवसर सामने नहीं आता । उस समय केवल जीने की समस्या ही प्रमुख समस्या होती है, उन अपने चारों ओर के जगत तथा निज के जीवन के सम्बन्धों के विषय में मोचने की प्रवृत्ति ही साकार नहीं होती । मानव-जीवन का यह समय एवं उस समय की उसकी अचेतन धारणाएँ ही आरम्भिक भौतिकवाद हैं, जिन्हें किसी दर्शन-प्रणाली का नाम नहीं दिया जा सकता । भौतिकवाद का यही पहला सोपान या युग है, जिसे भौतिकवादी विचारधारा का पूर्वोद्ध-काल भी कहा जा सकता है । यह वह युग है, जिस समय उदग्-भूति के इलावा मनुष्य को अन्य कोई समस्या प्रभावित नहीं करती थी । वह अपनी सहज—मानसिक एवं शारीरिक, भूख को शान्त करते रहने में ही व्यस्त रहता था । इसे उसके यथार्थवादी दृष्टिकोण का नाम भी दिया जा सकता है ।

भौतिकवादी विचारधारा का द्वितीय सोपान—अर्थशास्त्रियों के अनुसार जीने और मुख से जीने की प्रवृत्ति प्राणशक्ति का स्वभाव है और इस स्वाभाविक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर तदनुकूल प्रयत्न करते रहना भी उसकी स्वाभाविक क्रिया के अन्तर्गत ही आता है। भारतीय इतिहास में जब समाज की स्थिति में ऐसे तत्त्व रूपायित होने आरम्भ हुए, जिनके कारण मानसिक एवं शारीरिक परिश्रम को अलगाया जा सकता है, तभी आदर्शवादी प्रवृत्तियों ने जन्म ग्रहण किया है। जब भारतीय जीवन में इस प्रकार की स्थिति बनी, तभी ब्राह्मण और क्षत्रियों की प्रभावशाली वर्ण व्यवस्था का भी निर्माण हुआ। इस व्यवस्था को जन्म देने वाले कारणों के विषय में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के प्रतिपादन के द्वारा व्याख्यात करने के उपाय एवं मार्ग अपनाए गये हैं। लेकिन यह तो निश्चित ही है कि भौतिक उन्नति के फलस्वरूप पुराने समयों में साम्राज्यवादी और सामन्तवादी व्यवस्थाओं को जन्म मिला है और इन्हीं व्यवस्थाओं के आरम्भ एवं प्रचार-काल में ईश्वर की अवधारणा अपने भ्रूण-काल में उठकर पूर्ण विकास की सीमा तक पहुँची है। इसके साथ ही यह जान लेना भी आवश्यक होगा कि एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था के स्थापित हो जाने पर धर्म और दर्शन को जो रूप प्राप्त होता है, उसका विरोध करने वाली शक्तियाँ भी अपना मस्तक उठाने लगती हैं। समय विशेष की सामाजिक व्यवस्था के टूट जाने पर दूसरी व्यवस्था उसका स्थान ग्रहण तो कर लेती है, लेकिन पूर्ववर्ती व्यवस्था को प्रेरित करने वाले विश्वासों का एकदम अन्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रभावशाली एवं चालू सामाजिक व्यवस्था एवं उसके कारण निर्मित होने वाली अवधारणाओं का विरोध भी सक्रिय रूप धारण कर लेता है।

आदर्शवादी विचारधारा के प्रचार से पहले एक प्रकार के जिस भौतिकवाद का उल्लेख किया गया है, वह जब समाप्त हुआ और उसका स्थान संहिता और उपनिषद् काल की आदर्शमूलक अवधारणाओं को प्राप्त हो गया, तब की स्थिति में तत्काल ही उस विचारधारा के विरोधी स्वर भी मुखर हो उठे, जिनके मामले आदर्शवादी व्यवस्था और उसके विचार भी विद्यमान थे और कहीं-कहीं यह व्यवस्था अभी अपने पूर्णरूप में बनी हुई थी। विरोध मुख्यतः उन लोगों के द्वारा हुआ, जिनकी गणना हम भौतिकवादी दर्शन-प्रणाली के प्रारम्भिक विचारकों में करते हैं या कर सकते हैं।

उपनिषदों के आत्म-सिद्धान्त का खण्डन—प्राचीन साहित्य के साहित्य में पता चलता है कि गौतम बुद्ध और महावीर के समय में ऐसे विचारक पहले से ही विद्यमान थे, जो वेदोपनिषद् के आत्म एवं ब्रह्म-सिद्धान्त के विरोध में ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करने के प्रयत्नों में अपने-अपने दृष्टिकोण का प्रचार कर चुके थे। उनका मत था कि ईश्वरवादियों की आदर्शमूलक अवधारणाएँ व्यर्थ के आडम्बर एवं मिथ्या ज्ञान पर आधारित हैं। यज्ञों की अवधारणा में किसी प्रकार का भी तर्क एवं मानव के हित को प्रेरित करने वाला आधार नहीं है। साथ ही अलौकिक चेतन सत्ता की अवधारणा भी प्रत्यक्ष प्रमाण की कसौटी पर पूरी नहीं उतरती। वेदों की प्रामाणिकता

का खण्डन करते हुए उन्होंने शरीर और आत्मा को अन्वोन्याश्रित माना और इस मत का प्रचार किया कि शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। बौद्धजातक कथाओं एवं जैन धर्म के ग्रन्थों में से इस प्रकार के अनेक उद्धरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनके साक्ष्य पर यह सिद्ध हो जाता है कि वेद एवं उपनिषद् का विरोध करने वाली शक्तियाँ उस समय व्यापक आलोचना का रूप धारण कर चुकी थी। रामायण और महाभारत में भी ऐसे प्रसंग विद्यमान हैं, जिनके आधार पर उक्त मत की पुष्टि होती है।

उपनिषद्, रामायण और महाभारत के समय आदर्शवादी विचारधारा का बहुत अधिक प्रभाव था और भौतिकवादी विचारको द्वारा उसका विरोध भी होता रहता था। लोकायत विचारधारा की चर्चा के प्रसंग में हमने उसकी मान्यताओं का उल्लेख कर दिया है और इस तथ्य का संकेत भी किया गया है कि धीरे-धीरे ईश्वरवाद के प्रबल प्रभाव के कारण भौतिकवादी दृष्टिकोण प्रचारित नहीं हो सका था। माधवाचार्य के द्वारा चार्वाक की दर्शन-प्रणाली की मान्यताओं के विरोध का उल्लेख भी किया जा चुका है। शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त की प्रस्थापना के लिए जहाँ प्रतिकूल पड़ने वाले अन्य मतों का खण्डन किया है, वहाँ चार्वाक से भी उनका प्रधान विरोध रहा है। भाव यह है कि पूर्ण आदर्शवादी विचारधारा के प्रचार-काल में भौतिकवादियों ने जो विरोधी स्वर मुखर किए थे, वे धीरे-धीरे ईश्वरवाद के घोर घण्टा-नाद में विलीन हो गए और आधुनिक काल में पहले उन्हें फिर में अपनी विचारधारा के स्वर को उद्घोषित करने का अवसर ही नहीं मिल सका। किन्तु शक्तियों ने सम्मिलित रूप से भौतिकवादी विचारधारा का अन्त करने में योग दिया उनका संक्षेपोत्प्रेष इस प्रकार है।

साम्राज्यवादी एवं सामन्तवादी शक्तियों का उदय—महात्मा बुद्ध के जन्म से पहले अर्थात् ईसा पूर्व छठी शताब्दी में ही ऐसी स्थिति बनने लग गई थी, जिसमें बड़े-बड़े साम्राज्यों को साकारता ग्रहण करने का अवसर मिल सके। पुरोहित वर्ग ने ही यह स्थिति उत्पन्न की थी क्योंकि समाज की धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक शक्तियों पर उनका पूर्ण आधिपत्य दृढतर होता जा रहा था। महात्मा बुद्ध की विचारधारा पुरोहितवाद की विरोधी विचारधाराओं में से थी। बुद्ध ने उनके यज्ञवाद और कर्मकाण्ड का पर्याप्त विरोध किया था और उनकी वर्णाश्रम-व्यवस्था को मानवीय हितों के मार्ग में रुकावट माना था। उन्होंने वेद को प्रमाण मानने से बिल्कुल इन्कार कर दिया था। बुद्ध की चिन्तन-प्रणाली शुद्ध रूप में भौतिकवादी नहीं थी, वह केवल धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं की दृष्टि से ही भौतिकवादियों की वेद-विरोधी विचार धारा की श्रेणी में आती है। भारत जैसे विशाल देश में ब्राह्मणवाद के जमे हुए पाँव उखाड़ने सम्भव नहीं थे और ऐसा करना सम्भव हो भी नहीं सकता था। जिस समय बुद्ध की विचारधारा पूर्व और दक्षिण में पर्याप्त सफलता प्राप्त कर रही

थी, उसी समय पश्चिम में ब्राह्मण धर्म की विजय-यत्नाका अपनी पूर्ण सफलता के साथ फहरा रही थी।^१

बुद्ध के उपदेशों की व्याख्या यदि 'प्रतीत्यसमुत्पाद' की अवधारणा की दृष्टि से की जाए तो कहा जा सकता है कि वे कारण और कार्य के सम्बन्ध को विशेष महत्त्व देते थे।^२ प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों का जगत कारण और कार्य के नियम से अतीत नहीं हैं। कारण के द्वारा प्रभाव का उत्पन्न होना अनिवार्य है और प्रभाव का पुनः अपने कारण में रूपान्तरण हो जाना भी स्वाभाविक है। इस प्रकार कारण, उसका प्रभाव और प्रभाव का पुनः कारण में रूपान्तरण, इन तीनों को बुद्ध ने शाश्वत नियम के रूप में स्वीकार किया था। वे ब्रह्माण्ड व्यापी अस्तित्व को निरन्तरधारा के रूप में स्वीकार करते थे। यही कारण है कि बौद्ध धर्म के सम्प्रदायों में जगत को क्षणिक एवं केवल धारा-प्रवाह के रूप में ही अस्तित्वमय स्वीकार किया गया है। तात्कालिक स्फुरणों को एक शृंखला के रूप में स्वीकार कर इस मन का प्रतिपादन किया गया है कि स्फुरण, उत्पत्ति और विलय के क्रम के रूप में जिस अनन्तधारा का निर्माण करने है, उसी का नाम जगत है।

बौद्ध विचारधारा का ब्राह्मणों द्वारा विरोध—बुद्ध की उपर्युक्त अनश्वरता और परिवर्तन की धारणा ने ब्राह्मण धर्म के चिन्तकों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में यह प्रेरणा दी थी कि वे ब्रह्म को निरन्तर सत्तावान (वास्तविक यथार्थ) सिद्ध करने में अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को, निहित उद्देश्य की पूर्ति के हित, नियोजित कर दें। उन्होंने ब्रह्म को अनादि, अनन्त (अन्तहीन) एवं अपरिवर्तनशील सिद्ध करने के भरसक यत्न किए। बुद्ध की जगत की क्षणिक सत्ता वाली धारणा का खण्डन करते हुए उन्होंने यह माना कि जिन्हें वह तात्कालिक स्फुरण मान कर जगत को निरन्तर प्रवाह (परन्तु यथार्थ में अस्तित्वहीन) मानते हैं, उचित एवं तर्क संगत अवधारणा नहीं है। परिवर्तन को ब्रह्मवादियों (उपनिषत्कारों) ने भी माना है, लेकिन वे उसे भ्रम स्वीकार करते हैं और ब्रह्म को ही केवल शाश्वत सत्य मानते हैं। बुद्ध ने बार-बार अपने उपदेशों में उपनिषत्कारों की उपर्युक्त धारणाओं का, छोटे-छोटे (सर्वसामान्य) लेकिन सशक्त उदाहरणों के द्वारा खण्डन किया है। वे अपने युग के भौतिकवादियों की इस धारणा को भी असत्य सिद्ध करते हैं कि अनश्वर पदार्थ में इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला संवेदन का अनुभव पदार्थ में होने वाले परिवर्तनों की अभिव्यक्ति के सिवाय और कुछ नहीं है। बुद्ध ने इस तथ्य को प्रमाणित करने के प्रयत्न भी किए कि प्रत्येक वस्तु हर क्षण बदलती रहती है और उसकी परिवर्तनशीलता में स्थिरता का आभास मात्र दृष्टि-भ्रम है।

^१ मैक्समूलर, सिकस सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलामाफी, पृ० १५,

^२ राइम डेविड्स, डायानागस ऑव बुद्धा,

बुद्ध और जन्मान्तर की अवधारणा—बुद्ध ने मूल रूप में किसी पदार्थ या वस्तु का यथार्थ अस्तित्व माना ही नहीं। उन्होंने कुछ सर्व पृथक् भौतिक तत्त्वों का ही अस्तित्व माना और उन्हें भी सतत परिवर्तनशील ही स्वीकार किया। आलातचक्र और जल-प्रवाह के उदाहरणों के द्वारा बौद्ध विचारकों ने बुद्ध की उपर्युक्त अवधारणा की व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भिक बौद्ध धर्म पार्थिव अथवा आध्यात्मिक किसी भी ऐसे मूल अपरिवर्तनशील शाश्वत तत्त्व को जगत का मूलकारण स्वीकार नहीं करता। शून्यवादियों ने तो किसी वस्तु के निश्चित अस्तित्व को बिल्कुल माना ही नहीं है। वे जगत में किसी वस्तु एवं पदार्थ की सत्ता ही नहीं मानते और मात्र घटनाओं की सत्ता ही स्वीकार करते हैं। उपनिषदों के ऋषियों के आत्म-मिद्धान्त का बुद्ध एवं बौद्ध धर्म के आचार्यों ने इसी अवधारणा के आधार पर खण्डन करते हुए कहा है कि आत्मा शाश्वत एवं अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं है। उनके अनुसार जगत की स्रचना, पदार्थ, अनुभूति, सजा, आवेग और चेतना नामक पाँच स्कन्धों का नाम है। इन पाँचों को भी वे मात्र अवस्थाएँ ही मानते हैं।

बुद्ध का ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं था। इसलिए वे यह भी नहीं मानते थे कि मानव-जीवन एवं व्यक्ति मानव के भाग्य की खप्टा एवं नियन्ता कोई अलौकिक शक्ति हो सकती है। इसी अवधारणा के द्वारा उन्होंने ईश्वर में विश्वास करने का खण्डन किया है।^१ बुद्ध ईश्वरवाद के विरोधी तो थे लेकिन यह स्वीकार नहीं करते थे कि जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया (चेतना) केवल शरीर तक ही सीमित है। वे मृत्यु के उपरान्त भी वैयक्तिक चेतना का अस्तित्व स्वीकार कर, पुनर्जन्म की अवधारणा को मान लेते हैं। आत्मा का शरीरान्तरण तो उन्होंने नहीं माना लेकिन शरीर को धर्मों का निश्चित संयोग मान कर उसे ही जीवन का नाम दिया और उसके निश्चित संयोग (समवाय) में अलगाव को ही मृत्यु मान लिया। अन्त में यह भी स्वीकार कर लिया गया कि पहले संयोग के विखराव के साथ ही सभी कुछ नष्ट नहीं होता बल्कि पहला संयोग दूसरे नए संयोग को जन्म दे देता है, यही उनका पुनर्जन्म का मिद्धान्त है अतः वे यथार्थवादी या भौतिकवादी न होकर आदर्शवादी ही हैं। भौतिकवादियों (लोकायतों) और आत्मवादियों (उपनिषदों के विचारकों) की मान्यताओं को नए रूप में प्रस्तुत कर बुद्ध ने मध्यम मार्ग अपनाया था।

बुद्ध की ब्राह्मण-विरोधी दृष्टि की प्रतिक्रिया—धम्मपद के अनुसार बुद्ध किसी को कुल के कारण ब्राह्मण नहीं मानते थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी धारणा की चेष्टा करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि निर्धन लेकिन लिप्माओं से मुक्त व्यक्ति ही उनकी दृष्टि में ब्राह्मण है। वे वेद को प्रमाण मानने के स्थान पर अनुभव को ही साक्ष्य मानते हैं। लेकिन उन्होंने भी पदार्थ को प्राथमिक सत्ता मानने की वजाय जिस

^१ कुरु, दि गार्सेल आँव बुद्धा,

उपयुक्त विचारधारा का प्रचार किया, वह भी अन्ततः आदर्शवादी दृष्टिकोण ही बन गयी क्योंकि उसका मूलभूत आधार ही उसी प्रकार का था। बल्कि यह कहना चाहिए कि बुद्ध की त्याग की भावना और संसार की दुःखमयता की धारणा ने धनी वर्ग को ही लाभ पहुँचाया निर्धन और असमर्थ का उममें कोई विशेष उपकार न हो सका।

ब्राह्मणवाद भी युग और परिस्थितियों के द्वारा प्रचलित हुआ था और उसने ऐतिहासिक आवश्यकता की अनिवार्यता की भूमिका भी निभायी थी। बौद्ध धर्म केवल मानवतावादी दृष्टिकोण को बढ़ावा देकर बाद में स्वयं उल-जलून साधना-प्रणालियों में उलझकर भटक गया। अशोक की मृत्यु के उपरान्त ब्राह्मणवाद फिर सशक्त हो गया लेकिन पुष्पमित्र के राज्य-काल में बौद्ध धर्म का और अधिक ह्रास हुआ। तदनन्तर कनिष्क के शासन-काल में उसे प्रोत्साहन मिला तो सही, परन्तु बुद्ध की शिक्षाओं के पुनर्निर्माण के प्रयत्नों में स्वयं बौद्ध धर्म में ही इतने अधिक मत-भेद उठ खड़े हुए कि अन्त में वह पूर्ण रूप में वर्ग-हित की श्रृंखलाओं में अपने आप बँध गया। जैन वर्ग ने सामाजिक क्षेत्र में कोई विशेष क्रान्ति नहीं की अतः उसका मूल्य मात्र इतना ही है कि बौद्धों के वेद-विरोधी विचारों के प्रचार में उसने भी पर्याप्त योग दिया है। यह स्मरणीय है कि जैन दर्शन में किसी न किसी रूप में 'आत्म' और 'परम-आत्म' के मिश्रान्त को स्वीकार कर लिया गया है।

उपयुक्त लम्बी प्रस्तावना का आशय केवल इतना है कि जिन साम्राज्यवादी और सामन्तशाही की व्यवस्था का निर्माण बुद्ध एवं महावीर के जीवन-काल में ही हो गया था, उमें ये दोनों धर्म एवं इनकी दार्शनिक अवधारणाएँ, परास्त कर किसी नयी राज्य एवं समाज की व्यवस्था को जन्म न दे सकी। उसके बाद अद्वैतवेदान्त और पौराणिक देवतावादी ब्राह्मण धर्म ने ही फिर से साम्राज्यवादी एवं सामन्तवादी अवधारणाओं का पोषण कर भौतिकवादी विचारधारा के प्रचार के अवसरों को समाप्त प्राय बना दिया था। इस समय के ईश्वरवाद के साध्य-योग और न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों की तत्त्व-विचार की परम्परा को और आगे विकसित होने से रोका ही नहीं बल्कि स्वयं वह ईश्वरवादी रंग में रंग गया।

(क) ऊपर जिन आदर्शवादी धर्म-मतों एवं दार्शनिक प्रणालियों की चर्चा की गयी है, उनमें जन्मान्तर (पुनर्जन्म) को स्वीकार किया गया है और कर्म एवं कर्म के फल की अवधारणाओं में दृढ़ आस्था का परिचय भी दिया गया है। इसमें लोगों में इस विश्वास को भलीभाँति बद्धमूल बनाने में सहायता मिली है कि उन्हें जो कुछ (मुख-दुःख) प्राप्त होता है, वह उनके अपने कर्मों का फल है। इन मिली-जुली अवधारणाओं ने ब्रह्मा, जीव, और जगत के विषय में दूसरे ढंग से सोचने-विचारने का अवसर ही छीन लिया।

(ख) साध्य-योग तथा न्याय और वैशेषिक दार्शनिक प्रणालियाँ, जिनका आरम्भ तत्त्व-विचार से प्रेरित एवं अनुप्राणित था, धीरे-धीरे ईश्वरवाद के प्रभाव के अन्तर्गत मान ली गयी। पदार्थों को प्राथमिक सत्ता मानने के बारे में जो अनुकूल

परिस्थिति किसी समय बनी थी, उसके प्रचार के मार्ग में ईश्वरवादियों ने सशक्त अवरोध खड़े कर दिये और प्रच्छन्न ब्रह्मवादी बनकर इन दर्शनों की मूलभूत अन्तरात्मा की व्याख्या ही ऐसे ढंग से की कि ये दर्शन भी ईश्वरवादी दर्शनों की श्रेणी में स्वीकार कर लिए गये।

(ग) भारत का समूचा धार्मिक जगत कर्मकाण्डात्मक एवं बहुदेववादी बन गया। पौराणिक काल में ईश्वर के पूर्ण एवं अशावतारों के रूप में अनेक देवी-देवता पूजा के विषय (उपास्य) मान लिए गये। धार्मिक ग्रन्थों को स्वर्ग और नरक एवं पाप और पुण्य की कहानियों का कोप बना दिया गया, जिसके कारण ऐसे विश्वासों को पोषण प्राप्त हुआ, जिनके रहते भौतिकवादी विचारधारा अपने किसी भी प्रयत्न में सफलता की कल्पना भी नहीं कर सकती थी।

(घ) आदशवादी विचारको ने वर्ण-व्यवस्था को और अधिक सकीर्ण रूप दे दिया। प्रत्येक वर्ण जातियों-उपजातियों में विभक्त हो गया, और सारे समाज को स्मृतिकारों ने इस प्रकार की अनुशासन की शृंखलाओं में बाँध दिया कि अन्धविश्वासों एवं तर्क-हीन मान्यताओं का खण्डन करना असम्भव लगने लगा। ऐसे वातावरण में ईश्वर की मत्ता को नकार कर भौतिकवादी दृष्टिकोण का प्रचार करना कठिन तो क्या बिल्कुल असम्भव असम्भव बना दिया गया।

(ङ) मुसलमानों की विजय और हिन्दू राजाओं की पराजय ने समाज और धर्म की स्थिति और अधिक शोचनीय बना डाली। अपने सामाजिक एवं धार्मिक ढाँचे में सुधार करने के स्थान पर कछुआ धर्म की शरण ली गयी और जीवन का दृष्टिकोण और अधिक सकीर्ण एवं आत्म परक बन गया। इस स्थिति का विस्तृत परिचय इस समय के साहित्य से भली भाँति प्राप्त हो जाता है। अतः विचारों की मौलिकता की उम्र युग में आशा करना ही व्यर्थ हो गया।

(च) पौराणिक काल के बाद अवतारवादी नव्य वैष्णव आन्दोलन की भक्ति की साधना एवं दर्शन में ईश्वर की इच्छा और उसके स्वातन्त्र्य की अवधारणाओं का इतना अधिक प्रचार हुआ कि व्यक्ति का रहा सहा व्यक्तित्व का स्वातन्त्र्य भी लुप्त हो गया अजगर करने न चाकरी पछी करने न काम। दास मलूका कह गये सबके दाता राम, जैसे विश्वासों ने भौतिकवादी विचारों के लिए शेष बचे हुए खाली भाग की जगह भी स्वयं ले ली और पश्चिम के मशीनीकरण की स्थितियों की प्रतीक्षा में भौतिकवादी जीवन-दर्शन निर्जीवता की गहरी नींद में सो गया।

● आरम्भिक वेदान्त में ब्रह्म की अवधारणा का स्वरूप

औपनिषदिक विचार-परम्परा—दर्शन-प्रणाली का रूप प्राप्त करने से पहले वेदान्तिक विचारधारा एकत्वावधारणा के रूप में सहिता-काल में ही अपने लिए स्थान बना चुकी थी। उपनिषदों का (मूल एवं प्रधान उपनिषद) समय आम प्रचलित धारणा से यदि आगे खींचना ही सगत हो, तब भी इतना तो निश्चित ही है कि ईसापूर्व छठी और सातवीं शताब्दी के मध्यान्तर-काल में उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म-स्वरूप सम्बन्धी दृष्टिकोण का निर्माण होने लग गया था। उपनिषदों को इसी कारण 'वेदान्त' कहा गया है कि उनमें वर्णित विचार सहिताओं के तत्काल बाद के विचारकों द्वारा प्रतिपादित होकर उम्र समय के समाज में प्रचार प्राप्त करने लगे थे। 'वेदान्त' का अर्थ 'वैदिक विचारधारा की चरम उपलब्धि, किया जा सकता है, लेकिन उसके सम्बन्ध में सभी विद्वान प्रायः एकमत दिखाई नहीं देते। कुछ का विचार है कि उपनिषदों की विचारधारा पूर्व-उपनिषदिक युग के कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति है, जिसने आगे चलकर एक ओर बौद्ध एवं जैन विचारधारा को जन्म दिया है तथा दूसरी ओर लोकायतों को मूलपदार्थ के सम्बन्ध में भौतिकवादी दृष्टिकोण के प्रचारार्थ प्रेरित किया है। जो विचारक वेदों (सहिताओं) और उपनिषदों को ब्राह्मणवादी परम्परा के दो भिन्न सोपान मानते हैं, उनके विचार में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप यज्ञयागदि के स्थान पर उपनिषदों में केवल ब्रह्मविद्या (अध्यात्म) का ही निरूपण हुआ है। अतः उनके मत में उपनिषद इसलिए वेदान्त माने जाते हैं क्योंकि इस विचार के बिन्दु पर पहुँचकर सहिताओं की विचारधारा ने ही विविध रूपों में पूर्णता प्राप्त की है।

औपनिषदिक विचारधारा और अध्यात्मवाद—उपर्युक्त विचारों से कोई भी निष्कर्ष क्यों न निकाला जाए, लेकिन प्रस्तुत मन्दर्भ में इतना मान लेना ही पर्याप्त है कि उपनिषदों में जिस रीति से परमतत्त्व की अवधारणा के विषय में विचार किया गया है, उसका प्रधान रूप आदर्शमूलक या अध्यात्मपरक ही है। फिर भी कुछ विद्वान

उपनिषदों में भौतिकवादियों की एकतावधारणा की सामग्री के विद्यमान होने की चर्चा भी करने है। लेकिन समूची औपनिषदिक विचारधारा के प्रमग को देखते हुए यह स्वीकार कर लेना असंगत नहीं है कि उपनिषदों का प्रधान स्वर और मुहावरा अध्यात्मवादी ही है। इयन, मेक्समूलर डा० राधाकृष्णन एव दामगुप्ता ने जिस रूप में औपनिषदिक विचारधारा को प्रस्तुत एवं प्रतिपादित किया है, उसमें भी उपर्युक्त धारणा का समर्थन निहित दिखाई देता है। साथ ही बादरायण के ब्रह्मसूत्र भी इसी तथ्य को प्रमाणित करने है कि उपनिषदों की विचारधारा का प्रधान पक्ष अध्यात्म (वेदान्तिक ब्रह्म) के विषय में विचार करता था। यदि ऐसा न होता और उपनिषदों का मूलस्वर हममें भिन्न या भौतिकवादी ही होता तो बादरायण को उपनिषदों की विचारधारा को ब्रह्मवादी दृष्टिकोण के मन्दर्भ में सूत्र-बद्ध करने की प्रेरणा ही प्राप्त न होती और यदि वे ब्रह्म की आदर्शवादी धारणा के प्रचार के लिए ही उत्पन्न थे, तो किसी दूसरे मार्ग का अवलम्ब भी ले सकते थे।

बादरायण का अध्यात्म से आशय (ब्रह्म-स्वरूप-विचार)—बादरायण का अध्यात्म से आशय आत्मा (ब्रह्म) को हर वस्तु का मूलकारण मिट्ट करना प्रतीत होता है। वे यह मानते हैं कि ब्रह्माण्ड का नाम-रूप (प्रत्येक वस्तु जगत) ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है और अन्त में वह प्रत्यावर्तन के रूप में उसी में विलीन हो जाता है। हममें कोई मन्देह नहीं कि बादरायण के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म का स्वरूप उसी प्रकार का नहीं है, जिस प्रकार बाद में आचार्य शंकर ने ब्रह्म के स्वरूप की अवधारणा का प्रतिपादन किया है। क्योंकि हम देखते हैं कि सभी द्वैत एवं अद्वैतवादी वर्णव आचार्यों (ईश्वरवादियों) ने उपनिषदों और गीता के साक्ष्य के साथ बादरायण के ब्रह्मसूत्रों को भी अपनी दार्शनिक अवधारणाओं की मिट्टि के लिए प्रमाण स्वीकार किया है। उन वर्णव आचार्यों की ब्रह्म-स्वरूप विषयक अवधारणाएँ पर्याप्त सीमा तक एक दूसरे में भिन्न प्रकार की हैं अतः यह स्पष्ट है कि उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्रों का ब्रह्मवाद (ईश्वरीय अवधारणा) इतना अधिक लचीला एवं स्वतन्त्र चिन्तन (पूर्वाग्रह-रहित) में परिपूर्ण है कि उसकी व्याख्या अलग-अलग रीतियों में कर सकना सम्भव हो सका है। बादरायण (सम्भवतः वेदव्यास) का जीवन-काल ईसा पूर्व चौथी तथा ईस्वी मनु दूसरी शताब्दी का मध्यकाल माना जाता है। यह वह समय है, जब बौद्ध एवं जैन विचारधारा अपनी आरम्भिक स्थिति में किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान थी। क्योंकि बुद्ध और महावीर उसे किसी निर्धारित एवं निश्चित रूप में ही अपने युग के समाज के सम्मुख प्रस्तुत करते रहे थे।

हम यह भी देखते हैं कि बौद्ध एवं जैन मतों के प्रवर्तकों ने वैदिक पुरोहितवाद, याज्ञिक कर्मकाण्ड, वर्णव्यवस्था और वैदिक ईश्वरवाद के विरोध (बहुदेववाद के भी) के साथ ही उपनिषदों के आत्म-विचार का भी खण्डन किया है। अतः इसके सम्बन्ध में किसी मन्देह के लिए अवकाश नहीं रह जाता कि बादरायण के द्वारा औपनिषदिक विचारधारा (विशेषकर ब्रह्मवादी) को सूत्रों के रूप में बाँधने में पर्याप्त समय

का अन्तराल विद्यमान रहा होगा और इस विचाराधारा के विचारमूत्र अत्यन्त प्राचीन होंगे। बादरायण के द्वारा जिस समय उपनिषदों की विचारधारा (अध्यात्मवादी) को मूत्र-बद्ध किया गया, उससे पहले ही वह आम विचारों की स्थिति में रही होगी, लेकिन यह तथ्य ध्यातव्य है कि तब भी उसमें आदर्शवादी (विशेषकर ब्रह्मवादी) स्वर ही प्रधान एवं मूलमूत्र के रूप में अवश्य विद्यमान होगा। हम देखते हैं कि बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों के आरम्भ में ही ब्रह्म (परमतत्त्व) को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (प्रकृति) का आदि-कारण (प्राथमिक सत्ता) मान लिया है। ब्रह्म की परिभाषा के अन्तर्गत वे इस विचार को मुख्य स्थान देते हैं कि ब्रह्म ही उत्पत्ति (प्रकृति-ब्रह्माण्ड) की मूलकारण सत्ता है। बादरायण की इस अवधारणा का बीज तैत्तिरीय उपनिषद् में भी प्राप्त होता है। तदनुसार जगत् की उत्पत्ति भी ब्रह्म में या ब्रह्म से मानी गई है, और उसका लय भी ब्रह्म में ही स्वीकार किया गया है। इसीलिए बादरायण ने ब्रह्म को (जिसे वे पूर्णचैतन्य मानते हैं) अचेतन तत्त्व (प्रकृति) जिसे लोकायत मूलकारण मानते हैं, का समकक्षी मानने का विरोध किया है। उनके मत में इस ढंग की द्वैत की अवधारणा उपनिषदों का प्रतिपाद्य स्वीकार करना उचित प्रतीत नहीं होता। उन्होंने अचेतन तत्त्व अर्थात् प्रधान (प्रकृति) में जगत् की उत्पत्ति की मान्यता का खुलकर विरोध किया है। वे परमाणुओं और पदार्थों (वैशेषिकों) के द्वारा ब्रह्माण्ड के निर्माण की अवधारणा को भी स्वीकार नहीं करते। ब्रह्म को वे 'चेतन बुद्धि-तत्त्व' मानते हैं और उसी को जगत् का कारण (निमित्तोपादान) स्वीकार करते हैं—अचेतन प्रकृति, परमाणुओं या पदार्थ को नहीं।

बादरायण के ब्रह्म-स्वरूप की विशेषता—मास्वो के अनुसार पुरुष (आत्मा-जीव) निष्क्रिय एवं अकर्ता चैतन्य है। इसी अवधारणा के पीछे प्रकृति के आदिमूल-कारण एवं पदार्थों के समवाय के द्वारा चेतना की उत्पत्ति की अवधारणा की ध्वनि प्रेरिका शक्ति का रूप धारण करती दिखाई देती है। बादरायण का मत है कि आत्मा पूर्ण सक्रिय सत्ता एवं स्वतन्त्र चैतन्य है। इसमें सिद्ध होता है कि ब्रह्म के अर्थ में आत्मा का बादरायण ने जहाँ भी प्रयोग किया है, वहाँ उनका आशय जीव या जीवात्मा में नहीं है। जिस समय वे जीवात्मा की अवधारणा की चर्चा करते हैं, उस समय ब्रह्म को सर्वोच्च सत्ता तथा जीव को अशी मानकर जीव की चर्चा उसके अश के रूप में करते दिखायी देते हैं, और उनकी यह अवधारणा शंकराचार्य के ब्रह्म के निर्विशेष स्वरूप एवं उनकी जीव की प्रतीति वाली मान्यता से भिन्न रूप में ही सामने आती है। ब्रह्म को वे सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, और आनन्दमय परम चैतन्य स्वीकार करते हैं। ब्रह्मसूत्रों के अनुसार वह (ब्रह्म) आदि और अन्त की सीमाओं में अतीत सत्ता है—पूर्ण, निर्गुण एवं निराकार है। तदनुसार उसे निष्कर्म, निष्कलक, शाश्वत, ज्ञान-परिपूर्ण एवं पूर्णस्वतन्त्र परमतत्त्व स्वीकार किया गया है।

सूत्रकार बादरायण ने आत्मा को परमात्मा और ब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हुए उसे (ब्रह्म को) ब्रह्माण्ड का भौतिक एवं सक्षम (सृष्टि-रचना करने में पूर्ण

समर्थ) कारण भी मान लिया है। उनकी इस अवधारणा में ही उनके इस मत के लिए अवकाश निकल आया है कि ब्रह्म ने ही स्वयं ब्रह्माण्ड को अपने भीतर से उत्पन्न किया है। यह उत्पत्ति ऊर्णनाभ के द्वारा अपने भीतर से तन्तु निकालने जैसी ही है। यही कारण है कि वे सृष्टिकर्ता और सृष्टि में अद्वैत (अभेद) ही स्वीकार करते हैं।

ब्रह्मसूत्रकार की ब्रह्म की इस अवधारणा के अनुसार ब्रह्म और प्रकृति में द्वैत स्वीकार्य नहीं है।^१ उनके द्वारा इस अवधारणा की स्थापना से पहले श्वेताश्वतर उपनिषद में सम्पूर्ण जीवों (प्राणियों) में ईश्वर (ब्रह्म) के अन्तर्निहित होने की मान्यता स्वीकार की जा चुकी थी। इसके साथ ही इसी उपनिषद में इस विचार का प्रतिपादन भी हो गया था कि ब्रह्म सर्वव्यापी एवं सर्वान्तर्यामी सत्ता है। वही ब्रह्माण्ड के कण-कण में परिव्याप्त है और मानव-देह में भी उसी का निवास है। उसके स्वरूप की चर्चा करते हुए उपनिषदकार ने उसे सर्वद्रष्टा, चेतन, अद्वैत एवं निर्गुण बतलाया है।^२ बादरायण ने सम्भवतः इस उपनिषद की उपर्युक्त अवधारणा का यह अर्थ निकाल लिया है कि जगत ने परे ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई चेतन सत्ता अस्तित्वमय है ही नहीं। तदनुसार प्रकृति और ब्रह्म एक है—उनमें द्वैत या भेद न होकर अद्वैत एवं अभेद है। इस प्रसंग में यह भी जान लेना सगत होगा कि बादरायण जगत की सत्ता (यथार्थता) का उम रूप में निषेध नहीं करते, जिम रूप में उनके सूत्रों को आधार बनाकर शंकराचार्य ने किया है। अतः यह सगत नहीं कि जगत के पूर्ण निषेध को बादरायण की मूलभूत अवधारणा मान लिया जाए। इसमें एक और यह तथ्य भी प्रकाश में आता है कि बादरायण ने जिन उपनिषदों को अपनी ब्रह्म की अवधारणा का मूलस्रोत माना है, उनमें भी जगत के मिथ्यात्व की चर्चा और शंकर अद्वैतवाद की 'जगन्मिथ्या' की अवधारणा वंसी ही नहीं है जैसी आचार्य शंकर ने मानी है। अपने मत को प्रामाणिक विचार सिद्ध करने के लिए ही सम्भवतः उन्होंने (शंकराचार्य) उपनिषदों की मूलभावनाओं को यथाप्रयत्न अपने अनुकूल व्याख्यात कर लिया है। शंकराचार्य वैचित्र्य से परिपूर्ण इस जगत को माया का इन्द्रजाल मानते हैं जबकि बादरायण के अनुसार वह उस रूप में मायाजाल नहीं जैसा शंकर का मत है।

बादरायण ने जिम समय उपनिषदों की विचारधारा को सूत्रबद्ध किया, उस समय तक सांख्य और वैशेषिक दर्शनों के मूलभूत विचार पर्याप्त प्रचार पा चुके थे। बुद्ध और महावीर भी अपनी विचारधारा के प्रचार के द्वारा नवीन दर्शन-प्रणालियों की आधार-शिला रख चुके थे। तब लोकायतो की भौतिकवादी विचारधारा भी कम प्रभावशाली नहीं थी। कम से कम विचारों की दुनियाँ में उनकी कई अवधारणाएँ पर्याप्त उत्साह के साथ आदर्शवादी विचारकों की मान्यताओं के खण्डन में कुत-सकल्प थी। प्रकृति को सांख्यो ने जगत का मूल (सूक्ष्म) कारण माना था और न्याय-वैशेषिक

^१ ब्रह्मसूत्र, १-४-२३, प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।

^२ श्वे० उप० ६-१२।

दर्शन परमाणुओं और पदार्थों के परिणाम एवं रूपान्तरण की धारणा के प्रचार में लगे हुए थे। यह विचार पर्याप्त क्रियाशील था कि प्रकृति का परिणमन ही जगत है और उसकी क्रियाशीलता (Activity) के लिए किसी बाहरी चेतनसत्ता की आवश्यकता नहीं। वैशेषिकों ने पदार्थ की और नैयायिकों ने परमाणु की व्याख्याएँ ऐसे ढंग से की थीं, जिनके द्वारा समस्त जगत पदार्थों के मिश्रण से निमित्त हुआ माना गया था। उसमें पाया जाने वाला वैविध्य स्वयं परमाणुओं और पदार्थों में अन्तर्निहित स्वीकार किया गया था।

बादरायण ने उक्त धारणाओं का खण्डन किया है और आत्मा की प्राथमिक सत्ता की प्रतिष्ठा के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा दी है। उन्होंने यह कहा है कि पदार्थ आत्मा से उत्पन्न होते हैं, अतः वे जगत के मूल कारण नहीं माने जा सकते। उन्होंने उन सभी पूर्ववर्ती चिन्तन-प्रणालियों की ऐसी सभी अवधारणाओं का भी खण्डन किया, जिनके अनुसार जगत को विभिन्न पदार्थों (तत्त्वों) का संयोग अथवा प्रकृति (प्रधान) का परिणमन एवं रूपान्तरण (Modification) माना जाने लगा था। ज्ञान के सम्बन्ध में भी बादरायण का मत उपर्युक्त दर्शन-प्रणालियों की तत्त्व-विचार सम्बन्धी मान्यताओं से भिन्न था। वे ब्रह्म को ही परम सत्य और जगत का आधार मानते थे तथा ज्ञान के सम्बन्ध में यह स्वीकार करते थे कि परमसत्ता (ब्रह्म) का ज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान है। जिसे यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है वही मुक्त है। इस प्रकार उनकी मोक्ष की अवधारणा भी भिन्न रूप प्राप्त कर लेती है। तत्त्व-विचारकों का मत था कि मोक्ष का स्वरूप यही है कि हम वास्तविक वस्तुस्थिति से भली-भाँति अवगत हो लें। यही उनका तत्त्व-विचार था, जिसके अन्तर्गत मुख-दुःखों का निराकरण ही सच्ची मुक्ति थी।

ब्रह्म की सत्यता और जगत के मिथ्यात्व के रूप में शंकराचार्य ने 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' को अपने माया-सिद्धान्त का आधारभूत सूत्र ही बना लिया था। लेकिन इन समस्याओं के सम्बन्ध में बादरायण उनसे पहले ही अपने विचारों का संकेत-परिचय दे चुके थे। शंकर अद्वैतवेदान्त में जगत को मिथ्या या असत्य सिद्ध करने पर अधिक बल दिया गया है—सम्भवतः बादरायण के जगत के विषय में वैसे ही विचार नहीं थे, जैसा कि शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में दावा किया है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोकायतों, सांख्यो और वैशेषिकों की दार्शनिक प्रणालियों की मान्यताओं को गलत सिद्ध करने के लिए ही ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या माना गया था। उन्होंने उपनिषदों के वे विचार-सूत्र एकत्रित किए, जिनसे सांख्य एवं अन्य भौतिकवादी चिन्तन-प्रणालियों का खण्डन किया जा सकता था। औपनिषदिक आदर्शवादी मान्यताओं को क्रम देकर ब्रह्मसूत्रों का निर्माण इस ढंग से किया गया है, जिससे वादी और प्रतिवादी के रूप में अपनी अवधारणाओं का स्पष्टीकरण, उपस्थापना एवं प्रामाणिकता भी सिद्ध हो जाय और विरोधी विचारकों के विचारों के खण्डन का रास्ता भी निकल आए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदान्तिक विचारधारा का आरम्भ सर्वप्रथम संहिताओं में ही हो गया था और इसके बाद उपनिषदों में विभिन्न रीतियों एवं शैलियों में उसके उपबृंहण के प्रयत्न किए गए। तदनन्तर बादरायण ने भौतिकवादी दर्शन-प्रणालियों के विरोध में समूची औपनिषदिक (आदर्शवादी) विचारधारा को सूत्रबद्ध कर, वेदान्त सम्बन्धी मान्यताओं की स्थापना करते हुए, विरोधी दर्शन-प्रणालियों की अवधारणाओं के आगे कई प्रकार से प्रश्न-चिह्न लगा दिए। यही आरम्भिक वेदान्त का स्वरूप एवं उसमें प्रतिपादित ब्रह्म-स्वरूप सम्बन्धी अवधारणाएँ हैं, जिनकी चर्चा शांकर अद्वैतवेदान्त में पहले, पूर्वपीठिका के रूप में करना सगत ही नहीं अपितु अत्यन्त आवश्यक भी है। अद्वैतवेदान्त या वेदान्त के विचार उपनिषदों में इधर-उधर बिखरे पड़े थे, जिन्हें बादरायण ने भौतिकवादी प्रणालियों के खण्डन के हेतु सूत्रों के माध्यम में प्रस्तुत किया था। परन्तु सभी ज्ञानवादी और अवतारवादी दार्शनिकों ने उपनिषद और गीता के साथ ही ब्रह्मसूत्रों को भी अपने-अपने मतों की स्थापनाओं की पृष्टि के हेतु प्रमाण माना है। अतः यह आवश्यक था कि ब्रह्मसूत्रों की वैदान्तिक अवधारणाओं को समझ लिया जाना।

● शांकर अद्वैतवेदान्त: सामान्य परिचय

परब्रह्म : आवि-कारणत्व एवं निर्विशेषत्व—मध्ययुग सामन्ती अर्थतन्त्र का युग है, जिसमें दार्शनिक चिन्तन विविध धाराओं में फूटकर विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों के रूप में प्रस्तुत हुआ है। इस काल में आदर्शवादी विचारकों ने परम्परागत वेदान्त एवं उपनिषदों की आरम्भिक विचारधारा को फिर से बिलोया और अपनी अवधारणाओं की स्थापना के हेतु गीता एवं ब्रह्मसूत्रों को द्वारा व्याख्यान किया। यह प्रयत्न ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुरूप परम्परागत आदर्शवादी विचारधारा को परिवर्तित सन्दर्भ में देखने और परखने के उपरान्त उन्हें नए मुहावरों में प्रस्तुत करने के लिए किया गया था। इस युग के विचारकों में शंकराचार्य का नाम सबसे पहले आता है, जिनका जन्म आठवीं शताब्दी के अन्तिम काल में केरल के कालडी गाँव के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे उपनिषदों, गीता और ब्रह्मसूत्र के साथ व्याख्यता ही नहीं माने जाते, बल्कि भारतीय आदर्शवादी दर्शन में नयी अवधारणाओं के सूत्र जोड़ने वाले महान् चिन्तक भी स्वीकार किए जाते हैं। उन्होंने अपनी विचारधारा का केन्द्र ज्ञान के एक मात्र स्रोत (उनके अनुसार) वेदों एवं उपनिषदों को बनाया है। अपनी मान्यताओं के विपरीत पड़ने वाली सभी पूर्ववर्ती विचार-मण्डलों का खण्डन करने के बाद उन्होंने अपने मत की अत्यन्त समर्थता के साथ प्रतिष्ठा की है।

शंकराचार्य यह स्वीकार नहीं करते कि जगत का उद्भव त्रिगुणात्मिका प्रकृति का परिणाम है। वे यह भी नहीं मानते कि ब्रह्माण्ड का निर्माण आदिकारण परमाणुओं के स्व-परिचालित मेल से होता है। उन्होंने इस मत का कड़ा विरोध

किया है कि आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व होता ही नहीं, वे इस विचार से भी सहमत नहीं हैं कि प्रत्येक जागतिक घटना क्षणभंगुर होती है। अतः उक्त सभी मान्यताओं का खण्डन करते हुए उन्होंने सांख्यो, नैयायिको, लोकायतो और बौद्धों की मूलभूत मान्यताओं की कड़ी आलोचना की है। इसमें सन्देह नहीं कि शंकराचार्य में पूर्वग्रहों की कमी नहीं है, क्योंकि कई प्रसंगों में उन्होंने उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या करते समय उन्हें अपने विचारों के अनुरूप साचे में ढालने की खीच-तान भी की है, फिर भी वे अपने युग के महान विचारक हैं और उस युग के आदर्शवादियों में उनका स्थान अग्रणी है।

शंकराचार्य व्यक्तिगत आत्मा (जीवात्मा) और सर्वव्यापी आत्मा (ब्रह्म) एवं आत्मा और पदार्थ में भेद की किसी धारणा को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने अपनी इस अवधारणा पर विशेष बल दिया है कि जीवात्मा और जगत् का ब्रह्म से भिन्न एवं अलग अस्तित्व नहीं है। वे सत्य सत्ता केवल ब्रह्म की ही स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्ष जगत् के विषय में उनका विचार है कि जीव-आत्मा और अनात्म (कर्ता-कर्म) का धोखा ही जगत् की प्रतीति का कारण है। वे वस्तुओं को कार्य-कारण सम्बन्ध की अभिव्यक्ति मानते हैं—समरूपता नहीं। आदर्शवादो बौद्धों के शून्यवाद के विरोध में उन्होंने ब्रह्म (शुद्ध चेतना) को ही यथार्थ स्वीकार किया है, क्योंकि चेतना के अतिरिक्त वे किसी की भी यथार्थ सत्ता मानने के लिए तैयार ही नहीं हैं। जगत् के बारे में उन्होंने यह माना है कि जिस तरह पानी की लहरें या बुलबुले पानी से भिन्न न होने हुए एक ही नहीं होते, इसी तरह जगत् ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होने हुए भी, यथार्थ में, उससे अभिन्न है।

जीव और जगत्—शंकराचार्य जीव को भी मात्र आभास ही मानते हैं, यथार्थ नहीं। उनका मत है कि ब्रह्म ही जीव और जगत् के रूप में दिखाई देता है। इस मान्यता के द्वारा उन्होंने एक ओर ब्रह्म और जीवात्मा (व्यक्तिक चेतन्य) को एक मान लिया है, और दूसरी ओर जीवात्मा और जगत् की प्रतीति को भ्रम एवं माया भी सिद्ध कर दिया गया है। उनके अनुसार माया (अविद्या) आत्माओं एवं नामरूपात्मक जगत् की आभास सत्ता को बराबर (यथार्थ के रूप में) प्रकट करती है इसलिए जब तक अविद्या (ज्ञान का अभाव) बनी रहती है, इस आभास का अन्त नहीं होता। माया को ब्रह्म की शक्ति मान कर भी शंकराचार्य ने उसे सत्सत्ता स्वीकार करने से बिल्कुल इन्कार किया है। वे केवल ब्रह्म की ही सत्सत्ता (परम अस्तित्व) मानते हैं। जगत् के अस्तित्व का आभास करवाने वाली शक्ति (माया) को वे पूरे तौर पर असत् कह नहीं सकते थे, इसलिए उन्होंने साथ में यह भी जोड़ दिया कि माया असत् भी नहीं है।

माया (अविद्या) के कारण जगत् की प्रतीति एवं उसकी व्यावहारिक सत्ता की मान्यता के उत्तर में आचार्य शंकर ने यह माना है कि स्वप्न के उपरान्त भी यदि घटनाओं का ज्ञान बना रह सकता है और विपरीत सर्प के द्वारा न काटने पर भी मात्र

सन्देह से ही यदि मृत्यु हो सकती है तो मिथ्या होने पर भी जगत का व्यावहारिक अस्तित्व या उसकी यथार्थ प्रतीति सम्भव है। जगत की वास्तविकता का खण्डन करते हुए वे कहते हैं कि रस्सी में सर्प का मिथ्याज्ञान वास्तविक नहीं, और साथ ही उसकी व्यावहारिक वास्तविकता के पक्ष में यह युक्ति देते हैं कि आखिर रस्सी में सर्प का भ्रम किसी वास्तविक आधार पर ही हुआ करता है। इसी के द्वारा उन्होंने जगत की ब्रह्म पर निर्भरता या आश्रितता सिद्ध करने का मार्ग भी निकाल लिया है। जगत को वे ब्रह्म के अस्तित्व पर पूर्ण निर्भर स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म स्वतन्त्र अस्तित्व की स्वामिनी या स्वतन्त्र अस्तित्वमयी शक्ति है, अतः उसकी सिद्धि के लिए वे जगत में उसके व्यावहारिक अस्तित्व की अवधारणा का भी विरोध नहीं करने। माया उनके अनुसार ब्रह्म का अभिन्न अंग तो है लेकिन उसे प्रभावित करने वाली शक्ति नहीं है। वे माया का अस्तित्व केवल सामाजिक जीवों के लिए ही मानते हैं। इस स्थिति में माया को उन्होंने इसलिए अविद्या के अर्थ में ग्रहण किया है कि समस्त जीव ही माया या अविद्या के प्रभाव के अन्तर्गत आते हैं।

अविद्या का प्रभाव—जीवात्मा की सीमाओं को शंकराचार्य ने उपाधियाँ (जीव की ब्रह्म की नहीं) और परिस्थितियों का परिणाम माना है। उनका मत है कि जीव विद्या से अपनी अविद्या को दूर कर स्वस्वरूपता प्राप्त कर सकता है। उनके अनुसार जगत (ब्रह्माण्ड का वैविध्य) अवास्तविक और भ्रम है। जगत को पहले वे भ्रम तो मान लेते हैं लेकिन उसी समय उसकी पूर्ण अवधारणा को भी नकार देते हैं। क्योंकि शांकर मायावाद के अनुसार ब्रह्म ही मात्र पारमार्थिक सत्ता है। माया को उन्होंने पारमार्थिक अर्थात् ब्रह्म के अस्तित्व के सन्दर्भ में किसी प्रकार का महत्त्व ही नहीं दिया। लेकिन जिस समय वे तर्क के विज्ञान के स्तर पर माया की चर्चा करने बैठते हैं, उस समय उसे अनिर्वचनीय बतलाते हैं और जब सामान्य अनुभव अर्थात् सामान्य ज्ञान का प्रसंग चलाते हैं, तब उसे वास्तविक (यथार्थ) भी स्वीकार कर लेते हैं। संक्षेप में यही शांकर अद्वैतवेदान्त का सामान्य परिचय है।

● शांकर वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप

अद्वैतवेदान्त की विचारधारा को दृढ़ सैद्धान्तिक आधार प्रदान करने का श्रेय आचार्य शंकर को दिया जाता है। उन्होंने माध्यमिकों के शून्यवाद का खण्डन करने और उपनिषदों की विचारधारा के अनुरूप हिन्दू दर्शन की विजय का उद्घोष करने के लिए जिस अध्यात्मानुभव एवं शास्त्रीय ज्ञान और तर्कबुद्धि से अद्वैतवेदान्त की प्रतिष्ठा की है, उसे विश्व के गगनान्त चिन्तकों ने भी सराहा है। उपनिषदों को उन्होंने एक माय दो अर्थों में 'वेदान्त' स्वीकार किया है। वे वेदों के अन्तिम भाग तो हैं ही, परन्तु मुख्य रूप से उन्हें वेदों के ब्रह्मार्थ निरूपक के रूप में ही स्वीकार किया गया है। शंकराचार्य के मत में उपनिषदें पराविद्या हैं, जिनमें वेदों का रहस्यार्थ निहित है। उपनिषदों का प्रधान विषय ब्रह्मज्ञान बतलाया जाता है। बाद में ब्रह्म

सूत्रों के रूप में उनकी विचारधारा को सूत्रबद्ध किया गया और गीता के साथ अन्य धार्मिक ग्रन्थों को प्रमाण मान कर शंकराचार्य एवं दूसरे आचार्यों ने अपने-अपने मतों की स्थापना की है। उपनिषदों में सर्वोपरि सत्ता को ब्रह्म का अभिधान दिया गया है। यहाँ यह स्मरण रहना चाहिए कि आत्मा और ब्रह्म से उपनिषत्कारों का एक ही आशय है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि वे अन्तिम सत्ता केवल ब्रह्म की ही स्वीकार करते हैं।

निर्विशेष सत्ता—शंकराचार्य का मत है कि उपनिषद, ब्रह्मसूत्र एवं गीता में ब्रह्म के स्वरूप के जैसे उल्लेख हुए हैं, उनके आधार पर ब्रह्म को ज्ञाता-ज्ञेय या विषयी और विषय के रूप में प्रस्तुत करना इन रचनाओं का ध्येय नहीं है। क्योंकि उपनिषदों में स्पष्ट रूप से ब्रह्म को सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वीकार किया गया है।^१ उनमें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जो यह कहता है कि उसने ब्रह्म को ज्ञान लिया है, वास्तव में वही ब्रह्म को अभी तक नहीं पहचान सका है।^२ इस कथन से भी यही ध्वनित होता है कि ब्रह्म विनेय अथवा सापेक्ष सत्ता नहीं है। शंकराचार्य ने इसी साक्ष्य के आधार पर ब्रह्म को निरपेक्ष, निरवयव और निर्विशेष सत्ता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। शंकराचार्य द्वारा अद्वैत नामकरण भी साभिप्राय प्रतीत होता है। सम्भवतः यह नेति-नेति का अनुसरण है। वे भेद में अभेद के सिद्धान्त को इसी कारण स्वीकार नहीं करते। अपनी इस मान्यता के आधार पर उन्होंने चिदचिद्विशिष्ट और भेदाभेद-सिद्धान्त का खण्डन किया है।

अपने सिद्धान्त की स्थापना से पहले पूर्ववर्ती विरोधी विचारों का उल्लेख करते हुए तथा उनकी अशक्तता का दिग्दर्शन कराते हुए शंकराचार्य ने निर्गुण और निर्विशेष ब्रह्म के स्वरूप का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख किया है। वे लिखते हैं, “ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता है। वह कूटस्थ नित्य और आकाश के समान सर्वव्यापक है। यह हर एक प्रकार के विकार से रहित, नित्य तृप्त और निरवयव है। वह स्वप्रकाश-स्वरूप, गुण-दोष-विनिर्मुक्त, त्रिकालातीत अशरीरी तथा शुद्ध संवित् चैतन्य है।^३ वे उसे उस रूप में ब्रह्मकाण्ड में अभिव्यक्त (Manifested) स्वीकार नहीं करते जैसा कि वैष्णवाचार्यों, काश्मीरी शैव दार्शनकों एवं सिक्ख गुरुओं ने माना है। यद्यपि उपर्युक्त सभी आचार्य और धर्म-मत कई बातों में एक दूसरे से स्वतन्त्र एवं विरोधी विचार भी रखते हैं। परन्तु वे, जो जगत् को मिथ्या नहीं मानते, किसी न किसी रूप में

^१ तैत्ति० उप०, २।१।१; “सत्यं ज्ञान अनन्तं ब्रह्म।”

^२ केन० उप० २।३; यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ॥ देखिए एस० डब्ल्यू० भाग ४, पृ० ५५।

^३ एस० डब्ल्यू० भा० १, पृ० २०;—“इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापी, सर्वक्रिया-रहित, नित्यतृप्त, निरवयवं, स्वज्योतिस्वभावं, यत्र धर्मधर्मो सहकार्येण कालत्रयं च नोपवर्तते तद्वत् अशरीरत्वमाख्यम् ॥”

विश्व को परमात्मा द्वारा धारण किया हुआ रूप ही मानते हैं, और इसी कारण जगत को मिथ्या मानने से इन्कार भी करते हैं। शंकराचार्य के विचार में जगत् माया के कारण केवल प्रतीति या आभासित सत्ता है, परन्तु बाद में उन्होंने इसे व्यावहारिक सत्य के रूप में स्वीकार भी कर लिया है। फिर भी यह ब्रह्म को एक रस ही बतलाते हैं और ज्ञान द्वारा इसे जानने का उपदेश देते हैं।^१

शंकराचार्य के विचार में ब्रह्म शून्यवादी बौद्धों के विश्वासानुसार अभाव रूप सत्ता नहीं है।^२ शंकराचार्य का विश्वास है कि यह प्रतीति इन्द्रिय-ज्ञान के कारण होती है। उन्होंने 'नेतिनेति' द्वारा प्रतिपादित परम तत्त्व के स्वरूप की व्याख्या भी एक विज्ञेय दृष्टिकोण में की है। यही कारण है कि वे माध्यामिक बौद्धों के शून्यवाद को पूरी तरह अस्वीकार कर देते हैं। शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध मानने का यही कारण प्रतीत होता है कि उनके द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म अकर्ता है। ब्रह्म की शक्ति को उसका सक्रिय पक्ष स्वीकार न करने के कारण उन्हें जगत् को मिथ्या मानना पड़ा है। इसी कारण उनका माया-सिद्धान्त तर्कों की दृष्टि से कमजोर पड़ गया है। शंकराचार्य द्वारा स्वीकृत ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप की जानकारी के बाद सगुण ब्रह्म के स्वरूप पर उनके विचार जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

सगुण ब्रह्म—आचार्यशंकर ने ज्ञाता और ज्ञेय की चर्चा को बुद्धि-कल्पित भेद स्वीकार किया है। परमसत्य के रूप में वह निर्गुण ब्रह्म को निर्विकार ही मानते हैं। उन्हें 'मविशेष ब्रह्म-सिद्धान्त' स्वीकार नहीं है। आचार्य रामानुज की भांति उन्होंने ब्रह्म में स्वर्ग या आन्तरिक भेद (Internal difference) को भी अस्वीकार किया है। उनके विचार में कूटस्थ ब्रह्म नित्य सत्ता है अतः उसे परिणामी नहीं माना जा सकता। परानुभूति में केवल शुद्ध-चैतन्य का ही प्रकाश रहता है। यहाँ तक कि चैतन्य का ज्ञान भी बुद्धि-स्तर की ही बात है। इसे द्रव्य-संयोग-चैतन्य ज्ञान भी कहा गया है। सगुण ब्रह्म की धारणा उसी समय बनती है, जब द्रव्य (मटर) को समूचे तौर पर लेकर देखने का यत्न किया जाता है। इसी प्रकार द्रव्य के किसी खण्ड में चैतन्य-सम्बन्ध की कल्पना द्वारा जीव की धारणा साकार होती है। यही कारण है कि शंकराचार्य ने सगुण ब्रह्म और जीव में परस्पर उपाधि भेद ही स्वीकार किया है।^३ सगुण ब्रह्म का

^१ वे० सू० शा० भा० १/३१,—न कार्यप्रपञ्चविशिष्टो विचित्रात्माविज्ञेयः, किं तर्हि ? अविद्याकृतं कार्यं प्रपञ्चं विद्यायां प्रविलापयन्तः तमेवैकं आयतनभूतं जानन् 'एक रस' इति ॥

^२ एस० डब्ल्यू० भा० ३, पृ० ५६८,—वाङ्-मनसातीतं अपि ब्रह्मणो न अभावाभि-प्रायेण अभिधीयते। छान्दो० उप०,—दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थं सद् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धीना असद् इव प्रतिभाति।

^३ एस० डब्ल्यू० भा० १६, पृ० ४६, विचार चूड़ा मणि, पृ० २४५, तयोर्विरोधोऽयं उपाधिकल्पितो न वास्तवः काश्चिदुपाधिरेव ॥ वही० पृ० २४८,—एताव उपाधि परजीवयोस्तयोः सम्यग्निरासे न परो न जीवः ॥

महत्त्व उन्होंने केवल उपासना के लिए स्वीकार किया है। उपनिषदों में भी परम सत्य के साक्षात्कार के लिए कई प्रकार की प्रतीक साधनाओं का उल्लेख हुआ है। 'ओम्' के प्रतीक द्वारा ब्रह्म की उपासना की व्यवस्था उपनिषदों में मिलती है। छान्दोग्योपनिषद् के शाण्डिल्यविद्या-प्रकरण में बतलाया गया है कि सब कुछ ब्रह्म है क्योंकि प्रत्येक का जन्म, उसकी स्थिति और लय भी ब्रह्म में ही होता है।^१ गीता में भी वासुदेव को 'सर्वम्' बतलाकर मानो उसे सम्पूर्ण सृष्टि बतलाया गया है।^२ प्रतीकोपासना चित्त को संकल्प-विकल्प से हटाकर किसी एक ही मूर्त रूप में स्थिर करने का कार्य करती है। इस दृष्टि से सगुणोपासना अन्ततोगत्वा भेद से अभेद की ओर अग्रसर होने में साधक की सहायक मिद्ध होती है। सगुण ब्रह्म की उपासना द्वारा जीव अपने ज्ञान की सीमाओं से ऊपर उठता है। सगुणोपासना द्वारा प्रेम की सीमा का विस्तार भी होता है। अतः शंकराचार्य ने अध्यात्म की यात्रा में सगुण ब्रह्म की उपासना के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। किन्तु उनके अद्वैतवाद में ब्रह्म को मूलतः निर्गुण और निर्विशेष ही माना गया है।

माया के कारण ईश्वर के रूप में ब्रह्म की प्रतीति शंकराचार्य के सगुण ब्रह्म की मान्यता का आधार है। ईश्वर मारी सृष्टि का इमी अर्थ में रचयिता है क्योंकि वह सारी सृष्टि का चैतन्य माना गया है। इस तरह उपासना के क्षेत्र में शंकराचार्य ने सगुणब्रह्म की अनुकम्पा (Grace) के सिद्धान्त को भी स्वीकार कर लिया है। वह सत्य को स्वतः समर्थ मानते हैं, अतः उनके विचार में सत्यतत्त्व को अपने आप को रूपायित करने की कोई आवश्यकता नहीं है।^३

गीता में भगवान् कृष्ण ने भक्तों को आश्वासन देते हुए कहा है कि जो प्रेम पूर्वक निरन्तर उनकी भक्ति में लीन रहता है उसे वे महज ही में प्राप्त हो जाते हैं।^४ यहाँ यह भी स्पष्ट मकेतित हुआ है कि भगवान् की प्राप्ति के लिए उनकी अनुकम्पा और अनुग्रह आवश्यक है। शंकराचार्य के अनुसार सगुणब्रह्म या ईश्वर जगत का निमित्तोपादानकारण है। वे नय्यायिका की भाँति उपादान की अलग और स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। जगत के द्रव्यों को ईश्वर से अलग और स्वतन्त्र मान लेने पर उसकी इच्छा के पूर्णस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का महत्त्व कम हो जाता

^१ छान्दो० उप०, सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जानान् इति शात उपासीत।

^२ गीता अध्या० ७, श्लो० १६।

^३ एम० डब्ल्यू० भा० १२, पृ० ४३८-३५, अविद्याध्यारोपित निराकरण मात्र ब्रह्माणि कर्तव्यं न तु ब्रह्म विज्ञाने यत्नः अत्यन्त प्रसिद्धत्वात् ॥ वही० भाग १५, पृ० ५७; अविच्छिन्नविज्ञानान् तन्नाशे सति केवलः स्वयं प्रकाश ते ह्यात्मा ॥

^४ गीता, अध्या० १०, श्लो० १०-११, तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धिं योगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमं नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

है।^१ वे ईश्वर को सृष्टि में व्याप्त और सृष्टि से अतीत सत्ता मानते हैं। अगर ऐसा वे न माने तो उनके आत्मसाक्षात्कार-सिद्धान्त की सिद्धि ही नहीं हो पाती। वे स्वयं इस दोष के प्रति सजग भी हैं।^२ इस विश्वास का समर्थन हमें गीता में भी मिलता है। वहाँ पर भगवान को सर्वव्यापक और विश्वातीत दोनों रूपों में वर्णित किया गया है।^३

दण्णवाचार्यों से अन्तर—अद्वैतवेदान्त में ईश्वर को चित्, अचित् तथा आनन्द तीन विभिन्न अंशों का मिला हुआ स्वरूप नहीं माना गया है। यह विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक रामानुजाचार्य का सिद्धान्त है। यदि अद्वैतवेदान्ती भी ऐसा मान लें तो उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जिस प्रकार अंशों के मेल से अंशों का निर्माण होता है, उसी प्रकार अंशों को अपने अंशों से अलग-अलग भी किया जा सकता है। अतः उनके विनाश की सम्भावना भी हो सकती है। इसके लिए अद्वैतवेदान्तियों ने अविद्या के कारण ईश्वर में जीव की प्रतीति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उपर्युक्त विवेचन से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि शंकराचार्य के अनुसार अविभाज्य और अशांतीत परमसत्त्व (ब्रह्म) अंशांश-भाव का वास्तविक नहीं है, ऐसा केवल प्रतीत होता है और इस प्रतीति का कारण उन्होंने माया और अविद्या को माना है। ब्रह्म के सगुण स्वरूप के इस सिद्धान्त को शंकराचार्य ने केवल उपासना के लिए ही स्वीकार किया है, नहीं तो उनका सिद्धान्त निर्गुण ब्रह्म अर्थात् अद्वैत सिद्धान्त ही है। वे प्रत्येक स्थिति में निर्गुण ब्रह्म को ही परमसत्य के रूप में स्वीकार करते हैं।^४

^१ ब्र० सू० शा० भा० २।२।३७-४१।

^२ गम० डब्ल्यू० भा० २, पृ० ३३३, ततश्च एकदेशपरिणामासम्भवतात् कृत्स्न परिणामप्रसक्तौ सत्या मूलोच्छेदनः प्रसज्येत दृष्टव्यतोपदेशानर्थक च आपद्यते ॥

^३ गीता, अध्या० १३, श्लो० १४-१६; सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्। आसक्तमवभृच्छैव निर्गुण गुणभोक्तृ च ॥ बहिरन्तश्चभूतानामचरचरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेय दूरस्थ चान्तिके च तत् ॥ अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥

^४ एस० डब्ल्यू० भाग २, पृ० ३३६, अविद्या कल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यताभ्या अनिवर्चनीयेन ब्रह्मपरिणामादि सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते; पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतं अपरिणत अवतिष्ठते ॥

● आरम्भिक शैव-शाक्त विचारधारा

विचारों और विश्वासों का उतार-चढ़ाव—विश्व भर के देशों की विभिन्न दर्शन-प्रणालियों को ऐतिहासिक घटनाओं के सन्दर्भ में देखने- विचारने से पता चलता है कि सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन के साथ-साथ चिन्तन की धारा में भी परिवर्तन होता रहता है। पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्था जिस समय उत्तरोत्तर विकास की मात्रा की ओर उन्मुख होने लगती है, उसी समय किसी नयी व्यवस्था का बीजारोपण भी हो जाया करता है। कुछ देर संक्रातिकालीन स्थिति रहती है और उसके बाद तत्काल किसी एक ही झटके से नये सामाजिक दृष्टिकोण पहले की सामाजिक व्यवस्था को पीछे धकेल कर सामने आ जाते हैं और आधिपत्य का सिंहासन ग्रहण कर लेते हैं। एक समय के विचार आगामी युगों में पूर्ण रूप में समाप्त नहीं हो जाया करते। बहुधा ऐसा भी सम्भव हुआ है कि एक विचार को परास्त कर दूसरे विचार ने अपने लिए जगह बना तो ली, लेकिन उसके बाद परिस्थितियाँ इस रूप में बदलीं कि पुनः पूर्ववर्ती विचारधारा को पनपने और उभरने का समय मिल गया एवं प्रत्यावर्तित रूप में उस का प्रभाव भी चारों ओर व्याप्त हो गया।

उदाहरण के लिए लोकायत विचारधारा की मान्यताएँ आदर्शवाद के प्रभाव-काल में पूर्ण रूप से उपेक्षित कर दी गयीं। ऐसा लगता था कि भारत में भौतिक विचारधारा कभी अपना मिर उठा नहीं सकेगी। इसी कारण ही तो भारतीय दर्शन को 'आत्मा का विज्ञान' मान कर लोकायतों की विचार-परम्परा को बहिष्कृत (डिलीट) की कर दिया गया था, लेकिन आधुनिक युग में विचारों के स्तर पर पुनः वही भौतिकवादी विचारधारा अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित किए हुए है और उत्तरोत्तर उसका भविष्य उज्ज्वलतर होता जा रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मूलदृष्टि में पर्याप्त समानता रहते हुए भी किसी विचारधारा के विविध मोपानों के आकार-प्रकार में बहुत अधिक अन्तर भी आ जाता है। जगत में भी आन्तरिक परिवर्तन होते रहते हैं और उसे मोचने-समझने वाले मानव-समाज की परिस्थितियाँ भी तदनु रूप परिवर्तित होती रहती हैं।

प्रस्तुत प्रसंग से हमारा आशय यह है कि आरम्भिक भौतिकवादी विचार-धारा और सांख्य-योग, न्याय एवं वैशेषिक के समय की तत्त्व, पदार्थ एवं परमाणु सम्बन्धी मान्यताएँ आज के वैज्ञानिक साधनों की प्रचुर सामग्री की उपलब्धि के युग में बिल्कुल भिन्न हो गई है। लेकिन भौतिकवादियों की मूलदृष्टि वही है, जो बौद्ध-कालीन पुरातनकस्सप, मखलिगोसाल, अजीत केशकम्बलिन, कच्चायन, निगंठनतपुत्त और संजयवेलथिपुत्त आदि भौतिकवादी विचारकों की थी। पदार्थ को प्राथमिक तत्त्व मानना उसी प्रकार स्वीकार किया जा रहा है, जिस प्रकार सांख्यों नैयायिकों, और वैशेषिक दर्शन के आचार्यों ने माना था। अन्तर केवल इतना हुआ है कि उस समय का तत्त्व-विचार मात्र बौद्धिक था। उसका प्रमाणाधार अनुमान, तर्क, अनुभव (प्रत्यक्ष जगत का) तथा दैनंदिन का मानव-जीवन था। आज कल के प्रतिपादित तथ्यों एवं मान्यताओं को हस्तामलक की भाँति प्रत्यक्ष करके दिखलाया जा सकता है—एक्सपेरिमेंट्स उसे सिद्ध करके प्रस्तुत कर देते हैं। नवीन उपलब्धियों के कारण पदार्थों और तत्त्वों की सख्या में भी वृद्धि आदि कई परिवर्तन (नवीन तथ्य) सामने आये हैं, जो बहुत पहले बनाई गयी थी—केवल विकास ही हुआ है।

आरम्भिक शैव-शाक्त-विचारधारा के प्रसंग में भौतिकवादी दर्शन-प्रणालियों की चर्चा उदाहरण के रूप में इसलिए की गई है क्योंकि इसमें हमारी प्रस्तुत विचारणा को समझ सकने का मशकत आधार निहित है। आरम्भिक शैव-शाक्त-विचारधारा के सम्बन्ध में यहाँ यह दिखलाना अभीष्ट है कि शिव और शक्ति की पूजा अत्यन्त प्राचीन है जिसके प्रमाण हमें मिन्धुघाटी की मम्भ्रता के अवशेषों एवं आदिवासी जातियों में प्रचलित मान्यताओं में अब भी मिलते हैं।

विद्वानों का मत है कि यद्यपि शैव-शाक्त विचारधारा को दर्शन का रूप बहुत बाद में प्राप्त हुआ है तथापि धार्मिक विश्वास एवं उसे किसी न किसी ढंग से परमसत्ता के रूप में स्वीकार करने की धारणाएँ और मान्यताएँ बहुत पहले से ही प्रचलित रही हैं। हठप्पा और मोहेजोदडों के प्राप्त अवशेषों में ऐसी सामग्री-प्राप्त हुई है, जिसकी व्याख्या करते हुए मार्शल आदि पुरातत्त्ववेत्ताओं ने शिव और योनि की पूजा के रूप में और मन की एकाग्रता के द्वारा शिव नामक शक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के अनुमान के द्वारा अपने निष्कर्षों का प्रतिपादन किया है। भारतीय दर्शन के इतिहास में शक्ति की परमसत्ता के रूप में मान्यता और उसकी पूजा का समय तान्त्रिक काल माना जाता है, जिसे शक्ति के सन्दर्भ में शाक्त माध्ना-काल भी कह सकते हैं। लेकिन शक्ति या देवी की पूजा मृजनात्मक अलौकिक सत्ता के रूप में भी अपने आरम्भिक आकार में उस समय में भी विद्यमान थी, जिस समय मानव-समाज कबीलाई जीवन व्यतीत कर रहा था। जीविका के उपाजन का प्रधान कार्य स्त्री जाति के पास था और देवियों की पूजा खेती की अधिक उपज देने वाली शक्तियों के रूप में की जाती थी।

आरम्भिक वेदान्त में ही परमसत्ता की शक्ति के संकेत किये जाने लगे थे । उधर आयों के पुरुष देवताओं के साथ उनकी पत्नियों के रूप में देवी की पूजा के लिए स्थान बनता रहा, जिसने अन्त में शक्ति के रूप में परमसत्ता का स्थान ग्रहण कर लिया । सामान्य रूप में परमसत्ता की अवधारणा को स्त्री के रूप में प्रकट किया गया और उसकी शक्तियों के विभिन्न रूपों एवं पक्षों को ध्यान में रखते हुए शक्ति-परिवार की कल्पना भी कर ली गई । आरम्भिक देवी-पूजा के प्रचार के समय की जितनी भी मुख्य-मुख्य प्रादेशिक देवियाँ थीं, उन सभी को परमशक्ति रूप महामाया या देवियों की अधीश्वरी की विभिन्न शक्तियों के रूप माना गया । शाक्त-परम्परा के अन्तर्गत मत-सम्प्रदायों में देवियों की उपासना एवं स्तुति के लिए रचे गये स्तोत्रों से इस मत की पुष्टि होती है कि परब्रह्म के अवतारी रूपों और उनके परिवार की भाँति ही महामाया पराशक्ति के अवतारों को भी स्वीकार किया गया है और यदि परब्रह्म के रूप में परमसत्ता के पुण्यावतारों में स्वतन्त्र शक्ति के अवतारों को ही ध्यान में रखा जाए तो हिन्दू धर्म की सभी मान्यताएँ उसी में समाहित देखी जा सकती हैं । महामाया शक्ति ही अपने विभिन्न रूपों के द्वारा जगत की रचना, उसका पालन एवं संहार करती दिखाई गई है । जिस प्रकार नारायण धरती का भार उठागने के लिए, पीड़ितों की प्रार्थना में द्रवीभूत होकर मानव-देह के रूप में अवतार धारण करने हैं, उसी प्रकार देवी (महामाया शक्ति ह्वा परब्रह्म) भी राक्षसों और दुष्टों के विनाश एवं अपने भक्तों के कल्याण के लिए अवतारी रूप में अवतरित होती मानी गई है ।

मार्शल आदि पुरातत्त्ववेत्ताओं और दुर्खेम एवं फ्रांजर आदि समाज शास्त्रियों की उपस्थापनाओं के आधार पर यह माना जाने लगा है कि अनाथ (अर्थेतर) जनसमुदाय के राष्ट्रीय देवी-देवताओं में गाँवों की देवी माताएँ, प्रादेशिक भेद के कारण विभिन्न नामों के द्वारा राष्ट्रीय देवी-देवताओं में अपने लिए प्रमुख स्थान बनाए रखी हैं । आदिम कबीलों में आज भी ब्राह्मणेतर देवी-पूजकों का ही बाहुल्य है, जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास प्रचलित है कि ये पुरोहित-पुजारी प्राचीन कबीलों के मुखियों की सन्तान हैं एवं उन्हीं में देवी माता को सन्तुष्ट करने की योग्यता एवं क्षमता विद्यमान है ।^१

भारतीय ग्राम-समाज में अब भी भूतों प्रेतों की मान्यता के कारण एवं जादू-टोनों के द्वारा प्रबिष्ट प्रेतात्माओं के निराकरण तथा विभिन्न रोगों को दूर करने की सामर्थ्य में विश्वास रखने के हेतु सामान्य स्थिति के देवी-देवताओं की पूजा पूर्ववत् प्रचलित देखी जा सकती है । इसके सम्बन्ध में फ्रांजर महोदय लिखते हैं कि भारतीय आदिम निवासियों के प्रायः सभी धार्मिक कृत्य उनके समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त ओझाओं के द्वारा सम्पन्न होते हैं । हिन्दू धर्म के प्रभाव के कारण प्रादेशिक

^१ मार्शल : मोहेजोडो एण्ड इडस सिविलिजेशन (पृ० ५१, संस्क० १९३१)

छोटे-मोटे गुप्ता आदि देवताओं, जिन्हें प्रायः वीर व्यक्ति होने के कारण देवत्व प्राप्त हो गया है विष्णु और शिव आदि के सेवकों का रूप दे दिया गया है।^२ सम्भवतः यह परवर्ती पौराणिक विश्वास है, जिसके अनुसार आदिवासियों के उक्त प्रादेशिक देवता भी आर्य धर्म के प्रसिद्ध देवताओं (शिव और विष्णु आदि) के परिवार के अन्य सदस्यों की भाँति देवत्व-स्थिति को प्राप्त कर सके हैं।

उपर्युक्त सामग्री के पर्यालोचन के उपरान्त इस तथ्य को भी स्वीकार कर लेना असंगत धारणा नहीं होगी कि आज के हिन्दू धर्म का रूप वैदिक धर्म का शुद्ध रूप नहीं है। विद्वानों ने आर्य एवं आर्योत्तर समाज में परस्पर अन्तर्भुक्ति की प्रक्रिया को स्वीकार करते हुए इस तथ्य की ओर ध्यान खींचने के प्रयत्न किये हैं कि शिव के साथ शिवानी की पूजा का प्रचलन मुख्यतः इसी अन्तर्भुक्ति का परिणाम है। मध्य काल तक आर्य एवं आर्योत्तर समाज की पृथकता की भावना प्रायः समाप्त हो चुकी थी और दोनों की अलग-अलग ढंग की मान्यताएँ समझीते के रूप में पर्याप्त एकाकारिता ग्रहण कर चुकी थी। इसलिए यह तथ्य पर्याप्त आधार-पूर्ण है कि देवताओं की पूजा के प्रचार-काल में देवियों की पूजा का प्रचलन भी हो गया था और शक्ति के रूप में परमतत्त्व की अवधारणा प्रयाप्त प्रचार प्राप्त कर चुकी थी।

दक्षिण के शैव मतों और काश्मीर प्रत्यभिज्ञावादियों की शिव के स्वरूप आदि की मान्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि तांत्रिक विचार-धारा का प्रचार अधिकांश मात्रा में पश्चिमोत्तर एवं पूर्वोत्तर-प्रदेशों में ही हुआ है। लेकिन यह तथ्य विशेष कर ध्यातव्य है कि शक्ति और शैवों में इस प्रकार का कोई विरोध दिखलाई नहीं देता, जैसा कि शैवों और वैष्णवों के सम्बन्ध में हमें विभिन्न प्रकार के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। शिव की शक्ति का परम रूप माना गया है और शक्ति उसकी ऊर्जा या विमर्श का रूप स्वीकार की गई है। मोमानन्द आदि काश्मीर प्रत्यभिज्ञावादियों का कहना है कि शाक्तों और शैवों में मूलतः किसी प्रकार का भेद नहीं है। जिसे शक्ति की अवधारणा के अनुरूप परमतत्त्व का रूप अच्छा लगता है वे शाक्त हैं और जिन्होंने उस परममत्ता को शिव के रूप में स्वीकार कर लिया है, वे शैव हैं। शक्ति के बिना शिव शून्य है और शिव के बिना शक्ति का अस्तित्व ही नहीं है। अब तक जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि आरम्भिक शैव एवं शाक्त विचारधारा क्या थी और किस प्रकार में ये अवैदिक विश्वास कालान्तर में हिन्दू धर्म के अभिन्न अंग बन गए थे।

● शैव मत : नव्य उत्थान

जैन-बौद्ध मत के प्रभाव का अन्त—जैन एवं बौद्धों के आन्दोलनों की मूलभूत प्रेरणा के सम्बन्ध में यह माना गया है कि ब्राह्मणवाद के विरोध में उन्होंने कर्मकाण्ड

^२ 'एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड एथिक्स' (खंड सं० २) में दिए गए फ्रेजर के विचारों का रूपान्तरण।

के स्थान पर नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का अनुभव करते हुए, अपने आन्दोलन आरम्भ किये थे। मवंप्रथम भारत के पूर्वी भाग के पूर्वोत्तरी क्षेत्र से ये आन्दोलन उठे और इन्होंने जल्दी ही दक्षिण में भी अपने पाँव जमा लिए। उत्तर-पश्चिम की अपेक्षा वे दक्षिण में सम्भवतः इसलिए अधिक सफल हो सके थे कि वहाँ की सामाजिक स्थिति उनकी विचारधारा के अधिक अनुकूल थी।

समाजशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर ये अनुमान भी लगाये गये हैं कि दक्षिण में कबीली जीवन तब तक विद्यमान था और वहाँ पर आर्योत्तर समाज वैदिक आर्यों की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली था। तब तक वहाँ के प्राचीन निवासियों में ब्राह्मणवादी वर्ण-व्यवस्था की जड़ें गहरी नहीं हो पायी थीं। दक्षिण भारत के प्राचीन निवासियों के जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाली, ईसवी सन् प्रथम शताब्दी के आस-पास की तमिल भाषा की कतिपय रचनाओं में अभिव्यक्त सामाजिक दृष्टिकोणों के अनुसार उनमें आर्योत्तर भावनाओं का ही आधिक्य पाया जाता है तथा संस्कृत के उम युग के साहित्य के प्रभाव ने वे पर्याप्त मुक्त एवं स्वतन्त्र प्रकार की रचनाएँ हैं। इन का प्रधान विषय अधिकांश में राजाओं और सामन्तों की प्रशंसाओं एवं प्रेममूलक भाव-गीतों से सम्बन्ध रखता है। इससे उस समय के दक्षिण भारत की सम्यता की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों एवं जनता के रहन-सहन और आचार-विचार का पता भी चल जाता है। इन रचनाओं में हमें ब्राह्मण धर्म की भाँति आत्मा या कर्मकाण्ड के उल्लेख नहीं मिलते। इसके कुछ काल बाद की तिरुक्कुरल और नानटियार की कृतियों में तो अन्य लौकिक विषयों के वर्णन के साथ बौद्ध एवं जैन धर्म के नैतिक तथा दार्शनिक विश्वासों के उल्लेख भी उपलब्ध होने लगने हैं, जिनमें सदाचार-पूर्ण जीवन को लेकर बहुत कुछ कहा गया है। तब तक सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के चिह्न तो दिखायी देने लगे थे, लेकिन उनके फलस्वरूप चातुर्वर्ण्य वाली स्थिति अभी प्रभावशाली रूप धारण नहीं कर सकी थी। फिर भी पेशेवर वर्गों में भेद के स्पष्ट संकेत अवश्य प्राप्त होने लग गये थे।

आर्य-आर्योत्तर मेल-जोल—ऊपर जिस युग एवं स्थिति का उल्लेख किया गया है, तब तक आर्य एवं आर्योत्तर संस्कृतियाँ परस्पर पर्याप्त घुन-मिल की अवस्था में पहुँच चुकी थी और दोनों ने एक दूसरे को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित करना भी आरम्भ कर दिया था। ईसवी सन् के आरम्भ में ये प्रभाव और सम्बन्ध घनिष्ठ रूप धारण करने लगे थे, जिनके कारण जैन एवं बौद्ध धर्मों को अपने प्रभाव की स्थापना का अनुकूल अवसर मिल गया। कुछ शताब्दियों तक तो जैन एवं बौद्ध धर्म का दक्षिण में पर्याप्त प्रभाव बना रहा और उसे राज्याश्रय तक भी मिला गया, लेकिन पाँचवीं और नौवीं शताब्दी के अन्तराल में सामन्तशाही के उदय, प्रभाव और विकास के कारण बुद्ध एवं जैन विचारधारा के पाँव बुरी तरह उखड़ने आरम्भ हो गये एवं शैव तथा वैष्णव रूप में हिन्दू धर्म के लिए अनुकूल वातावरण तैयार हो गया। यह परिवर्तित परिस्थितियों का ही प्रभाव था कि दक्षिण भारत में जैन और बौद्ध दोनों ही

धर्म जल्दी ही निर्वासित कर दिये गये। इसी समय शैव और वैष्णव सन्त तमिल में भक्ति-गीतों की रचना कर रहे थे। अन्ततः हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्मों का सघर्ष प्रायः समाप्त हो गया। जनता ने इन सन्तों के भक्ति-गीतों को अपनी भावनाओं के अनुकूल पाया और वे इनमें दिलचस्पी लेने लगे, जिसके कारण अन्त में पूरे तौर पर वे शैव तथा वैष्णव धर्म के अनुयायी बन गये।

शैव मत का नव्य उत्थान : कारण—शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों के उद्भव-काल एवं उसके कारणों के बारे में विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद पाया जाता है। कहा जाता है कि बौद्धिक धर्म का अन्त में पर्याप्त ह्रास हो गया, जिस (ह्रास या क्षय) का कारण ब्राह्मणों और क्षत्रियों में उत्पन्न अपने वर्ग के प्रभुत्व की प्रतिस्पर्धा का सघर्ष था। यह मत भी प्रकट किया गया है कि विष्णु अन्ततः ब्राह्मणों के देवता मान लिए गये थे और शिव क्षत्रियों के।^१ इस तथ्य में पर्याप्त सत्य की मात्रा निहित है, क्योंकि कुशाव राजाओं द्वारा स्वीकृत शिव-भक्ति के साक्ष्य इस की पुष्टि करते हैं। लेकिन ब्राह्मणों और क्षत्रियों का यह सघर्ष चिरकाल व्यापी सघर्ष बना न रह सका और ईसावी सन् तीसरी और चौथी शताब्दी में ब्राह्मणवाद के नये रूप के उदय के साथ ही वैष्णव धर्म का महत्त्व बढ़ गया। गुप्त शासक इसे स्वीकार करने की ओर केवल झुके ही नहीं थे बल्कि वे अपने आप को वैष्णव मानकर गौरव का अनुभव करने दियायी देते हैं।

शैव सम्प्रदाय की उत्पत्ति एवं प्रचार-प्रसार के क्षेत्र के सम्बन्ध में भी विद्वान् एकमत नहीं हैं। इसका आरम्भ अत्यन्त प्राचीन मानकर उसे आर्यपूर्व-ममाज में प्रचलित लिग-पूजा से जोड़ने हुए, हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो की मन्थ्यता तक खींचकर ले जाने के यत्न किए गए हैं। यह भी ठीक है कि शिव की पूजा आर्यों की विजय के बाद निरन्तर चलने रहने की बात भी असंगत नहीं है। लेकिन विवेकपूर्ण व्यावस्थित बात यह है कि मूल-स्रोत की बात यदि बीच में ही छोड़ दी जाए तो यह निश्चित हो जाता है कि दक्षिण के शैव और वैष्णव सम्प्रदायों का रूप उस युग के उत्तरी भारत के धर्म-सम्प्रदायों से बिल्कुल भिन्न रहा होगा। दक्षिण भारत में शैव सम्प्रदाय का उत्थान सबसे पहले जैन एवं बौद्ध धर्मों के विरोध में हुआ था। आरम्भिक शैवी (नाथनार) का समय छठी शताब्दी से नौवीं शताब्दी के बीच का है। ये सत शिव को, ब्रह्मा और विष्णु का समीकृत रूप स्वीकार करते हैं।^२ इनके गीतों में शिव अन्तिम मर्त्य माने गए हैं, जो व्यक्तिगत ईश्वर के रूप में इन्हे दर्शन भी देते हैं। इन सन्तों ने भक्ति-गीत गा-गाकर लोगों के हृदयों में जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रति उदासीनता का भाव बनाया था, और उस समय की परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों ने भी शिव की भक्ति की ओर समाज को आकर्षित कर दिया था। बौद्ध और जैन

^१ टी० पी० एम० महादेवन, दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ४५७,

^२ नीलकण्ठ शास्त्री, ए हिस्ट्री ऑफ सौथ इण्डिया, पृ० ४१४।

धर्म के धार्मिक स्थानों की जगह शिव के बड़े-बड़े मन्दिरों ने ले ली एवं उसके अनुयाइयों को राजाओं का आश्रय भी प्राप्त हो गया।

शैव विचारधारा की सामान्य दार्शनिक विशेषताएँ—शैव विचारधारा अत्यन्त प्राचीन है, लेकिन इसे दर्शन-प्रणाली के रूप में बहुत बाद में प्रतिपादित किया गया है। शैव दर्शन की विभिन्न शाखाओं की कुछ सामान्य दार्शनिक विशेषताएँ इस प्रकार हैं।

(क) **शैवदर्शन में स्वीकृत मूल तत्त्व**—शैव मिद्धान्त में तीन मूल यथार्थ स्वीकार किए गए। ये हैं—जीवात्मा (पशु) बन्धन (पाश) और ईश्वर (पति)। पशु अर्थात् जीवात्मा को पाश अपने बन्धन में पकड़े रहते हैं। वह उनसे तभी मुक्त होता है, जब वह पति (ईश्वर) का साक्षात्कार कर लेता है। शिव को पति या परमेश्वर कहा गया है और केवल उमी की सर्वोच्च यथार्थ सत्ता स्वीकार की गई है। वह आत्म-अस्तित्व, अन्त प्रज्ञा, अनन्त ज्ञान और प्रेम-युक्त सर्वशक्तिमान, अनन्त आनन्दस्वरूप परात्पर सत्ता है। ममार की सृष्टि, स्थिति और सहार उमी का कार्य है और वही आत्माओं का निरोधान एवं उनके ऊपर अनुग्रह का कार्य करता है।

आत्मा की स्वप्न-चर्चा करते हुए शैव (आरम्भिक) उसे अरूप, सर्वव्यापी और पदार्थ से भिन्न सत्ता मानते हैं। वह इस अर्थ में व्यापक है कि जिसमें उनका निवास होता है, कुछ समय के लिए वह स्वयं उमी में तदाकार हो जाती है। वह मूलरूप में शाश्वत चैतन्य एवं त्रिकालाबाधित प्रतिभा है और शक्ति का अगाध सागर भी। लेकिन आणव मनो अर्थात् पाशों के कारण उसकी इस स्वरूपता का निरन्तर तिरोभाव हो जाता है, इसलिए वह पति में पशु की स्थिति में आ जाता है।

(ख) **जीव सम्बन्धी अवधारणा**—जीवों के वास्तविक स्वरूप में ही मद, मोह एवं ताप और शोक को उत्पन्न करने वाले आणव मनो की स्थिति स्वीकार की गई है। असंख्य जीवों में आणव मल परिव्याप्त रहता है, जिसके कारण वे ज्ञान और क्रिया से बँध जाते हैं। आणव मल को शैव विचारक, जीवों के अज्ञान का स्रोत और उनके द्वारा शरीर के स्वातन्त्र्य की अनुभूति का कारण मानते हैं।^१

(ग) **मनो की स्वीकृति**—शैव दर्शन की मूलभूत आरम्भिक अवधारणाओं में आणव मल के साथ ही 'माया मल' को भी स्वीकार किया गया है। तदनुसार आणव और माया-मल में यह अन्तर है कि 'मायामल' आत्माओं में अलग रहता है, आणव मल जीवों के वास्तविक स्वरूप में ही विद्यमान एवं व्याप्त है। माया-मल का कार्य आत्माओं में इच्छा, क्रिया और ज्ञान को प्रेरित करने रहता माना गया है। इसके विपरीत आणव मल, जीवों का बन्धन है। वह उनमें समाविष्ट रहकर उन्हें उनकी प्राकृतिक शक्तियों में विमुख बना देता है। आत्माएँ 'आणवमल' के प्रभाव की अवस्था

^१ के० एम० वाल मुद्रमण्यम, स्पेशल लेक्चर्स आन शैव-मिद्धान्त, पृ० १२१ (१९५६)।

में इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप (अपनी) प्राकृतिक शक्तियों का सही सन्धान नहीं कर पाती। वे आणव-पाशों से बन्नी हुई सांसारिक पीडाओं के दुःख सहती रहती है। अपने शुद्ध स्वरूप में जीवात्मा शरीर और इन्द्रियों से स्वतन्त्र है, वह मूलतः शाश्वत और सर्वव्यापी चैतन्य है। ये पाशों का ही प्रभाव है कि उसके कारण वह स्वयं को परिमित मान लेती है तथा यह स्वीकार कर लेती है कि वह विचारों और क्रियाओं में सीमित सत्ता है।

(घ) पाशों का स्वरूप—शैवों द्वारा पाशों का उल्लेख ऐसे ढंग से किया गया है, जिससे उनमें अविद्या, कर्म और माया की सम्मिलित स्थिति सिद्ध होती है। वास्तव में ये ही आत्मा की बन्धक शृंखलाएँ हैं। ऊपर जीवों के सम्बन्ध में उनके ज्ञान और उनकी शक्ति की सीमितता की जो बात कही गई है, उसका मूल कारण अविद्या है। अविद्या वास्तव में जीव की बनाई हुई अपनी धारणा भी मानी जा सकती है। इस धारणा के वश में घिर कर ही जीव अपने आप को परिमित एवं शरीरस्थ सत्ता मानने लगता है। आत्मा की क्रिया को शैव मतों में 'कर्म' का अभिधान दिया गया है, जो उसे अचेतन से बान्धने का कार्य करता है।

(ङ) माया और अविद्या—माया और अविद्या शैवों के अनुसार भिन्न अवधारणाएँ हैं। अविद्या जीव का अज्ञान या उसमें अज्ञान उत्पन्न करने वाली शक्ति है। माया को वे जगत का कारण (भौतिक) मानते हैं। पशु के पाशों के निराकरण को अपने पति के माथ उसकी एकाकारिता स्वीकार किया गया है। आत्मा की मुक्ति से शैवों का आशय उसकी उस अवस्था की प्राप्ति से है, जिसमें सामारिक दोषों एवं अपूर्णताओं का सन्ध्या अभाव है। अतः आत्मा (जीव) के मोक्ष के लिए उसका पाशों से मुक्त होना अनिवार्य माना गया है। लेकिन आत्मा की यह मुक्तावस्था उसका ईश्वर हो जाना स्वीकार नहीं किया गया। शैवों (बीर) की यह अवधारणा शंकराचार्य की 'जीव ही ब्रह्म है, मैं बिल्कुल भिन्न है। यही कारण है कि प्रत्याभिजावादी शैवों ने न केवल शंकराचार्य के अद्वैतवेदान्त को अस्वीकार किया है, बल्कि वे उसका जम कर विरोध और खण्डन भी करते हैं। जीव की मुक्ति उनके अनुसार ईश्वररूपता नहीं, वे आत्मा और ईश्वर को भिन्न मानते हैं। इसी कारण आरम्भ में ही उन्होंने पशु, पाश और पति, तीन यथार्थ मान लिए हैं। वे शंकराचार्य की 'जीव ही ईश्वर है' की धारणा का खण्डन करते हुए आग और आग से किये गये गर्म पानी का उदाहरण देकर यह सिद्ध करते हैं कि पानी अग्नि के संयोग या सम्पर्क से केवल गर्म ही होता है, उसमें जलने की क्षमता (धर्म) नहीं आ जाती। इसी तरह ईश्वर के अनुग्रह-पात से आत्मा (जीव) को पूर्णत्व ही प्राप्त होता है, वह ईश्वर नहीं बन जाता अथवा उसे ईश्वरत्व लाभ नहीं होता।

(च) सारमात्र—उपयुक्त शैव-सिद्धान्त (विशेषकर दाक्षिणात्य) के अनुसार पति या शिव (ईश्वर) अनादि यथार्थ तत्त्व है और दूसरे दो यथार्थ (पशु और पाश), की तुलना में उसे सर्वोच्च यथार्थ स्वीकार किया गया है। उसमें आठ गुण-आत्म-

अस्तित्व, पवित्रता, अन्तःप्रज्ञान, अपरिमेय ज्ञान, बन्धनातीतता, आनन्द भरिता सर्वशक्ति मत्ता, प्रेमागाधता—माने गये हैं। वही संसार की रचना करता है और उसकी स्थिति एवं पालन भी उसी का कार्य है। सहार का कार्य भी उसी का है तथा आत्माओं का तिरोधान एवं उनका स्वरूप-ज्ञान भी उसके अधीन है। शिव की पाँच क्रियाएँ मानी गई हैं, जिन्हें सृष्टि, स्थिति, सहार तिरोधान और अनुग्रह का अधिधान दिया गया है। तदनुसार शिव और पशु भिन्न है, एक ही नहीं। शिव उस अग्नि के समान बतलाया गया है, जो पानी को गर्म भी कर देती है और स्वयं जलती भी है, जबकि पशु शिव के गुण को तो प्राप्त कर सकता है, परन्तु उसके धर्म वही नहीं बन जाते जो शिव के हैं। जैसे पानी आग के धर्म अर्थात् गर्मी को तो अपने भीतर समेट लेती है, लेकिन स्वयं आग की तरह जल नहीं सकता।

(छ) प्रत्यभिज्ञावादी शैव दर्शन का स्वतन्त्र चिन्तन—ऊपर जिस तेरहवीं शताब्दी के दाक्षिणात्य शैव-सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है, उससे पहले काश्मीर में प्रत्यभिज्ञा-वादी शैव दर्शन का प्रचार हो चुका था। विद्वान् प्रत्यभिज्ञावादी शैव दर्शन के निर्माण का समय आठवीं और नौवीं शताब्दी स्वीकार करते हैं। अभिनवगुप्त के समय यह विचारधारा अत्यन्त सशक्त दर्शन-प्रणाली का रूप प्राप्त कर चुकी थी। प्रत्यभिज्ञावादियों के अनुसार शिव (परमशिव या अनुत्तर) ही परम यथार्थ है। उसे वे द्वितीय प्रकाश-विमर्श-सम्पन्न सत्ता मानते हैं। परमशिव की अद्वितीयता उर्पापदों में वर्णित परमतत्त्व जैसी ही है। जगत् को वे मिथ्या नहीं मानते। उनके विचार में वह शिव की शक्ति का रूप या विलास है। इसे इस प्रकार भी प्रतिपादित किया जा सकता है कि शिव स्वयं की ही ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकट करते हैं। शिव में अपने भीतर ही वह अलौकिक शक्ति निहित है, जिसके माध्यम से वह ब्रह्माण्डमयता प्राप्त कर लेता है।

(ज) काश्मीर शैवों की शक्ति—शिव या परमशिव को 'अनुत्तर' का अभिधान देकर प्रत्यभिज्ञावादी शैवों ने उसकी अन्तर्निहित शक्ति के चित् आनन्द इच्छा, ज्ञान, क्रिया एवं माया—अनेक गुण स्वीकार किये हैं। काश्मीर शैवों के मत में शक्ति प्रकृति जैसी सत्ता अर्थात् ब्रह्माण्ड का भौतिक कारण नहीं है। वह न भ्रम है और न ही वृष्णवों की माया की तरह पुरुषतत्त्व की पूरक ही स्वीकार की जा सकती है। तदनुसार शक्ति, शिव का विमर्श-स्वरूप है। दस्तुत परमशिव प्रकाश और विमर्श का संयुक्त रूप माना गया है, जिन्हें शिव और शक्ति के नाम दिये गये हैं। परमशिव शक्ति के (विमर्श के) पक्ष के द्वारा अपने आप को ब्रह्माण्ड के रूप में व्यक्त करते हैं। इसे शिव की भेदाभेद की अवस्था भी कहा गया है। इस अवस्था में शिव मानो ऐसा प्रकट करते हैं कि जगत् उनसे भिन्न है, लेकिन वास्तव में शिव और जगत् दो भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। पशु जब तक इस अभेद का साक्षात्कार नहीं कर लेता, तब तक उसकी मुक्ति नहीं होती।

(म) दक्षिणात्य शैवों से भेद—दक्षिणात्य शैवों की भाँति काश्मीर शैव जीव (पशु) को शिव से भिन्न नहीं मानते। उनके अनुसार शिव और पशु में अभेद है। पशु इसलिए शिव न होकर पशु कहलाता है, क्योंकि वह पाशों में सीमित है। उसमें दोष (आणव मल) है, जिन्होंने उसे सीमाओं से बाँधा हुआ है। मल (दोष) ही उसे ईश्वर (शिव) से भिन्न प्रतीत करवाते हैं या उनके कारण वह शिवस्वरूपता में पहले शिव नहीं होता। आध्यात्मिक अनुशासन पर आरुढ़ होकर परममत्त्व (शिवस्वरूपता) का साक्षात्कार कर लेने पर ही पशु उसका पशुत्व-भाव भिड़ता है।

● वीरशैव दर्शन में परमत्त्व का स्वरूप

दक्षिण का लिगायत सम्प्रदाय भी शैव है, जिसके अनुयायी वीरशैव कहलाते हैं। इस सम्प्रदाय का प्रसार-क्षेत्र कर्नाटक, महाराष्ट्र और आन्ध्र के कुछ भागों तक माना जाता है। वसव इस सम्प्रदाय की विचारधारा के प्रथम प्रवर्तक हैं, जिन्होंने वेदों की प्रामाणिकता एवं पुरोहितों (ब्राह्मवादी) के कर्मकाण्ड एवं विधि-निषेध को न मान कर जगम सम्प्रदाय की स्थापना की थी। कुमारस्वामी के अनुसार यह शैव सम्प्रदाय ११६० में बना था। इन्हीं के शब्दों में शैव विचारक वसव यह मानता है कि पुरोहित वर्ग के धर्म में स्वीकृत विधि-निषेधों को अस्वीकार करने पर ही धर्म के पवित्र रूप में सुधार किया जा सकता है। वीरशैव दर्शन के प्रवर्तक वसव का विचार था कि ऐतिहासिक आवश्यकता इस बात की है कि ब्राह्मणवादी दृष्टि का परित्याग कर युग की भाग के अनुरूप नया दृष्टिकोण अपनाया जाए। स्त्री जाति को समानता का अधिकार मिलना चाहिए तथा जान-पान का भेद-भाव समाप्त किया जाना चाहिए। जीवन को सादा, लेकिन उद्देश्यपूर्णता में बिताकर ही मानव समाज का हित हो सकता है।

वीरशैव जगत को वास्तविक सत्ता मानते हैं और उसे शक्ति के रूप में ईश्वर की लीला-भूमि स्वीकार करते हैं। उन्होंने शिव को जगत का प्रथम कारण, शक्ति को उपकरण या उपादानकारण एवं माया को, भौतिक कारण माना है। अन्य दक्षिणात्य शैव धर्मों की भाँति वे भी शक्ति को ईश्वर (शिव) का अन्तर्निहित गुण बतलाने हैं तथा किसी-न-किसी रूप में शक्ति के बिना शिव को शत्रु स्वीकार कर लेते हैं।

● काश्मीर शैव दर्शन में परम शिव का स्वरूप

काश्मीर शैव ग्रन्थभिजावादी विचारक हैं। उनके अनुसार परमसत्ता अनिर्वचनीय है, अतः उसे कोई भी अभिधान देना सम्भव नहीं। इसी कारण अभिनव गुप्त ने उसे अनुत्तर या परमशिव कहा है। ये दोनों ही अभिधान परमत्त्व की अनुत्तरता एवं अनिर्वचनीयता के ही प्रतीक हैं। अनुत्तर कोई अभिधान विशेष न होकर परमसत्ता के स्वरूप की ओर केवल संकेत मात्र है। तदनुसार वह पूर्ण अतीत है और उसके आगे किसी भी अन्य तत्त्व का अस्तित्व नहीं है। परमशिव या अनुत्तर के स्वरूप की चर्चा करते हुए अभिनवगुप्त आदि काश्मीर शैवों ने उसे प्रकाश-विमर्श

सर्वित्सागर कहा है। प्रकाश उसका शिव रूप है और विमर्श शक्ति रूप। शक्ति परमसत्ता की विभिन्न शक्तियों का अभिधान है। शिव भी शक्ति में भिन्न सत्ता न होकर शक्तिमय है।^१ शिव, शक्ति का सारस्व (Substance) माना गया है और शक्ति को उसका विशेषण।^२ सोमानन्द के अनुसार प्रत्यभिज्ञावादियों की दृष्टि में शिव और शक्ति में कोई भेद नहीं है।^३ परन्तु शक्ति शिव का विशेषण या परमशिव का विमर्श पक्ष होने के कारण अपने अस्तित्व को शिव के बिना अनुभव नहीं कर सकती। परमशिव का प्रकाश स्वरूप अपनी ही सत्ता से प्रकाशित है। उसकी यह सत्ता उसकी शक्ति है, जो परमशिव का विमर्श रूप है। इस दर्शन के आचार्यों का मत है कि परमसत्ता का स्वभाव है कि उसमें उन्मीलन और निमीलन की मतत क्रिया होती रहती है। इसी को उन्होंने जगत की रचना और उसका विलय माना है। रचना और विलय की बीच की स्थिति को वे अन्तराल की स्थिति के रूप में स्वीकार करते हैं। काश्मीर शैवों ने परमसत्ता और उसकी प्रकाश एवं विमर्श स्वरूपता (शिव और शक्ति) का जिस ढंग में विवेचन किया है, उसमें उनका परमशिव-मिद्धान्त अद्वैतवेदान्तियों के परब्रह्म एवं वैष्णव आचार्यों के परमसत्ता-मिद्धान्तों में पूर्ण भिन्न हो जाता है।

प्रत्याभिज्ञावदी आचार्यों के अनुसार परमसत्ता को मृष्टि की रचना के लिए उपादान सामग्री के रूप में किसी बाहरी द्रव्य अर्थात् परमाणुओं आदि की आवश्यकता नहीं है। परमशिव की इच्छा में उसमें अभेदाभेद एवं उसके उपरान्त पूर्ण भेद हो जाता है। शिव, शक्ति, और जगत (जीव और चड) सभी परमशिव का विलास एवं उसी का रूप है। उसकी यह निरन्तर प्रवहमान लीला है कि वह पूर्णाभेद से उत्तोत्तर पूर्ण भेद की, और पूर्ण भेद में पुनः भेद की ओर उन्मीलित एवं निमीलित होता रहता है। इसी मान्यता के आधार पर यह स्वीकार किया गया है कि पशु शिव का ही धारण किया हुआ अपना रूप है। अतः जगत मिथ्या न होकर इसलिए सत्य है कि वह शिव की शक्ति का विकास है जो अन्ततोगत्वा शिव का ही रूप है। परमशिव के स्वातन्त्र्य पर काश्मीर शैव अधिक बल देते हैं। उन्होंने अपनी मान्यताओं की स्थापना एवं सिद्धि के लिए तर्कों को अपनाया है और साथ ही परमसत्ता के पूर्ण इच्छा-स्वातन्त्र्य की धारणा के द्वारा भी सिद्ध करने का यत्न किया है कि यह इच्छा ही परमसत्ता का स्वभाव है और ब्रह्मण्ड की रचना, उसकी स्थिति और संहार इस स्वभाव के ही विभिन्न पक्ष या स्थितियाँ हैं। द्वैतवाद की भाँति वे जीवों को अनादि एवं सख्या में अनन्त नहीं मानते। उनके अनुसार परमशिव विशिष्टद्वैतवादियों के परमब्रह्म की भाँति चित् एवं अचित् से विशिष्ट सत्ता भी नहीं है। जीव और जगत

^१ शिव दृष्टि वि० २-१,

^२ शिव दृष्टि, ७-१४ से १६,

^३ शिव दृष्टि, ३-३ ३-७, ३-२,

शिव स्वरूपता भी प्राप्त कर लेता है। उसकी शक्ति या उसका शक्ति रूप ब्रह्माण्ड के रूप में पूर्ण उन्मीलन की स्थिति प्राप्त करते हुए पुनः सम्पूर्ण नाम-रूप को अपने भीतर समावष्ट कर पूर्णरूपता में आ जाता है।

के० दामोदरन के शब्दों में काश्मीरी शैव दर्शन में स्वीकृत परमशिव के स्वरूप को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—काश्मीरी शैव मत के अनुसार शिव अर्थात् अपरिमित चेतना ही एक मात्र यथार्थ है, वह 'अद्वितीय,—जैसा कि उपनिषदों में कहा गया है—है। शिव अपने अन्दर निहित अद्भुत शक्ति के माध्यम से ब्रह्माण्ड के रूप में स्वयं को प्रकट करते हैं। शक्ति में अनेक गुण हैं, जैसे आनन्द, चित्, इच्छा, ज्ञान, क्रिया और माया। काश्मीरी शैवों के अनुसार शक्ति न तो भ्रम है, और न इस ब्रह्माण्ड का भौतिक कारण है। वह तो शक्ति का वह पक्ष है, जिसके द्वारा शिव अपने को ब्रह्माण्ड के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। शिव ऐसा प्रकट करने हैं मानो यह जगत उनसे भिन्न है, किन्तु वास्तव में यह शिव से भिन्न नहीं।^१

● शक्ति-पूजा (देवी) का आरम्भ

भारतीय दार्शनिकों ने शक्ति को प्रायः सृजनात्मक तत्त्व के रूप में ही स्वीकार किया है। तदनुसार शक्ति शिव का ही अन्तर्निहित गुण है एवं नारी तत्त्व के रूप में उसे नारायण की लक्ष्मी, शिव की शिवानी और कृष्ण की राधा एवं राम की सीता स्वीकार कर उपासना का विषय या उपास्या का स्थान दिया गया है। इस सम्बन्ध में पुरातत्त्ववेत्ता मार्शल और समाजशास्त्र के विद्वान फ्रेजर की कुछ पंक्तियों का मार उद्धृत करना सगत प्रतीत होता है। मार्शल लिखते हैं कि अनार्य जन-समुदाय के राष्ट्रीय देवी देवताओं में गाँव की देवी माताएँ, प्रादेशिक भेद के कारण विभिन्न नामों के द्वारा, राष्ट्रीय देवी देवताओं में अपना प्रमुख स्थान बनाए रखी हैं। इस तथ्य की पुष्टि आदिम कबीलों में आज भी प्रचलित उनकी पूजा आदि की विधियों में होती है। यह देखा गया है कि आदिम कबीलों में ब्राह्मणों की जगह निम्न जाति के लोगों का पुरोहितों का स्थान प्राप्त है। इन कबीलों की धार्मिक प्रार्थनाओं में लोगों का ध्यान देवी माता (उपास्या) की ओर ही अधिक खींचा जाता है। आदिम कबीलों के पुरोहित प्रायः प्राचीन कबीलों के सदस्य स्वीकार किए गए हैं। उनके सम्बन्ध में यह धारणा प्रचलित है कि उनमें देवी माता को सन्तुष्ट करने की योग्यता एवं क्षमता पारम्परिक रूप में विद्यमान चली आ रही है। देवी की पूजा का प्रचलन

^१ भारतीय चिन्तन-धारा, (हिन्दी अनुवाद) पृ० २८६

विशेष अध्ययन के लिए देखिए—शिव दृष्टि (सोमानन्द), शिव दृष्टि वृत्ति (उत्पल देव), ईश्वर प्रत्याभिज्ञा वृत्ति (उत्पल देव) ईश्वर प्रत्याभिज्ञा विमर्शिनी, (अभिनव गुप्त), ईश्वर प्रत्याभिज्ञा विवृति विमर्शिनी, (अभिनवगुप्त), ईश्वर सिद्धि (उत्पल देव), तन्त्रालोक (अभिनव गुप्त), मालिनोविजयवार्तिकम् (अभिनव गुप्त), स्पन्दकारिका (भट्ट कल्हटा), स्पन्द निर्णय (सोमराज, आदि।)

उन कबीलो मे विशेष कर अधिक पाया जाता है, जो हिन्दू धर्म से बहुत कम प्रभावित हैं।^१

फेजर महोदय का विचार है कि भारत के अधिकांश गांवों मे ऐसे स्थानीय मन्दिर प्राप्त हो जाते हैं, जिनमे भूतो-प्रेतो तथा अपशकुन करने वाली आत्माओं को मानव या मानव के प्रतीक किसी पशु विशेष के रक्त की बलि देकर, जादू-टोनों के माध्यम से शान्त करने के उपाय अपनाए जाते हैं। इस प्रकार के मन्दिरों (गुग्गा आदि) मे उन वीर पुरुषों की पूजा भी की जाती है, जिन्हें उनके साहसिक कार्यों के कारण देवत्व से त्रिभूषित कर दिया गया है। आदिम निवासियों के धार्मिक कृत्य प्रायः ओशाओ एवं पुजारियों द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। जिस समय ये मन्दिर अधिक प्रसिद्ध हो जाते हैं और उनमें पर्याप्त सम्पत्ति एकत्रित हो जाती है, तब उनका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। इसके फलस्वरूप उन मन्दिरों को सम्भ्रान्त समाज या वर्ग का संरक्षण भी प्राप्त हो जाता है। कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ है कि इन स्थानीय देवी-देवताओं को शिव और विष्णु (हिन्दू धर्म के उच्च देवताओं) का सेवक या उनकी विभिन्न शक्तियाँ तक स्वीकार कर लिया गया है। पाँचवीं शताब्दी के आस-पास स्वयं हिन्दू धर्म मे ही वीर एवं महान पुरुषों को देवत्व प्रदान किया जाने लगा था और वे धीरे-धीरे पौराणिक कथाओं के पात्र भी बना लिए गए थे। न जाने कितने ही प्राचीन देवता (वैदिक कालीन भी) हिन्दू धर्म के देव-परिवार मे सम्मिलित होते रहे हैं और कालान्तर मे वे भुला भी दिए गए हैं।^२

उपयुक्त दोनों उद्धरण पर्याप्त मात्रा मे इस तथ्य को अपने भीतर समेटे हुए हैं कि आज का हिन्दू धर्म शुद्ध वैदिक (आर्य) धर्म नहीं है, उसमे पर्याप्त सीमा तक आर्यपूर्व तत्त्व घुल-मिलकर तदाकार हो गए हैं। आर्य-पूर्व सम्यता को प्रधानतः मातृ-मतात्मक माना जाता है। एक युग ऐसा आया जब आर्य एवं आर्यतर (आर्य-पूर्व) धार्मिक और सामाजिक मान्यताएँ अन्तर्भुक्ति की प्रक्रिया के द्वारा हिन्दू धर्म के (सम्मिलित) रूप मे तदाकार हो गईं। इसके फलस्वरूप मध्य युग मे पुरुष देवताओं के साथ-साथ देवी की पूजा का प्रचलन भी हो गया। शिव की पत्नी के रूप मे शक्ति (देवी) की पूजा का प्रचलन उपर्युक्त ऐतिहासिक घटना का ही परिणाम माना जा सकता है। धर्म के स्वरूप की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर विचार करने वालों (समाजशास्त्रियों) ने इस सम्बन्ध मे विशेष रुचि लेकर हमें पर्याप्त तथ्यों से अवगत करवाया है। उनका मत है कि सामान्य देवियाँ शिव और विष्णु से सम्बन्धित मान लेने के उपरान्त और अधिक सम्मान का स्थान प्राप्त कर सकी हैं।

कहा जाता है कि प्राचीन काल मे, जिस समय मानव-जीवन पूर्ण रूप से खेती पर निर्भर था, देवी उर्वरता की प्रतीक मानी जाती थी। मध्य काल (सामन्ती

^१ मोहेंजोदडो एण्ड इंडस सिविलिजेशन, पृ० ५१, १६३१।

^२ एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, का रूपान्तरण, खण्ड सं० २।

व्यवस्था का युग) में उसे धीरे-धीरे जगत-माता (ब्रह्माण्ड की जनयित्री) तक का पद प्राप्त हो गया था। ब्रह्म और शक्ति का भेद मिट गया था और दोनों ब्रह्माण्ड की चेतना या ब्रह्माण्ड के रचयिता के रूप में दर्शन की विचारणा के विषय बन गए थे। यही कारण है कि शाक्तों ने शक्ति की स्वरूप-वर्चा उसी प्रकार की है, जिस प्रकार ब्रह्मवादियों ने ब्रह्म की।

● शाक्त परमसत्ता-सिद्धान्त

तांत्रिकों ने मुख्यतः शाक्तों का ही बोध होता है, यद्यपि शैव और शाक्त दोनों ही व्यापक अर्थों में तांत्रिक कह दिये जाते हैं। शाक्तों और शैवों का परस्पर विशेष एव घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि जिस तरह शक्ति के बिना शिव 'शिव' मान लिए गए हैं, उसी तरह शक्तिमान के बिना शक्ति का अस्तित्व ही अमम्भव बतलाया जाता है। शक्ति की उपासना अत्यन्त प्राचीन है, और उसके सकेत हमें सिन्धु-घाटी की सभ्यता से ही मिलने लगते हैं।^१ सिन्धु-सभ्यता वालों को जिम समय, वैदिक आर्यों ने परास्त किया, उस समय के बाद इस देश की धार्मिक मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर आ गया। वैदिक आर्यों का समाज मूलतः पितृसत्तात्मक था, अतः उसमें स्त्री देवताओं को पर्याप्त सम्मान का स्थान नहीं मिल सका था, जितना पुरुष देवताओं को। पुरुष देवताओं की प्रधानता के कारण देवी-पूजा का महत्त्व धीरे-धीरे गौण होता चला गया। अन्ततः वैदिक आर्यों के समाज में देवी की स्वतन्त्र पूजा की ओर विशेष ध्यान देकर, उन्हें केवल देव-यन्त्रियों के रूप में ही पूजा का स्थान दिया गया है। उसके बाद मध्य-युग में कुछ विशेष सामाजिक परिवर्तनों के कारण देवी-पूजा को पुनः प्रथम प्राप्त हुआ और उसके अनन्तर देवी को पूजा हिन्दू धर्म का एक अभिन्न अंग बन गई। इसी काल में शक्ति को शिव की पत्नी का स्थान देकर विशेष रूप से गौरवान्वित किया गया है।

मध्यकाल में तांत्रिकों के विशेष प्रभाव के कारण समस्त भारत में हम देवी-पूजा का विशेष प्रचलन देखते हैं। वस्तुतः प्रजनन की आदिशक्ति के रूप में देवी की उपासना अत्यन्त प्राचीन है। प्रकारान्तर से यह ईश्वर की शक्ति की पूजा ही है, जिसे तांत्रिकों ने एक विशेष रूप दिया है। शक्ति की पूजा का लक्ष्य भी ब्रह्म से साक्षात्कार ही है।^२ शाक्तोपासक शिव की अपेक्षा शक्ति को अधिक महत्त्व देते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि उन्हें परमात्मा का शक्ति रूप ही अधिक प्रिय एव प्राण्य है। इसलिए तांत्रिकों के परमसत्ता-सिद्धान्त और प्रत्याभिज्ञा-वादियों के परमशिव-सिद्धान्त की प्रेरक मान्यताएँ अधिक भिन्न नहीं हैं। जिस समाज में पहले देवी की पूजा का प्राधान्य था, उसने शक्ति के रूप में उपास्य की आराधना

^१ मार्शल, मोहेजोदडो एण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन, (लन्दन) १९३१, पृ० ५१,

^२ चिताहरण चक्रवर्ती, दि कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया ख० ४, पृ० ४०८—९,

का मार्ग अपनाया है और समाज के जिस अंग में पितृसत्तात्मक विचारधारा की प्रबलता थी उसने शक्ति के स्थान पर शक्तिमान (शिव) की आराधना में अपनी अभिरुचि प्रदर्शित की है। अन्तर केवल यह है कि शाक्तों ने जहाँ शक्ति को परमसत्ता माना है, वहाँ शैवों ने शिव को। लेकिन तनिक और अधिक गहराई में जाकर ध्यानपूर्वक देखा जाए तो जिस प्रकार शक्ति के बिना शक्तिमान का कोई अर्थ नहीं, उसी प्रकार शक्तिमान के बिना शक्ति का भी। अतः शक्त तान्त्रिका एवं काश्मीर शैवों के परमसत्ता के स्वरूप में विशेष अन्तर नहीं है।

● नव्य वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन

वैष्णव भक्ति के स्वरूप में परिवर्तन—नव्य वैष्णव-भक्ति के आन्दोलन का बीजारोपण उम समय हुआ, जिस समय एक ओर बौद्ध धर्म और दूसरी ओर जैन मत अपने प्रचार के लिए बहुत अधिक क्रियाशील बने हुए थे। हिन्दू धर्म भी अपनी पूरी शक्ति लगा रहा था। दोनों ने मानों एक दूसरे से आगे बढ़ जाने की प्रतिस्पर्धा की होड़ लगा रखी थी। आदर्शवादियों और यथार्थवादियों में चल रहा मधर्ष भी अभी शान्त नहीं हुआ था, लेकिन ऐसा अनुमान अवश्य होने लग गया था कि सांख्य, न्याय और वैशेषिक दर्शनों की विचारधारा आदर्शवादी विचारधारा की तुलना में प्रचार की दृष्टि से कमजोर पड़ती जा रही है। संस्कृत भाषा धीरे-धीरे बोलचाल की भाषा का स्थान ले रही थी और शास्त्रीय अवधारणाओं से केवल सम्भ्रान्त एवं पठित वर्ग ही लाभ उठा सकता है, और वह उठा भी रहा था। आम लोगों का धर्म की बौद्धिक अवधारणाओं से सम्बन्ध टूट चुका था। वे केवल आदेशों का पालन करने के लिए गेष रह गये थे, शास्त्रीय चर्चाओं से उनका दूर का सम्बन्ध भी नहीं था। इन परिस्थितियों में ही शैव और वैष्णव सन्तों ने जन-भाषा (तमिल) में भक्ति-गीतों की रचना की। उसका तत्काल प्रभाव हुआ और सामान्य जनता उनके गीतों में अपने मन की सन्तुष्टि का अनुभव कर इन दोनों सम्प्रदायों में दीक्षित होने के लिए तत्पर दिखाई देने लगी।

दक्षिण के नये शैव सम्प्रदायों की भाँति नए वैष्णव सम्प्रदायों के उदय के सम्बन्ध में भी विद्वानों ने अलग-अलग कारण माने हैं। वैष्णव एवं शैव विचारधारा का उदय ब्राह्मण विरोधी परिस्थितियों के कारण हुआ था क्योंकि उपनिषदों के रचना-काल में ही ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच अधिकार की लिप्ता ने प्रतिस्पर्धा की भावना जागृत कर दी थी। पुरोहितवाद की शक्ति बढ़ती जा रही थी और क्षत्रियों का समाज इसे सहन नहीं कर पा रहे थे। इसके लिए अपने-अपने देवता स्वीकार कर लिए गये और शिव (आयेंतर देवता) क्षत्रियों का देवता बन गया। ब्राह्मणों ने विष्णु को अपना

देवता मान लिया।^१ गुप्त काल में यह भेद कुछ मिट गया और गुप्त शासकों ने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया। लेकिन दक्षिण भारत में जिस नव्य वैष्णव धर्म का उदय हुआ। उसका स्वरूप गुप्त कालीन वैष्णव धर्म से पर्याप्त भिन्न था। इसी कारण भारतीय सस्कृति के इतिहास में इसे नव्य वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन के नाम से स्वीकार किया गया है।

आलवार संत और नव्य वैष्णव भक्ति—नव्य वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का आरम्भ बारह प्रसिद्ध वैष्णव (आलवार) संतों का जीवन-काल माना जाता है। ये संत विष्णु को परमसत्य मानते हैं और उसी को सर्वोपरि शक्ति स्वीकार करते हैं। आलवार (वैष्णव) संतों ने स्थान-स्थान पर इस विचार का प्रचार किया था कि जीव, विष्णु की भक्ति के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। धर्म के कर्मकाण्ड और यज्ञ प्रधान रूप की ओर से उन्होंने लोगो को उदासीन बनाया और साथ ही इस भावना का प्रचार किया कि भक्ति की तुलना में कर्मकाण्ड गौण है। इन संतों के गीतों का स्वर आत्यन्तिक एवं एकान्तिक भक्ति से भरा हुआ है। उनका अगाध विश्वास था कि जीव का कल्याण विष्णु की अनन्य शरण के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इसलिए उन्होंने भाव-परिपूर्ण गीतों में इस आशय का प्रतिपादन किया है कि भक्ति इसलिए नहीं करनी चाहिए कि उसमें हमें मुक्ति एवं भुक्ति की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार गीता में निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया गया था, उसी प्रकार आलवार संतों ने निहेतु^२ क भक्ति का उपदेश अपने गीता में दिया है।

आलवार संतों के गीतों के अनुसार ईश्वर (विष्णु) सर्वगम्य भगवान है। उनका यह विचार ब्राह्मणवादी परम्परा की उस अवधारणा का विरोध है, जिसमें निम्न वर्ण के समाज को ईश्वर की भक्ति करने का अधिकार भी प्राप्त नहीं था। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में ऊँच-नीच के भेद-भाव और जात-पात के विचार को अस्वीकार करते हुए इस विचार का प्रचार किया है कि भक्त के लिए जात-पात का कहीं-कोई प्रश्न ही नहीं है। इन संतों को रहस्यवादी भगवानोपासक भी कह सकते हैं, क्योंकि इन्होंने भक्ति के स्वरूप को नया मोड़ दे दिया है। वे अपने गीतों में ईश्वर को प्रेमी और भक्त को आत्मा को प्रेमिका के रूप में वर्णित करते हैं। उनके गीतों का भाव अधिकांशतः यह है कि आत्मा (प्रेमिका) को परमात्मा (विष्णु) रूपी पति को मिलने के लिए उन्मुक्त, विह्वल एवं व्याकुल रहना चाहिए। इनके भक्ति-गीत गलदश्रुभावुकता से परिपूर्ण हैं—उनमें अनवरत प्रार्थना की एक निरन्तर गतिमान धारा प्रवाहित है। वे इस विश्वास को बार-बार दुहराते हैं कि भक्त अनवरत प्रार्थना और भक्ति की भावमयी साधना के द्वारा अपने आपको ऐसी अवस्था में ले जा सकता है, जिससे भगवान भक्त के शरीर में अवतरित हो जाते हैं। अतः आलवार संतों के गीतों की बहुमुखी विवेचना के प्रसंग में विद्वानों ने उनकी इस

^१ टी० पी० एम० महादेवन, दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ४५७।

भावना का विशेष कर उल्लेख किया है। तदनुसार वे भक्त के शरीर में ईश्वर के प्रवेश की धारणा में पूर्ण विश्वास रखते हैं। उनका यह भी विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति केवल इन्द्रियों के संयम (योग) और बौद्धिक चिन्तन-मनन (आत्म-विचार) से नहीं होती, उसे तो ध्यान के निरन्तर केन्द्रीकरण एवं प्रेम के भाव को निरन्तर एकमेक करने में ही पाया जा सकता है।

नव्य वैष्णव भक्ति का प्रभाव-प्रसार—दक्षिण में आलवार वैष्णव भक्तों का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि उनके गीतों में स्तुयमान ईश्वर (विष्णु) सभी के प्रिय भगवान बन गये। विष्णु की मूर्तियों की स्थापना के हेतु बड़े-बड़े एवं भव्य मन्दिर बनवाये जाने लगे। बौद्धों एवं जैनो के मठों की भाँति बड़ी-बड़ी ऐसी पाठशालाएँ स्थापित की गयीं, जिनमें वैष्णव धर्म के विश्वासों एवं मान्यताओं के अध्ययन-अध्यापन का कार्य आरम्भ किया गया। बौद्ध एवं जैन विचारधारा एवं साधना-पद्धतियाँ ऐसी थी कि वे गृहस्थ को अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ नहीं हो पा रही थी। आलवारों के द्वारा प्रचारित भक्ति के रूप में नव्य वैष्णव धर्म उन्हें अपने सहज जीवन की अभिव्यक्ति अनुभव हुआ। इन परिस्थितियों में वैष्णव सम्प्रदाय का धीरे-धीरे संगठन किया गया और परिस्थितियों की अनुकूलता के कारण इस भक्ति-आन्दोलन को बहुत जल्दी ही व्यापक धर्म का रूप प्राप्त हो गया। वैष्णव धर्म के इस नये (शक्तिशाली) आन्दोलन का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि जैन और बौद्ध धर्म की नींव ही डगमगाने लगी। कुछ जैन एवं बौद्ध तो वैष्णव मतानुयायी बन गये और कुछ बाधित होकर उस प्रदेश को छोड़कर कहीं अन्यत्र चले गये।^१ यह स्थिति इस नव्य वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के युग के पूर्वार्द्ध के समय की है, इसका युग उस समय आरम्भ होता है, जिस समय ऐतिहासिक कृष्ण को ब्रह्म मान लिया गया और उसके साथ ही उनके साथ राधा का संयोग उन्हीं की अभिन्न शक्ति के रूप में कर दिया गया। राधा और कृष्ण में अद्वैत भी इसी समय स्वीकार कर लिया गया है। उस समय विष्णु के दो रूप (नारायण और वासुदेव) स्वीकार कर लिए गये थे। बाद में रामानुजाचार्य ने नारायण की भक्ति का प्रचार किया और मध्व एवं वल्लभ आदि ने वामुदेव (कृष्ण) की भक्ति का।

नव्य वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के साथ ही नव्य शैव धर्म का प्रचार भी हुआ। आरम्भ में ये दोनों आन्दोलन जैनो एवं बौद्धों की विरोधी शक्तियों के रूप में सामने आये। दोनों का स्वरूप अत्यन्त सहज और सरल था एवं दोनों में भक्ति को प्रमुख स्थान दिया गया था। दोनों ही मानव की कोमल वृत्तियों का संस्पर्श कर भक्ति को तदनुकूलता प्रदान करने में संलग्न थे। दोनों की सम्मिलित शक्ति ने दक्षिण में जैन और बौद्ध धर्म को निर्मूल भी बना दिया। उक्त दोनों धर्मों के अनुयायी या तो वैष्णव एवं शैव बन गये अथवा वहाँ से भाग कर देश के किन्हीं दूसरे भागों एवं सीमान्तवर्ती

^१ आयगर शेपगिरि राव, स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म, पृ० ६८।

प्रदेशों में चले गये। अपने विश्वासों के प्रचार के लिए जब मार्ग की सम्पूर्ण बाधाएँ समाप्त हो गयीं, तब स्वयं इन दोनों सम्प्रदायों में ही आपसी कलह और प्रतिस्पर्धा की होड़ आरम्भ हो गयी। शैव अपने सम्प्रदाय का प्रचार करने लगे और वैष्णवों ने भी अपने मत को उत्तम सिद्ध करने का अभियान आरम्भ कर दिया।

आचार्यत्व की ओर—उपर्युक्त परिस्थितियों के जन्म ग्रहण करते ही दोनों सम्प्रदायों के रूपों में पर्याप्त अन्तर आना आरम्भ हो गया। तब अपने पूर्वजों (सन्तों) के भक्ति-गीतों की भावनाओं से प्रेरणा ग्रहण करने के स्थान पर शास्त्रीय विवेचन की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। वैष्णव धर्म ने वैष्णव पुराणों की धारण लेकर तात्त्विक चिन्तन एवं शास्त्रीय चर्चाओं के द्वारा अपने मत का प्रचार करना आरम्भ किया। आचार्यत्व की धारण ली गयी ताकि शैवों की मान्यताओं का विरोध किया जा सके और अपने लिए शास्त्रीय पद्धति का निर्माण किया जाय। गीतों की सरलता, भाव प्रवणता और गलत-भावुकता के साथ-साथ भावों के मोन्दर्य के पक्ष को भी विस्मृत कर दिया गया। अन्त में इस धर्म का प्रधान आधार ही शास्त्रीय एवं तत्त्व-विचार प्रधान बन गया और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और सिद्धान्तों के निर्माण के युग का आरम्भ हो गया। इसी समय एक ओर शांकर अद्वैतवेदान्त की विचारधारा ने जन्म लिया है और दूसरी ओर वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्यों ने शंकराचार्य की अद्वैतवेदान्ती विचारधारा को खण्डन करना आरम्भ कर दिया है। वैष्णव आचार्यों में रामानुज, मध्व, निम्बार्क और बल्लभाचार्य प्रमुख आचार्य माने गये हैं। इन्होंने शंकर मायावाद एवं उनके निर्विशेष ब्रह्म-सिद्धान्त का विरोध कर अपने-अपने दार्शनिक मतों की स्थापनाएँ की हैं।

आचार्य शंकर के मायावाद में भक्ति को उचित स्थान न मिलने के कारण शृङ्गरेयों का झुकाव वैष्णव भक्ति की ओर हुआ और दक्षिण में महाराष्ट्र और महाराष्ट्र से सम्पूर्ण उत्तरी भारत में वैष्णव भक्ति की लहर सर्वव्यापक रूप प्राप्त करने में सफल हो गयी। नारायण, विष्णु और वामुदेव को परब्रह्म स्वीकार कर वैष्णव भक्ति ने व्यापक अर्थों में एक ही आन्दोलन का रूप धारण किया था, लेकिन बाद में साम्प्रदायिक भेदों के कारण दार्शनिक विचारों में पहले जैसी एकस्यता स्थिर न रह सकी। इसके फलस्वरूप कई स्वतन्त्र दार्शनिक प्रणालियों का निर्माण किया गया और विभिन्न मत-वाद स्थापित हुए। मत-सम्प्रदायों एवं दार्शनिक प्रणालियों की भिन्नता में भी कई तत्त्व तब भी पहलें जैसी ही बने रहे। इन्हीं आधारभूत मान्यताओं के समीकृत रूप के कारण इन सभी दर्शनों को हमने अवतारी वैष्णव दर्शन नाम देना ही उचित समझा है। इन सभी दार्शनिक प्रणालियों में स्वीकृत धारणाओं की सामान्य विशेषताओं का आगे उल्लेख किया जा रहा है।

● नव्य वैष्णव भक्ति-दर्शनों की सामान्य विशेषताएँ

आलवार सन्तों ने दक्षिण में कृष्ण-भक्ति के जिस रूप का प्रचार किया था, उसका स्वरूप गीता की भक्ति में पर्याप्त भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण के

बाल रूप की उपासना और गोपी-वल्लभ के रूप में उसके साथ कान्ताभाव की भक्ति के सम्बन्धों की अवधारणा के मूत्र परवर्ती काल में जोड़ लिए गये हैं। डाक्टर भण्डाकर ने अपनी पुस्तक 'शैविज्म एण्ड वैष्णविज्म' में विस्तृत चर्चा करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वैष्णव धर्म में बाल गोपाल के रूप में कृष्ण की भक्ति का रूप वैष्णव धर्म की अर्वाचीन घटना है, जिसका सम्बन्ध उन्होंने अहीरो के किसी प्राचीन बाल देवता के साथ स्थापित किया है। कुछ भी हो, नारायण और वासुदेव की भक्ति का प्रचार दक्षिण में हुआ है और इसे शास्त्रीय आधार भी वही के वैष्णव आचार्यों द्वारा दिया गया है।

मुख्य-मुख्य वैष्णव आचार्यों की दार्शनिक मान्यताओं का विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ पर केवल इस सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है कि नव्य वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के आचार्यों द्वारा स्वीकृत ब्रह्म के स्वरूप में वे कौन से सामान्य तत्त्व या विशेषताएँ हैं, जिन्हें इन आचार्यों की दार्शनिक विचारधारा का मूलधार माना जा सकता है। जिस भक्ति-माधना को स्वीकार का परवर्ती युगों में उसके स्वरूपों का जो इतना अधिक विस्तार हुआ है उसका मूल रूप क्या था एवं वे कौन सी सर्व-सामान्य विशेषताएँ थी, जिन्हें आचार्यों ने अपने ढंग में विभिन्न रूपों में प्रस्तुत करने के प्रयत्न किये हैं। हमारे विचार में वे मान्यताएँ आलवार मन्तों के भक्ति-गीतों से ही एकत्रित की जा सकती हैं। अतः नीचे की पंक्तियों में उन्हीं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(क) विष्णु परमसत्य एवं सर्वोपरि सर्वशक्ति मान सत्ता है।

(ख) विष्णु (ईश्वर) सर्वगम्य भगवान् है, जो भक्त के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

(ग) ईश्वर को प्रेमी मान कर प्रियतमा के रूप में भी (ही) उसकी भक्ति की जा सकती है।

(घ) कर्मकाण्ड और यज्ञयागादि के उपाय भक्ति की साधना की तुलना में गौण हैं।

(ङ) भक्त (जीव) का कल्याण विष्णु की अनन्य शरण ग्रहण करने में है।

(च) भक्ति निरहेतुक साधना है, अतः भक्त के हृदय में फलच्छा के पूर्ण-परित्याग की भावना बनी रहनी चाहिए।

(छ) भक्ति का अधिकार किसी भी वर्ण के व्यक्ति को प्राप्त है।

(ज) लौकिक प्रेमिका की आत्मा की भाँति भक्त-जीव को पति परमेश्वर के मिलन के लिए सदा विह्वल एवं व्याकुल बने रहना चाहिए।

(झ) गलद्वयभावुकता के रूप में की गयी भक्ति से ईश्वर (विष्णु) तत्काल द्रवित हो जाते हैं।

(ञ) इन्द्रियों के नियमन (योग) तथा बौद्धिक व्यायाम (आत्म-विचार) से ही ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती, उसे पाने के लिए उसकी भक्ति रूपी अनन्य शरण ही एकमात्र सीधा, सरल एवं सर्वोत्तम उपाय है।

● शंकर मायावाद का विरोध एवं वैष्णव आचार्य

प्रसिद्ध विचारक भास्कराचार्य ने वैष्णव आचार्यों से पहले दसवीं शताब्दी में ही जगत को यथार्थ सत्ता स्वीकार कर, शंकराचार्य के जगतमिथ्या सिद्धान्त के विरोध का संकेत कर दिया था। शंकर मायावाद के विरोध में उनकी अपनी यह स्थापना थी कि जगत मायिक सत्ता नहीं है, वह ब्रह्म का ही अभिव्यक्त रूप (रूपान्तरण विशेष) है। वे जीव और जगत का एकमात्र भौतिक कारण ब्रह्म को स्वीकार करते हैं। उनकी शांकरमायावाद विरोधी विचारधारा को नाथ मुनि और यामुनाचार्य ने अग्रसर करते हुए मायावाद का विरोध किया और उसके स्थान पर अपनी मान्यताओं की स्थापना की। यह विरोध धीरे-धीरे प्रबल रूप धारण करता चला गया और अन्त में विभिन्न अवतारवादी दर्शनों के रूप में समूचे देश को वर्षों तक प्रभावित बनाए रखने में सफल हुआ। वैष्णव आचार्यों के विचारों के प्रचार ने शांकरमायावाद के मूलाधार को ही दोलायमान बना डाला।

आचार्य रामानुज और उनके दार्शनिक विचार—आचार्य रामानुज ने ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यवर्ती वर्षों में प्रस्थानत्रयी एवं वैष्णव मत से सम्बन्धित अन्य धार्मिक रचनाओं के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जगत मिथ्या या भ्रम नहीं है, और न ही शांकरमायावाद की मायावधारणा का स्वरूप ही स्वीकार्य माना जा सकता है। उन्होंने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र) को पुनः व्याख्यात एवं परिभाषित किया और विशिष्टाद्वैत के नाम से शांकर अद्वैतवेदान्त के विरोध में स्वतन्त्र दार्शनिक अभिमत की स्थापना की।

रामानुज ने शांकराचार्य की भाँति ब्रह्म को शाश्वत, आनन्दमय और सर्वश्रेष्ठ सत्य स्वीकार तो कर लिया है, लेकिन ब्रह्म की अपनी मौलिक अवधारणा के सन्दर्भ में जगत को भ्रम या अयथार्थ अस्तित्व मान लेने का सशक्त विरोध एवं खण्डन किया है। माया की अवधारणा की भी उन्होंने स्वतन्त्र विचार के अधीन ही व्याख्या की है। उसे परमसत्ता को संबलित करने वाली शक्ति स्वीकार करने के स्थान पर वे उसे ब्रह्म की जगत की कारयित्री शक्ति मानते हैं। इसलिए रामानुजाचार्य की ब्रह्म, जीव, जगत और माया विषयक अवधारणाएँ शांकर अद्वैतवेदान्ती धारणाओं से पर्याप्त भिन्न एवं स्वतन्त्र हो गई हैं। उनके मत के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत तीनों यथार्थ एवं एक दूसरे से भिन्न सत्ताएँ हैं। वे ब्रह्म को जीव और जगत की आत्मा मानते हैं। उन्होंने चित् और अचित् (जीव-जगत) को ब्रह्म के अधीन एवं ब्रह्म के प्रसंग में उनकी अधीनस्थ सत्ताएँ माना है।

रामानुज के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत दोनों का स्रष्टा (अंशों के रूप में) अन्तर्यामिनी, नियन्ता एवं पालक-पोषक है। वे ब्रह्म को चिदचिद्विशिष्ट सत्ता मानते हैं और जीव और जगत को अंश के रूप में उसी का सजातीय भेद स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनकी ब्रह्म और जीव की एकात्मा की अवधारणा शंकराचार्य

की ब्रह्म और जीव की अवधारणा से पर्याप्त भिन्न एवं स्वतन्त्र प्रकार की है। रामानुज का मत है कि जीव परमात्मा के अंश हैं और उनका अंश स्वयं ब्रह्म (नारायण) ही है। जीवों को उन्होंने ब्रह्म की तुलना में अणु माना है और उनके अस्तित्व को ब्रह्म पर निर्भर स्वीकार किया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि अंशांश-भाव की अवधारणा के अन्तर्गत रामानुज ब्रह्म और जीव में एक प्रकार (अधाराधेय-सम्बन्ध के रूप में) की द्वैत की स्थिति को भी स्वीकार कर लेते हैं।

रामानुज ने शंकराचार्य की ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में निर्विशेषत्व और निर्गुणत्व की अवधारणा को ब्रह्म के सविशेषत्व एवं सगुणत्व में बदल दिया है। तदनुसार जीव के रूप में ईश्वर की प्रतीति नहीं होती और न ही वे जगत के आभाम का कारण अविद्या को ही मानते हैं। जगत की रचना के सम्बन्ध में आचार्य रामानुज का मत बिल्कुल स्पष्ट है कि ब्रह्म ही अपने भीतर में ब्रह्माण्ड की रचना करता है। हमारे मन में रामानुज की यह अवधारणा ब्रह्मसूत्रों की विचारधारा के अधिक अनुकूल एवं निकटवर्ती विचार है, क्योंकि ब्रह्मसूत्रों में कई बार ऊर्णनाभ की भाँति ब्रह्म को जगत् का निमित्तोपादान कारण बतलाया गया है। बादरायण के अनुसार ब्रह्म अपने भीतर से ही जगत् की रचना उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार ऊर्णनाभ अपने भीतर में तन्मू की। तदनुसार वही जीव का स्पष्टा भी है। वे आत्मा को सूक्ष्मा-तिमूक्ष्म चित्तत्व मानते हैं और चिदचित् दोनों में ब्रह्म के प्रवेश की अवधारणा को अपने हृदय में स्वीकार कर लेते हैं। उनका विचार है कि गुड स्वरूप में आत्मा ज्वलन एवं शाश्वत मत्ता ताँ है लेकिन शरीर धर्मों वन जाने के उपरान्त उसमें मुख और दुःख की अनुभूति का धर्म प्रवेश पा जाता है। उसी को उसकी सीमा माना गया है। मिश्रिष्टाद्वैत में कर्म को मुख-दुःख का मूलकारण माना गया है और आत्मा को शरीर की प्राप्ति उसके कर्मों एवं पात्रता के अनुसार मानी गई है। मार्ग यह है कि रामानुज के मत में आत्मा ही जीव है, जो कर्मों के कारण शरीर के धर्मों (सम्बन्धों) में बन्ध (सोमित वन) जाता है।

ब्रह्म और जगत् के सम्बन्धों की चर्चा करते हुए विशिष्टाद्वैत में यह स्वीकार किया गया है कि जगत् ब्रह्म के प्रकाश में प्रकाशित है। ब्रह्म की सत्ता व्यापक है और वह चिदनिर्दिष्ट होकर भी अद्वैत ही है। ब्रह्म ही जीव और जगत् का मूलकरण (मूल-तन्त्र) है तथा जीव और जगत् उसी के विभिन्न रूपान्तरण (Modifications) से निमित्त कुण्डल आदि आभूषणों की तरह ब्रह्म के रूपान्तरण है। रामानुज सम्पूर्ण भौतिक प्राणी-जगत् को ईश्वर-निर्भर मानते हैं। इस निर्भरता से उनका आशय इस अवधारणा से है कि इन दोनों (जीव जगत्) का अस्तित्व ब्रह्म के अस्तित्व के आधार पर है। उनकी यह अवधारणा शंकराचार्य के जीव और जगत् के साथ ब्रह्म के सम्बन्धों की अवधारणा में पर्याप्त भिन्न प्रकार की है। रामानुज चेतना और भौतिक (पदार्थ जगत्) पदार्थ दोनों की यथार्थता ब्रह्म के कारण मानते हैं। इसी मान्यता के कारण वे आदर्शवादी नस्त्र विचारकों, जगत् को मिथ्या मानने वाले ब्रह्मवादियों,

प्रकृति-परिमाण में विश्वास रखने वाले साध्यों एवं नैथ्यायिकों और वंशेषिकों से भी भिन्न कोटि के विचारक बन गए हैं।

शंकराचार्य ने जगत की विविधरूपता को मिथ्या ज्ञान, आभास, प्रतीति एवं अविद्या के रूप में प्रतिपादित कर उसकी यथार्थता का विरोध किया है, लेकिन इससे बिल्कुल विपरीत रामानुज ने जगत को उसकी सम्पूर्ण विविधरूपता के सहित यथार्थ स्वीकार कर लिया है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार ब्रह्म, पूर्ण स्वतन्त्र मत्ता है और जीव और जगत नदाधित लेकिन यथार्थ मत्ताएँ हैं।

ज्ञान के सम्बन्ध में भी रामानुज की धारणा शंकराचार्य की मान्यता से पर्याप्त भिन्न है। शंकर के मायावाद का खण्डन करते हुए उन्होंने हर प्रकार के ज्ञान को वास्तविक ज्ञान ही स्वीकार किया है। वे वास्तविकता को शंकर की भाँति मन का भ्रम नहीं मानते। उनके मत में जगत् का ब्रह्माधारित मन्ता है। अतः उसकी यथार्थता भी स्वतः सिद्ध है। ब्रह्म को उन्होंने समस्त जगत् का निपन्ता और जीव तथा जागतिक पदार्थों को उसमें नियन्त्रित माना है। उसके अनुसार अचेतन एवं चेतन दोनों ही किसी न किसी रूप में परिवर्तनशील माना जाते हैं, जबकि ब्रह्म को शिकानाबीत, अपरिवर्तनीय, शाश्वत और सच्चिदानन्द परममन्ता एवं ब्रह्माण्ड का महान् आधार है। ब्रह्म, जीव, जगत् और इनके आपसी सम्बन्धों के विषय में यही त्रिशिष्टाद्वैत की नामाग्रह मान्यताएँ तथा विशेषताएँ हैं।

● बंशज आचार्यों के परमसत्ता-स्वरूप का धार्मिक आधार

प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय का दर्शन उन रचनाओं को प्रमाण मानता है, जिन्हें अनुयायी समाज में सम्प्रदाय विशेष के आर्चिस्त्र (Scriptures) होने का सम्मान प्राप्त है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि वैष्णव आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों की प्रामाणिकता के लिए वैष्णव-सहिताओं, विभिन्न उपनिषदों, आगमग्रन्थों, सम्प्रदाय के पुराणों और प्रबन्धम् (आचार्य मन्त्रों की रचनाओं) आदि को प्रमाण-साक्ष्य स्वीकार किया है। आचार्य रामानुज के सिद्धान्त में चित्-अचित्-परम तत्त्व वामुदेव विष्णु या नारायण ही परब्रह्म स्वीकार किये गये हैं।¹ तदनुसार ब्रह्म विशिष्टताओं से परिपूर्ण सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान सत्ता है, जिसमें ब्रह्माण्ड सूक्ष्म रूप में अज्ञातभाव में स्थित रहता है। इस प्रकार चित् और अचित् उनके अविभाज्य अंग माने गये हैं उसे चित् और अचित् की आत्मा

१ यतीन्द्रदीपिका—यन्मुनस्तु वेदान्तानां त्रिद्विद्विशिष्टाद्वैत एकमेव ब्रह्म इति तात्पर्यम् । अत एव त्रिद्विद्विशिष्ट ब्रह्म एकमेवेति मत्वा भगवान् नारायण 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इति उपक्रम्य तदेव सप्रकारं निरूपितवान् । अतः त्रिद्विद्विशिष्ट ब्रह्म शब्द वाच्य विष्णवाख्यः परमासुदेवो नारायण एवैकमिति विशिष्टाद्वैतवादिना दर्शन इतिप्रसिद्धम् ' ' ' ॥

भी इसी कारण बतलाया जाता है। आचार्य रामानुज ने 'ब्रह्मन्' का अर्थ महान् किया है।^१

रामानुज परब्रह्म या वामुदेव की मूलप्रकृति को ही उसकी शक्ति मानने है। इस सम्बन्ध में अपने विचारों का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा है कि परमात्मा जिस समय अपनी मूल प्रकृति को साकार रूप प्रदान करने की इच्छा करता है, उसी समय सृष्टि के निर्मायक तत्त्व साकार रूप धारण करने लग जाते हैं। उनके मत में यह परमतत्त्व की शरीरी अवस्था है। क्योंकि इस अवस्था में वह स्वयं ही नाम और रूप के आकार में अवस्थित होता है।^२ उनके अनुसार परिवर्तन सृष्टि का स्त्रभाव है, लेकिन अन्तर्यामी एव नियन्ता (वामुदेव) में कोई भी परिवर्तन या परिणाम सम्भव नहीं हो सकता।^३ जहाँ तक परमात्मा और जीव के सम्बन्धों का प्रश्न है, आचार्य रामानुज दोनों में विशेष्य-विशेषण, अशी-अण, आधार-आधेय, नियन्ता-नियम्य और रक्षक-रक्षित भाव-सम्बन्ध स्वीकार करते हैं।

द्वैतवादी विचारक आचार्य मध्व दो प्रकार के प्रमेय मानते हैं। उनकी दृष्टि में दो ही प्रमेय हैं स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र।^४ इसी प्रमेय द्वय के आधार पर ही उन्होंने शंकराचार्य के माया-सिद्धान्त का खण्डन किया है। वे ब्रह्म को केवाद्वैत सत्ता स्वीकार नहीं करते। साक्षि-अनुभव के प्रमाण के आधार पर ही उन्होंने ब्रह्माण्ड में पाये जाने वाले वैविध्य एव वैचित्र्य को स्वीकार किया है और उसकी अनेकरूपता के सिद्धान्त को माना है। वह जगत की अलग सत्ता के सिद्धान्त मानने तो अवश्य है परन्तु उसे स्वतन्त्र न मानकर परमात्मा के अधीन ही स्वीकार करने है। उनके सिद्धान्तानुसार पूर्ण स्वातन्त्र्य केवल विष्णु का ही माना गया है।^५

मध्वाचार्य के विचार में अनादि तत्त्व अद्वैत नहीं है। उन्होंने परमतत्त्व के अतिरिक्त भी अनादि तत्त्वों की सत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अतिरिक्त

^१ श्री भाष्य, १।१।१।

^२ श्रीभाष्य, १।४।२७।

^३ वही० १।४।२७।

^४ मध्व, तत्त्वविवेक—“स्वतन्त्रमस्वतन्त्रं प्रमेय द्विविध मतम्”

^५ Madhva's Teachings in his own words; By N. K. Sharma, Bharatiya Bhawan (1961) p 25. Thus it is on the evidence of 'SAKSI Pratyaksa' which is essentially an eternal experience of judgement and values that the reality of world experience, in the broadest sense of the term, is upheld by Madhva. Once the epistemological necessity to recognize the principle of 'SAKSI' is conceded and once the unerring nature of it ..

तथा मध्व स्तोत्र ४/३.—बह चित्र जगद्बहुधा कारणात् परम शक्तिरनन्त गुणः परम ॥ महाभारत भीष्म पर्व बहूनां यथैका योनिरुच्यते तथात पुष्टं विश्व-माख्यास्यामि॥

अनादि तत्त्वों एवं ब्रह्म में उन्होंने केवल अस्वतन्त्र और परतन्त्र का भेद ही माना है। उनके विचार में केवल ब्रह्म ही पूर्णस्वतन्त्र सत्ता है और दूसरे तत्त्व उसके अधीन या नियम्य हैं। शाश्वत हो या अशाश्वत सभी को वह ब्रह्म के अधीन मानते हैं।^१ माध्वाचार्य ने स्वतन्त्र (ब्रह्म) और परतन्त्र (जीव-जगत) दोनों को सत्य सत्ताएँ माना है^२ और इसी सिद्धान्त द्वारा शंकराचार्य के जगत को मिथ्या मानने की धारणा का खण्डन किया है। वे शंकराचार्य की भाँति ईश्वर की जीव के रूप में प्रतीति के सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं करते। मध्वाचार्य के द्वैत सिद्धान्त के व्याख्याता जयतीर्थ के अनुसार, ब्रह्म असीम विशेषणों का भण्डार-आधार है। वह हर प्रकार की पूर्णताओं से अतीत सत्ता है। उसे सर्वज्ञ, भगवान्, अन्तर्यामी सौन्दर्य तथा शिव माना गया है। वह मनस् और वाणी से अगोचर सर्वशक्तिमान् चैतन्य सत्ता है। वह एक है। वही आत्मा और विश्व का चैतन्य और उसकी क्रिया आदि भी है।^३

ऊपर केवल रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य के सिद्धान्तों का उल्लेख वैष्णव-वाचार्यों के धार्मिक विश्वासों के आधारों के रूप में इसलिए किया गया है कि इनका सिद्धान्त आदिग्रन्थ की विचारधारा से कई दृष्टियों में भिन्न है। आगे हम इसका विशेष उल्लेख करेंगे।

● विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म का स्वरूप

आचार्य रामानुज के उपास्य विष्णु वेंकुण्ड नामक परमधाम में शेपनाग की शय्यार पर आसोन रहते हैं। उनकी शक्ति लक्ष्मी सदैव उनके पास रहती है और उनकी सेवा करना उसका काम है। वैष्णव ग्रन्थों में इसे ब्रह्माण्ड भी माता बतलाया गया है। पौराणिक कथाओं के संकेतों से ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वरीय न्याय में करुणाभाव का संचार कर सासारिक प्राणियों की सहायता करना लक्ष्मी का स्वभाव मान लिया गया है। यदि विष्णु और शक्ति (लक्ष्मी) को अलग न माना जाए तो उसे परमसत्ता का अनुकम्पा-भरित न्याय का प्रतीक भी कह सकते हैं। वास्तव में विष्णु की शक्ति ही उसका गुणैश्वर्य है। सम्भवतः इसी सिद्धान्त की मान्यता के कारण भगवान् विष्णु को ब्रह्माण्ड का निमित्तोत्पादनकारण भी मान लिया गया है।^४ भगवान् विष्णु का करुणा-भाव वैष्णव सम्प्रदाय में ब्रह्म-सिद्धान्त की स्वीकृति का आधार बन गया प्रतीत होता है। गीता पर लिखे गये अपने भाष्य में आचार्य रामानुज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि असीम करुणा से द्रवित होकर भगवान् अवतार धारण करते हैं। परन्तु

^१ अनुव्याख्यान, २/२, पृ० १६,—सत्ता प्रधान पुरुष शक्तिना च प्रतीत प्रवृत्तयश्च ता. सर्वा नित्यात्मना यत । यथा नित्यानित्यशक्त्या स्वस्वयमेश्वर. ...॥

^२ मध्व, ब्र० सू० भा० १।३।१६, ४३ ।

^३ न्यायसुधा, पृ० १२४, (बम्बई संस्करण) ।

^४ विष्णुपुराण, ६।५।७६ ।

भगवान का पूर्ण स्वातन्त्र्य इस में है कि अवतारी शरीर धारण कर लेने के बाद भी उनके शुद्ध स्वरूप में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता। उनके अवतारी रूप को परिणम भी नहीं स्वीकार किया जा सकता। अपनी असीम अनुकम्पा के कारण ही भगवान विष्णु अपने भक्तों के हित के लिए उनके बीच रहकर उनकी हर इच्छा को पूर्ण करते हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य रामानुज ने अवतारों की भी कोटियाँ स्वीकार की हैं। कुछ अवतार केवल अदावतार ही माने गये हैं। वैष्णव भक्तों का यह भी विश्वास है कि विधिपूर्वक स्थापित प्रतिमाओं या देव-विग्रहों में भी विष्णु अवतरित होकर भक्तों की मनोकामनाएँ पूरी करते हैं। अन्तर्यामी सत्ता के रूप में भगवान का सभी जीवों में निवास है। इस रूप में परात्परसत्ता ही नीलवर्ण मेघ रूपी मानव शरीर में विद्युत् रूप होकर निवास करती है।^१

परमस्वत्व के साथ जीव और जगत के सम्बन्धों का उल्लेख करना भी आवश्यक है। क्योंकि प्रायः सभी परवर्ती दार्शनिकों ने भी इस प्रकार के सम्बन्धों की चर्चा अपने मतों के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप-वर्णन में की है। अन्त में हम यह स्पष्ट करने का यत्न करेंगे कि कई प्रकार की समानताओं के बावजूद भी विविष्टाद्वैत और अन्य वैष्णव दर्शनों की विचारधारा में किसी प्रकार का आत्मनिक भेद नहीं है।

(४) विशेष-विशेषण भाव—सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपने कारण का ही परिवर्तित रूप माना जाता है। इस सिद्धान्त का महाराज लेकर आचार्य रामानुज ने शरीर सृष्टि को परमात्मा (प्रकारी) का प्रकार स्वीकार किया है।^२ गीता में भगवान अर्जुन को बतलाने हैं कि सूत्र में मणियों की भाँति कारण एवं कार्य दोनों ही अवस्थाओं में सम्पूर्ण सृष्टि मुझी में विरोधी रहती है।^३ गीता की यह धारणा ही रामानुज के इस सिद्धान्त का आधार बनी है कि परमात्मा शरीरी है और ब्रह्माण्ड उसका शरीर है। भेदाभेदवादियों का खण्डन भी उन्होंने इसी मत के आधार पर किया है। वह ब्रह्म के स्वरूप को समझने के लिए तीन रंगों वाले किसी एक कपड़े से उसकी उगमा देने हैं। एक ही कपड़ा तीन रंगों वाले धागों के रूप में तीन रंगों वाला या रंगरहित-विशिष्ट माना जा सकता है। यही परमस्वत्व का अद्वैतरूप है और यही उसके चिदचिद्विशिष्ट होने का प्रमाण या आधार है। परन्तु कपड़े में धागों की तरह परमस्वत्व में चित् और अचित् को अलग नहीं किया जा सकता। इसी सिद्धान्त

^१ वेदायं सग्रह—नीलतोयद मधुसूयाविजललेखेव भास्वरा— ॥

पञ्चरात्र रहस्य—पूर्वं पूर्वोदितो यास्मिन् विशेष क्षीण कल्मषः ।

उत्तरोत्तर मूर्तिना उपास्यन्त्यधिकृतो भवेत् ॥

^२ श्रीभाष्य, २।१।१५,

^३ गीता अध्या० ७, श्लो० ७, बृहद० उप० ३।७।३,

यस्य पृथिवीशरीरम् ॥ शत० ब्रा० १४।५।६।५;

य स्वात्माशरीरम् ॥ देविए श्रीभाष्य, १।१।१,

पर प्रकृति को परिणामधर्मी भी सिद्ध किया गया है। परमात्मा मे परिणाम की किमी भी रूप मे सम्भावना का रामानुजाचार्य ने खण्डन किया है।^१ अपने सिद्धान्त के स्रोत-ग्रन्थो मे परमात्मा के स्वरूप का उल्लेख करते हुए रामानुज ने उसे असीम, स्वप्रकाश, स्वयंसिद्ध, सकल ऐदव्य-निधान एव त्रिगुणातीत परमसत्ता बतलाया है। उनके विचार मे सृष्टि का रचनहार, उसका पालक और सहारक वही है। उसी से सृष्टि साकार होती है। विभिन्न रूपो मे वही स्वयं सारी सृष्टि मे व्याप्त है।

शेष-शेषी-भाव सम्बन्ध—जगत और जीव के सन्दर्भ मे रामानुज परमात्मा को शेषी और जीव एव जगत को शेष स्वीकार करते है। जीव स्वतन्त्र चैतन्य न होकर ईश्वरीय विधान के अधीन रहने वाली सत्ता है। यही जीव का कैकर्म-भाव है। ईशावास्योपनिषद् मे भी, 'ईशावास्यमिदं सर्वं' कहकर इमी मत को प्रतिपादन हुआ प्रतीत होता है। अन्दाज अपने भक्ति-गीतो मे अपने आप को बार-बार प्रभु की सेविका बतलाती है। यहाँ यह स्मरण रहना चाहिए कि रामानुज के अनुसार ब्रह्म मे किसी प्रकार का विभाजन संभव नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा भी है कि जीव परमात्मा का अंश है परन्तु उसका 'खण्ड' नहीं। उसके आधार पर उन्हो सार्व्या और भेदवादियों के सिद्धान्त का खण्डन भी किया है।^२

आधाराधेय-सम्बन्ध—कठोपनिषद् मे इस प्रकार का संकेत मिलता है, जिसे परमात्मा और ब्रह्माण्ड के आधाराधेय-सम्बन्ध के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है।^३ महानारायणोपनिषद् एव गीता मे भी इस मत का प्रतिपादन हुआ।^४ भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को अपने स्वरूप और ब्रह्माण्ड की रचना के बारे मे समझाते हुए अष्टधा प्रकृति को अपनी अपराप्रकृति बतलाया है। इमी सन्दर्भ मे पराप्रकृति को जीवरूपा बतलाकर उसे सम्पूर्ण विश्व की धारयित्री शक्ति कहा है। वही पर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि सत्यसकल भगवान् की प्रकृति ही भगवान् से प्रेरणा प्राप्त कर जीवो को कर्मो के अनुरूप चराचर जगत की रचना करती है। यह विश्वास श्वेताश्वतर उपनिषद् की विचारधारा के अनुकूल प्रतीत होता है। प्रस्तुत उपनिषद् मे बतलाया गया है कि प्रकृति मायापति महेश्वर की माया है।^५ इससे इस सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है कि परमात्मा अपनी प्रकृति द्वारा जीवो के कर्मो के अनुसार जागतिक प्रसार करता है। भगवद्गीता मे परमात्मा की प्रकृति को 'महद्-ब्रह्म' कहा गया है। परमात्मा महद्ब्रह्म मे प्रवेश कर पंच-महाभूतो को साकार रूप

^१ श्रीभाष्य, १।१।१।

^२ ब्र० सू० रा० भा० २।३।४२,—"अशो नाना व्यपदेशात् ॥" गीता, १५-७।

^३ कठ० उप० २।५।१५।

^४ महानारायणोपनिषद्, १।६; गीता, ७।४, ५; ६।५।

^५ श्वे० उप० ४।९—१०।

प्रदान करता है।^१ इन्हीं प्रमाणों के आधार पर रामानुज ने परमात्मा और चित् एवं अचित् के बीच आधाराधेय के सम्बन्ध के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका यह सिद्धान्त उनके ब्रह्म सूत्र के भाष्य द्वारा भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है।^२

नियन्ता-नियम्य-भाव—गीता की वह धारणा, जिसमें भगवान् ने अपने आप को सम्पूर्ण भूतों का परिचालक बतलाया है, रामानुजचार्य के 'नियन्ता-नियम्य-भाव-सिद्धान्त' का आधार है। परमात्मा जीव और जगत दोनों की नियामक शक्ति है और उसकी तुलना में इन दोनों को नियम्य माना गया है। रामानुज के कथनानुसार यद्यपि सम्पूर्ण जागतिक व्यापार प्रकृति द्वारा सम्पन्न होता है, परन्तु प्रेरणा, निरीक्षण एवं परीक्षण आदि कार्य नियन्ता द्वारा ही होते हैं। इसके साथ ही सम्पूर्ण सृष्टि भगवान् के स्वभाव अर्थात् प्रकृति से होती है। इसी दृष्टि से समूचे ब्रह्माण्ड को ब्रह्म में स्थित बतलाया गया है। भगवान् अन्तर्यामी भाव से सारी सृष्टि में परिब्याप्त है। यही भाव बृहदारण्यकोपनिषद् में भी प्रकट हुआ है। इसके अनुसार सारे ब्रह्माण्ड में परब्रह्म परिब्याप्त है, परन्तु प्रकृति को इसका परिज्ञान नहीं रहता। विश्व-शरीर का नियन्ता परमतत्त्व स्वयं अमर, अजर, अपरिवर्तनशील एवं अविनाशी तत्त्व है। वही मन्त्रावर सृष्टि की नियामक शक्ति है।^३

रक्षक-रक्षित भाव-सम्बन्ध—रामानुजचार्य अवतार-सिद्धान्त के प्रमुख प्रवक्ता हैं। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रक्षा एवं भक्तों का हित-संपादन अपने अवतारी शरीर द्वारा ही करता है। प्रपत्ति-सिद्धान्त का यही आधार है। वैष्णव आचार्यों का यह विश्वास है कि जीवों के प्रति अनुकम्पा एवं अनुग्रह के भाव से प्रेरित होकर परमात्मा विश्व की रचना करता है। रचना करने वाला रक्षित वस्तु की रक्षा का ध्यान अवश्य रखता है, यह कर्ता की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। लीला-भाव से ही सही भगवान् भी इसीलिए अपनी रचना ब्रह्माण्ड के रक्षक माने गए हैं। अवतार-सिद्धान्त की मान्यता के उपरान्त गोप्सु-भाव के लिए और अधिक गुंजाइश है क्योंकि अवतार धारण करते समय भगवान् की प्रतिज्ञा ही यही है कि वह धरती के अत्याचारियों से सत्पुरुषों के गोप्सुत्व-भार को स्वयं वहन करेंगे। भगवान् कृष्ण ने गीता में इसी गोप्सु-भाव की प्रतिज्ञा की है।^४ परमात्मा अ-काम है, जो स्वयं पूर्ण इच्छाओं वाला एवं सर्वशक्तिमान हो उसे किसी से क्या चाहना, परन्तु उसका अनुकम्पा या अनुग्रह-

^१ गीता, अध्या० १४, श्लो० ३;

^२ ब्र० सू० रा० भा० १।१।१;

^३ बृह० उप० २।७, तैत्तिरीयोपनिषद्, ३।२४;

^४ गीता, ६।२६-४०,—समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शाश्वच्छान्तिं निगच्छति।

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

भाव उसे भक्तों के हित के लिए प्रेरित करता है। सर्वज्ञ एव नियन्ता की कृपा के कारण जीव विद्या के प्रकाश से अपने लिए सन्मार्ग की खोज करने में प्रवृत्त होता है।^१

रामानुज के विचार में परमात्मा का अनुग्रह निरासक्त एवं भक्ति से परिपूर्ण हृदय वाले को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। उन्होंने परमात्मा के अनुग्रह को सौलभ्य और मौशित्य भाव के रूप में वर्णित कर इसी विचार की पुष्टि की है। सम्पूर्ण पुराण साहित्य भगवान के इस अनुकम्पा-भाव से भरा पड़ा है। रामानुज के मतानुसार गुरु की प्राप्ति परमात्मा के अनुग्रह का फल है और उसकी अनुकम्पा जीव को उसके वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है।^२ रामानुज-जाचार्य के सिद्धान्त और साधना पक्ष की जानकारी अन्य वैष्णव दर्शनों की विचार-धारा एवं साधना-मार्ग के अध्ययन के लिए आवश्यक है। साथ ही दोनों की समानताओं और अममानताओं के विवेचन से इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की भ्रांति के लिए अवकाश की सम्भावना भी कम है। अतः यहाँ संक्षेप में उस पर विचार कर लेना प्रासंगिक था।

● द्वैताद्वैत में ब्रह्म का स्वरूप

निम्बार्क उत्तरवेदान्ती विचारको की पक्ति में आते हैं जिन्होंने ब्रह्म, चित् और अचित् की द्वैताद्वैतवादी व्याख्या की है और अपनी मान्यताओं को ब्रह्मसूत्रों में ही खोजने की प्रचलित प्रणाली को अपनाया है। उनका सिद्धान्त द्वैताद्वैत इसलिए कहलाता है कि उन्होंने द्वैतवादी दर्शन (मांस्य) के इस विचार को मान लिया है कि जगत् की उत्पत्ति प्रकृति-परिणमन के रूप में होती है। फिर भी उनका सिद्धान्त सांख्यो के प्रकृति-परिणाम का अक्षरशः अनुसरण नहीं है। वे यह तो स्वीकार कर लेते हैं कि जगत् की उत्पत्ति प्रधान के तीनो गुणों के फलस्वरूप हुई है, लेकिन प्रकृति की प्रसवधर्मिता के सम्बन्ध में उनकी धारणा अन्य वैष्णव आचार्यों के प्रकृति-सिद्धान्त जैसी ही है। गीता में जिस प्रकार प्रकृति को पुरुषोत्तम की महदयोनि स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार ये भी प्रकृति को जगत् की रचना करने में स्वतन्त्र (गौ के स्तनों से स्वतः प्रवाहित दूध की तरह) स्वीकार करने के स्थान पर उसे ईश्वर पर निर्भर स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इच्छा का स्वातंत्र्य ईश्वर का धर्म है, वह प्रकृति की इच्छा या चैतन्य नहीं है।

निम्बार्क के द्वैताद्वैत-सिद्धान्त के अनुसार मानव की आत्मा (जीवात्मा) का सारतत्त्व चित् अर्थात् चेतना है, जिसे उन्होंने पदार्थ से स्वतंत्र एव भिन्न माना है।

^१ गीता, १०।१०-११;—तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

^२ रामानुज, श्री भाष्य, ६-२, ७-१८ ।

भौतिकवादियों के विरोध में सभी ईश्वरवादियों की भाँति वे भी आत्मा को अ-भौतिक मानते हैं। भौतिकवादियों की भाँति आत्मा को शारीरिक चेतन्य मानने का उन्होंने विरोध किया है। उनके विचार में आत्मा चित्तनस्व है, जो इन्द्रियों के यन्त्र में क्रियाशील बनकर आनन्द की प्राप्ति करती है। जीवात्माओं के सम्बन्ध में उनकी अवधारणा शाकर अद्वैतवेदान्त की अवधारणा से बिल्कुल भिन्न है। वे असंख्य जीवात्माओं का आरम्भिक अस्तित्व मानते हैं और साथ ही उन्हें शाश्वत सत्ताएँ भी स्वीकार कर लेते हैं। निम्बार्क के अनुसार जीव के रूप में ईश्वर की और ईश्वर के रूप में ब्रह्म की प्रतीति नहीं होती। उनकी यह अवधारणा शंकराचार्य की ईश्वरवादी विचार धारा के विपरीत पड़ती है। शंकराचार्य की प्रतीति सत्ता की अवधारणा से ईश्वर की आराधना के द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की मान्यता ही खण्डित हो जाती है।

ब्रह्म के स्वरूप की चर्चा करते हुए निम्बार्क ने यह स्वीकार किया है कि वह सर्वोच्च यथार्थ सत्ता है। सगुणस्वरूपता के आधार पर उसे आनन्द-परिपूर्ण, सौन्दर्य और दया का आगार एवं अलौकिक गुणैश्वर्य में सर्वथा विभूषित बतलाया गया है। द्वैताद्वैत नामकरण का आधार ही ब्रह्म, जीव और जगत में भेद और अभेद की स्वीकृति है। निम्बार्क ने भेदाभेद की भी कई प्रकार से व्याख्या की है। वे कहते हैं कि जीव, जगत और ईश्वर तीनों की अलग-अलग सत्ता है। जीव आनन्द का लाभ करने वाला है और जगत उसके आनन्द का उपादान है। इस अवधारणा के द्वारा आत्मा और प्रकृति (अचित्) वस्तुगत यथार्थ तो मिट्ट होते हैं, लेकिन साध्यों ने जहाँ पर उन्हें ईश्वर पर निर्भर न मानकर दूसरे ही ढंग से व्याख्यात किया है, वहाँ निम्बार्क इन सभी की ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता को स्वीकार करते हैं।

द्वैताद्वैतवाद में एकमात्र ईश्वर का ही स्वातन्त्र्य स्वीकार किया गया है। इसमें ईश्वर और ब्रह्माण्ड के परस्पर तादात्म्य-सम्बन्ध की अवधारणा का खण्डन हो जाता है। निम्बार्क बार-बार इस तथ्य बल देने हैं कि ईश्वर की जीव और जगत में भिन्न एवं स्वतन्त्र सत्ता है। द्वैत की इस अवधारणा के कारण अद्वैत (जीव जगत और ईश्वर का सम्बन्ध) के खण्डन का अनुभव कर, वे इस तथ्य को को गुप्त इस प्रकार समुपस्थित करने लगते हैं कि जीव और जगत का पूर्ण रूप से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वे ईश्वर पर निर्भर हैं और उनकी इस स्थिति के कारण ही भेद और अभेद (द्वैताद्वैत) की मान्यता का एक साथ उल्लेख करना पड़ता है।

द्वैताद्वैत और शंकराचार्य के अद्वैतवेदान्त की भेद और अभेद की अवधारणा के अन्तर को जान लेना भी आवश्यक है। यह तथ्य सर्व-विदित है कि शंकराचार्य जीव और जगत की वास्तविक सत्ता नहीं मानते। उनके अनुसार केवल ब्रह्म ही पूर्ण अद्वैत सत्ता है। लेकिन जिस समय जीव और जगत के साक्षात् अस्तित्व के कारण वे उलझन में पड़े जाते हैं, तब उनकी सत्ता व्यावहारिक मान लेते हैं। उनकी अद्वैत की अवधारणा में अद्वैत और द्वैत की स्थिति का निरूपण होने लगता है। शंकराचार्य को भेदाभेद की अवधारणा अत्यन्त अस्पष्ट है। लेकिन निम्बार्क ने द्वैताद्वैत की जो व्याख्या

निम्बार्क ने की है, वह अधिक तर्क-संगत एवं बुद्धि-ग्राह्य है। वे अभेद और भेद में से पहले को यथार्थ (पारमार्थिक) और दूसरे को व्यावहारिक नहीं मानते। भेद और अभेद दोनों ही उनकी दृष्टि में यथार्थ हैं। उनके अनुसार जीव और जगत् के लिए परमार्थ और यथार्थ की अवधारणा व्यर्थ है। इसी कारण वे जीव का अस्तित्व यथार्थ मानते हैं। उन्होंने जीव को ईश्वर पर निर्भर माना है। ईश्वर पर जीव की यह निर्भरता उम प्रकार की है, जिस प्रकार सूर्य की किरणों की सूर्य पर। निम्बार्क के अनुसार जगत् ईश्वर से भिन्न है तो सही परन्तु ईश्वर के रूपान्तरण (Modification) के रूप में ही। अतः जगत् अपने सारतत्त्व में ब्रह्म ही है। ईश्वर का ईश्वरत्व इसी में है कि जगत् में रूपान्तरण के उपरान्त भी उसे अपनी सच्चिदानन्दस्वरूपता की अनुभूति पूर्ववत् बनी रहती है। यही कारण है कि पदार्थ (जगत्) और ब्रह्म को मूल रूप में अभिन्न होने पर भी एक दूसरे से भिन्न भी मान लिया गया है।

प्रायः सभी वैष्णव आचार्य जगत् की रचना को परमात्मा की लीला ही स्वीकार करने हैं। यह लीला और कुछ नहीं, जीव और जगत् के रूप में ईश्वर का रूपान्तरण ही है। निम्बार्क ने इस अवधारणा को पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिया है। उनके अनुसार जिस समय भक्त लीला के इस भाव को हृदय-गत बना कर भक्ति के उपाय की शरण लेता है, तब उसे मोक्ष एवं शाश्वत आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। निम्बार्क ने भक्ति की साधना के सम्बन्ध में भी स्वतन्त्र दृष्टिकोण का परिचय दिया है। वे ईश्वर के ध्यान और मनन को ही भक्ति की संज्ञा नहीं देते। उसके लिए जीवन को पवित्रता को भी वैखनीय बतलाते हैं। निस्वार्थ प्रेम की भावना की गलदधुभावुकता को निम्बार्क की भक्ति-साधना में अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है।

● द्वैत वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप

पूर्ववेदान्त और उत्तरवेदान्त के भेदों के अनुसार मध्वाचार्य तीसरे प्रसिद्ध उत्तरवेदान्ती हैं। उनका जन्म कर्नाटक क्षेत्र के उदिवि इलाके के पास वाले एक छोटे से गाँव में तेरहवीं शताब्दी में हुआ था। कहा जाता है कि आरम्भ में वे भी शंकर अद्वैतवेदान्ती ही थे और इनकी आरम्भिक-शिक्षा ऐसी पाठशाला में हुई थी, जहाँ शंकराचार्य के अद्वैतवेदान्त का अध्यापन करवाया जाता था। मध्व की स्वतन्त्र विचारक बुद्धि शंकर विचारधारा से सन्तुष्ट न हो सकी और वे स्वतन्त्र हो गये। उन्होंने जिस दर्शन-प्रणाली का निर्माण किया, वह द्वैतवेदान्त के नाम से प्रसिद्ध है। अपनी दार्शनिक मान्यताओं की स्थापना के लिए उन्होंने ब्रह्मसूत्रों और भगवद्गीता पर भाष्य लिखे तथा 'अनुव्याख्यान' नामक स्वतन्त्र पुस्तक की रचना भी की।

द्वैत वेदान्त की सामान्य विशेषताएँ—द्वैतवेदान्त की मौलिक अवधारणा के अनुसार जगत् यथार्थ है एवं परमात्मा और जीवात्मा में भी भेद है। यही कारण है कि मध्वाचार्य के द्वारा प्रतिष्ठापित दर्शन-प्रणाली शंकराचार्य के ब्रह्मवाद और रामानुजाचार्य के चिदचिद्विशिष्ट की अवधारणाओं से पर्याप्त भिन्न है। वे जीवात्मा

और परमात्मा के बीच भेद के सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए ही शंकराचार्य की 'ब्रह्म' व जीवों नापरः,—जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, की अवधारणा का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि यदि जीव और ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं है तो आत्म-साक्षात्कार की मान्यता का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। तदनुसार ब्रह्म और जीव में भेद की स्थिति स्वीकार करने पर ही जीव के द्वारा आत्मसाक्षात्कार की बात उठाई जा सकती है। ज्ञान को शंकराचार्य ने बहुत अधिक महत्त्व दिया था परन्तु उनके ज्ञान की अवधारणा को ही मध्वाचार्य ने अमान्य ठहरा दिया है। उनके अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय की वास्तविक सत्ता के अभाव में ज्ञान की स्थिति सम्भव नहीं है। इसी प्रसंग में उन्होंने जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप की चर्चा भी की है। वे जीवात्मा की सत्ता को परिमानीत मानते हैं। तदनुसार वह अपूर्ण एवं अज्ञानमय है। परमात्मा को अपरिमित, पूर्ण, 'सर्व' एवं 'एक' बतलाया गया है। मध्व के अनुसार जीव और ईश्वर दोनों का ऐक्य इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि जीव के स्वरूप एवं परमात्मा के स्वरूप में आकाश-पाताल का अन्तर है। परमात्मा और जीव में अभेद मानने की स्थिति में परमात्मा को भी अज्ञान की सीमा के अन्तर्गत मानना पड़ता है। मध्व का शंकराचार्य की ब्रह्म की अवधारणा के विरुद्ध सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि वह मानव की पावन एवं धार्मिक भावनाओं को जगने में समर्थ नहीं है। वह इतना अधिक 'निर्विशेष' और और 'परम' बन गया है कि उसकी भक्ति की ही नहीं जा सकती। मध्व ने ज्ञान और भक्ति की अवधारणाओं में विश्वास रखते हुए ब्रह्म, चेतन और अचेतन, तीनों की यथार्थता स्वीकार कर ली है। वे जगत को भ्रम नहीं मानते और काल एवं अवकाश में उसकी सत्ता को पूर्णरूप में स्वीकार कर लेते हैं।

प्रमाणों की चर्चा करते हुए उन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम को ही ज्ञान के स्रोत स्वीकार किया है। उन्होंने चेतन (जीव) से भिन्न मनुष्य के मस्तिष्क की स्थिति भी काल और अवकाश के अन्तर्गत ही मानी है। वे जड़ जगत की भी सत्ता मानते हैं और केवल विचार (Idea) में जगत के अस्तित्व की मान्यता का विरोध करते हैं। सत्य-ज्ञान के लिए उन्होंने वस्तुओं, इन्द्रियों (प्रत्यक्ष साधन) और शक्ति (मस्तिष्क) की दोष-हीनता की स्थिति की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। उन्होंने शंकराचार्य के माया-सिद्धान्त का खण्डन युक्तियों एवं प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के प्रमाणों के द्वारा ही किया है। वे चेतना (मस्तिष्क) या आइडिया से भिन्न जगत के आदि अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।^१ उन्होंने जगत की रचना में प्रकृति-विकास के सिद्धान्त को भी स्वीकार कर लिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य शंकर, साध्य-विचारधारा के जितने अधिक विरोधी हैं, वही पर मध्वाचार्य ने प्रकृति के गुणों और गुणों के उत्तरोत्तर परिणाम की धारणा को स्वीकार कर लिया है। अन्तर केवल यह है कि उनके अनुसार प्रकृति स्वतन्त्र जड़

^१ आर० एन० शर्मा, मध्वाजी टीचिंग इन हिज ऑन वड'स, पृ० ५७।

सत्ता न होकर ब्रह्म के संकेत-निर्देश का अनुगमन करती है। भौतिक जगत और जीवात्माओं को द्वैतवेदान्त में विष्णु के अधीन माना गया है। तदनुसार एक ओर विष्णु सभी प्रकार के दोषों (Shortcomings) से अतीत है और दूसरी ओर उन्हें सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और नियन्ता एवं अन्तर्यामी मान कर सम्पूर्ण गुणैश्वर्य का अधिपति भी मान लिया गया है। अतः मध्वाचार्य ने भक्ति के क्षेत्र को व्यापक रूप दिया है और निम्न वर्ण के लिए भक्ति के द्वार खोल दिये हैं।

● ब्रह्म का स्वरूप

प्रस्तुत सन्दर्भ में हमें मध्वाचार्य के परमतत्त्व के सिद्धान्त और उनके भक्ति-मार्ग पर ही संक्षेप में विचार करना अभीष्ट है। परब्रह्म रमापति के स्वरूप-लक्षण से परिचित करवाते हुए आचार्य मध्व लिखते हैं कि “ब्रह्म सम्पन्न एवं अपरिमेय शक्तियों का आधिपति, स्वतन्त्र सत्ता है। इसी दृष्टि से वह चित् और अचित् की नियामक शक्ति है। चित् और अचित् उसके स्वभाव से भिन्न स्वरूप और भिन्न स्वभाव वाले हैं।”^१ मध्वाचार्य के द्वारा प्रस्तुत मत के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि वे शंकराचार्य के माया-सिद्धान्त को बिल्कुल स्वीकार नहीं करते और आचार्य रामानुज की भाँति परमतत्त्व को चिदचिद्विशिष्ट सत्ता भी नहीं मानते। उनके विचार में जीव और जगत् की शक्तियाँ परमतत्त्व की अपेक्षा सीमित हैं। इसके साथ ही उनका स्वभाव और स्वरूप भी एकदूसरे से भिन्न है। वे भगवान् को पूर्ण स्वतन्त्र एवं संपूर्ण गुणों से सम्पन्न सत्ता स्वीकार करते हैं। उनकी यह भी धारणा है कि पूर्ण सत्ता किसी भी हालत में अपने आप को मसीम बनाना नहीं चाहती।^२

मध्वाचार्य ने परमात्मा के स्वरूप-लक्षण की सिद्धि के लिए केवल तर्क के प्रमाण को असमर्थ माना है।^३ तर्क ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए सहायता

^१ मध्व, तत्त्वद्योत, पृ० ६६—

सर्वत्राखिल सच्छक्ति स्वतन्त्रोऽशेषदर्शनः ।

नित्यातादृश चिच्चेत्यन्ता दृष्टो नो रमापतिः ॥

^२ न्याय विवरण, पृ० ४—

“स्वातन्त्र्यस्य पूर्ण गुणत्व नियमात् ।”

वही० “न हि स्वतन्त्रोऽपूर्णतां कामयति ।”

^३ अनुक्याख्यान, पृ० ५—

तर्को जापयितुं शक्तो नेशितारं कथंचन ।

किञ्चिज्ज्ञत्वं हि पुंस्त्वेन शक्य साधयितुं सुखम् ॥

वृक्षकुत्राखिल वृक्ष वेति पुस्तत्रादि चत्रवत् ।

इत्वाद्यनुमया स्पष्टिनानुमान परेशितुः ॥

शक्त जापने चाति प्रसंगोऽनुमये दृशा ॥

ती कर सकता है, परन्तु उसमें वह शक्ति नहीं कि ईश्वर के स्वरूप का परिचय या साक्षात्कार करवा सके। यही कारण है कि परमतत्त्व के स्वरूप के परिज्ञान के लिए उन्होंने श्रुतियों एवं पुराणों को प्रमाण माना है।^१ मध्व के विचार में परमात्मा को खण्डा मान लेने पर उसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं पूर्ण स्वातन्त्र्य का अविपत्ति मनना स्वाभाविक हो जाता है।

परमतत्त्व की अनिविशेषता—प्रतिपाद्य विषय का पूर्ण एवं अवितथ ज्ञान होना ही मध्वाचार्य ने दार्शनिक चिन्तन का लक्ष्य स्वीकार किया है। उनके अनुसार उपलब्ध तथ्य ही प्रतिपाद्य विषय के गुण हैं और इन गुणों को अलग करने पर ही उसका परीक्षण सम्भव हो सकता है। मध्व अपनी इस स्थापना पर अधिक बल देते हुए प्रतीत होते हैं।^२ इसलिए उन्होंने उपनिषद् के 'नेति नेति' वाले तर्कों को भी असमर्थ माना है। उनका स्पष्ट धारणा है कि परमतत्त्व को निर्विशेष कहने के जितने अधिक प्रयत्न किए जाएँगे, उसका सविशेष रूप उतना ही प्रत्यक्ष और प्रबल होता जाएगा। मध्व के विचारानुसार कोई भी वस्तु नकारात्मक स्वभाव वाली हो ही नहीं सकती। उनका मत है कि श्रुतियाँ-स्मृतियाँ भी परमसत्ता को सविशेष बतलाती हैं।^३ सविशेष मानने का अर्थ उसके गुणों के द्वारा उसके स्वरूप का परिचय प्राप्त करना है। इसलिए सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पद्धतियों के द्वारा ब्रह्म के सविशेष स्वरूप की ही सिद्धि होती है। श्रुतियों में परब्रह्म को 'सत्यकाम' और 'अपहृत पाप' कहा गया है। इससे भी उसका सविशेषत्व प्रमाणित होता है। मध्व का कथन है कि श्रुतियों के प्रमाण पर परमात्मा में कर्तृत्व स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार के अन्य प्रमाणों एवं युक्तियों के आधार पर मध्व ने परमसत्ता के निर्विशेष स्वरूप वाले सिद्धान्त का खण्डन किया है।^४

^१ गीता, १८-५५; वही० ७-१।

^२ अनुव्याख्यान, पृ० ३२—

इदमित्यमिति ज्ञानं जिज्ञासाया प्रयोजनम् ।
इत्य भावो हि धर्मोऽस्य न चेन्न प्रतियोगिता ॥

^३ वही० पृ० ३३—

इत्य भावात्मकान् धर्मानाहुश्च श्रुतयोऽखिला ।
अदृश्यत्वादपोऽप्यस्य गुणा हि प्रभुणोदिता ।
यदि स्युस्तादृशा. धर्मा सर्वज्ञत्वादयो न किम् ॥

^४ अनुव्याख्यान, पृ० ३३—

अन्यापेक्षा यदि स्युस्ते सत्त्वं देशकालगा ।
देशकालानपेक्षा हि न सत्ता क्वापि दृश्यते ॥
धर्मारोपो हि सामान्य धर्मादीना हि दर्शने ।
इदं तदादि धर्मत्वे धर्मोऽस्य कल्प्यतेऽत्र हि ॥
सर्वधर्म विहीनस्य धर्मारोपो क्व दृश्यते ?

मध्वाचार्य ने सगुण को एक विरोध अर्थ मे ही स्वीकार किया है। वे परमतत्त्व को सगुण कहने का आशय उसे सर्वज्ञ, सकल ब्रह्माण्ड का सृजनहार, सत्यकाम और अन्तर्यामी मानते है। इस प्रकार ब्रह्म को निर्गुण और अधर्मा मान लेने के कारण आरोप के सिद्धान्त का स्वयमेव खण्डन हो जाता है। क्योंकि युक्ति मे रजत की प्रतीति के लिए सत्य का आधार अनिवार्य है। ऐसा न मानने पर अनवस्था दोष की सम्भावना बनी रहती है।^१ अद्वैतवेदान्तियों के इस विश्वास को भी उन्होंने अस्वीकार कर दिया है कि पूर्णब्रह्म (Supreme Brahman) माया द्वारा सीमित (Limited) हो जाता है।^२ इसी कारण उन्होंने शुद्धब्रह्म और माया-शवलित ब्रह्म की चर्चा को ही व्यर्थ बतलाया है। वे ब्रह्म को पूर्ण और माया का अधिपति स्वीकार करते है तथा उसे सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व एवं अबाध इच्छा का स्वामी मानते है।

सगुण-निर्गुण-विचार—माध्वाचार्य श्रुतियों के प्रामाण्य पर सगुण और निर्गुण की समस्या पर विचार करते हुए बतलाने है कि परमतत्त्व असीम, ज्ञानस्वरूप, आनन्द सत्त्व, परिपूर्ण इच्छा-स्वतन्त्र का आधिपति, चेतन एवं अचेतन प्रकृति से अतीतमत्ता, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पिता, उसका रक्षक और पालक है।^३ वह केवल धार्मिक (साम्प्रदायिक) ग्रन्थों के आधार पर ही परमतत्त्व के सगुण स्वरूप का प्रतिपादन नहीं करते। श्रुतियों को माध्य पर ही उन्होंने परमतत्त्व के सगुण स्वरूप की पुष्टि की है। उनके विचार मे ब्रह्माण्ड की रचनहार मत्ता सर्वज्ञ एवं सर्व शक्तिमान है। सम्भवतः इन्हीं अर्थों मे आचार्य मध्व ने परमतत्त्व को सगुण माना है। वह यह भी स्वीकार करते है कि परमात्मा का अद्वैत अरूप, सर्वव्यापक, नियामक, जीवों के कर्मों का साक्षी एवं अशरीरी आदि होना उसे सगुण स्वीकार करने के सिद्धान्त के मार्ग मे बाधक नहीं है। परमात्मा मे भौतिक गुणों का अभाव मानने के अर्थ मे ही उसका उपर्युक्त रीति से वर्णन किया गया है।^३

^१ बही० पृ० ३२—

तदर्थ यदि धर्माणामारोपः स्यादनवस्था स्थितिः ।

^२ बही० पृ० ५—

“कथं मायाद्यवच्छिन्नं पूर्णं मुस्यतया भवेत् ।”

^३ कर्मनिर्णयः—अर्थक आहुरगुणं ब्रह्मेति । न तत् युक्तम् । श्रुति युक्ति विरोधात् । तथाहि श्रुतिः—‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ विज्ञानमानन्दं ब्रह्म यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमय तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमश्रंच जायते । एतावनस्य महिमा अतो ज्यायाश्च पुरुषः । दिव्योहमृतः पुरुषो स बाह्यम्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः । यो न पिता जनिता यो विधाता । पूर्णमदः पूर्णमिदं । सर्वं कर्मा सर्वमिदमम्यासोऽवाक्यनादरः । विष्णोर्मुक्तं वीर्याणि प्रबोध्यम् । परोमात्रया तन्वा वृधान् × × × न ते विष्णो जायमानो न जातो देवमहिम्नः परमन्तमाप, इत्यादिका ।

मध्व का यह भी विश्वास है कि कोई भी वस्तु पूर्ण रूपेण निर्विशेष नहीं हुआ करती। इसलिए ब्रह्म को निर्विशेष सत्ता स्वीकार करना भी उचित नहीं है। विशेष को परमात्मा से स्वतन्त्र मानना भी मध्वाचार्य की दृष्टि में युक्ति-सगत नहीं। अभिन्नत्व और अभेद में भेद की प्रतीति मात्र कथन में ही है—वास्तविक नहीं। इसी प्रकार विशेष अपने विशेष से अलग वस्तु नहीं होती। इस अन्तर को वे केवल प्रतीति ही मानते हैं।^१

जहाँ तक परमतत्त्व के निराकर एवं निगुण स्वरूप का सम्बन्ध है, मध्व प्रकृति आदि से अतीत तत्त्व होने के कारण उसे नियन्ता मानकर निराकार एवं निगुण भी बतलाते हैं।^२ उन्होंने इसे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि सभी दृश्य (नाम-रूप) भौतिक हैं। इस प्रकार की दृश्यसत्ता न होने के कारण ही ब्रह्म को निराकार स्वीकार किया गया है। परमतत्त्व प्रकृति की सीमाओं से अतीत सत्ता है।^३ ब्रह्म को उपनिषदों में आनन्द और आनन्दी दोनों ही बतलाया गया है, परन्तु ब्रह्म को आनन्द और आनन्दी बतलाना वैसा ही है जैसे एक ही अर्थ में 'कुण्डल' और 'कुण्डली' दो भिन्न शब्दों का प्रयोग करना। यदि गहराई में जाकर विचार किया जाए तो दोनों में किसी भी दृष्टि से तात्त्विक अन्तर प्रतीत नहीं होता। ब्रह्म का आनन्दस्वरूप होना लौकिक आनन्द

^१ कर्मनिर्णय, पृ० १०—युक्तितश्च बुद्धि पूर्व सर्वकर्तृत्वात् सर्वज्ञत्वात् सर्वज्ञत्वा-
दयोगुणायुक्तः ॥ वही० पृ० १०—'नच एकोदेव सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी
सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवाम साक्षीचेतः केवलो निगुणश्च ॥'
इत्यादि विरोधः सत्त्वादि गुणाभावोक्तेस्तत्र । "अन्यथा एको देव सर्वभूतेषु गूढः"
इत्यादीनामपि गुणत्वात् स्वीकृति विरोधः ।

^२ वही० पृ० १०—नच निर्विशेष नाम किञ्चिदस्ति । वही० 'निर्विशेषत्वोक्तेरेव
व्याहृतत्वात् ॥ वही० निर्विशेषत्वेन विशिष्टं न वेत्युक्ते, यद्यपिशिष्टं, तर्हि न
विशेष निराकरणम् । विशेषत्वमेव भवति । यदि तेन विशिष्टं, स एव विशेष इति
व्याहृतिः ॥ विष्णुतत्त्वनिर्णय, पृ० ३१—"गुणक्रियादयो विष्णोः स्वरूपं
नात्यदिष्यते । अतो मिथोऽपि भेदो न तेषां किञ्चित्कदाचन । स्वरूपेऽपि विशेषोऽस्ति ।
भेदाभावोऽपि तेनैव व्यवहारश्च सर्वतः ॥ वही० पृ० ३१—अभिन्नत्वमभेदश्च
भेदविवाजितम् । व्यवहार्यं च पृथक् च स्यादेव सर्वे गुणा हरेः अभेदाभिन्नयोर्भेदो
यदि वा भेद भिन्नयोः । अनवस्थितिरेव स्यान्न विशेषणतामति ।... तस्मादस्माक
मनन्तथा । व्यवहार्यं विशेषेण.... । विशेषोऽपि स्वरूप स्वीतिर्वाहकताऽस्य च ।"

^३ ब्र० सू० मध्व, भा० ३।२/१४,—प्रकृत्यादि प्रवर्तकत्वेन तदुत्तमत्वात्, नैवरूपवत्
ब्रह्म ॥

^४ वही० ३/२/१५—'पश्यते स्वमवर्णः, 'सुवर्णज्योतिः', इत्यादि श्रुतीना च
वैयर्थ्यम् । विलक्षण रूपात्वात् । यथा चक्षुरादि प्रकाशे विद्यमानेऽपि विलक्षण्याद्
प्रकाशादि व्यवहारः ।"

का परिचायक नहीं है।^१ ब्रह्म का ज्ञान और आनन्द अलौकिक है। परन्तु अमूर्त की अभिव्यक्ति में भाषा की मजबूरी के कारण इस प्रतीयमान अन्तर को केवल वाणी का व्यवहार ही माना जा सकता है।

ब्रह्माण्ड का आधार—मध्व रामानुजाचार्य और शंकराचार्य, दोनों के सिद्धान्तों से स्वतन्त्र रूप में ब्रह्म को ब्रह्माण्ड का आधार सिद्ध करते हैं। उनका विश्वास है कि ब्रह्म विश्व की सर्वोपरि एवं अद्वितीय शक्ति है। अन्य सभी तत्त्व उसी की शक्ति से प्राणवान् हैं। प्रकृति और पुरुष को इसी सिद्धान्त की दृष्टि से ब्रह्म के अधीन माना गया है। ब्रह्माण्ड की शाश्वत एवं अशाश्वत शक्तियाँ और तत्त्व अनादिकाल से ईश्वरीय शक्ति की प्रेरणा की अपेक्षा रखते आये हैं। इस विश्वास की पूर्वपीठिका ऋग्वेद से ही उपलब्ध होने लगती है।^२ ब्रह्माण्ड का आधार परमात्मा की शक्ति या इच्छा मानना उसके पूर्ण स्वातन्त्र्य को प्रमाणित करता है। प्रकृति और पुरुष परमात्मा के अधीन हैं। परमात्मा स्वयं प्रकृति में प्रवेश कर उसे परिणामी बनाता है। परिणामो के नियमन की शक्ति भी परमात्मा की ही शक्ति है। ब्रह्माण्ड के नियमन के लिए भगवान् अनेक रूप धारण करता है। भूतियो (मैंटर) के परिणाम का वही कारण है। वह सारी सृष्टि में सक्रिय भाव से परिव्याप्त है।^३ यही भाव उपनिषदों में भी व्यक्त हुआ है और ब्रह्मसूत्रों में भी इसी मत का प्रतिपादन हुआ है।^४

मध्वाचार्य ने परमात्मा की महानता, सर्वशक्तिमता और सर्वज्ञता को स्वीकार किया है।^५ वे ब्रह्म-परिणाम-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते क्योंकि तदनुसार परमात्मा को जगत् का उपादानकारण मानना पड़ता है। वे परमात्मा को द्रव्य की कोटि में स्वीच लाने के पक्ष का भी विरोध करते हुए कहते हैं कि यदि परमात्मा में परिणाम स्वीकार कर लिया जाय तो वह शुद्ध चैतन्य तथा आनन्द स्वरूप नहीं माना जा सकता। उन्होंने 'सर्व ब्रह्म' की व्याख्या एक विशेष दृष्टिकोण में की है। अद्वैत

^१ वही० ३/२/३२,—नच आनन्दादित्वात् लोकानन्दित्वात् । ('यतोवाचो निवर्तन्ते' इति) उन्मानत्त्वम् ॥

^२ ऋ० वे० १०।११२।६ ।

^३ अनुव्याख्यान, पृ० १३—अन्यत्र क्वापि शक्तिर्न ... तत् पतञ्जलि विन्ध्यादि सत न पुरुषार्थदम् ॥ ब्र० सू० मध्व १।४।२७, प्रकृतिमनुप्रविश्य, तां परिणम्य, तत्परिणाम नियामकत्वेन यत्र स्थित्वा, आत्मनो बहुधाकरणात् ... ॥ तैत्ति० उप० बल्ली २, ब्र० सू० म० भा० २।३।११—तत्र तत्र स्थितो विष्णुस्तत्तच्छक्तिः प्रबोधकः । एक एव महाशक्तिः कुरुते सर्वमजसा ... ॥

^४ ब्र० सू० म० भा० २।३।६—“पुरुषः प्रकृतिः कालो महानित्यादिषु क्रमात् । विकार एव जननं, पुरुषे तद्विशेषणम् “परतन्त्र विशेषोहि विकारः इति कीर्तितः ॥”

^५ अनुव्याख्यान, पृ० ३६—“नयुक्तमीशितुः किञ्चिद्वीशत्वस्य विरोधि यत् । यद्वीशत्व-विरोधी स्यात्, तदेवायुक्तम् । ईशत्वस्याविरोधेन भोजयित्वास्त्रिणाः प्रमाः ॥”

वेदान्ती ब्रह्म में चैतन्य के साथ ही 'सत्तत्त्व' की सत्ता को भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार परिणाम ब्रह्म के सत्तत्त्व का होता है स्वयं ब्रह्म का नहीं। परन्तु मध्व का विचार है कि चित्, आनन्द और सत् को एक दूसरे से पूर्णरूपेण भिन्न नहीं मानना चाहिए। उन्होंने विवर्तवादियों की इस धारणा का भी खण्डन किया है कि अविकारी ब्रह्म, माया के कारण जगत के रूप में भासित होता है। क्योंकि उनके अनुसार ऐसा मान लेने पर ब्रह्म की सर्वज्ञता का अपहरण होने लगता है। जीव और जगत को यदि ब्रह्म की मिथ्या प्रतीति मान लिया जाय तो मध्व के विचार में जीव और ब्रह्म में भेद मानना होगा जो अद्वैतवेदान्तियों को किसी भी दृष्टि से अभीष्ट नहीं है।^१ मध्व इसी कारण 'ब्रह्म-परिणामवाद' और विवर्तवाद की धारणाओं को संगत स्वीकार नहीं करते। ब्रह्म-परिणामवाद के अनुसार स्वयं ब्रह्म ही जगत के रूप में परिणत होता है और विवर्तवाद की दृष्टि में ब्रह्म के विवर्त को मिथ्या माना गया है। परन्तु इस से ब्रह्म की सर्वज्ञता का खण्डन होने का भय है। मध्व के विचार में ब्रह्म किसी भी स्थिति में परिवर्तन आदि सीमाओं में আবদ্ধ होने वाली सत्ता नहीं है।

● शुद्धाद्वैत में ब्रह्म का स्वरूप

शांकर अद्वैतवाद का खण्डन करने वाले वैष्णव आचार्यों में महाप्रभु बल्लभाचार्य का स्थान विशेष महत्त्व का है। इनका शुद्धाद्वैत, अविकृतपरिणामवाद एवं ब्रह्मवाद कहलाता है। तदनुसार परब्रह्म उस रूप में निर्विशेष सत्ता नहीं है, जिस रूप में शंकराचार्य ने उसे स्वीकार किया है। क्योंकि बल्लभाचार्य जगत को ब्रह्म का सदश मानते हैं—मिथ्या या आभास सत्ता नहीं। वे परमसत्ता को चित् और अचित् से विशिष्ट एवं जगत और जीव को उसका मात्र सजातीय भेद भी स्वीकार नहीं करते। इसीलिए उन्होंने अद्वैत में पूर्व 'शुद्ध' शब्द का प्रयोग किया है। इसके द्वारा उन्होंने विशिष्टाद्वैत से अपने सिद्धान्त की भिन्नता सकेतित की है। उनके अनुसार ब्रह्म माया में संचालित नहीं है। [उसे पूर्ण शुद्ध सत्ता बतलाकर इस तथ्य का सकेत भी कर दिया गया है कि ब्रह्म स्वयं ही कार्य एवं कारण रूप है—वह मायिक नहीं, बल्कि पूर्ण शुद्ध स्वरूप है।^२ आचार्य बल्लभ ब्रह्म की शक्ति (योगमाया) के विद्यामाया

^१ अनुव्याख्यान पृ० १३—भिन्नानां समुदायस्य नाम ब्रह्मेति चेद भवेत् । ब्रह्मो-पदान्ता न स्यात्तदा विश्वस्य हि क्वचित् ॥ वही० पृ० १३—यच्चाविकृतमेवैकं ब्रह्म विश्वात्मना मृषा । दृश्यते मन्ददृष्ट्यैव स सर्ग इति गीयते । सा मन्द दृष्टिस्तस्यैव ब्रह्मणः किं ततोऽन्यथा ? ब्रह्मणश्चेत्स्व सर्वज्ञमन्यथा चेत्स्वतोऽन्यथा ? नादेहयोगिनो दृष्टिरिति तत्कारणं स्वतः । देहिन् कारणं युक्ता देहाश्च यदि न भ्रमात् । किं भ्राति कल्पितं तत्र भेदोऽपि भ्रमजो यदि । भ्रान्तेरज्ञानमूलत्वादभ्योभ्याश्रयता यतः ॥”

^२ शु० भा० श्लो० २८—

माया-सम्बन्ध-रहित शुद्धमित्युच्यते बुधैः ।

कार्य-कारण रूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ॥

और अविद्यामाया—दो भेद स्वीकार करते हैं और नैतिरीय उपनिषद् में ब्रह्म की शक्ति के रूप में माया के उल्लेख को अपनी इस मान्यता का आधार बतलाते हैं। शुद्धाद्वैत में इस मान्यता के द्वारा जीव और जगत सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों का समाधान किया गया है। तदनुसार जीव ब्रह्म का अपना रूप है, जिसमें वह अपनी इच्छा से अपने आनन्द का तिरोभाव कर लेता है। जगत शक्ति (योगमाया) की रचना है, जो स्वयं ब्रह्म की अपनी ही अभिन्न शक्ति है। उन्होंने ससार और जगत को भिन्न स्वीकार करते हुए मात्र ससार को नाशवान एवं असत्य बतलाया है और जगत को सत्य बतलाया गया है। जगत ब्रह्म का सदश होने के कारण यथार्थ एवं सत्य है ससार जीव के अज्ञान से उत्पन्न होता है, जो अविद्यामाया का प्रभाव है। भक्ति और ज्ञान से जीव अपने ससार का नाश कर सकता है। जगत का नाश नहीं होता क्योंकि उसका ब्रह्म से आविर्भाव होता है—उत्पत्ति नहीं। अन्त में जगत पुनः अपने मूल उत्स (सत्स्वरूप ब्रह्म) में समा जाता है, जिसे शुद्धाद्वैतवादी तिरोभाव का अभिधान देने है। अतः बल्लभ के अनुसार जीव, जगत और ब्रह्म में भेद की प्रतीति का कारण बुद्धि का विकल्प अथवा अविद्यामाया की व्यापकशक्ति है।^१

शुद्धाद्वैत के अनुसार ब्रह्म निर्गुण, सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप सत्ता है। जगत के रूप में वही अपना आविर्भाव करती है। जगत के रूप में स्वयं को आविर्भूत कर लेने के उपरान्त भी ब्रह्म के स्वरूप एवं गुणों आदि में कोई अन्तर नहीं आता। जगत की रचना करते समय उसे कहीं बाहर से उपादान-सामग्री लेने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह स्वयं ही निमित्तोपादान कारण है। इसी कारण शुद्धाद्वैत को अविश्रुतपरिणामवाद कहा जाता है। ब्रह्मवाद या अविश्रुतपरिणामवाद का अर्थ यह है कि मूलकारण (परमसत्त्व) जीव और जगत के रूप में कारण से कार्यरूप प्राप्त कर लेता है। इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि परमसत्ता जीव और जगत के आकार में कार्यरूप होकर भी अपरिणामी ही बनी रहती है। इसे अगर परिणमन भी कहा जाए तो यह दूध से दही जैसा परिणमन नहीं है और न यह विवर्त ही है।

शुद्धाद्वैत में ब्रह्म-स्वरूप का वैशिष्ट्य—ब्रह्म के निर्विशेष स्वरूप-सिद्धान्त की स्थापना के उपरान्त आचार्य शंकर उसका सगुणत्व भी मानते हैं, लेकिन वे ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप की अपेक्षा उसके सगुण रूप को गौण स्वीकार करते हैं। उन्होंने

^१ शु० मा० ५-६—

सर्वब्रह्मात्मक विश्वमिदमाबोधयेत्पुरः ।
सर्वं शब्देन यावत् हि दृष्टि श्रुतमतो जगत् ॥
बोध्यते तेन सर्वं हि ब्रह्मरूप सनातनम् ।
कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्यात् कारणम् ॥

^२ तत्त्वदीप निर्णय, ६१—

जानाद् विकल्पबुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपतः ।

सगुण ब्रह्म को केवल उपासना के हेतु ही मान्यता दी है। शुद्धाद्वैत में इस प्रकार का भेद मान्य नहीं है। वस्तुभ के अनुसार जागतिक गुणों से अतीत सत्ता होने के कारण ही ब्रह्म निर्गुण है अन्यथा वह सगुण है, क्योंकि वह आनन्दस्वरूप एवं दिव्य गुणों का स्वामी है। उन्होंने इस धारणा के आधार पर ही ब्रह्म को साकार, निराकार एवं आनन्दस्वरूप माना है। शुद्धाद्वैत के ब्रह्म-सिद्धान्त की मूल विशेषता यह है कि वह 'सर्वधर्ममय' है। नियतधर्ममय तत्त्व में इयत्ता बनी रहती है। शुद्धाद्वैत के अनुसार ज्ञान का विषय होने के कारण ब्रह्म सगुण ही हो सकता है। ब्रह्म को स्वरूप ज्ञान की सीमा से अतीत सत्ता मानने पर जीव के लिए परम पुरुषार्थ का अवकाश ही नहीं रह जाता। वल्लभाचार्य की इस मान्यता का आधार 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' सूत्र प्रतीत होता है। 'सर्वोपेताच दर्शनात्' सूत्र में भी इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है।

वल्लभाचार्य ब्रह्म को निर्गुण भी मानते हैं; लेकिन साथ ही उसे ज्ञेय सत्ता भी स्वीकार कर लेते हैं।^१ शांकर मत का खण्डन करते हुए उन्होंने बतलाया है कि माया-शबलित वाला ब्रह्म-सिद्धान्त गीता, उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्रों का प्रतिपाद्य ही नहीं है। उनके अनुसार प्रस्थानत्रयी में ब्रह्म को कर्ता, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान बतलाया गया है, जिससे उसका माया-शबलित होना सिद्ध नहीं होता। वल्लभ ब्रह्म को व्यापक सत्ता मानते हैं। अतः उसमें देश, काल, वस्तु और स्वरूप आदिके कारण परिच्छिन्नता का सर्वथा अभाव है। यही पर शुद्धाद्वैत और विशिष्टाद्वैत में भिन्नता आ जाती है। आगे चलकर वल्लभाचार्य ने सजातीय या विजातीय भेदों वाली रामानुज की मान्यता का खण्डन भी किया है।^२

वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म मायाधीश है—माया द्वारा संचलित नहीं। वह सगुण तो है, लेकिन उसका सगुण स्वरूप विलक्षण है, क्योंकि वह लौकिक आकृति से अनीन है। वे ब्रह्म और आत्मा में आत्मा एवं देह के भेद जैसा भेद भी स्वीकार नहीं करते। ब्रह्म उनके अनुसार परिपूर्ण चैतन्य एवं सर्वांग आनन्दमय सत्ता है।^३ इसी प्रकार के विचारों के द्वारा उन्होंने ब्रह्म की 'सहज सर्वधर्ममत्ता' सिद्ध की है। जगत और जीव को ब्रह्मरूपी कारण के कार्य तो वे मानते हैं, लेकिन साथ ही प्रापञ्चिक पदार्थों से विमक्षण मत्ता भी स्वीकार कर लेते हैं। उन्होंने भागवतपुराण के साक्ष्य के

^१ तत्त्वदीप निर्णय, मा० पृ० ६५—मर्च्चदानन्दस्वरूपं ब्रह्म व्यापकमव्ययम् । सर्व-
शक्तिस्वतन्त्रं च सर्वं प्रगुण-वर्जितम् ॥

^२ वही० पृ० ६६—सजातीय विजातीय स्वगत द्वैत-विवर्जितम् । मत्यादिगुणमाहसं-
युक्तमौप्यवितर्कं सदा ॥ वही० पराज्य शक्तिः विविधैव श्रूयते । स्वाभाविकी
ज्ञान-बल-क्रियाच ॥

^३ तत्त्वदीप निर्णय, ४४—निर्दोष पूर्णगुण-विग्रह आत्मतन्त्रो निवृत्तनात्मक शरीर
गुणैश्च हीनः । आनन्दमात्र करपात्र मुखोदरादि. सर्वत्र च त्रिविध भेद-विवर्जि-
तात्मा ॥

आधार पर यह कहा है कि जहाँ कहीं, जिन कारण से, जिस किसी के लिए जो कुछ भी घटित हो रहा है, वह सभी कुछ पुरुषोत्तम की ही नीला है।^४

ब्रह्म का विरुद्ध धर्माध्यत्व—आचार्य वल्लभ ने मात्र भक्त की भाँति ब्रह्म को निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, सविशेष-निविशेष और सधर्मक-अधर्मक कहकर, उसकी स्तुति ही नहीं की है, बल्कि इसे दर्शन के स्तर पर भी सिद्ध किया है। वे ब्रह्म को उक्त विशेषणों की भाँति अणु से भी अणु और महान से भी महान के रूप में वर्णित करते हैं। उसे उन्होंने कूटस्थ और चलसत्ता के रूप में भी स्वीकार किया है। वे उसे अकर्ता एवं ब्रह्माण्ड का कर्ता दोनों ही मानते हैं। उनका कहना है कि ब्रह्म विभक्त एवं अविभक्त दोनों है। लेकिन इस प्रकार से ब्रह्म की उदात्तता का ही प्रतिपादन किया गया है—यह विरोध न होकर मात्र विरोधाभास है।

ब्रह्म का सर्वकर्तृत्व—शुद्धाद्वैत के अनुसार ब्रह्म का इसी में सर्वकर्तृत्व निहित है कि वह पूर्ण अविकारी या अपरिणामी सत्ता होते हुए भी ब्रह्माण्ड का निमित्तोपादन कारण भी है। ऊर्णनाभ की भाँति जगत की रचना करने के लिए उसे किमी अनिर्वक्त सत्ता एवं उपादान मामग्री की सहायता की आवश्यकता नहीं है। आचार्य वल्लभ ने 'जन्माद्यस्य यत्' और शास्त्रयोनित्वात्' नामक ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या करते हुए इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि ब्रह्माण्ड का सर्वकर्तृत्व ब्रह्म का है। सर्जना करना उसका सहज स्वभाव है तथा उसके निर्गुण एवं अद्वैत स्वरूप की सिद्धि भी उसकी शक्ति के सहज स्वभाव के द्वारा ही होती है। यही पर 'एकोऽहबहुस्याम्' की शंकराचार्य की व्याख्या से उनके द्वारा की गयी व्याख्या में अन्तर आ गया है। ब्रह्म के द्वारा जगत का रूप धारण करना या उसका जगत और जीव के रूप में आविर्भूत होना शुद्धाद्वैत के अनुसार ब्रह्म का सहज स्वभाव है। इस प्रकार वल्लभ ने ब्रह्म को निर्गुण और निराकार भी माना है तथा उसके सर्वकर्तृत्व को भी स्वीकार कर लिया है।

वल्लभाचार्य का लीला-सिद्धान्त उनके धार्मिक विश्वासों का प्रधान अंग है। उन्होंने 'ब्रह्म द्वारा एक से अनेक होने की इच्छा' के प्रसंग की बार-बार चर्चा की है। अतः यह स्पष्ट है कि वे ब्रह्म की शुद्ध स्वरूपता की मान्यता के साथ यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि लीला के हेतु परब्रह्म ही जीव-जगतमय बनता है और जीवों के प्रति अनुग्रह के हेतु अवतार भी वही धारण करता है। इसलिए उनका पुष्टि-मार्ग लीला-मार्ग कहलाता है। 'एकोऽहबहुस्याम्' में ब्रह्म के अद्वैत को भी स्वीकार किया गया है और जगत तथा जीव के रूप में उसके आविर्भाव को भी। यहीं से इस सिद्धान्त की पुष्टि भी होती है कि वल्लभ के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप अविकारी निर्गुण एवं

^४ तत्त्वदीप निर्णय, श्लोक ७४—यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद् यथा यदा ।
स्यादिदं भगवान्साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरः ॥

सच्चिदानन्दस्वरूप है। जगत न तो मिथ्या है और न ही ईश्वर की जीव के रूप में प्रतीति वाली अवधारणा ही संगत विचार है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ब्रह्म की लीला है। अन्त में आचार्य बल्लभ परमतत्त्व के तीन स्वरूप भी स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन अपने मूल सिद्धान्त (सर्व ब्रह्मवाद) को भी तद्रूप बनाये रखते हैं। उन्होंने ब्रह्म के जो तीन स्वरूप माने हैं, वे इस प्रकार हैं

- (क) परब्रह्म—आधिदैविक स्वरूप
- (ख) अक्षरब्रह्म—आध्यात्मिक स्वरूप
- (ग) जगत—आधिभौतिक स्वरूप।

● ब्रह्म (अकाल पुरुष) और काल की अवधारणा

गुरुनानक ने 'मूल मन्त्र' में वाहगुरु को 'अकाल मूर्ति' कहा है। अतः आदिग्रन्थ में प्रतिपादित अकाल-स्वरूप (वाहगुरु-स्वरूप) के सम्बन्ध में चर्चा करने से पहले 'काल' के बारे में विचार कर लेना संगत प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में हम पहले से ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि गुरुनानक द्वारा वाहगुरु को 'अकाल मूर्ति' बतलाना यह सूचित करता है कि वे परमतत्त्व की तुलना में 'काल' को अनादि और शाश्वत सत्ता स्वीकार नहीं करते।

शंकराचार्य ने तत्त्व का अर्थ ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप किया है।^१ किन्तु विशिष्टाद्वैत और द्वैतवाद की मान्यताओं के अनुसार जीव और जड़ प्रकृति भी तत्त्व मान लिए गये हैं।^२ वृष्णव मताब्जभास्कर के अनुसार प्रकृति, जीव और नारायण (राम) तीनों ही अद्वैत तत्त्व (परब्रह्म) के भेद हैं।^३ लेकिन यह भेद द्वैतवाद के भेद से भिन्न है। उक्त दोनों ही मत पुरुष की निष्क्रियता और प्रकृति के परवर्ती परिणामो या विकृतियों के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं। ब्रह्म को अद्वैत तत्त्व या अनादि सत्ता मानने वाले दर्शनों के अनुसार 'काल' जीव के शुद्ध एवं शाश्वत स्वरूप को परिसीमित बनाने वाली एक शक्ति विशेष है। तदनुसार 'काल तत्त्व' के प्रभाव के कारण ही जीव अपनी जीवरूपता का अनुभव करता है तथा अतीत, वर्तमान और भविष्य के रूप में काल के विषय में खण्ड धारणाएँ बनाने लगता है।

नैय्यायिक काल को भी शाश्वत तत्त्व मानते हैं।^४ परन्तु इसके विपरीत काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार काल स्वतन्त्र तत्त्व न होकर शिव की इच्छा के

^१ गीता, शा० भ० अध्या० २-१६,

^२ तत्त्वत्रय, पृ० ३, 'तत्त्वत्रय विदचिदीश्वरश्च'।

^३ वी० भा० ६-६।

^४ न्याय सिद्धान्त-मुक्तावली : १-८४, नित्य द्रव्याणि परमाण्वाकाशादीनि....।

विभिन्न रूपों में एक रूप विशेष है।^१ जीव काल-शक्ति के आवरण के कारण अपने आपको खण्डानुभवों का भोक्ता एवं कर्ता मानने लगता है। 'अपने आपको तथा अपने इर्द गिर्द के समूचे नामरूपात्मक जगत के पदार्थों को एक दूसरे से अलग-अलग समझना' जीव का जीवत्व माना जाता है। वह पदार्थों के बारे में स्वयं को ज्ञाता और अपने से अतिरिक्त उन्हें ज्ञेय के रूप में स्वीकार करता है। माया या अविद्या के प्रभाव के वशीभूत हो जाने के उपरान्त उसका यह सम्बोध (प्रत्यय) ही उसे काल निरपेक्षता की पदवी से च्युत भी कर देता है। जीव के सम्पूर्ण सम्बोधों में अन्य तत्वों की भाँति काल-तत्त्व का भी पर्याप्त हाथ है। यही कारण है कि उसे अनादि, शाश्वत एवं स्वतन्त्र सत्ता नहीं माना गया है। वह तो केवल एक क्रम सत्ता है, जिसे प्रकृति की विकृति बतला कर जीव को परिसीमित बनाने वाली शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।^२

जीव की कालगत परवशता—जगत के सम्पूर्ण पदार्थ एवं कार्य-व्यापार परस्पर सापेक्ष हैं। जो विचारक यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर ही जीव का रूप धारण करता है, वे यह भी मानते हैं कि जीव को परिसीमित चैतन्य होने के कारण समय का ज्ञान खण्ड-रूपों में ही होता है। यहीं पर जीव की परवशता पायी जाती है। जागृत दशा का एक पल या एक घड़ी का समय हमें स्वप्नावस्था के कई वर्षों के बराबर प्रतीत होता है। जीव के इस प्रत्यय का कारण यह है कि जागृत अवस्था की अपेक्षा स्वप्नावस्था में मन की गति अपेक्षाकृत अत्यधिक तीव्र हो जाती है। आचार्य अभिनवगुप्त मन के किसी एक भाव या विचार के स्थैर्य-काल को 'क्षण' मानते हैं।^३ उनका विचार है कि स्वप्न की हालत में मन की अत्यधिक क्षिप्रगति के कारण वर्तमान विचार-भूत खला पूर्ववर्ती विचार-संघात को बहुत अधिक पीछे छोड़ जाती है। उनके अनुसार जागृत अवस्था के एक क्षण के ज्ञान का स्वप्न में बहुत अधिक लम्बा हो जाने का यही कारण है। देवताओं की काल-धारणा और

^१ ई० प्र०, २-१-३, काल सूर्यादिमवारस्तत्तुल्यादि जन्म वा। शीतोष्णौ वाय तत्त्वस्य क्रम एव स तत्त्वतः।

^२ ई० प्र० वि० (ईश्वर प्रत्याभिज्ञा विमर्शिनी), २-१-३; य इत्यस्या परिनिष्ठिता आभासा, मिद्धा, तदस्या चन्द्र-सूर्यादीना सहकार मत्तिका कुटजादीनां, शीतोष्णादेः परभूत मदविलासादे, त एव कालः। यतोऽपरिनिष्ठित गमन पठनादि तैरित्यस्या परिनिष्ठीयते, परिवर्तकैरिव कनकम्। स एव च सूर्यादीनां स्वभावविशेषस्तत्त्वतः परमार्थतः क्रमोनान्य, कश्चित् क्रमो नाम। क्रम एव च कालो नान्योऽसौ कश्चित्।

^३ त० आ० (तन्त्रालोक), ७-२५, २६, कालस्तु भेदकस्तस्य स च सूक्ष्म, क्षणो मतः। सौधमस्य चावधिर्ज्ञानं यावत् तिष्ठति स क्षणः।अन्यथा न स निर्वच्युं निपुणैरपि पायते॥

संसार जीवों की काल-गणना के भेद की चर्चा भी इसी के आधार पर की जाती है। इसी मान्यता के आधार पर देव एवं सिद्ध स्वप्न-लोक के जीव स्वीकार किये गये हैं।

ऊपर स्वप्न लोक के जिन जीवों अर्थात् देवताओं और सिद्ध पुरुषों का उल्लेख हुआ है, उनकी काल-धारणा मुष्पति-दशा के जीवों की काल-धारणा से भिन्न मानी गई है। अध्यात्मवेत्ताओं ने अपने अनुभवों के साक्षाधार पर यह बतलाया है कि ज्ञान की आनन्दमयी अवस्था में काल-गति पूर्णरूपेण रुक जाती है जो स्थित प्रज्ञता एव तुरीयावस्था है। उनका कहना है कि इस अवस्था की अनुभूति साधक को विद्या की दशा की अवस्था में ही हुआ करती है। उन्हीं अनुभवों एवं आप्त वचनों के आधार पर यह भी मान लिया गया है कि काल-सीमा का हेतु माया-शक्ति है। इसलिए काल को स्वयं माया शक्ति के अधीन माना गया है। माया के प्रभावों से ऊपर उठकर विद्या-दशा का साक्षात्कार करते ही जीव काल-गति के प्रभाव से तत्काल मुक्ति प्राप्त कर लेता है। तुरीयावस्था से भी आगे तुरीयतीतावस्था को भी अध्यात्म-दर्शनों में स्वीकार कर लिया गया है। यद्यपि सभी दर्शनों की शब्दावली एक दूसरे से भिन्न है, परन्तु अन्ततः सभी अनुभूति के सागर में एकमेक होने की स्थिति को स्वीकार करते हैं। पौराणिक साहित्य का अध्येता इस रहस्य से भली भाँति परिचित है कि उसमें मनुष्यों, पितरों, देवताओं, ब्रह्मा आदि की काल सम्बन्धी आधारणाएँ पूर्णतया भिन्न मानी गयी हैं।

काश्मीर शैवों के सिद्धान्त के अनुसार कालतत्त्व ही जीव के बाह्य व्यक्तित्व को सीमित करता है। कला एवं अशुद्ध विद्या दोनों अपने-अपने ढंग से जीव की क्रिया एव ज्ञान की शक्तियों को सीमित बनाती हैं। तदनुसार 'नियति' जीव की छठी परिसीमा है। यही सीमा जीव के राग-तत्त्व को सीमित स्वरूप प्रदान करती है। इस प्रकार 'नियति शक्ति' द्वारा जीव के रागात्मक तत्त्व के परिमीमित हो जाने पर ही वह किसी व्यक्ति, वस्तु या व्यापार विशेष के प्रति अभिरुचि या वितृष्णा का भाव प्रदर्शित करने लगता है।^१ आधुनिक शब्दावली में उसे प्रकृति का नियम या 'प्रकृति-विधान' कह सकते हैं। क्योंकि प्रत्येक प्राणी कठपुतली की भाँति प्रकृति-विधान की सीमा के चारों ओर अस्वतन्त्र एवं असहाय बनकर चक्कर काट रहा है। उपर्युक्त विचारणा के प्रसंग में यह भी कहा जा सकता है कि जीव की परिसीमाओं की भाँति ही पाँचों कंचुक माया के ही विभिन्न रूप हैं। जीव के सन्दर्भ में काल के स्वरूप का विवेचन एवं काल के प्रसंग में जीव के जीवत्व की चर्चा आदिग्रन्थ में वर्णित बाह्यगुरु के अकाल मूर्तित्व को सही ढंग से समझने में हमारी सहायता करती है।

^१ ई० प्र० वि०, ३-१-६, तथाहि कालः क्रममासूत्रयन् प्रमातृ विजृम्भामाग-स्तनुसारिण प्रमेयेऽपि प्रसरति ॥ तथा अत्रैव कस्मादभिर्द्वय इत्ययमर्थो नियत्या नियम्यत इति ॥

बाह्यगुरु का अकाल मूर्तित्व—आदिग्रन्थ में बाह्यगुरु को 'अकाल मूर्ति' अर्थात् विकालातीत सत्ता कहा गया है।^१ इससे स्पष्ट है कि गुरुओं के विचार में ब्रह्म प्रकाश-विमर्श-युक्त सत्ता है, क्योंकि काल की शक्तियाँ उसको परिसीमित नहीं कर सकती हैं। वह घट-घट व्यापी अन्तर्यामी चैतन्य है। उसने अपनी इच्छा से ब्रह्माण्ड का रूप धारणा किया है, जबकि उसका वास्तविक स्वरूप 'अकाल' है। काल, जीव को ही सीमित प्रत्ययों एवं सम्बोधो में आबद्ध कर सकता है परन्तु परमेश्वर को नहीं। ब्रह्म के समक्ष वह स्वयं अन्यान्य तत्वों में से एक तत्व है। इसलिए वह अपरिवर्तनशील अनादि, अखण्ड एवं शाश्वत सत्ता नहीं हो सकता। गुरु गोविन्द सिंह ने भी बाह्यगुरु को 'सति श्री अकाल' ही कहा है। 'मति' से उनका आशय शाश्वत सत्य तत्व ही हो सकता है। 'श्री' शब्द अकाल पुरुष के गणेश्वर्य की ओर संकेत है। आदिग्रन्थ के अनुसार परमात्मा त्रिगुणातीत सत्ता होने के साथ ही गुणेश्वर्य का भण्डार भी माना गया है। उनके गुण सांख्य दर्शन के तत्वों में गिनी जाने वाली प्रकृति के निर्मायक तत्व—सत्व, रजस् और तमस् नहीं है। बाह्यगुरु के गुणों से गुरुओं का आशय उसकी विभिन्न शक्तियों से है।

पुरुष-सिद्धान्त—पुर-पुर अथवा प्रत्येक शरीर में अन्तर्यामी भाव से परिव्याप्त प्रकाश एवं विमर्श-सम्पन्न चैतन्य सत्ता ही 'गुरुबानी' के अनुसार 'पुरुष' या 'पुरुखु' है। गुरुनानक ने मूलमन्त्र में 'पुरुखु' का प्रयोग बाह्यगुरु के लिए ही किया है। तदनुसार जड़ एवं चेतन सृष्टि में सर्वव्यापक भाव से समाया हुआ 'चैतन्य तत्व' ही 'पुरुखु' है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त को विद्वानों ने परमात्मा का स्वरूप वर्णन माना है। तदनुसार मुण्डकोपनिषद् (१-३-२) में भी 'पुरुष' शब्द का प्रयोग परमात्मा के अर्थ में ही हुआ है। सांख्य दर्शन में पुरुष जीव वाची शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है लेकिन सेश्वर सांख्य में इसका अर्थ ईश्वर स्वीकार कर लिया गया है। अन्तर केवल इतना है कि सांख्य मत वाले 'पुरुष' को चेतन मानते हैं परन्तु उसमें कर्तृत्व की शक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते और न ही प्रकृति को पुरुष का शक्ति पक्ष ही मानते हैं।

प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग जीव एवं ईश्वर—दोनों ही अर्थों में हुआ है। आदिग्रन्थ में भी 'पुरुख' या (पुरुष) शब्द का प्रयोग जीव एवं सर्वव्यापक परमेश्वर सभी के लिए हुआ है। जैसे—

^१ आ० प०. पृ० ६०६, सोरठि म० ५, सफल दरसनु अकाल मूरति प्रभु है भी होवन हार ...॥ मूलमन्त्र, १ ओ सति नामु करता पुरुखु निरभउ निरवरु अकालमूरति अजुनी सैभ गुरुपरसादि ॥

पुरखां बिरखां तीरयां ... ॥ (मनुष्य के रूप में) आ० प्र० बार
आसा म० १-८—वही० सिरौराग, म० १—बिनु पिर पुरख न
जाणई ... । वही० सोरठा, म० ४—सति गुरु पुरखु मिलिआ
प्रभू प्रगटिआ ... ॥ (अध्यात्मवेत्ता के रूप में) वही० म० ४—पुरखें
पुरखु मिलिआ गुरु पाइआ ... ॥ (जीव के रूप में) बिचित्र नाटक,
गुरुगोबिन्द सिंह—मैं हो परम पुरख के दाता ... ॥ (परमात्मा के रूप में)
सौरठ, गुरुगोबिन्द सिंह—परम पुरख परमेशुर सुआमी ।^१

भगवद्गीता में 'उत्तम पुरुषस्त्वन्य' के रूप में उत्तमपुरुष-विचार को प्राधान्य प्राप्त है। व्युत्पत्ति द्वारा प्राप्त अर्थ की अपेक्षा प्रसंग प्राप्त एवं समूची मान्यता को दृष्टि में रखकर किया गया अर्थ ही हमें अभीष्ट की ओर ले जाने में सहायता कर सकता है। गुरुनानक ने 'पुरखु' के रूप में परमात्मा का उल्लेख करते हुए विशेष सावधानी बरती है। सम्भवतः उन्हें इस तथ्य का पूर्वाभास था कि उनके इस शब्द का अर्थ परमात्मा के उम स्वरूप की ओर भी पाठकों का ध्यान खींच सकता है, जिससे अवतारवाद अथवा इस्लामी एकेश्वरवाद जैसे सिद्धान्त की धारणा बनायी जा सकती है। इसीलिए उन्होंने 'पुरखु' के पहले 'करता' शब्द का प्रयोग किया है। 'करता' से गुरुनानक का आशय ब्रह्माण्ड के निमित्तोपादान कारण वाहगुरु से है। न तो वह नैय्यायिकों के ईश्वर-सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं और न ही प्रकृति के स्वतन्त्र कर्तृत्व को ही मानते हैं।

आदिग्रन्थ में ब्रह्म के लिए पुरुषोत्तम, नारायण तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक पौराणिक अभिधानों का प्रयोग तो पर्याप्त हुआ है परन्तु उनका अर्थ अवतार-वादियों से भिन्न है। हमारा अनुमान तो यह है कि एक बार परमात्मा के स्वरूप को निर्गुण मानकर, एवं अवतारवाद का खण्डन कर निर्गुण सन्त नाम के झगड़े में पड़े ही नहीं है। केवल संप्रेषणीयता की दृष्टि से ही इन शब्द-प्रयोगों का कोई महत्त्व निर्धारित किया जा सकता है। ये शब्द भक्त-समाज में पहले से प्रचलित रहे हैं। अतः निर्गुण सन्तो ने उन्हीं को अपने सिद्धान्त और अर्थ के अनुकूल स्वीकार कर लिया है। फिर भी प्रत्येक निर्गुण सन्त को परमात्मवाची एकाग्र शब्द अधिक प्रिय रहा है। गुरुनानक ने कई स्थानों पर 'माधव' 'गोविन्द' 'नारायण' के अभिधानों के द्वारा वाहगुरु की ओर ही संकेत किया है। परन्तु साथ ही अन्यत्र कई दूसरे प्रसंगों में उन्होंने राम, कृष्ण, जिव और नारायण आदि को परमात्मा (वाहगुरु) मानने का विरोध भी किया है। प्रस्तुत प्रसंग में इस विषय को उठाने का कारण यह है कि

^१ आ० प्र० मारु म० १, सोहने, सख्या १८—तुं अकाल पुरख माही सिरि काला—वही० राम कली, म० १—आदि पुरखु अपरंपरु सो प्रभु ... ॥ वही० सर्वये, म० ५—आदि पुरख करतार करण कारण वही० मात्र, म० ४—आदि पुरखु अपरंपरु आपे.....

आदिग्रन्थ में प्रयुक्त 'पुरुष' शब्द में गुरुओं का आशय सारे ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्याप्त पुर-पुर में निवास कर रहे सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा से है, वैकुण्ठ आदि लोकों में निवास करने वाले नारायण और वामदेव से कदापि नहीं।

आदिग्रन्थ का अध्येता इस तथ्य से भलीभाँति परिचित है परमात्मावची 'पुरुष' शब्द का प्रयोग कृष्ण और राम आदि ऐतिहासिक महापुरुषों के लिए नहीं हुआ है। उनकी भक्ति-साधना का विषय अवतारी भगवान राम या कृष्ण कदापि नहीं है। वे इस्नामी विचारधारा में स्वीकृत 'खुदा' के स्वरूप से भी सहमत नहीं है। लेखक के विचार में आदिग्रन्थ का 'अकाल पुरुष' बाह्यगुरु है, जो काल का भी काल है। आदिग्रन्थ के अनुसार अकालपुरुष (बाह्यगुरु) की यही गुरु-सम्मत व्याख्या है। इसमें जिस रीति में परमतत्त्व का बार-बार नाममिरन अथवा गुण-गान किया गया है, उसे सम्मुख रखते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि सभी गुरु परमात्मा को काल की शक्ति से अतीत ही नहीं बल्कि उसका स्वामी भी मानते हैं। इसके साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि राम एवं कृष्ण आदि अवतारी पुरुष काल की दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं हैं, क्योंकि उनका जन्म भी हुआ है और वे अन्त में काल-कवलित भी हुए हैं। इसलिए त्रिकालातीत एवं काल की स्वामिनी सत्ता केवल परमात्मा ही है, जिसे उन्होंने बाह्यगुरु के नाम से सम्बोधित किया है।

१ ओं—हमारे विचार में यदि किसी को आदिग्रन्थ के दर्शन का नामकरण करना अभीष्ट ही हो तो वह उसे पराद्वैत दर्शन का नाम दे सकता है। आदिग्रन्थ में मूल मन्त्र के आरम्भ में जो '१ ओ' लिखा गया है, वह उपर्युक्त स्थापना के लिए पर्याप्त आधार है। '१ ओ' में ओकार से पहले एक १ का प्रयोग साभिप्राय है। ओकार से पूर्व की अवस्था का यह उल्लेख मूल स्थिति की ओर एक-स्पष्ट संकेत है। बार-बार नानात्व में एकत्व या 'एक' आदि अभिधान देकर गुरुओं ने इस ओर संकेत किया है कि 'ओंकार' अवस्था पूर्णाद्वैत सत्ता की इच्छा शक्ति का विलास है, लेकिन इसकी अद्वैतता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता।

साहिबु मेरा एको है भाई वही० राम कली म० १, इस एके का
आणं पाउ ॥ एको है (आ० पं० आसा १, घर २)।

परमात्मा के एकत्व (अद्वैत) को सिद्ध करने के उद्देश्य से अमर एवं अयोनि बतलाकर जाति आदि प्रपञ्चों से अतीत भी सिद्ध कर दिया गया है। उसे विश्व के कण-कण में व्याप्त बतलाते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी हुआ है कि वह दिव्य शरीरी के रूप में किसी परमधाम विशेष में निवास करने वाली सत्ता नहीं है। आदिग्रन्थ के सिद्धगोष्ठी (सिषगोसट) प्रकरण में नानक ने स्पष्ट कहा है कि परमात्मा अद्वैत है। वे बहुदेववाद या द्वैत का स्पष्ट खण्डन करते हुए अद्वैत सत्ता की भक्ति में अपनी आस्था व्यक्त करते हैं। जैसे :

आ० पं० पृ० १६७, सो ब्रह्म अजोनी है जो घट-घट भीतरि
मुरारि ओउ ॥ वही० पृ० १८०, जिन आपीनं आपु साजिआ

सचड़ा अलख अपारो...॥ वही० पृ० १०२० । आपे मछली आपे
जाला । आपे गड आपे रखवाला ॥ १५ आ० प्र० पृ० ६५२,
निरंकारि जो रहै समाइ । काहे भिखिया मंगणि जाइ...॥
वही० पृ० ५०३५ । 'ब्रह्मा बिसनु महेशु न कोई'...॥ वही० ६६०,
सरब साचा एकु है दूजा नाही कोइ...॥

उन्होंने अन्य देवी देवताओं की उपासना एवं पूजा का विरोध करते हुए
'ओंकार' के रूप में ही परमात्मा की उपामना को स्वीकार किया है—

हरि आपे कान्ह उपाइवा मेरे गोविंदा । आ० प्र० पृ० १७४ ।
वही० पृ० ३६५ । तू आपे करता तेरा कीआ सभु होइ । तुषु बिनु
दूजा अवह न कोइ ॥ वही० पृ० ७३५ । ब्रह्मा बिसनु महाबेड अंगुण
रोमी बिचि हउमे कार कमाई...॥ वही० पृ० ६६५ । संकरि ब्रह्म
देवी जपिओ मुखि हरिनामु... ॥

राम और गोविंद आदि अभिधानों के द्वारा अद्वैत परमतत्त्व का स्मरण
तो उन्होंने भी किया है, लेकिन उमें बार-बार अजन्मा कहकर दाशरथि राम और
वामुदेव कृष्ण मानने से इन्कार कर दिया है।^१ आदिग्रन्थ के अनुसार 'ओंकार'
(शब्दब्रह्म) परमतत्त्व का वह स्वरूप है, जिससे इस सारी जड़-चेतन सृष्टि का विधान
चल रहा है । ओंकार रूप में 'एक (अद्वैत) ही अपने आपको नानात्व में अभिव्यक्त
करता रहता है । शैवागमों में परमशिव को शिव और शक्ति की अभेदावस्था कहा
गया है । तदनुसार परमशिव का स्पंद ही भेदाभेदावस्था का रूप धारण करता रहना
है । '१ ओं' परमतत्त्व के पूर्ण अभेद के बाद की भेदाभेदावस्था है । गुरुगोविंदासिंह ने
'वित्तिर नाटक' में, 'प्रथिम काल जब कीआ पसारा । ओंकार ते बिसटि उपारा'
के रूप में और कबीर ने बावन अवखरी (आ० ग्र०) में इसी मान्यता को व्यक्त
किया है । वह लिखते हैं -

ओंकारि आदि में जाना । लिख अरु मेटै ताहि न माना ॥

ओंकारि लखे जो कोई । मोइ लखि भेटणा न होई ॥

सभी गुरुओं के दार्शनिक विचारों के व्याख्याता भाई गुरदास ने भी गुरुनानक
के ओंकार-सिद्धान्त की इसी प्रकार व्याख्या की है । तदनुसार परमात्मा समरसावस्था
से इच्छा की अवस्था में अपने को ओंकार के रूप में साकार बनाता है । वह इसी रूप
में सारी सृष्टि में प्रकाशित हो रहा है । अतः आदिग्रन्थ के अनुसार परमात्मा

^१ आ० प्र० पृ० १३१६, हरि अगमु धिआइआ गुरमती तिसु रूपु नहीं प्रभ
रेखिआ ...॥ वही० पृ० २५४, धोखे सासत्र वेद आन न ... आदि जुगादि
हुणि होवत नानक एक साइ...॥ वही० पृ० १४१२, रामु झुरै दल भेलवै ...
मन महि झुरै रमचन्दु सीता लछमन जोगु ...॥ वही० पृ० १२४१ पुंछा देवां
माणसा जोध करहि अवतार...॥

का शुद्ध स्वरूप अद्वैत (नानात्व में एकत्व) है। वह '१ ओ' है। परमसत्ता को गुरुबानी में बाह्यगुरु कहा गया है। '१ ओ' में 'एक' द्वारा पहले परमसत्ता के पूर्णाद्वैत की ओर संकेत है और पुनः ओंकार द्वारा उसकी अपनी इच्छा या स्पर्द से उसी की भेदाभेदावस्था की स्थिति का प्रतिपादन हुआ है। अभिनवगुप्ताचार्य ने परमसत्ता को अनुत्तर कहा है क्योंकि उनके विचार में उसे किसी भी सीमा में बाध पाना सम्भव नहीं है। आदिग्रन्थ में इसी अनुत्तर के भाव का अनुसरण है, जिसके लिए ओंकार से पहले एक (१) प्रतीक का प्रयोग हुआ है। आदिग्रन्थ में जगत् को बाह्यगुरु की इच्छा, लीला या स्पर्द का साकार रूप मानकर परमसत्ता द्वारा ओंकार के रूप में अपना विस्तार करने के बार-बार उल्लेख हुए हैं।^१ इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरुओं के अनुसार परमात्मा का अन्तिम स्वरूप वर्णवाचार्यों, आचार्य शंकर एवं इस्लाम द्वारा स्वीकृत एकेश्वर के स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। आगे हमें कई प्रसंगों में इसकी चर्चा का अवसर मिलेगा, जिससे इसका स्पष्टीकरण स्वयमेव हो जायगा।

'सति' अर्थात् सत्यस्वरूप—आदिग्रन्थ की विचारधारा के अनुसार परमसत्ता अनिवर्चनीय चेतन्य है। उसे अनुत्तर मानते हुए केवल मुविधा के लिए ही 'एक' का अभिधान दिया गया है। प्रकाश-विमर्श से परिपूर्ण बाह्यगुरु (अनिर्वचनीय चेतन्य) की इच्छा ही उसकी शक्ति है। निमीलन एवं उन्मीलन उसका स्वभाव है। ब्रह्माण्ड के रूप में साकार होने की अवस्था के स्वरूप का परिचय देने के लिए ही गुरुनामक उसे ओंकार कहते हैं। ओंकार रूप में भी वह 'एक' ही रहता है, इसीलिए उसे 'सति' कहा गया है। 'सति' परमसत्त्व के त्रिकालातीत स्वरूप की ओर संकेत के अतिरिक्त इस विचार का स्पष्टीकरण भी है कि बाह्यगुरु सदा स्थिर सत्ता है।^१ 'सति' के साथ ही 'नामु' को भी मिला लेने पर दोनों का सम्मिलित अर्थ होगा कि 'परमात्मा जिस प्रकार सत्य तत्त्व है उसी प्रकार उसका नाम भी सत्य स्वरूप है।^२ अतः 'सतिनामु' प्रयोग साभिप्राय है।

सचें सभि ताणि सचें सभि जोरि 'आ० प्र० वार आसा, म० १ ॥

वही० म० ५, सुखमनी, रूपु सति जा का सति असयानु। पुरखु मति

^१ १ ओंकार सतिनामु करना पुरखु निरभउ निरबैर अकाल मूरति अजूनी संभ गुरपरसादि (मूलमंत्र जपुजी)।

^२ आ० प्र० जपुजी म० १,—हैं भी सचु होसी भी सचु...॥ वही० साचा साहिबु साचा नाई...॥ वही० प० ३४७, सोई-सोई सदा सचु साहिबु ॥ वही० प० ६१७, "सर्व निवामी सदा अलेपा ॥ वही० प० ६१७, अविनासी जीअन को दाता...वही० प० ४५३, आदि मधि अति प्रभु सोई ॥ वही० प० ७४४ गुन गावन अचुत अविनासी ॥ वही० प० ३०२, ॥ हरि सति अमरु निरजनु है निरभउ निरबैर निरकार ॥ वही० प० ८३४। सति पुरखईआ ॥ वही० प० १५। साचें ते पवना भइआ ॥ वही० प० १४५। जा तूँ साचा ता मनु साचा...॥

केवल परधानु ॥ वही० आसा कबोर, म० १, साचा साहिबु एक
तूँ जिनि सचो सचु बरताइआ ॥

इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने अपने 'नाम-सिमरन' के सिद्धान्त की स्थापना की है। नाम-सिमरन का मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक विवेचन उपासना प्रधान साधनाओं की प्रमुख विशेषता माना जाता है। नामसिमरन के सम्बन्ध में हमने अन्यत्र विस्तारपूर्वक चर्चा की है जो उनकी मन्त्र-साधना का आधार है।

बाह्यगुरु के स्वरूप का दार्शनिक आधार—आदिग्रन्थ के मूलमन्त्र में नाम और उसकी सत्यता पर अधिक बल दिया गया है।^१ कुण्डलिनी योग में भी मन्त्र की शक्ति स्वीकार्य है। कुण्डलिनी-साधना के बारे में गुरुओं की विचारधारा का उल्लेख अलग प्रकरण में किया जाएगा। प्रस्तुत प्रसंग में केवल इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि गुरुओं ने 'नामसिमरन-योग' को कुण्डलिनी योग की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है। 'मनि' का उल्लेख सत्कार्यवाद की स्वीकृति भी नहीं माना जा सकता। इस बारे में यह स्मरण रखना जरूरी है कि आदिग्रन्थ में मूलमन्त्र के द्वारा परमात्मा के स्वरूप-लक्षण का ही उल्लेख किया गया है। नामदीयसूक्त (ऋग्वेद) के सूक्तकार को भी परमतत्त्व के स्वरूप-लक्षण के बारे में उसे अनिवर्चनीय ही कहना पड़ा था। इसमें यह मिथ्य होना है कि परमतत्त्व को सत् एवं असत् आदि परम्पर सापेक्ष लक्षणों या सीमाओं में बांधना सम्भव नहीं है। 'सति' सत्यस्वरूप चेतन हस्ती का प्रतीक है। अशुभाली जिस प्रकार धूप और छाया की द्वन्द्व-स्थितियों से अतीत एवं परिपूर्ण प्रकाश सत्ता है, उसी प्रकार नानक के द्वारा वर्णित 'अकाल पुरुष' भी प्रकाश-विमर्गमय चैतन्य हस्ती है।^२ जिसमें द्वन्द्व-स्थितियों का अभाव है।

आदिग्रन्थ में प्रायः सभी गुरुओं ने जगत को सत्य (सचु) ही माना है। उनके विचारानुसार परमात्मा ही जगत की सत्यता का आधार है, क्योंकि केवल वही सत्य तत्त्व है। नामरूपात्मक जगत के न रहने पर भी बाह्यगुरु का अविनाशी अस्तित्व बना ही रहता है। गुरुओं ने बाह्यगुरु के स्वरूप की चर्चा करने हुए उसे सत्-चित्-आनन्द स्वरूप बतलाया है।^३

आदिग्रन्थ में वर्णित 'मूल मन्त्र' के 'नाम' शब्द के बारे में भी विचार कर लेना चाहिए। शब्द-शास्त्र के अनुसार नाम के भी दो रूप या पक्ष हैं—एक कृत्रिम

^१ मूलमन्त्र, १ ओंकार मतिनामु 'आ० ग्र० पृ० १ ॥

^२ आ० ग्र० आमा, म० १, मर्च सभि ताणि सचै सभि जोरि ' ॥

^३ आ० ग्र० पृ० ८१५, परम जोति पूरन पुरख मभ जीब तुम्हारे ...॥ वही० पृ० ७८०, करण कारण गोपाला ॥ वही० पृ० २१८, सचे सेती रतिआ ' ॥ वही० पृ० ६७, लखंड ब्रह्ममंड का एको ठाणा वही० पृ० २१०, ईहा ऊहा नरब मुखदाता ' ॥ वही० पृ० ३७४, मूलु समालहु अचेत गबारा ' ॥

और दूसरा अकृत्रिम । परन्तु आदिग्रन्थ में नाम को, उसके अकृत्रिम रूप (परमात्मा वाची शब्द के रूप) में प्रयुक्त किया गया है। जैसे—

किरत नाम कबे तेरे जिहवा । सति नाम तेरा परा पूरबला ॥
आ० ग्रं० माह सोहले म० ५,—वही० जपुजी,—आवि सचु जुगादि
सचु । है भी सचु नानक होसी भी सचु ॥ वही सुखमनी, १७-२,-
सति सरूप रिदै जिनि मानिआ । करन करावन तिनि मूलु पछा-
निआ॥ वही०, नाम सति-सति धिआवनहार॥ वही०
बार आसा, म० १,- नानक सचु धिआइनि सचु । वही जपुजी, है
भी होसी जाइ न जासो रचना जिनि रबाई॥

ससार में किसी वस्तु के निर्माण के लिए अपने से भिन्न किसी अतिरिक्त उपादान की आवश्यकता हुआ करती है। परन्तु आदिग्रन्थ में परमात्मा को ही सारे ब्रह्माण्ड का निमित्तोपादनकारण बतलाया गया है। अतः स्पष्ट है कि सिक्ख गुरु सांख्य दर्शन के अनुरूप 'प्रधान' को स्वतन्त्र तत्त्व मानकर उसके प्रकृति-विकृति-परिणाम वाली मान्यता को नहीं स्वीकार करते। न्याय और वैशेषिक दर्शनो की भाँति परमाणुओं की सहायता में ईश्वर द्वारा मृष्टि की रचना करने का सिद्धान्त भी उन्हें मान्य नहीं है। वे परमाणुओं की अनादि एवं स्वतन्त्र सत्ता में भी विश्वास नहीं करते। इसी तरह आदिग्रन्थ में अद्वैतवेदान्तियों के अभ्यास की मान्यता को भी अस्वीकार किया गया है। बाह्यगुरु का कर्तृत्व ऊर्णनाभ की भाँति उसकी इच्छा या स्वभाव ही है। वह इसी स्वभाव के अन्तर्गत सतन भाव से मृष्टि के रूप में अभिव्यक्त होता रहता है और सहार के रूप में बार-बार अपने स्वरूप को ऊर्णनाभ की भाँति ही निर्मीलित भी कर लेता है।

'नामु' का दार्शनिक विवेचन—'नाम' शब्द म्ना अथवा नम् धातु से बना है। म्ना का अर्थ 'याद रखना' या 'याद करना' है एवं नम् का अर्थ 'झुकना' या 'सम्बोधित करना' है। नामन् के विभिन्न प्राकृत रूपों की भाँति ही आदिग्रन्थ में भी नाम के लिए 'नाव' 'नाइ' आदि शब्दों का बहुश प्रयोग किया गया है। जैसे—

नाउ तेरा निरंकार है.....॥ आ० ग्रं० बार आसा, म० १,- वही०
सिरो राग म० १,- साचा साहिबु साचा नाइ । वही० जपुजी,
नाबं अंदरि हउ बसा ' ' ' ॥ वही० सिध गोसट, म० १,-नाम ततु
सब ही सिरि जाप॥

गुरुओं ने नाम को सत्य एवं अविनाशी बतला कर जीव को उसके सतत स्मरण का उपदेश दिया है।^१ गुरुनानक के अनुसार बाह्यगुरु के नाम का 'सिमरन'

^१ आ० ग्रं० गउडी, म० १, छत,—तेरा नाम सचा जीउ सबहु सचा बीचारो' ॥
वही० बार आसा, म० १,- निरभउ निरंकार सचु नामु॥ वही०
बडहग, म० ३,- भम माइआ बिचहु कटीअ सचड़े नामि समाए.....॥ वही०

ही जीव की मुक्ति का मुख्य साधन है। वे लिखते हैं कि वाहगुरु नाम में निवास करता है। उनके विचार में जीव के मलावरणों को दूर कर उसे अपने सत्य-स्रोत में एकाकार करने वाला साधन (नाम) कभी भी परिणामी नहीं हो सकता। गुरुओं ने नाम और निरंकार (वाहगुरु) में कोई अन्तर नहीं माना है।

नाम और नामी में अनेक—आदिग्रन्थ में वाहगुरु और उसके नाम के उल्लेख जिस ढंग से हुए हैं, उनसे यही प्रमाणित होता है कि दोनों में कोई भेद नहीं है। वाहगुरु को अगम, अगोचर, निरंजन, सर्वव्यापक और घट-घट-वासी बतलाया गया है। नाम वाहगुरु की कला है, और कला भी परमात्मा की भाँति अलक्ष तथा मायातीत मानी गई है। वाहगुरु के नाम का सिमरन जीव को उससे एकमेक होने की योग्यता एवं अनुग्रह प्रदान करता है। गुरुनानक केवल सज्ञा के रूप में नाम का प्रयोग करने के साथ ही उसे स्वतन्त्र रूप से 'जप' एवं 'सिमरन' का भी विषय मानते हैं। यह वह 'लिब' है, जिससे जीव उसी में समा कर तद्रूप हो जाता है। नाम आत्म-विद्या है, जिससे भक्त ब्रह्मस्वावस्था का अधिकार प्राप्त करता है। प्रभु का गुणगान, उसके प्रति विनय एवं कृतज्ञता का भाव नामसिमरन के सहायक अंग बतलाए गये हैं। नाम को संप्राण प्रेम भी कहा गया है, क्योंकि नाम-साधना के द्वारा ही जीव संसार की ओर से विमुख होकर, वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। नाम-साधना प्रेम एवं प्रेमोपलब्धि का सर्वोत्तम साधन है। गुरु-परम्परा में भक्ति का महत्त्व इतना अधिक है कि उसे जीव का साध्य स्वीकार कर लिया गया है। तदनुसार नाम और भक्ति दोनों परस्पर मिलकर ही नाम-सिमरन या नाम-भक्ति कहलाते हैं। इसलिए गुरुओं (सिक्ख) की साधना 'नाम-भक्ति-साधना' के अन्तर्गत आती है। जैसे—

नामु निरंजनु अंतरि बसै मुरारे ॥ आ० प्र० मास म०
३, असटपदी,- बही० सिरि रागु, म० १, असटपदी,- नाबे
अंदर हउ बसा नाउ बसै मनि आई ॥ बही० सुखमनी, म०
५,- हरि सिमरन महि आधि निरंकारा ॥ बही० बबहंस, म०
छंत,- नाम निरंजनु अगमु अगोचर सतिगुरि दीआ बुसाए ॥
बही० सारंग बार, म० ४,- नामु निरंजनु अलखु है किउ लखिआ
आई ॥ नामु निरंजनु नालि है किउ पाइअं आई ॥ नामु निरंजनु
बरतवा रहिआ सम ठाई ॥ बही० मास, म० ३ असट इकु काइआ
अंबरि बहुनु पसारा ॥ नामु निरंजन अति अगम अपारा . . . ॥ बही०
सुखमनी, म० ५,- नाम के धारे सगले जंत ॥

मारु बार, म० ५,- निहवल् सखु खुदाइ एकु खुदाइ सदा अविनाशी थिह पार-
ब्रह्मु परमेसरो सेवकु थिह होसी ॥

बाह्यगुरु का कर्तृत्व : निमित्तोपादान कारण—संस्कृत भाषा का कर्तृ अर्थात् कर्ता पद ही शब्द-विकास की यात्रा में 'करता' बन गया है। आदिग्रन्थ में कर्ता के लिए करता 'रचनहार' 'करनार' एवं 'करनहार' आदि शब्द पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।^१ हमारा जागतिक अनुभव यही है कि प्रायः हर एक वस्तु के निर्माण के लिए निर्माण-कर्ता को अपने में अतिरिक्त किसी दूसरी उपादान सामग्री की आवश्यकता हुआ करती है। न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर केवल 'निमित्त-कारण सत्ता' है। इसलिए न्याय दर्शनकार उपादान सामग्री के रूप में अनादि तत्त्वों के अस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी रूपी उपादान सामग्री के अभाव में घड़े का निर्माण नहीं कर सकता, उसी प्रकार ईश्वर को भी सृष्टि की रचना के लिए परमाणुओं आदि उपादान सामग्री की आवश्यकता मानी गई है। प्रायः सभी द्वैतवादी दर्शन इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। लेकिन उपनिषदों के अनुसार ईश्वर के रूप में ब्रह्म ऊर्णनाभ की भाँति सृष्टि की सर्जना करने वाला बतलाया गया है। बाह्यगुरु के कर्तृत्व की चर्चा करते हुए 'जपुजी' के भाष्य में भाई वीरसिंह यह कहते हैं कि गुरुओं को नैयायिकों का कर्तृत्व-सिद्धान्त स्वीकार नहीं है। इसके साथ ही उन्होंने उपनिषदों के ऊर्णनाभ सिद्धान्त को भी आदिग्रन्थ की विचारधारा में अस्वीकार्य स्वीकार किया है। वे लिखते हैं कि ऊर्णनाभ की भाँति अकाल पुरुष (ब्रह्म) शरीर के भीतर से पदार्थों का निर्माण नहीं करता। वह अपनी शक्ति या मात्र आज्ञा से ही सृष्टि की रचना करने में समर्थ है। जैसे—

सभु किछु तिस का ओहू करने जोगु ॥ आ० प्र० पृ० २८२ ।

वहो पृ० ४६६ । छिनि महि घापि उद्यापन हारा ॥ वही०

पृ० १०६ । अपने कीते नो आपि प्रतिपाले ॥ वही०

पृ० ७४८ । जीअ जत सम तेरे कीते ॥ वही० पृ० ७६०

तू करता तू करणहारू तू है एकु अनेक जीउ ॥ वही० पृ०

१२६ । तू आपे साबा सिरजण हारा ॥ वही० पृ० ६०६ ।

आप सूसटि उपाइदा ॥ वही० पृ० ८३५ । अइज जेरज ॥

वही० पृ० १११५ । तू जग जोवनु जगदीसु सभ करता ॥

वही० पृ० ४१२ । जिनि धरि साजि गगनु अकामु ॥

अपनी मान्यता के पक्ष में उन्होंने 'कीता पसाउ एको कवाउ' (जपुज) और 'हुकुमी होवन आकार' (जपुजी) इत्यादि आदिग्रन्थ में उद्धरण भी दिए हैं। परन्तु

^१ आ० प्र० आसा. म० १, जा तू करनहार ॥ वही० राम कली, म० १, करते की मिति करता जान ॥ वही० गउडी, म० ५, वही० मासवार, म० १-१६, करता आपु अमुनु है ॥ वही० आमा, म० १-१६, करता तू सभना का मोई ॥

उनकी यह व्याख्या और निष्कर्ष युक्ति संगत एवं आदिग्रन्थ की विचारधारा के अनुरूप नहीं प्रतीत होता। भाई वीरसिंह की उपयुक्त मान्यता में दार्शनिक पद्धति का भी उल्लेखन प्राप्त होता है। कुरान की भाँति यह मान लेना कि खुदा ने 'कुन' कहा और मारी कायनात नाम और रूप के आकार में मामने आ गई 'तर्क' संगत दार्शनिक उपस्थापना नहीं कही जा सकती। जो बात प्रमाण-यिद्ध नहीं है, उसे दार्शनिक निष्कर्ष के रूप में स्वीकार कर लेना सम्भव नहीं।

निरभउ. बाह्यगुरु की निर्भयता—‘निरभउ’ शब्द संस्कृत ‘निर्भय’ का ही तदभव रूप है। आदिग्रन्थ में भय के लिए ‘भउ’ ‘भै’ आदि शब्दों का ही प्रयोग हुआ है।^१ जैसे—

निरभउ निरंकार नहीं चीनिया जिउ हसती नवाए ॥ आ०
ग्र० पृ० २१२। मूलमन्त्र। ‘भउ’ आसावार। ‘निरभउ’ वही०
‘निरभै’ म० १, राग गउडो।

समर को अपनी इच्छा के अनुरूप चलाने के कारण अकाल पुरुष को नियामक बकिन बननाया गया है। इसी दृष्टि से वह निर्भय मत्ता है। गुरु अर्जुन देव ने माया के कारण जीव की दयनीय अवस्था का वर्णन करते हुए, उसे मनमुख माना है। उनके विचार में मनमुख जीव परमात्मा की भक्ति और स्तुति की ओर उन्मुख नहीं होना है। मनमुख जीव को उपदेश देते हुए वह लिखते हैं कि सारे ब्रह्माण्ड की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले, निर्भय निरंकार बाह्यगुरु की ओर अपनी इन्द्रियों को उन्मुख करना चाहिए।^२

गुरुनानक नामसिमरन के अभाव को ही वास्तविक छूत (सूतक) मानते हैं। उनका विश्वास है कि जीव बुद्धि के धर्मों को अपने ऊपर आरोपित करने अथवा असत्कर्मों के आचरण के कारण अपना भविष्य बिगाड़ रहा है। वह यह भूल बैठा है कि निर्भय परमात्मा ज्योति-स्वरूप सत्ता है और उस बाह्यगुरु की ज्योति ही उसे (जीव को) भी प्राणवान बनाए हुए है। गुरुओं के अनुसार जीव का आवागमन का चक्कर तब तक समाप्त नहीं होता, जब तक वह भक्ति की शरण प्राप्त नहीं कर

^१ ‘भै’—भै बिनु घाडत कछु निकच ॥ वार आसा म० १-४, नानक निरभउ निरंकार होरि केते राम खाल..... ॥ आसावार, म० १-४। नानक निरभउ निरंकार सचु एकु .. ॥ वही० सगलिया भउ लिखिया सिरि लेखु ॥ रामकली म० १, ओअंकार ब्रह्मा उतपति .. ॥ बिलावलु, म० १-३। एकै कउ नाही भउ कोइ। करता करे करावै मोइ . . ॥

^२ आ० ग्र० रामकली म० ५ पृ० ८६२। माइआ कारणि सद ही झरै। मनिमुखि कबहि न उसतुति करै। निरभउ निरंकार दाताह। तिमु सिउ प्रीति न करै गवाह ॥

लेता।^१ लेकिन भक्ति की प्राप्ति भी परमात्मा की कृपा-दृष्टि होने पर ही हो सकती है। बाह्यगुरु के सम्बन्ध में गुरु एव सत् पुरुषों से जानकारी प्राप्त करने के अनन्तर सतत स्मरण के द्वारा ही उसे अपने हृदय में बसाया जा सकता है। बाह्यगुरु निराकार, निर्वैर एवं निर्भय सत्ता है। उसी की ज्योति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशित हो रहा है।^२ आदिग्रन्थ में बार-बार परमसत्ता को निर्भय के रूप में वर्णित किया गया है। निर्गुण सन्तों की भाँति ही सिक्ख गुरुओं का भी अवतारवाद में विश्वास नहीं है। रामलीला की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए एक प्रसंग में मुहानक ने उन्हीं जीवों के भस्त्वक में भक्ति की भाग्य-रेखा का उल्लेख किया है, जिन्हें सदैव बाह्यगुरु की कृपा दृष्टि प्राप्त रहती है। राम के अवतार का खण्डन करते हुए एक प्रसंग में बाह्यगुरु को ही जगत का रचयिता, निर्भय, निरकार एव 'सच्चुनामु' कहा गया है।

निरभउ तिरंकाह सचु नामु। जा का कीआ सगल जहानु।

सेवक सेवहि करमि चड़ाउ। भिनी रेण जिन्हा भनि चाउ ॥

आ० ग्रं० पृ० ४६५।

बाह्यगुरु निर्भय कैसे—अकालपुरुष निर्भय है। वह शक्तिमान सत्ता है। इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ हो रहा है, उसका संचालक और नियामक वही है। मारी मृष्टि उसी की आरती उतार रही है—

गगन में बालु रवि चंद्र दीपक बने तारिका मंडल जनक मोती।

धूप मलआनलो पवण खबरो करे सगल बनराइ फूलत जोति ॥ १ ॥

कंसी आरती होइ भवखंडना तेरी आरती। अनहता सबद बाजंत

मेरी ॥ १ ॥ रहाउ ॥ आ० ग्रं० पृ० ६६३। ओअंकारि ब्रह्मा

उतपति ॥ आसा म० ४, तुधु जेवहु अवहन को कोई...

बिला० म० ३, तिस ते ऊपरि नाही कोई ॥ बिलावल म० १

एकै कउ नाही भउ कोई ॥ आ० ग्रं० रामकली, म० १।

प्रस्तुत सन्दर्भ में आरती से आशय परमात्मा की आज्ञा के अनुसार कार्य करने रहने में है। परमात्मा ने जिसे, जिस कार्य के लिए नियोजित कर दिया है, वह एक क्षण के लिए भी अपनी इच्छा से उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। बाह्यगुरु का भय सर्वोपरि शक्ति है। अकाल पुरुष की सत्ता ही मात्र अकेली स्वाधीन सत्ता है। शेष सारी की सारी मृष्टि उसके आधीन होने के कारण परवश है। उसे

^१ आ० ग्रं० राग आसा, म० १, असटपदीआ ४, निरभउ आपि निरतर जोति। बिनु नावै सूतक जागि छोति। दूरमाति बिनसे किआ कहि रोति। जनमि मूए बिनु भगति सरोति ॥

^२ वही० पृ० ५१६। नदरि करे ता अखि बेला कहणा कथनु न जाई। कंनी सुणि सबदि सालाही अमृतु रिदे बसाई। निरभउ निरंकार पुरन जोति समाई। नानक गुण बिणु भरमु न भागै सचि नामि वडिआई ॥४॥३॥

अकाल पुरुष के सकेतों की उपेक्षा किये बिना दिनरात अपने कार्य में निरत रहना पड़ता है। भय उसी के लिए है, जिसे दूसरे की आज्ञा का उल्लंघन करने पर दण्डित किया जा सके। परमात्मा को निर्भय मानने का प्रधान कारण यह है कि वही एक मात्र दण्ड-विधायक शक्ति है। बाह्यगुरु के निर्भय स्वरूप को समझने के लिए इस्लाम के भय-सिद्धान्त पर विचार कर लेना भी उपयोगी होगा।

इस्लाम में स्वीकृत भय-सिद्धान्त और आदिग्रन्थ—गुरुनानक ने कई बार ब्रह्मा के स्वतन्त्र कर्तृत्व का खण्डन किया है। उनके विचार में सम्पूर्ण देवता परमात्मा की इच्छा के अधीन हैं। इसीलिए 'अकाल मूरति' बाह्यगुरु के सिवा सभी देवी-देवता भय के अधीन एवं परवश है। मात्र बाह्यगुरु ही अद्वितीय शक्ति है क्योंकि वह अद्वैत चैतन्य होने के कारण प्रकाश और विमर्ष का अचाह भण्डार है। गुरुओं के विचार में नाम-सिंमरन की साधना के द्वारा उपासक उपास्य के साथ तदाकार हो जाते हैं। जीव की निर्भयता परमात्मा का ही अनुग्रह है। जिसमें किसी प्रकार की कमी हो वह अपने आपको कभी निर्भय नहीं मान सकता। निर्भय पद का अधिकारी वही हो सकता है, जो सर्वशक्तिमान हो। जो व्यक्ति सांसारिक दुर्बलताओं पर काबू पा लेता है, वह भी निर्भय पद का अधिकारी बन जाता है। गुरुओं के अनुसार जीव की निर्भयता 'निरभं' बाह्यगुरु की अनुकम्पा पर ही आधारित है। इस्लाम में स्वीकृत खुदा के भय-सिद्धान्त से गुरुओं का भय-सिद्धान्त पूर्णतया भिन्न है। कुरान में परमात्मा के शक्तिशाली एवं भय से कंपा देने वाले रूप को ही अधिक महत्त्व प्राप्त है। परन्तु गुरु-परम्परा में परमात्मा की दयालुता, अनुकम्पा और कोमलता पर बार-बार बल दिया गया है। अन्तर्यामी एवं शक्तिशाली सत्ता सर्वोपरि होने के कारण ही निर्भय है। वही उपासक को निर्भय पद प्राप्त करने की प्रेरणा भी देती है। गुरुओं के विचार में जो व्यक्ति निर्भय परमात्मा का सच्चे भाव से भजन करता है, वह स्वयं भी निर्भय हो जाता है—^१

निरमुल भउ पाइआ हरि गुण गाइआ हरि वेखैं राम हडूरे..... ॥
आ० ग्र० राग सूही म० ४, छंद। गउड़ी सुखमनी, भैं ते निरभउ
होइ समाना ॥ सलोक म० ६, भैं काहू कउ देत नहि, नहि भैं
मानत आनि। कहु नानक मुनि रे मना बिआनी ताहि बखानि ॥
गउड़ी सुखमनी, निरभउ जपै सगल भउ मिटै..... ॥

^१ आ० ग्र० आसा, म० ४, जिनि निरभउ हरि निरभउ पाइआ जी तिना का भउ
सभु गवासी..... ॥ बार माझ, म०, नानक भैं विणु जो मरै मुहि काले उठि
जाइ..... ॥ वही० ३-२५, भैं विणु जीवै बहुतु-बहुतु खुसीआ खुसी कमाइ।
नानक भैं विणु जो मरै मुहि काले उठि जाइ..... ॥ वही० ३-२५, भैं विच
जर्म भैं मरै भउ मन महि होइ। नानक भैं विचि जे मरै..... ॥ गउड़ी म०
१-७, भैं रचि रहै सु निरभउ होइ..... ॥

आदिग्रन्थ में परमात्मा को निर्भय बतलाकर जीव को बार-बार उसके भय में रहने का उपदेश दिया गया है। भय के भाव को हृदयस्थ कर लेने पर ही जीव असत्कर्मों में निवृत्ति प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार आदिग्रन्थ का भय-सिद्धान्त कुरान की भय-की अवधारणा से पर्याप्त भिन्न है।

बाह्यगुरु का भय किसलिए—परमात्मा के भय में रहित व्यक्ति को अनैतिक एवं अन्यायपूर्ण आचरण करने में कोई सकोच नहीं हो सकता। राज्य का भय केवल शरीर को ही अपने अनुशासन में रख सकता है, अन्तःकरण को नहीं। अन्तःकरण की शुद्धता ही वास्तविक चारित्रिक शुद्धता है। अन्तर्यामी और घट-घट में परिव्याप्त होने के कारण परमात्मा, जीव के प्रत्येक आचरण और व्यवहार पर न्याय-दृष्टि रखे हुए है। इस कारण परमात्मा के सर्वान्तर्यामी भाव के प्रति आस्थावान व्यक्ति उसके भय के कारण अशुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त नहीं होता। परमात्मा को सर्व-व्यापक मत्ता मानने वाले जीव में भय की स्थिति स्वाभाविक है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, जिसने मन, वचन और कर्म में किसी का अनिष्ट नहीं किया है, वह किसी से नहीं डरता। वस्तुतः यह भी निर्भयता की ही स्थिति है। आदिग्रन्थ में परमात्मा को निर्भय मानकर जीव को अपने निर्भय स्वरूप को पहचानने का उपदेश दिया गया है। परमात्मा का भय मन के वशीकरण में अन्यन्त महायुक्त है। परमात्मा का भय मानते रहने वाले जीव का 'हउमं भाव', गुरु के उपदेश में जलकर राख हो जाता है।^१ गुरुनानक ने स्पष्ट कहा है कि—

नानक जिन मनि भउ तिन्हा मान पाउ—(वा० आमा, म० १-५) अतः निर्भय स्वरूप-सिद्धान्त आदिग्रन्थ द्वारा प्रतिपादित नैतिक एवं सामाजिक दोनों ही दृष्टियों में महत्त्वपूर्ण है।

निरवैर बाह्यगुरु की निर्वैर स्वरूपता—सभ्यता के सभी देशों के सांस्कृतिक इतिहासों में एक बात समान रूप में पायी जाती है कि सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में देवतावाद की मान्यता प्राप्त है। सभी धर्मों में प्रायः कुछ एक देवता ऐसे हैं जिन्हें पीड़ा पहुँचाने वाले देवता माना गया है। यद्यपि आम तौर पर उन्हें अपने भक्तों के लिए रक्षक ही माना जाता है। धार्मिक विश्वासों के प्रारूपों के सम्बन्ध में समाजवादी व्याख्याकार फ्रांस् के विद्वान दुख्सेम तथा धार्मिक विश्वासों में गण-चिन्ह आदि सिद्धान्तों की खोज करने वाले फ्रेजर महोदय ने नवीन दृष्टिकोण से देवतावाद के बारे में विचार किया है।

भारतीय संस्कृति के अध्ययन एवं इतिहास के वैदिक आर्य साहित्य के कर्मकाण्ड की मूलभूत प्रेरणाओं के विश्लेषण से, यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में यजमान

^१ आ० प्र० सूही वार म० ३, जिउ बंसतरि धानु सुधु होइ तिउ हरि का भउ दुरमति मैचु गवाइ ... ॥ सोरठ वार, म० ३-६, मै पाइअै मनु वसि होआ हउमं सबदि जलाइ..... ॥

तेहिक अम्युदय की प्राप्ति के लिए देवताओं को यज्ञादि कर्मकाण्ड के द्वारा प्रमत्त करने का प्रयत्न किया करता था। इस सम्बन्ध मे हमे ऐसे कई उदाहरण मिल जाते है, जिनमे देवता क्रोध मे आकर घोर अनिष्ट करने के लिए तत्पर बतलाये गये है। पौराणिक साहित्य मे भी देवताओं के पारस्परिक बँर-विरोध की अनेक गाथाएँ हमे उपलब्ध होती है। उपासकों के द्वारा प्राप्त उपहार का भाग मिलने पर यजमानों की इच्छा की पूर्ति करना एवं उनके उपेक्षा के भाव अथवा त्यागवाही के फलस्वरूप अपनी प्रचण्ड कोपाग्नि द्वारा हानि पहुँचाना आदि देव-परिवार की ऐसी दुर्बलताएँ है, जिन्हे मानव की कोटि की दुर्बलताएँ तो मान सकते है, देवताओं अथवा परमसत्ता की नहीं। आदिग्रन्थ के मूलमन्त्र मे परमात्मा के निर्वर-स्वरूप की चर्चा कर सभवत इन्ही देवमुलभ दुर्बलताओं से उसे अतीत माना है। उनके विचारानुसार बाहुगुरु हर प्रकार से निर्वर, न्यायप्रिय और निवन्ता शक्ति है। यही कारण है कि देवताओं का बँरभाव उन्हे, परमसत्ता की तुलना मे, गौण बना देता है। इस धारणा के माध्यम मे आदि-ग्रन्थ मे देवतावाद के महत्त्व एवं अवतारी पुरुषों को परमात्मा स्वीकार करने का स्वप्न भी कर दिया गया है।

निर्वर भाव का मनोवैज्ञानिक पक्ष—मनोविज्ञान का सिद्धान्त यह है कि बँर, ईर्ष्या एवं हानि पहुँचाने वाले अनर्तिक आचरण एवं असामाजिक व्यवहार की ओर प्रेरित करने वाली ग्रन्थियाँ जीवन मे किसी अभाव विशेष की परिणाम हुआ करती है। दूसरों की दृष्टि मे अनन्य श्रद्धा का पात्र बनना या बनने की कामना का होना भी मानव की स्वाभाविक (सामाजिक) प्रवृत्ति मानी जाती है। परन्तु जिस समय उसकी यह माँग (भूख) पूरी नहीं होती, वह उन व्यक्तियों के प्रति ईर्ष्यालु बन जाता है, जिन्हे उसका अभीप्सित (Wanted) स्थान मिल गया है तथा जिस किसी व्यक्ति ने उसकी उपेक्षा कर, किसी दूसरे को अपनी आस्था और श्रद्धा का पात्र बना लिया है। सभवतः यही दुर्बलता उन देवी-देवताओं मे भी है, जिनके सम्बन्ध मे ऊपर उल्लेख किया गया है। अध्यात्म-दर्शन की दृष्टि से यह जीव का अज्ञान है तथा देवताओं का इस रूप मे प्रस्तुतीकरण, देवता और जीव मे समान योग्यताओं की ओर सकेत करना है। उपर्युक्त सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ मनस्, अन्तःकरण एवं बुद्धि आदि इन्द्रियों की आसक्तियों की परिणाम मानी जाती है। परितः शुद्ध न्याय-भावना तथा 'वमुर्ध्व कुटुम्बकम्' के भाव का उदय तो उन समय होता है, जब हम इन्द्रियों के धर्मों की आसक्तियों की सीमाओं से ऊपर उठ जाते है। निगुण सत्ता की भाँति ही निष्कल गुणों ने भी बाहुगुरु को सच्चिदानन्द एवं 'प्रकाश-विमर्श-भरित चैतन्य सत्ता' माना है। वह केवल सर्वशक्तिमान सत्ता ही नहीं, बल्कि परात्पर तत्त्व भी है। इसलिए उसकी तुलना मे किसी दूसरी समान शक्ति को स्वीकार किया ही नहीं जा सकता।

तिस का सरीकु को नही । न को कंटकु बँराई॥ आ० प्र०
वार बहंस, म० ३ । वही० सूही म० ५ । तिसहि सरीकु नाही
रे कोई । किसकी कूत जबाबु न होई..... ॥

आदिग्रन्थ में बाह्यगुरु को हर दृष्टि से सर्वोपरि सत्ता स्वीकार किया गया है। उसकी निर्वैर के रूप में स्वीकृति का एक यह कारण भी माना जा सकता है।

बाह्यगुरु की निर्वैरता की विशेषताएँ—परमात्मा का किसी से भी वैर नहीं, क्योंकि उसकी कोई कामना ही नहीं है। वह परिपूर्ण एवं अकाम सत्ता है, जिसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी से कुछ भी लेना नहीं है। उसमें छीन लेने की शक्ति किसी दूसरी सत्ता में सम्भव नहीं। वह सर्वान्तर्यामी है, और प्राणियों के कर्मों का न्यायपूर्ण निर्णय-कर्ता होने के कारण कर्मानुसार फल देने की पूर्ण सामर्थ्य भी रखता है। उसकी अनुकम्पा इसी में है कि जिसने जैसा कर्म किया है, वह उसी के अनुरूप ही फल प्राप्त करता है। बाह्यगुरु प्रेम स्वरूप है और जीवों की रक्षा एवं पालन करना उसका स्वभाव या विधान है। जीव का सुख और दुःख उसके अपने कर्मों पर निर्भर करता है। वह जिस प्रकार का बीज बोता है, अन्ततः उसी प्रकार के फल का अधिकारी बनता है—

जैसा से बे तँसो होई— ... ॥ आ० पं० गजड़ी म० १, वही० प्रभाती म० १, आपे प्रीति प्रेम परमेसर करमी मिले बडाई । अहिनिनि जीआ देखि सम्हाले सुख दुख पुरबि कमाई ॥ वही० मारु सोहले म० १, बारी खसमु कडाए किरतु कमावणा..... । वही० पटो आसा म० १, नाराइन निवसि काइ भूली गवारी । बुक्ति सुक्ति बारी करमु री ॥ तू सुनि किरत करमा पुरबि कमाइया । सिरि सिरि सुख तहमा तेहि सु तू भला ॥ बंद बोस न देउ किस दोसु करमा आपणिआ ॥ जो में कीआ सो में पाइआ दोसु न दीजे अबर जना'..... ॥

इस उपर्युक्त दृष्टिकोण की व्याख्या के लिए ही आदिग्रन्थ में बाह्यगुरु को निर्वैर बतलाया गया है। परमात्मा का वैर किसी से नहीं क्योंकि न्याय करने वाला वैर-भाव की प्रवृत्ति से प्रेरित हुआ ही नहीं करता। परमात्मा का निर्वैर स्वरूप जीव के हित-सम्पादन में अन्यन्त सहायक अनुकूलता है। नाम की साधना के सिद्धान्तानुसार साधक बाह्यगुरु के जिस स्वरूप की साधना करता है, धीरे-धीरे वह स्वयं भी तद्रूप ही हो जाता है -

सतगुरु अंबरहु निरवैर है सभ देखे ब्रह्म इहु सोइ ... ॥ वही० गजड़ी बार म० ४, वही मास म० ५-४९, तू निरवैर संत तेरे निरमल..... ॥ आ० पं० मास बार म० २-२२, सर संघे आगास कउ किउ पहुचें बाणु ॥ वही० सारंग म० ५, निरवैर संगि बंद रचाए पहुचि न सकं गवारं ॥ वही० गजड़ी, बावन अखरी, म० ५, बवा बंद करोअं काहु । घट घट अंतरि ब्रह्म समाहू..... ॥ वही० सिध घोसट म० १-१७, गुरु मुखि बैर बिरोध गवाबं.... ॥

परमात्मा के निर्बैर स्वरूप की आराधना करने वाले का मन बैर-मल से रहित (पवित्र) हो जाना स्वाभाविक है। 'निरवैर' (परमात्मा) का साधक किसी से बैर कर ही नहीं सकता। आदिग्रन्थ में वैर-भाव को विष बतलाया गया है। तदनुसार वैर नाम-बेल को अंकुरित होने एवं फूलने-फलने का अवसर ही नहीं देता। जो व्यक्ति परमात्मा के निर्बैर स्वरूप का चिन्तन करता है भक्ति की स्रोतस्विनी स्वतः उसके अन्तःकरण मे प्रवाहित होने लगती है। गुणहीन होने पर भी परमात्मा के साथ 'लिव' लगाने वाले के मन की दुविधाएँ तत्काल मिट जाती है। वह विषुद्ध भाव से अपनी दुर्बलताओं को परमात्मा के आगे बयान करता और कर सकता है। परमात्मा का हृदय माँ का हृदय है, और उसका अनुकम्पा का भाव जीव के प्रति तद्वत् बना रहता है—

कोटि अपराध भरे भी तेरे चेरे राम ॥ आ० प्र० बिहागड़ा,
म० ५, वही० गउड़ी म० ५, कोटि पतित उधारे खिन सहि करते
बार न लागे रे। दीन दरद दुख भंजन सुआमी जिसु भाबें तिसहि
निवाजें रे। सब को मात पिता प्रति पालक जीअ प्राप्त सुख
सागर रे ॥

अज्ञानी : वाहगुरु का अयोनिज स्वरूप—आदिग्रन्थ मे परमात्मा के लिए 'अजोनि', 'अजनी', 'अजोनी' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। तदनुसार वाहगुरु न परिणामी सत्ता है और न ही उसका कही जन्म हुआ है। जो योनिज है उसका वजूद (Existance) या जन्म अपने से भिन्न किसी अतिरिक्त निमित्तोपादान कारण की अपेक्षा रखता है। परमात्मा सत्यस्वरूप अविनाशी सत्ता है। ऐसी सत्ता कभी 'योनिज' नहीं हो सकती। आदिग्रन्थ मे परमात्मा (वाहगुरु) को अयोनिज इस लिए भी कहा गया है कि तदनुसार अवतारी महापुरुष (राम और कृष्ण आदि) परमात्मा नहीं हैं। गुरुमत के अनुसार वाहगुरु देवताओं और अवतारी पुरुषों की भाँति शरीरी हस्ती नहीं है—

जनम मरण ते रहत नाराइण ॥ (आ० प्र० भैरउ, म० ५)
जनमि मरणि नहीं धंधा ॥ (वही० वारमाझ, म० १)

वह ब्रह्माण्ड का व्यापक चैतन्य है और उसी के कारण नामरूपात्मक (समस्त) जगत का अस्तित्व है—

आसा म० १-२२—जनम मरण दुख भेटिआ जपि नामु मुरारे।
नानक नाम न बीसरे पूरा गुर तारे...॥ वही० बिहा० वा० म०
३-१६—बमि बमि सदा सम्हालवा बमु न बिरथा जाइ। जनम-
जनम का भउ गइआ जीवन पदवी पाइ...॥ वही० सू० म० १-५—
जनमत ही दुख लागे मरणा आइकें। जनमु मरण परवानु हरि गुण
गाइकें ॥

आदिग्रन्थ में 'अजूनी-सिद्धान्त' की सिद्धि के लिए बाहुगुरु को करण-कारण भी माना गया है।^१ परमतत्त्व को 'करन-कारन' या करण-कारण कहने से गुरुओं का आशय उसे निमित्तोपादान कारण मत्ता सिद्ध करना प्रतीत होता है। बाहुगुरु जिस प्रकार जगत का निमित्तोपादान कारण है, उसी प्रकार वह स्वयं सिद्ध सत्ता है। वह प्रकाश-विमर्श-सम्पन्न चैतन्य है, जिसे अपने अस्तित्व का पूर्ण स्वतन्त्र्य प्राप्त है।

संभ : बाहुगुरु का स्वयम्भू स्वरूप—'संभ' और 'स्वयंभू'—संभ स्वयंभू का तद्भव रूप है। 'स्वयं' का अर्थ 'अपने आप' और 'भू' का अर्थ 'होने वाला' किया जाये तो 'संभ' (स्वयंभू) का अर्थ 'स्वप्रकाशित होने वाली सत्ता' होगा। अतः गुरुओं के मत में परमात्मा केवल अयोनि ही नहीं, अपितु स्वप्रकाशित सत्ता भी है। गुरुओं ने बाहुगुरु को चैतन्य माना है। जो सारे ब्रह्माण्ड में अपनी ज्योति को फैलाए हुए है।

गुरुपरसाधि—रिलिजन' के अर्थ में प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय एवं धर्म में किसी न किसी उपास्य एवं धार्मिक ग्रन्थ की मान्यता आवश्यक है। ये ग्रन्थ ही उस धर्म के मानने वालों के लिए प्रमाण ग्रन्थ भी हुआ करते हैं। धर्म विधेय के अनुयायी अपने धार्मिक ग्रन्थों का ईश्वर प्रदत्त ज्ञान मानते हैं। मनस्, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान अन्तर्ज्ञान से भिन्न है। सिद्ध पुरुष विभूतियों हुआ करते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों के आत्म साक्षात्कार के अनुभव अन्तर्ज्ञान या शब्द माने जाते हैं और इन्हीं 'अति चैतन्य सम्पन्न' सिद्ध पुरुषों की 'वानी' ईश्वरीय ज्ञान कहलाती है। उपनिषद्बिद्या को भी इसी कारण 'पराविद्या' कहा गया है। अध्यात्म वेत्ता ऋषि मन्त्रों के रचयिता न होकर केवल द्रष्टा ही माने गये हैं। उनके ये अनुभव तुरीयातीतावस्था के अनुभव हैं, जिन्हें बाद में वे अपनी बंखरी वाणी के द्वारा व्यक्त करते हैं। इसी कारण द्रष्टा महापुरुषों की वाणी को ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान मान लिया गया है।

अध्यात्मवेत्ताओं के अनुसार साधक चित्त की वृत्तियों के निरोध के द्वारा अति चैतन्य-लोक में विचरण करने का अधिकार प्राप्त कर सकता है। योग-विद्या का महत्त्व इसी कारण स्वीकार किया गया है। इस अवस्था का अनुभव ही ईश्वरीय ज्ञान कहलाता है, जो सामान्य व्यक्ति की ज्ञान-सीमा में अतीत होता है। इसीलिए अति-चैतन्य की अवस्था के ज्ञान को परा-विद्या कहा गया है। परा-विद्या प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि साधनों के द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान से भिन्न है। इसीलिए सभी धर्म-मनो

^१ आ० प्र० घनासरी म० १—संभ महि जोति जोति है मोड़ ॥ वही० मारु मोहने म० १—जोति मरूप मुख दाता सचे सोभा पाइदा ॥ वही० बिला० म० १—छन्द १—जोति सर्वाङ्गीण् त्रिभुवन सारे राम ॥ दमवी पातमाही,, गिआन प्रबोध—जिमी असमान के बिखे समसत एक जोति है।

अति चतन्य की अवस्था की उपलब्धि से पहले की दशा मे गुरुओ एव ऋषियों की वाणी को साक्ष्य से रूप मे स्वीकार करने का विधान है ।^१

जैमिनी ने पूर्व मीमांसा शास्त्र की चर्चा करते हुए उपनिषदों के ज्ञान को अर्थवाद मानकर उसकी व्याख्या करने की आवश्यकता ही नहीं समझी । शकराचार्य ने उत्तर मीमांसा में जैमिनी की इस मान्यता का खण्डन करते हुए मात्र विधि-वाक्यों को प्रमाण मानने से पूर्ण असहमति प्रकट की है । इसके विपरीत वह केवल उपनिषद् विद्या को ही प्रमाण की कोटि का ज्ञान मानते हैं ।^२ अध्यात्मविद्या के अनुसार मात्र मन्त्रोच्चारण ही अदृष्ट के फल का प्रदाता नहीं हो सकता । केवल पूर्व मीमांसा में ही यह स्वीकार किया गया है कि मात्र मन्त्र का उच्चारण भी अभीष्ट फल प्रदान कर सकता है । परन्तु पूर्वमीमांसा क इस निदान्त को बादरायण और शकराचार्य स्वीकार नहीं करते हैं । उनके अनुसार श्रुतियों का परम ध्येय केवल कर्मकाण्ड का विधि-विधान करना ही नहीं अपितु अज्ञान के आवरण को हटाकर शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त करवाने में भी सहायता पहुँचाना है । सभी निर्गुण सत्त्व और निष्कल गुरु तोतारदन्त की भाँति मन्त्रोच्चारण करते रहने का गण्डन करते हैं ।^३ वैदिक ज्ञान को, जिसे वे कर्मकाण्ड मानते हैं, त्रिगुणान्ध कोटि का ज्ञान स्वीकार नहीं करते । उन्होंने गुरु के उपदेश अथवा गुरु-शब्द को ही आध्यात्मिक ज्ञान माना है और वैदिक ज्ञान को अपरा-विद्या बतलाया है ।^४

^१ शा० गी० भा० १३-१२—इदं ज्ञेयं अतीन्द्रियत्वेन शब्दैकं प्रमाणं गम्य, नान्यथा अदृष्टत्वात् ॥ वही० २-१८—शास्त्रं तु अन्त्यं प्रमाणम् । अतद्वर्माध्यारोपणं मात्रं निवर्तकत्वेन प्रामाण्यमात्मना प्रतिपद्यते, न तु अज्ञातार्थं ज्ञापकत्वेन ॥ श० ब्र० सू० भा० भूमिका—तैसगिको मिथ्या प्रमाणं रूपं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं प्रवर्तकोऽध्यात्मं सर्वलोकं प्रत्यक्षं । अस्य अनर्थं हेतोः प्रहाणाय आत्मकत्वं विद्याप्रतिपत्त्यै सर्वे वेदान्ता आरम्भन्ते ॥ वही० १।१।१, 'आत्मा च ब्रह्म' ।

^२ शा० गी० भा० अध्या० ६, भूमिका—मोक्षस्य नित्यत्वात् अनारम्भ्यत्वम् ॥ वही० १३।२, अद्वयत्वात् अविषयत्वात् आत्मत्वाच्च-इदं ज्ञेयं-न केनचित् शब्देन उच्यते इति प्रयुक्तम् ॥ वही० १८।६६, न हि नित्यं वस्तु कर्मणा ज्ञानेन वा क्रियते ॥ बृ० उप० शा० भा० १।४।१, न हि पारमार्थिकं वस्तु कर्तुं निवर्तयितुं बाह्यं ब्रह्मविद्या ॥ ब्र० मु० शा० भा० २।१।६, स्वरूपाद्यभावात् हि नायमर्थं प्रत्यक्षं गोचरः । लिपाद्यभावाच्च, ने अनुमानादीनाम् ॥ श बृहद० भा १।४।७, न वाक्यस्य वस्त्वन्वाख्यानं क्रियान्वाख्यानं वा प्रामाण्याप्रामाण्यं कारणं, किं तर्हि निश्चितफल-वद्विज्ञानोत्पादकत्वम् । नह्यत्रास्ति तत्प्रमाणं वाक्यं, यत्र नास्ति तदप्रमाणम् ॥

^३ आ० ब्र० पृ० २४, मनु जानमहि, गन्धी पाइआ ॥ वही० पृ० ८६, पडित पडि पडि ऊचा कूकदा माइआ मोहु पिआम ॥ वही० पृ० १६०-६१, असतु अनाडी कदे न लूसै । कयनी करे तै माइआ नालि लूसै ॥ वही० पृ० ६८६, पडि पडि भूलहि ॥

^४ वही० पृ० ४०५, वेद सामत्र जन धिआवहि तरन कउ ससार ॥ करम धरम अनेक किरिआ सभ ऊपरि नामु अचार ॥

वैदिक कर्मों के जैमिनी ने नित्य, नैमित्तिक, काम्य एवं प्रतिषिद्ध चार प्रमुख भेद किए हैं। तदनुसार अग्निहोत्र नित्य कर्म है, परन्तु नित्य कर्मों के सम्पादन से कर्ता को किसी निश्चित फल की प्राप्ति नहीं स्वीकार की गयी है। फिर भी उन्हें नियमित रूप से करते रहना आवश्यक माना गया है। जैमिनी के विचारानुसार नित्य कर्मों का अनुष्ठान इसलिए आवश्यक है क्योंकि उन्हें न करने से अनिष्ट की सम्भावना बनी रहती है। नैमित्तिक कर्मों अर्थात् यज्ञ आदि का सम्पादन अवसर विशेष पर ही किया जाने को कहा गया है। प्रतिषिद्ध कर्म न करने का आदेश है और काम्य कर्म आवागमन के हेतु माने गये हैं। अतः काम्य कर्मों से भी दूर रहते के लिए बार-बार सावधान भी किया गया है। लेकिन सिक्ख गुरु पूर्व मीमांसा की उपर्युक्त धारणा को मान्यता नहीं देते। उनसे पूर्व स्वामी शंकराचार्य ने भी पूर्वमीमांसों के कर्मकाण्ड की बहुलता का विरोध किया था। जिस प्रकार की धार्मिक और सामाजिक अव्यवस्था शंकराचार्य के युग में थी, उससे कहीं अधिक हीन स्थिति निर्गुण सन्तों के समय हो गयी थी। उस समय सभी ओर नित्य कर्मों का जाल-सा बिछा हुआ था। लोग काम्य कर्मों की ओर आकृष्ट हो रहे थे। नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान में व्यर्थ की जटिलताएँ प्रवेश पा चुकी थी। उपनिषत्कालीन अध्यात्म विद्या का महत्त्व गौण हो गया था। वैदिक यज्ञयागादि की जगह वैधी भक्ति के आडम्बर का ही बोलबाला था। मीमांसकों के नित्य कर्मों का स्थान धीरे-धीरे पौराणिक कर्मकाण्ड ले चुके थे। शंकराचार्य ने प्रचलित कर्मकाण्ड का पूर्ण निषेध न कर उसे केवल गौण स्थान ही दिया था। परन्तु निर्गुण सन्तों ने हिन्दू और मुसलमान, दोनों के जटिल एवं व्यर्थ के कर्मकाण्ड को बाह्यडम्बर घोषित किया। गुरु के द्वारा बतलाये गये आत्मसाक्षात्कार के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देने का ठोस कदम भी निर्गुण सन्तों ने ही उठाया। 'रिलिजन' के रूप में मीमित अर्थों वाले धर्म की उन्होंने स्थान-स्थान पर कटु आलोचना की है।^१ एक प्रकार से उन्होंने देवतावाद वाले धर्म में आँचल छुड़ाकर भक्ति को एक सार्वभौम मानव धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है।

मध्यकालीन निर्गुण सन्तों की विचारधारा को सशक्न बनाते हुए आदिग्रन्थ में प्रवृत्ति परक कर्मों का विरोध किया गया है। आमविन प्रधान कर्मों को जीव के

^१ आ० ग्र० पृ० ३५६, गुरु का सबहु मनै महि मुं द्रा खिया खिमा हडावउ ...॥ वही पृ० गुड करि गिआनु त्रिआनु करि धावे करि करणी कसु पाईऐ ...॥ वही० पृ० ४४१, उत्तरि अवघटि सरवरि न्हावै। बकै न बोनै हरिगुण गावै ...॥ वही० पृ० ४१३, नानक सूतकि जनमि मरीजै ...॥ वही० पृ० ४३६, करम धरम की सार न जाणै सुरति मुक्ति किउ पाईऐ...॥ वही० पृ० ४७०, सिमल रुकु सराहरा अति दीरघ अति मुषु ...॥ वही० पृ० ४७१, दइआ कपाह...मुनि बेल्हु लोका ...॥ वही० पृ० ४७२, जे मोहाका घर सूचे सेई नानका जिनि मनि बसिआ साइ ...॥ वही० पृ० ७२८, भांडा धोइ बैसि धुपु देवहु...॥

बन्धन का हेतु बतलाये हुए निष्काम कर्म या निष्काम कर्म-योग पर अधिक बल दिया गया है।^१ कर्म योग से गुरुओं का आशय निष्काम एव शुभकर्मों से है। उनके विचार में नाम-सिंमरन ही सर्वोत्तम शुभ कर्म है। समाज-हित की दृष्टि से किये गये कर्मों को भी वे निष्काम कर्म ही मानते हैं—

तीरथि नावणु जाउ तीरथ नामु है..... ॥ आ० प्र० पृ० ६८६,
वही० पृ० ६८६, धन जोबनु आक की छाइआ.....॥ नानक नाम
बिना दोहागणि.....॥ वही० पृ० ६८६, धन सोहागणि नारि.....॥
वही० पृ० ७२६, भांडा हछा होइ.....॥ सभि कुल तारसी ॥
वही० पृ० ८३८, बसमी नातु.....॥ असधिह चीतु साधि रंगु
माणहु ॥ वही० दुआदासि.....॥ प्रणवति नानक तह खिब लाई ॥

शंकराचार्य ने भी कामना या आसक्ति को मानव-जीवन के ध्येय की प्राप्ति के मार्ग की बहुत बड़ी रुकावट माना है। इस सम्बन्ध में गीता के दूसरे अध्याय की प्रस्तावना में व्यक्त किये गये उनके विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आदिग्रन्थ में भी इन्द्रियो की प्रवृत्तियों को भगवदुन्मुखी बनाने वाले कर्मों को ही निवृत्ति कर्म बतलाया गया है। तदनुसार भाव-भक्ति और आत्मसाक्षात्कार का अभाव ही अविद्या है। कर्म करते रहना मानव का स्वभाव है, क्योंकि कर्म किये बिना वह रह ही नहीं सकता। प्रवृत्ति प्रधान कर्मों को गुरुओं ने सामारिक एषणाओं की ओर ले जाने वाले कर्म माना है। उनके विचार में सत्कर्म वे हैं, जो जीव को ज्ञान की ओर प्रवृत्त करते हैं। वे उसी ज्ञान को ज्ञान मानते हैं जो प्रभु-भक्ति की ओर अग्रसर होने में जीव की महायता करता है। गुरुओं के विचार में वैदिक और पौराणिक कर्मकाण्ड जीव को आत्मसाक्षात्कार एवं प्रभु-भक्ति की ओर से विमुक्त बनाता है। यही कारण है कि आदिग्रन्थ में बार-बार कर्मकाण्ड का विरोध हुआ है।^२

सद्गुरु और उसका महत्त्व—आदिग्रन्थ में केवल बाह्याडम्बर प्रधान कर्मकाण्ड का ही विरोध किया गया है। क्योंकि गुरुओं ने सन्यास की अपेक्षा गृहस्थ जीवन को श्रेयस्कर बतलाया है और जल में कमल की भाँति निरासक्त भाव से शुभकर्म करते रहने का उपदेश दिया है। अतः 'गुरुमत' सन्यास मार्ग नहीं है। उसमें गृहस्थ

^१ वही० पृ० ४७३, आपे भाडे साजिअनु॥ वही० पृ० ५०४, रोजी ऐ जीउ नामु दिडहु मामे खिब॥ वही० पृ० ६६१, बहुता बोलणु जवणु होइ॥ वही० पृ० ६६२ ।

^२ आ० प्र० पृ० ७८६, दुह दोवे चौदह हट नाले । नानका नदरि बाहरे कबहि न पावहि नामु ॥ वही० नानक बदरा माल का.....॥ साध भले अणनातिआ चौर-सिचोरा चौर ॥ वही० पृ० ७६०, बाँगा बगु सिडिआ नाले मिली कलाण ॥ वही० पृ० ८३८, खमटि खटु दरसन.....माचे-साचे साधि समावहि ॥

रहकर ही प्रभु-भक्ति में लीन रहने का विधान है।^२ आदिग्रन्थ की विचारधारा को यदि संक्षेप में स्पष्ट करना हो तो यह कह सकते हैं कि परतमामा के अनुग्रह से जीव को सद्गुरु की प्राप्ति होती है। परन्तु सद्गुरु वह है, जिम्मे सासारिक आसक्तियों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली हो और वह प्रभु-भक्ति में पूर्ण लीन हो चुका हो। ऐसा सद्गुरु ही सदैव आत्मसाक्षात्कार की स्थिति में विचरण करता है। वही शिष्य को नाम-स्मरण अथवा नाम का मन्त्र देने का अधिकारी है।

आदिग्रन्थ में इस विश्वास को अत्यन्त आदर के साथ स्वीकार कर लिया गया है कि नामस्मरण की साधना के अभ्यास में साधक 'हउमभाव' से अतीत हो जाता है। इससे उसकी इन्द्रियाँ विषयासाक्तियों में विरत होकर बाह्यगुरु की भक्ति के प्रति उन्मुख हो जाती है। अन्त में भक्त (जीव) की ज्योति धीरे-धीरे चारों ओर की सीमाओं को तोड़कर प्रभु की असीम ज्योति में समा जाती है। गुरु की कृपा प्राप्त करने के लिए सबसे पहले शिष्य को गुरुमुख बनना पड़ता है और इस अवस्था की योग्यता प्राप्त करने के लिए उसे पहले अपने अन्तःकरण को शुद्ध बनाना होता है। गुरुओं का दृढ़ विश्वास है कि सद्गुरु की सच्ची शरण बाह्यगुरु की कृपा में प्राप्त होती है। प्रभु-प्राप्ति भी गुरु के प्रसाद या कृपा के बिना सम्भव नहीं है। इसीलिए गुरुनानक ने मूलमन्त्र के अन्त में 'गुरु परमादि' का उल्लेख किया है।

गुरु का 'शब्द' आत्मसाक्षात्कार की अवस्था के अनुभव का वैखरी रूप है। इसीलिए उसे आप्तवाक्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष एवं अनुमान-प्रमाण की सहायता में हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह अध्यात्म-ज्ञान से निम्न स्थिति का ज्ञान माना गया है। हमारी इन्द्रियाँ सीमित ज्ञान को ही प्राप्त कर सकती हैं, जबकि परम चैतन्यावस्था का अधिकारी इन्द्रियों की सीमा से अतीत ज्ञान के विस्तार का अधिकारी बन सकता है। ऐसे निष्ठ पुरुष का ज्ञान ही 'गुरु शब्द' कहलाता है। गुरुनानक ने आत्मसाक्षात्कार अथवा बाह्यगुरु की प्राप्ति के लिए गुरु की कृपा अथवा गुरु के शब्द की शरण को अनिवार्य माना है। निर्गुण सन्त-परम्परा के अग्रदूत महात्मा कबीर गुरु को गोविंद से भी अधिक महत्त्व देते हुए कहते हैं।

गुरु गोविंद दोऊ खडे का के लागूँ पाय ।

बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दियो बताय ॥

^२ आ० प्र० पृ० ८३८, दुआदसि मुद्रा मनु अउधूता । 'वही० पृ० ८४३, मुघ नवेलिआ गोइनि आई राम नानक मुघ नवेल मुन्दरि देखि पिर साधारिआ ॥ वही० पृ० ८७७, सुरति सुबह माखी मरी मिडी बाज लोको मुणें "ऐसे भगत मिलहि जन नानक तिन जमु किया करे ॥ वही० सुणि माछिद्रा छिअ दरसन की सोझी पाइ ॥ वही० पृ० ९०३, भेख करहि लिखा' नानक जोगी विभवण मीनु ॥

गुरुनानक ने गुरु और गोविंद में कोई अन्तर नहीं माना है। समूची गुरुबानी ही गुरु स्तवन है। सारी बानी में एक भी 'शब्द' ऐसा नहीं जिसमें गुरु के महत्त्व की ओर संकेत न हुआ हो।^१ गुरुपरमादि-मिद्धान्त उन सभी भारतीय धर्म-मतों की प्रधान विधेयता है, जिनमें अध्यात्म-विद्या को जीव की अन्तिम शरण माना जाता है। इस बारे में मगुग भक्तों और निगुण संतों में किसी प्रकार का मत-वैभिन्न्य नहीं है।

सुख दाता गुरु सेबीअै सभि अवगुण कडै धोइ ॥ आ० ग्रं० पृ० ४३,
वही० पृ० ४४, बाह् पकड़ि गुरि....॥ वही० पृ० ४६, मिलि सतिगुरु
सभु बुखु गइआ... ॥ वही० पृ० २८, घटि-घटि रमईआ मनि बसै
किउ पाईऐ...गुरु पूरा सतिगुरु भेटिऐ... ॥ वही० पृ० १७, गुरु
पउखी बेड़ो गुरु गुरु तुलहा हरि नाउ। गुरु सरु सागरु बोहिणो गुरु
तीरथ दरोआउ ॥ वही० पृ० २०, गुरु बिनु किउ तरीऐ सुख
होइ ॥ वही० पृ० २०, सतगुरि मेल मिलाइआ.....॥

गुरुनानक का 'मूलमन्त्र' सम्पूर्ण 'गुरुबानी' की कुंजी माना जा सकता है। इसलिए यह आवश्यक था कि गुरुओं के परमतत्त्व सम्बन्धी विश्वासों एवं विचारों के स्पष्टीकरण के लिए उसकी तनिक अधिक विस्तार से चर्चा की जाती। आदिग्रन्थ भक्ति-काव्य-रचना है। इसमें दार्शनिक की भाँति ब्रह्मा, माया, जीव और जगत के बारे में विचार नहीं किया गया है। परन्तु इसका आशय यह नहीं कि गुरुओं का कोई निश्चित दर्शन ही नहीं था। हमारी समस्या केवल यह है कि हम परममत्ता के प्रति अभिव्यक्त भक्त की भावनाओं में से उसकी विचारधारा के मौक्तिक एकत्र कर, उसे दार्शनिक सूत्र में पिरोने के उपरान्त एक निश्चित दर्शन-माला प्रस्तुत करें। अतः इस उद्देश्य को सम्मुख रखते हुए अगामी पृष्ठों में आदिग्रन्थ में प्रतिपादित बाह्गुरु के स्वरूप में सम्बन्धित विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

प्रकाश-विमर्श-सम्पन्न पराद्वैत चैतन्य—गुरुनानक ने बाह्गुरु को पराद्वैत चैतन्य और प्राणि मात्र का दाता बतलाया है। जैसे—

ब्रह्मा बिसनु महेसु सरैसट...खाणी बाणी गगन पताली
जंता जोति तुमारी ॥ आ० ग्रं० पृ० १०१२ वही० पृ० १०२१,
आपे करे कराये आपे॥

^१ वही० पृ० ५५, गुरुमती परगामु होइ मचि रहै लिव लाइ। तिथै कालु न सचरै
जोती जोति ममाइ ॥ वही० पृ० १५२, सतिगुरु मिलै सु मरणु दिखाए ॥ वही०
पृ० ४२०, गुरु बिनु किनै न पाइओ केती कहै कहाण ॥ वही० पृ० ७५१, लालि
रता मनु मानिआ गुरु पूरा पाइआ ॥ वही० पृ० ६३८-३९, सतिगुरु मिलै
अधेरा जाइ ॥ वही० पृ० १२७३, प्रिउ मर्भ है जेति गुर भावै प्रिउ पाई ॥
वही० पृ० १४११, नानक ते मौहागणी जिनहा गुरुमुखि परगटु होइ ॥ वही०
पृ० १०३१, सतिगुरु बाझ न बेनी कोई ॥ वही० पृ० ११६६, जन नानक हरि
गुरु गुरु.....॥

उनके विचार में बाह्यगुरु को छोड़ कर दूसरी कोई अनादि सत्ता नहीं है । उन्होंने बार-बार इस सिद्धान्त पर बल दिया है कि बाह्यगुरु (निरंजन) सारे ब्रह्माण्ड में समाया हुआ है ।^१ वही सारी सृष्टि का निमित्तोपादान कारण है, परन्तु उसका वास्तविक स्वरूप पराद्वैत ही है । आदिग्रन्थ की विचारधारा के अनुसार बाह्यगुरु जैसी दूसरी अनादि चेतन सत्ता नहीं है ।^२ प्रस्तुत ग्रन्थ का वर्ण्य विषय इसी पराद्वैत बाह्यगुरु का नामसिमरन है, जिसे भक्ति-भावना से परिपूर्ण उद्गारों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है । गुरुओं ने बाह्यगुरु को सूर्य, चन्द्रमा, और धरती आदि लोको में सर्वत्र समाया हुआ बतलाया है । वे इसे परात्पर अद्वैत मानते हैं और उसी द्वारा अनेक रूपों और रंगों में अपने आपको साकार रूप धारण किए हुए बतलाते हैं ।

हुकम आइआ...हुकम दीस जगतु डपाइआ ॥ हुकमजल थल..... ॥

आ० प्र० पृ० १०३७ वही० पृ० १७, तुधु संसार उपाइआ.....॥

वही० पृ० सम आपे तुधु उपाइके.....॥ वही० पृ० एक तू होरि

बेस बहुतेरे नानक जाणं खोज न तेरे ॥

उनका विश्वास है कि बाह्यगुरु ही संसार की रचना करता है और अपनी इच्छा के स्वातंत्र्य से उसे पुनः अपने भीतर समेट लेता है । आदिग्रन्थ के अनुसार बाह्यगुरु विश्वरूप है । परन्तु विश्व का रूप धारण करने के उपरान्त भी उसके निर्गुण एवं अतीत स्वरूप में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता । ब्रह्माण्ड का रूप धारण करना उसकी लीला माना गया है । इस सम्बन्ध में हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि बाह्यगुरु की लीला के सिद्धान्त को उसके स्वभाव के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए—अवतारी लीला के रूप में नहीं । यही उसका स्वाग है । आदिग्रन्थ में 'सागु' शब्द का बार-बार प्रयोग हुआ है । परन्तु सागु या स्वाग का अर्थ गुरुओं के विश्वासा-नुसार अध्यास, प्रतीति या भ्रम नहीं माना जा सकता । वह स्वाग रचकर भी अपने लीला-स्वभाव को भूलता नहीं है । बाह्यगुरु द्वारा जीव का रूप धारण करना उसका इच्छा-स्वातंत्र्य है । परन्तु जीव-स्वरूप में आने पर वह अपने शुद्ध स्वरूप को भुला

^१ वही० पृ० १०२१, आपे धरती धउलु अकास ॥ वही० आपे काजी आपे मुला ॥ वही० पृ० १०२१-२२, आपि उपाइआ जगतु मवाइआ.....॥ वही० केतड़िआ जगु धु धुकारा ॥ वही० पृ० १०२४, आपि दइआलु दूरि नही दाता ॥ वही० पृ० १०३४, अटलु अडोलु ॥ रूपु न रेखिआ ॥ वही० १०३६, सुन कला अपरपर ॥ वही० पृ० १०४१, आपि अतीनु अजोनी सभउ ॥

^२ वही० पृ० १०३८, जह देखा तह दीन दइआलानिरालमु राइआ ॥ वही० पृ० १०४० जो ब्रहमडि खडि सो जाणहु ॥

^३ आ० प्र० पृ० १२३२, अगम अगोचरु अनाधु अजोनी गुरमति एको जानिआ ॥ वही० पृ० १२३७, आपे आपि निरंजना जिनि आपु उपाइआ । आपे खेलु रचाइ ओनु ॥ वही० पृ० १०७३, बरना चिहना बाहरा लेखे, बाहु अलखु ॥ वही० १४१२, पूरे का कीआ सभ किछु पूरा घटि वधि किछु नाही ॥

देता है। गुरुओं के विचार मे बाहगुरु द्वारा सृष्टि का रूप धारण करना, माया या अविद्या के आवरणों का परिणाम नहीं अपितु उसकी अपनी इच्छा या शक्ति के स्वातंत्र्य का विलास है।

यद्यपि आदिग्रन्थ मे स्पष्ट रूप से बाहगुरु की इच्छा या स्वभाव का दार्शनिक विवेचन नहीं हुआ है, परन्तु बाहगुरु के स्वरूप के बारे मे प्राप्त उल्लेखों के अध्ययन से पता चलता है कि परमसत्ता की इच्छा या स्वभाव से गुरुओं का आशय उसके स्पन्द से ही है। स्पन्द के उन्मीलन पक्ष के समय बाहगुरु समूचे ब्रह्माण्ड का रूप धारण कर लेता है और निमीलन अवस्था मे यह सारा का सारा 'पसारा' रुक जाता है तथा बाहगुरु पुनः अपने शुद्ध स्वरूप मे भास्वर होने लगता है। इसी को निगुण की त्रिगुणातीतावस्था कहते हैं।^१ बाहगुरु के अद्वैत स्वरूप की चर्चा करते हुए गुरु अर्जुन देव कहते हैं कि बाहगुरु 'एक' अर्थात् अद्वैत परमतत्त्व है। प्रगट एव निराकार दोनों अवस्थाओं मे उसी की सत्ता सर्वत्र परिव्याप्त हो रही है। इस अवस्था को तथा स्वयं बाहगुरु को गुरुवानियों मे 'मुन' (शून्य) भी बतलाया गया है। 'मुन' से गुरुओं का आशय शक्तिमान और उसकी शक्ति अथवा इच्छा की अभेदावस्था से है। वे इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि बाहगुरु आदि, मध्य और अंत सभी अवस्थाओं मे एक जैसा रहता है। अपने स्वरूप को विभिन्न रूपों एव स्तरों द्वारा अभिव्यक्त करने पर भी उसके स्वभाव मे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आता।^२ इससे यह स्पष्ट है कि आदिग्रन्थ मे सांख्य दर्शन की प्रकृति के स्वतन्त्र परिणाम की मान्यता को स्वीकार नहीं किया गया है। अद्वैत सत्ता बाहगुरु 'कर्ता' और 'दीवानु' है, वह अद्वैत निरञ्जन है तथा उसी ने बहुरंगी बनकर अनेक रूप धारण किये हुये हैं। उसकी इच्छा ही उसका पूर्ण स्वातंत्र्य है। यही कारण है कि सृष्टि की रचना से पहले किसी अतिरिक्त तत्त्व अर्थात् उपादान की आवश्यकता नहीं है। उनका यह सिद्धान्त द्वैतवादी दर्शनों से बिल्कुल भिन्न है और शंकराचार्य आदि अद्वैतवादी दार्शनिकों के सिद्धान्त से भी पर्याप्त भिन्नता रखता है।

निमित्तोपादान कारण—आदिग्रन्थ मे बाहगुरु को बारम्बार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निमित्तोपादान कारण माना गया है। इस सम्बन्ध मे एक स्थान पर कहा गया है कि बाहगुरु ही धनुष और बाण है। बातचीत करने वाला और उसे सुनने वाला भी वही है। वही अपने भीतर से अपनी इच्छा के स्वातंत्र्य द्वारा सृष्टि की रचना करता है और स्वयं ही उसे देख भी रहा है। अमर एव फूल वही है। वही ब्रह्माण्ड के रूप मे अपने सौन्दर्य को बिखेरकर और वही पुनः देखकर आनन्दित भी हो रहा

^१ आ० प्र० पृ० २५, आपे नेड़ दूर आपे ही आपे मंझि मिआनु। आपे देखै सुणै आपे ही कुदरति करै जहानु ॥ वही० पृ० ४३७, तेरा सभु कीआ तू थिरु थोआ तुधु समानि को नही।

^२ आ० प्र० पृ० १०३७।

है। रस भी वही है और उसका रस लेने वाला रसिया भी। पानी भी वही है और मछली भी। इस प्रकार सभी कुछ वह स्वयं ही है।^१ गुरु अर्जुन देव ने खण्ड और ब्रह्माण्ड के एक ही उत्स की चर्चा करने हुए बाह्यगुरु को सृष्टि का निमित्तोपादान कारण माना है और, “एकं कनकं अतिक्रान्तिं भाति साजी वह परकार रचाइओ” (आ० ग्रंथ पृ० २०५) कह कर परमात्मा द्वारा स्वयं ही अपनी इच्छा से विश्व को रूप धारणा करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वह लिखते हैं :

सर्वशक्तिमान बाह्यगुरु स्वयं इस सृष्टि का निमित्त एवं उपादान कारण है। सारी की सारी सृष्टि उसी की लीला है। ब्रह्माण्ड बाह्यगुरु द्वारा धारण किये हुये विविध रूपों और विभिन्न नामों का समुच्चय है। यह इच्छा करने ही सृष्टि की रचना कर सकता है और चाहने पर एक ही क्षण में उसका महार करने में भी पूर्ण समर्थ है। सृष्टि का रूप धारण कर लेने पर भी वह अनिष्ट एवं-निर्गुण ही बना रहता है। समार की रचना उसकी लीला है।^२ इसी आशय को दुहराते हुए वह पुन लिखते हैं, “अपने गुणों में सभी को मोह लेने वाले बाह्यगुरु ? तुम्हारी ससार के कण-कण में समाए हुए हो। तुम्हीं सारी सृष्टि के कारण-करण हो।”^३

अन्यत्र एक स्थान पर अन्य भक्त की भाँति हृदयोद्धारों को प्राणी देने हुए गुरु अर्जुन देव जीव को कहते हैं कि अतन्व्यभाव में बाह्यगुरु की भक्ति में लीन रहकर ही वह मोक्ष-पद प्राप्त कर सकता है। परमात्मा का हुक्म सर्वोपरि शक्ति है। ब्रह्माण्ड की लीला रचाने के लिए उसका मात्र इगित ही पर्याप्त है। वह जगत का कारण भी है और करण भी।^३ आगे चलकर उन्होंने पुन एक स्थान पर कहा है, बाह्यगुरु ऐसी उपादान मामत्री नहीं जो किमि भी अवस्था में समाप्त हो जाये वह

^१ आ० ग्र० पृ० १६५, हरि आपे ओगी डडाधारी ॥ हरि आपे रवि रहिआ बनवारी ॥ हरि आपे तुधु नापे लाइ तारी ॥१॥ ऐमा मेरा रामु रहिआ भरपूरि ॥ निकटि बसै नाही हरि दूरि ॥१॥ रहाउ ॥ हरि आपे सबहु मुरति धुनि आपे ॥ हरि आपे वेखै विगसै आपे ॥ हरि आपि जपाइ आपे हरि जापे ॥२॥ हरि आपे सरिग अस्मितधारा ॥ हरि अस्मित आपु पीअवणहारा ॥ हरि आपि करे आपे निमतारा ॥३॥ हरि आपे बेडी तुलहा तारा ॥ हरि आपे गुरमति निमतारा ॥ हरि आपे नानक पावै पारा ॥४॥६॥४४॥

^२ आ० ग्र० १७५, आपे जगत उपाइआ मेरे गोविदा हरि आपि खेनै बहुगंगी जीउ ॥ वही० पृ० ८३३, इहु जगु वरनु रूपु सभु तेरा ॥ वही० १०६४ तुधु जग में खेलि रचाइआ बिचि हउमै पाइआ ॥ वही० पृ० १२३६, आपे आपि निरजना जिन आपु उगाइआ ॥ आपे खेलु रचाइओनु सभु जगनु सवाइआ ॥ वही० ४२२ नदए सांगु बणाइआ बाजी ससारा ॥

^३ आ० ग्र० पृ० २६३-६४, सो अंतरि सो बाहिर अनत ॥ घटि घटि बिआपि रहिआ भगवत ॥ धरनि माहि आकाम पइआल ॥ सब लोक पूरन प्रतिपान ॥ बनि निनि परवत है पारब्रह्म जैसी आगिआ तैसा करमु ॥ पउग पाणी बँसतर माहि चारि कुंठ दहदिसो समाहि ॥

तो आदि, मध्य और अंत तीनों अवस्थाओं में अविनाशी सत्ता है। बाह्गुरु सर्वत्र पूर्ण भाव से समाया हुआ है। वही असंख्य प्राणियों के रूपों में साकार है। गुरु अर्जुन देव ने इसी विचार को, 'जोअ जत मभ तेरे कीते घटि-घटि तुही धिआइये' (आ० ग्र० पृ० ७४८) द्वारा भली भाँति स्पष्ट किया है। उनके विचार में सर्वशक्तिमान बाह्गुरु सारे ब्रह्माण्ड में समाया हुआ है तथा वही सूक्ष्म रूप में उसे अपने भीतर समाहित रखता है या धारण किये रहता है।^१ इस प्रकार यह स्पष्ट कि सिक्ख गुरुओं के विचार में अद्वैत सत्ता अपनी ही इच्छा से एक से अनेक और पुनः अनेक से अद्वैत रूप धारण करती है। बाह्गुरु ने अपने भीतर से स्वयं सृष्टि की रचना कर, पुनः उसी में अपने आप को छिपाया हुआ है। यही कारण है कि भक्तजन उसे सर्वव्यापक सत्ता मानते हैं।^२

निराकार बाह्गुरु परात्पर तत्त्व—आदिग्रन्थ के अनुसार बाह्गुरु निराकार, अतीत चैतन्य-सत्ता है। गुरु नानक ने परमात्मा को सर्वोपरि बतलाने हुए कहा है कि निराकार बाह्गुरु शाश्वत द्रव्य है। वही सृष्टि की रचना करने वाला सर्वशक्तिमान, अगम्य एवं अगोचर चैतन्य है। वह अवतारी पुरुष नहीं, अपितु अदृश्य एवं अनिर्वचनीय सत्ता है। दृश्य पदार्थ या सत्ता ही वाणी का विषय होती है। अदृश्य एवं निर्गुण बाह्गुरु इसीलिए अनिर्वचनीय है। परमसत्ता चैतन्य-रहित केवल शून्य नहीं है गुरुनानक उसे प्रकाश-विमर्श स्वरूप स्पर्शमय चैतन्य मानते हैं। वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बाह्गुरु में समाया हुआ बतलाने हैं। ब्रह्माण्ड में समाने या कण-कण में रहने या कण-कण में व्याप्त होने में गुरुनानक का आशय यह है कि बाह्गुरु की इच्छा ही उसका स्पर्श है। स्पर्श के सक्रिय पक्ष को बाह्गुरु का 'हुकम' या उसकी शक्ति मान सकते हैं। उसी की इच्छा उत्तरोत्तर पंच महाभूतात्क जगत् का साकार रूप ग्रहण करती रहती है। बाह्गुरु विश्व का रूप धारण करने पर भी निराकार एवं 'निरजन' ही रहता है। वही सम्पूर्ण सृष्टि की ज्योति है यही उसका गुणैश्वर्य है।^३ उसी की ज्योति और चैतन्य में ब्रह्माण्ड साकार एवं प्राणवान है।

^१ आ० ग्र० पृ० ८८८, तू आदि पुरख अपरपर करता तेरा पारु न पाइआ जाइ जीउ ॥ तू घट घट अतरि सब निरतु मभ महि रहिआ समाइ जीउ ॥ वही० मेरा मनो मेरा मनु राता राम पिआरे राम ॥ सचु साहिबो आदि पुरखु अपरपरो धारे राम ॥ अगम अगोचर अपर अपारा पारब्रह्म परधानो ॥ आदि जुगादि है भी होमी अवन् झूठा मभु मानो ॥

^२ आ० ग्र० ३५६, मूरजू एको रति अनेक । नानक करते के केते वेम ॥ वही० पृ० ३६५, तू दरिआउ मभ तुझ ही माहि ॥ तू आपे करता तेरा कीआ मभ होइ ॥ तू करि करि बेखहि जाणहि मोइ ॥

^३ तुधु आपे त्रिसटि मभ उपाई जी तू आपे मिरजि सभ गोई ॥ जनु नानकु गुण गावै करने के जी, जो मभमं सा जाणोई ॥ वही० पृ० ४१३, भीतरि एकु अनेक असख करम धरम बहु सख असख ॥ आपि मरै मारै भी आपि ॥ आपि उपाण थापि उथापि ॥ त्रिसटी उपाई जोनी तू जाति ॥

गुरु अर्जुन देव ने 'निरंकार' प्रभु ने माक्षाकार प्राप्ति को जीव का अन्तिम लक्ष्य माना है। वह भगवान के अवतारी सगुण रूप के मिद्धान्त में विश्वास नहीं करते। यद्यपि वह बाह्यगुरु को निर्गुण एवं निराकार मानते हैं, परन्तु उसकी इच्छा अथवा हुक्म का जिस रीति से गुरुओं ने प्रतिपादन किया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि बाह्यगुरु की इच्छा के पूर्ण स्वातन्त्र्य के कारण ही उसकी शक्ति (ऐश्वर्य) के द्वारा रचना, स्थिति और संहार रूपा मृष्टि बाह्यगुरु के हुक्म से रूपायित होती है और पुनः उसी में समा जाती है। अतः ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण रहस्य बाह्यगुरु की ही ज्ञान-शक्ति की सीमा के भीतर है। जीव की सीमित शक्तियाँ मृष्टि के रहस्यों की पूर्ण जानकारी प्राप्त करने में असमर्थ है।^१

आदिग्रन्थ में माधव, बाह्यगुरु, राम, वासुदेव, नारायण आदि परमात्मा के अभिधानों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। परन्तु इन अभिधानों से गुरुओं का आशय वर्णन भवतो से बिल्कुल भिन्न है। इन्होंने भगवान द्वारा अवतार धारण करना नहीं माना है। कबीर एवं अन्य निर्गुण सन्तों की भाँति आदिग्रन्थ में भी बाह्यगुरु को नाम और रूप की सीमाओं से अतीत माना गया है। गुरुनानक के विचार में बाह्यगुरु त्रिकालातीत हस्ती है, जो अपनी ज्योति के रूप में सारी सृष्टि में हर समय सर्व-व्यापक भाव से विद्यमान रहती है। भक्त हृदय अरूप और अविनाशी बाह्यगुरु से सम्बन्ध स्थापित कर उसके साथ रमण-सुख के आनन्द का उपभोग कर सकता है।^२ बाह्यगुरु स्वयम्भू एवं स्वप्रकाशित सत्ता है। वह वासुदेव और दाशरथि राम की भाँति माता के गर्भ में जन्म ग्रहण नहीं करता। वह तो अगम, अगोचर और सर्व-व्यापक है तथा सारी सृष्टि उसकी लीला है। परन्तु अपनी इच्छा में ब्रह्माण्डमय हो जाने पर भी अपने परात्पर रूप में वह 'निरजन' ही रहता है।

बाह्यगुरु का कर्तृत्व—गुरुओं के अनुसार बाह्यगुरु सृष्टि का कर्ता है परन्तु उसका कर्तृत्व न्याय-वैशेषिक दर्शन के ईश्वर जैसा नहीं है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार सृष्टि की रचना करते समय ईश्वर को उपादान सामग्री की आवश्यकता रहती है। परन्तु गुरुओं ने बाह्यगुरु को प्रकाश-विमर्श-सम्पन्न अद्वैत चैतन्य माना है, जो ऊर्णनाभ की भाँति अपने भीतर से ही निर्माण की सामग्री प्राप्त करता है। वे उने रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद की भाँति चिदचिद्विशिष्ट सत्ता भी नहीं मानते। कुछ आलोचकों ने आदिग्रन्थ में वर्णित बाह्यगुरु के स्वरूप को विशिष्टाद्वैत

^१ ग्रं० पृ० ४३७, सच्चु साहिबो आदि पुरखु अपरपरो धारे राम ॥ अगम अगोचर अपर अपारा पारब्रह्म परधानो ॥ वही० ४५८-५६, जलि थलि महीअलि पूरि पूरन कीट हसती समानिया ।

^२ वही० ४५६-५७, चमतकार प्रगामु दहदिस एकु तह दिसटाइआ ॥ वही० ३७६, करहै न झुरै न मनु रोवन हारा ॥ अविनासी अविगनु अगोचरु सदा सलामति ब्रह्म हमारा ॥

विचारधारा के अनुरूप मानने का सुझाव दिया है। परन्तु हमारे विचार से आदिग्रन्थ में वर्णित बाहगुरु का स्वरूप चिदचिद्विशिष्ट मान लेने पर विशिष्टाद्वैत के अन्य सैद्धान्तिक पक्षों को भी स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी धारणा गुरुओं की समूची विचारधारा के आधार को ही अव्यवस्थित कर देगी। वस्तुतः गुरुओं के अनुसार परमसत्ता के कर्तृत्व और विशिष्टाद्वैत के अनुसार सृष्टि की रचना के सिद्धान्त में पर्याप्त अन्तर है। आदिग्रन्थ में यद्यपि बाहगुरु के लिए बार-बार 'नाराइणु' 'गोविंदु' और 'माधव' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है तथापि इनके द्वारा प्रयुक्त इन अभिधानों का आशय वंणव भक्तों से बिल्कुल भिन्न है। अतः इन शब्द-प्रयोगों तथा कुछ दूसरी समानताओं के कारण ही गुरुओं की विचारधारा को विशिष्टाद्वैतवादी मान लेना उचित नहीं है। हमारे मत में इन अभिधानों के प्रयोग के कारण गुरुओं के दार्शनिक विचारों के स्वातन्त्र्य में भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

कबीर ने सूक्ष्मवेद (सुच्छमवेद) की चर्चा करते हुए निरजन का उल्लेख किया है और सिक्ख गुरु भी बाहगुरु के लिए 'निरजन' शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु कबीर 'निरजन' को बाहगुरु या राम नहीं मानते जबकि आदिग्रन्थ में मायातीत भगवान के अर्थ में 'निरजन' शब्द का प्रयोग किया गया है। यही स्थिति नाराइण, माधव और गोविंद की भी है। गुरुओं ने राम और कृष्ण आदि भगवान के अवतारों को समकक्षी नहीं माना है। वे अवतारवाद और बंधी भक्ति में विश्वास ही नहीं करते। देवतावाद को वे धार्मिक सकीर्णता मानते हैं तथा हर प्रकार के धार्मिक बाह्याङ्गम्बरों का खण्डन करते हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुरुओं ने भक्ति सम्बन्धी उद्धारों में पौराणिक सांदावली को पर्याप्त अर्थान्तर के साथ स्वीकार कर लिया है। इसलिए बाहगुरु के कर्तृत्व की व्याख्या स्वतन्त्र रूप से करने पर ही हम उसका सही सधान पा सकते हैं। गुरुनानक के कथनानुसार संसार की रचना करने वाला बाहगुरु है। वही प्रत्येक जीव को अपनी आज्ञा, हुकम या इच्छा से विभिन्न प्रकार के कर्मों की ओर प्रवृत्त करता है। परन्तु बाहगुरु के कर्तृत्व से गुरुओं का आशय उस द्वारा स्वयं सृष्टिरूप हो जाने से है। प्रस्तुत सन्दर्भ में केवल इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि बाहगुरु अथवा 'करतार' ही सारे ब्रह्माण्ड का निमित्तोपादान कारण है—

तुधु संसार उपाइआ । सिरि सिरि धंथे लाइआ—॥ आ० प्र० पृ० ७५, सभ आपे तुधु उपाइ कं आपि कारे लाई ... ॥ वही० पृ० १३८, तू करता पुरखु अंगमु—॥ वही० पृ० ३५०, जेता सबहु सुरति धुनि तेती रूप काइआ तेरी—॥ वही० पृ० ३५६, करता तू सभना का सोई—॥ वही० पृ० ४१२, जिनि धारि साजि गगनु अकासु—॥

गुरुओं के अनुसार सृष्टि की रचना परमात्मा की लीला एवं इच्छा है। वे सृष्टि की रचना को बाहगुरु की 'बडिआई' अर्थात् ऐश्वर्य मानते हैं। आदिग्रन्थ में सृष्टि की रचना के लिए उपादान सामग्री के सम्भावित प्रश्नों का उत्तर भी एक

प्रकार से दे दिया गया है। तदनुसार बाह्यगुरु स्वयं ही 'अकल' से 'सकल' रूप धारण करता है। जैसे .

आपि करे आपि हरं वंखें बडिआई ॥ आ० ग्र० पृ० ४२१, म० १,
वही० पृ० ४६२, आपीन्है आपु साजिओ ॥ वही० पृ० ४७३, आपे
ही करणा कीओ कल आपे ही तें धारोऐ ॥

वह स्वयं ही मृष्टि के रूप में निराकार में साकार हो जाता है। उसके बाद जब चाहता है अपने साकार रूप को समेटकर निराकार विश्वचैतन्यमय हो जाता है। गुरुनानक ने बाह्यगुरु को 'आपे करना पुरखु विधाता' कहकर 'आपे' शब्द द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि उम्मे समार की रचना करते समय अपने में अतिरिक्त किसी दूसरी उपादान सामग्री की आवश्यकता नहीं है (आ० ग्र० पृ० १२२५)। यही भाव 'आपे आपि निरजना' (पृ० १२६०) द्वारा भी दर्शाया गया है।

गुरु रामदास ने भी 'तू आपि साचा निरजण द्वारा' (आ० ग्र० १२६) द्वारा परमात्मा के कर्तृत्व की उपर्युक्त मान्यता की ही पुष्टि की है।^१ अतः स्पष्ट है कि उनके विश्वामानुसार बाह्यगुरु ही सूर्य, चन्द्र एवं अन्य दिव्य प्राकृतिक शक्तियों या उनके अधिष्ठातृ देवताओं का रचियता है। वे निश्चये हैं, बाह्यगुरु ने अडज, जेरज आदि सभी प्राणियों का रूप धारण किया हुआ है। वही इस ब्रह्माण्ड का स्वामी है। वही जगत् का प्राणाधार एवं ब्रह्माण्ड का चैतन्य है। ब्रह्माण्ड की रचना करते समय उसे किसी अन्य उपादान अथवा देवी शक्ति की आवश्यकता नहीं है और विश्व के निर्माण की योजना बनाने समय भी उसे किसी से विमर्श-परामर्श करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।^२

पाँचवे गुरु अर्जुन देव ने भी बाह्यगुरु के कर्तृत्व का उल्लेख करते हुए कहा है, 'औरे कछु न किनहु कीआ। नानक मभ कछु प्रभु ने हुआ' (आ० ग्र० पृ० १०६)। उनके विचारानुसार मृष्टि की रचना करने की शक्ति एवं सर्वज्ञता केवल बाह्यगुरु का ही ऐश्वर्य है—

सब कछु तिसका ओहु करनं जोगु। तिसु बिनु होआ न होगु.....॥

वही० पृ० २८२।

आदिग्रन्थ में बाद-बार इस ओर जिज्ञासुओं का ध्यान आकर्षित किया गया है कि यह ब्रह्माण्ड प्रकृति के स्वातन्त्र्य का परिणाम नहीं है। बाह्यगुरु न्याय और वैशेषिक दर्शन के ईश्वर की भाँति परमाणु आदि अतिरिक्त अनादि पदार्थों का मुहताज नहीं रहता। मृष्टि की रचना, उसकी इच्छा या उसकी लीला है। वह जब भी

^१ आ० ग्र० पृ० ६८८, आपि उपाण आपि समाए हुकमि हुकमु पछाणा...॥ वही० पृ० ६०६, आपि मृमटि उपाइदा पिआरा करि मूरजु चदु चानाणु...॥

^२ आ० ग्र० पृ० ८३५, अडज जेरज...॥ वही० पृ० १११५, तू जग जीवनु जगदीमु मभ करता त्रिसटि नाथु...॥

ब्रह्माण्ड का रूपधारण करने की इच्छा करता है, ब्रह्माण्ड साकार हो जाता है और अपने शुद्ध स्वरूप मे अवस्थित होने की इच्छा करते ही वह एक क्षण मे प्रलय की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। परन्तु सहार के समय भी वाहगुरु के 'निर्गकार' एवं निर्गुण स्वरूप मे कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि वह शाश्वत चैतन्य है—

आपन खेसु आपि करि देखें । खेसु संकोचें तउ नानक एकं...॥ आ०

ग्रं० पृ० २६२, वही० पृ० २६३, सरब भूत आपि बरतारा । सरब

नन आपि देखन हारा । सगल समग्री जा का तना । आपन जसु आप

ही सुना ...॥

गुरुनानक और गुरु रामदास की भाँति ही गुरु अर्जुन देव भी देवतावाद को स्वीकार नहीं करते। वह अपने विचारों को 'आपे करता अवर न कोई' (आ० ग्र० पृ० ७६-७७) आदि 'शब्दों' द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि वाहगुरु को ब्रह्माण्ड की सजना एवं सहार करते समय क्षण भर की देरी भी नहीं लगती। वही अनेक रूप धारण किए हुए है।^१ इस प्रकार के उल्लेख वाहगुरु को सृष्टि का स्वतन्त्र निमित्तोपादान कारण ही सिद्ध करने है। गुरु अर्जुन देव ने अन्यत्र एक स्थान पर सृष्टि की रचना के विषय मे बतलाया है -

सभ जगु जिनहि उपाइआ भाई करण कारण समरथु ।

जिउपड जिनि साजिआ भाई दे करि आपणो वथु ॥

(आ० ग्रं० पृ० ६३६)

^१ वही० पृ० ४६६, खिन महि थापि उथापन हारा । कीमति जाड न करी...॥ वही० पृ० ६०६, अतरजामी करण हारा सोई खसमु हमाग ॥ वही० पृ० ७०६, खिन महि थापि उथापदा तिमु बिनु नहीं कोई ॥ वही० पृ० ७४८, जीअ जंत सभ तेरे कीते घटि घटि तुही धिआइऐ ॥ वही० पृ० ७६०, तू करता तू करण हारु तू है एकु अनेक जीउ ॥

● परमसत्ता के स्वरूप की अवस्थाओं (अवधारणाओं) में अन्तर

भारतीय संस्कृति के इतिहास के व्यापक फलक (Canvas) पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि आधुनिक युग की स्थिति उत्तर मध्य-युग में नहीं थी; और जिन सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताओं का प्रचार पूर्व मध्य-काल में था, उत्तर मध्य-काल तक पहुँचते-पहुँचते उनमें पर्याप्त अन्तर पड़ गया था। इससे और अधिक पीछे की ओर ध्यान देने से इस तथ्य का और अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है कि किसी युग की सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताएँ भी एक साथ नहीं बन गयी थी उस युग के बाद वे तद्वत् स्थैतिक भी नहीं बनीं रही थी। अतः इस पश्चिमी प्रक्रिया के माध्यम से पूर्व वैदिक युग की स्थिति का अनुमान लगाते हुए यह तथ्य हस्तगत होता है कि भारतीय आर्य आरम्भ में औशनपदिक युग के ऋषियों की कोटि के चिन्तक एवं विचारक नहीं थे। वे अपने आरम्भिक युगों में पार्थिव जीवन में ही सांस लेते रहे थे और मृत्यु के उपरान्त जीवन की स्थिति आदि के अन्वेषण में संलग्न रहने के स्थान पर ऐहिक जीवन को ही यथार्थ मानते थे। वे जीने के लिए सहने वाले निरन्तर सघर्षों में जुटे रहते थे। वे सांसारिक थे, क्योंकि जागतिक पदार्थों और मनोगत सहज भावनाओं तथा दैनंदिन की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर, उनकी पूर्ण स्वीकृति में ही उनकी जीवन-क्रिया चलती थी। भारत के आर्य-पूर्व जातियों के समाज जैसी स्थिति उनकी नहीं थी। सिन्धु सभ्यता के मोहेजोदड़ो आदि के प्रदेशों से प्राप्त अवशेषों के साक्ष्य के आधार पर पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने उसे 'नागरिक सभ्यता' माना है। आरम्भिक वैदिक ऋचाओं के अध्ययन से भी पता चलता है कि जिन लोगों की भावनाओं के वे उद्गार हैं, वे लोग जीवन के यथार्थ को स्वीकार कर, तदनुसार ही जीवन बिताते थे। उनमें जगत की यथार्थ बाधाओं से टक्कर लेने की अदम्य अन्तः प्रेरणा थी। आरम्भिक भौतिकवाद की सहज प्रेरणा से प्रेरित भावना एवं ओज से सहज रूप में उनका जीवन स्फूर्तिमान था। उपनिषदों की विचारधारा के प्रचार से पहले भारतीय वैदिक आर्यों की ऐसी ही सामाजिक स्थिति थी।

सिन्धु-घाटी के सामाजिक जीवन की ओर संकेत करने वाली उपलब्ध सामग्री इस तथ्य की स्वीकृति के लिए पर्याप्त आधार प्रस्तुत करती है कि आर्य जाति का जीवन सिन्धु-सभ्यता वालों से पर्याप्त भिन्न था। सिन्धु प्रदेश के निवासियों का समाज नागरिकों का समाज था। नवागत आर्यों की जीवन-पद्धति उनके जीवन-यापन के तौर-तरीकों से भिन्न प्रकार की थी। नवागत आर्यों का प्राकृतिक शक्तियों से अधिक सम्बन्ध रहा था। वे उनके दैनंदिन जीवन को विशेष रूप से प्रभावित करती रहती थी। यह स्थिति ऐसी थी कि आर्य जाति के लोग अपनी विविध समस्याओं और आवश्यकताओं का संधान अपनी सामर्थ्य के द्वारा ही पा लेते थे। सूर्य और चन्द्र, प्रकाश और अन्धकार अतिवृष्टि और अनावृष्टि, गाज का गिरना और पयोधरो का बरसना आदि से प्राप्त होने वाले सुख-दुःखों ने उनके जीवन-दर्शन का निर्माण किया था। अपने चतुर्मुखी वातावरण पर उनका ध्यान जाना स्वाभाविक था, जिसका मिला-जुला अन्तिम परिणाम यह हुआ कि उन्होंने जीवन को प्रभावित करने वाली प्राकृतिक शक्तियों में ही देवत्व का आरोप कर, उनकी स्तुतिर्पा करना आरम्भ कर दिया। महती प्राकृतिक शक्तियों को देवताओं के रूप में देखने की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर उनमें उन सभी गुणों का आरोप कर दिया गया, जिनकी आत्यन्तिक कल्पना की जा सकती थी। अतः वैदिक देवतावाद के उद्भव का आरम्भ मानव की यथार्थ जीवन की समस्याओं से सम्बन्धित एवं प्रेरित माना जा सकता है।

ऋग्वेद की आरम्भिक ऋचाओं में उपयुक्त परिस्थितियों एवं तदनुरूप प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व आरोपण और ऐहिक जीवन की समृद्धि की कामना के हेतु की गयी स्तुतियों के साक्ष्य उपलब्ध हो जाते हैं। इन्द्र वैदिक आर्यों का प्रधान देवता है, जिसकी स्तुति करते हुए उसके द्वारा शत्रुओं के विनाश की कामनाएँ की गयी हैं। साथ ही यह विश्वास बनाया गया है कि वह उनकी प्रार्थना को स्वीकार करता है।^१ वरुण को धरती और आकाश को एक दूसरे से अलग करने वाली प्राकृतिक शक्ति (देवता) माना गया है। वैदिक आर्यों के अनुसार वह ब्रह्माण्ड का नियन्ता है।^२ अग्नि में प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि वह मानव को प्रकाश देने वाला देवता है। वह दीर्घ आयु का दाता और मस्तिष्क की ऊर्जा है। प्राकृतिक शक्तियों को देवता मानकर उनसे ऐसी शक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा प्रार्थनाओं में निहित है, जिससे अपने शत्रुओं को परास्त किया जा सके। देवताओं से ऐहिक जीवन की प्रत्येक प्रकार की सुख-समृद्धि की याचनाएँ की गयी हैं।^३ उस समय का सक्षिप्त धार्मिक रूप यह है—

^१ ऋ० वे० १०-२२-८, अकर्मा दस्युरभि नी अमन्तु रुष्यव्रतो अमानुषः । एवं तस्या भिन्नहन्वधर्दासस्य दम्भय ॥ वही० ६-८०-३ ।

^२ वही० ५-८५-२, वनेषु व्यन्तरिक्ष ततान वाजपवंत्सु पय उत्तियामु । हत्सु ऋतुं वरुणो अप्क्षन्ति दिवि सूर्यमवात्सोममद्रो ॥

^३ वही० २-२१-६, इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्ति दक्षस्य मुभयत्वमस्मे । पोष रयीणामरिष्टि तनूना स्वादमानं वाचः सुदिनत्वमत्त्वानाम् ॥

(क) देवताओं की प्राकृतिक शक्तियों के मूर्त रूप स्वीकार कर उनकी स्तुतियाँ एवं प्रार्थनाएँ की गई हैं। (ख) देव-परिवार का विभाजन कर उनकी स्थिति लगोल, वायुमण्डल और पृथ्वीलोक में स्वीकार की गई है। (ग) सिन्धु सभ्यता के समाज के साथ विरोध की परिसमाप्ति एवं तज्जनिन अन्तर्भुक्ति की प्रक्रिया के फलस्वरूप कई आर्यतर देवताओं को भी अपने देव—परिवार में सम्मिलित कर लिया गया है।

● आर्य विश्वासों में परिवर्तन : परमपुरुष

सिन्धु प्रदेश के मूल निवासियों को पराजित करने के उपरान्त स्वयं आर्य जाति में ही नये सामाजिक परिवर्तन आरम्भ हो गये। अपनी सभ्यता से उच्च, विकसित एवं श्रेष्ठ जीवन-पद्धति (सिन्धु-सभ्यता) से प्रभावित होकर उसके कई पक्षों को स्वीकार कर लिया गया। समय के साथ उनकी सामाजिक व्यवस्था में स्वयमेव भी ऐसा परिवर्तन हुआ कि सम्पूर्ण आर्य परिवार सामाजिक समूहों में परिवर्तित होने लग गया। इस परिवर्तन का प्रभाव यह हुआ कि बहुदेववाद की भावना का स्थान एकेश्वरवाद ने ले लिया। इसके फलस्वरूप धीरे-धीरे देवताओं का एकीकरण हुआ और स्वर्ग के अधीश्वर की कल्पना लौकिक राजा या शासक की सत्ता के अनुकरण के आधार पर की गई। इसी समय किसी एक देवता में अन्य मुख्य-मुख्य देवताओं के गुणों एवं शक्तियों को भी समाहित कर दिया गया है।^१ धीरे-धीरे बहुदेववाद से आगे बढ़कर एक प्रधान देवता (देवाधिदेव) की मान्यता का निर्माण हुआ और अन्य देवता उसी की विभिन्न शक्तियों के रूप में पूजा के पात्र (विषय) बन गये।

उपयुक्त निवेदन से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के रचना-काल में ही दार्शनिक चिन्तन की ओर ध्यान दिया जाने लग गया था। ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में विचार करने हुए उसे परमसत्ता का रूपान्तरण (Modification) स्वीकार कर लिया गया। 'पुरुष सूक्त' में गीता के विराट पुरुष जैसी ही परम पुरुष की अवधारणा ने रूप प्राप्त कर लिया था। ऋग्वेद में ही आदि पुरुष को ब्रह्माण्ड का भौतिक स्रोत मान लिया गया और ऋग्वेद की यह अवधारणा परवर्ती अध्यात्मवादी दर्शनों में पर्याप्त फूली-फली है।^२ पुरुष सूक्त में पुरुष का रूप मानो ब्रह्माण्डीय या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ही एकत्व है। ऋग्वेद की ऋचाओं में कहीं 'पुरुष' कहीं 'प्रजापति' और कहीं 'हिरण्यगर्भ' के नाम से दशदिदेव के स्वरूप (अवधारणा) का निर्माण हुआ है। इससे उस समय का बहुदेववाद समाप्त नहीं हो गया था। यह तो दर्शन की वह पूर्व-भूमिका है, जिसे बहुदेववाद के साथ-साथ एकाधिदेव की मान्यता का निर्माण माना जा सकता है।

^१ ऋ० वे० ८-५८-२, एक एवाग्निर्ब्रह्मा समिद्ध एक सूर्यो विश्वमनु प्रभुः । एकैवेपा सर्वमिदं विभात्येक वा उद वि बभूव सर्वम् ॥ बही० १-१४६-४६, इन्द्र मित्र वरुणमग्नि राष्ट्रयो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान् । एक मद्भिषा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहुः ॥

^२ ऋ० वे० १०-६०

प्रस्तुत प्रसंग में ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त' का उल्लेख असंगत नहीं होगा । भारतीय दर्शनों के अध्येता इसे परमसत्ता की निर्गुण-निराकार अवधारणा के मूलाधार का पूर्व रूप स्वीकार करते हैं । यह सूक्त ऋग्वेद के दसवें मण्डल का है, जो वैदिक ऋचाओं का अन्तिम एवं वेदान्त (उपनिषदों) का आरम्भिक छोर है । तदनुसार ब्रह्माण्ड की रचना (साकारता) से पहले सत् और असत् कुछ भी नहीं था । आकाश ऊँचे-नीचे स्थान (गतं) गहर-गम्भीर जल, मृत्यु-अमरता, रात-दिन, आदि में से किसी का कोई आकार विद्यमान नहीं था । तब वायु नहीं थी, फिर भी कोई (हिरण्यगर्भ) सत्ता साँस अवश्य ले रही थी । वह अनादि और अनन्त सत्ता थी, जो अपनी ही शक्ति (सत्ता) से सत्तावान थी । उस समय सभी कुछ अमूर्त (अनभिव्यक्त) था । ऐसी ही स्थिति में कामना का उदय हुआ था । इसके सम्बन्ध में विद्वानों ने सोच-विचार कर यह तथ्य प्राप्त किया कि असत् (अनभिव्यक्त सत्तत्त्व) में सत् (अभिव्यक्त ब्रह्माण्ड) की स्थिति पहले से ही विद्यमान थी । मूलकारण के सम्बन्ध में सूक्त का ऋषि तब भी किसी अन्तिम निश्चय पर नहीं पहुँच सका । उसने सम्पूर्ण दैवीय सृष्टि को बाद की रचना मानकर कहा है कि परमसत्ता के उद्भव के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कह सकना सम्भव नहीं है । अतः वह सत्ता स्वयं ही इस रहस्य को जानती है । सम्भव है कि वह स्वयं भी कुछ न जानता हो ।^१ इस सूक्त में अन्तर्निहित दार्शनिक विचारों एवं अवधारणाओं के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद पाया जाता है । भौतिकवादी विचारक इसे मांस्वियों के तत्त्व-विचार का आधार मानते हैं और अध्यात्म-वादी इसे एकेश्वर या परब्रह्म की अवधारणा का आरम्भिक स्वरूप स्वीकार करते हैं । इस सूक्त के बारे में यह माना जा सकता है कि प्राकृतिक शक्तियों में देवत्वा-रोपण और उसके बाद इन्द्र, वरुण एवं अग्नि आदि की देवताओं के रूप में स्वीकृति के उपरान्त देवाधिदेव की अवधारणा का जो विचार बना उसी का यह अन्तिम रूप है, जिसमें परमसत्ता को अद्वैत स्वीकार कर लिया गया है । साथ ही यह भी मान लिया गया है कि वह अपने मूल (शुद्ध) रूप में निर्गुण एवं निराकार (असत्) है । उसके इसी अनभिव्यक्त (असत्) स्वरूप में ही सत् (नामरूप ब्रह्माण्ड) का उदय हुआ है । यह विचार भारतीय दर्शनों की ईश्वरवादी अवधारणाओं का मूलाधार है ।

● आत्म-सिद्धान्त विरोधी विचार

विद्वानों ने नासदीयसूक्त में वर्णित विचारों और विश्वासों के प्रेरक नस्लों की व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न धारणाओं के आधार पर की हैं । भौतिकवादी विचारक

^१ ऋ० वे० १०-१२६, नासदासीन्नो मदासीत्तदानी नासीद्वजो नो व्योमा परोयत् । किमावरीयं कुह कस्य शर्मन्नम्भ किमासीत् गहन गभीरम् ॥ न मृत्युरासीदमृत न तर्हि न रात्र्या अह्ना आसीत्प्रकेतः । आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्वाय्वन्न परः किंचनासः ... ॥ इयं विसृष्टिर्यत् आबभूव यदि वा दधे यदि वा न । योस्याध्यक्ष परमे व्योमन्तसो अग वेद यदि वा न वेद ॥

इसके पीछे ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के पारस्परिक संघर्ष का अनुमान लगाते हैं। लेकिन आदर्शवादियों का विचार है कि विचारों की चिन्तन-परम्परा के प्रसंग में ही इस सूक्त की व्याख्या करना उचित है। ये वैदिक युग (संहिता काल) की परवर्ती विचारधारा को औपनिषदिक और आरण्यक चिन्तन में परिवर्तित स्वीकार करते हैं। उपनिषदों और आरण्यकों में वैदिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठानों की व्याख्याओं को उन्होंने आध्यात्मिक, आदर्शवादी एवं रहस्यवादी अवधारणाओं के अन्तर्गत माना है। इन्हीं से अध्यात्मवाद या निराकार परमसत्ता के सिद्धान्त का आरम्भ स्वीकार किया गया है। उनके अनुसार परवर्ती युगों में विभिन्न आस्तिक दर्शनों को इसी मूल अवधारणा ने जन्म दिया है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कोई भी अवधारणा स्वयं में न 'सम्पूर्ण' होती है और न ही स्थैतिक ही। अवधारणाएँ युग की परिस्थिति के अनुरूप एवं अनुकूल बनती और बदलती रहती हैं। यदि एक प्रकार की सामाजिक स्थिति बनी रहे तो पूर्व-निर्मित धार्मिक एवं दार्शनिक विश्वास भी पर्याप्त समय तक स्थिर बने रहते हैं। लेकिन सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के कारण मूल अवधारणा की व्याख्याएँ और परिभाषाएँ नवीन परिवेश प्राप्त कर लेती हैं। भारतीय इतिहास में एक बार ईश्वरवादी दृष्टिकोण के अनुकूल सामाजिक व्यवस्था का प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर वह व्यवस्था कभी टूट नहीं सकी। अतः अध्यात्मवादी (दार्शनिक) मान्यताएँ धर्म और दर्शन में निरन्तर तटस्थ बनी रही हैं। जो छोटे-मोटे सामाजिक परिवर्तन हुए हैं या दूसरी जातियों के मिश्रण के फलस्वरूप नए विश्वास बने हैं, उनके कारण कुछ अन्तर अवश्य आ गया, जो अन्तर इतना अधिक क्रांतिकारी नहीं था कि मूलाधार को ही हिला कर भूमात् कर देता और उसके स्थान पर बिल्कुल नयी दार्शनिक अवधारणाओं के स्तम्भ खड़े कर स्वतन्त्र चिन्तन का प्रसंग बनाता। फिर भी हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि धार्मिक और दार्शनिक विचार स्थैतिक एवं अन्तिम सत्य नहीं होते और भारतीय चिन्तन परम्परा भी इसका अपवाद नहीं है।

युग की परिस्थितियों ने जैसे ही अपनी करवट बदली है, वैसे ही धर्म और दर्शन का स्वरूप भी बदलता रहा है। वैदिक आर्यों की विजय के बाद देवतावाद के प्रचार ने परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों के क्षेत्र में प्रवेश कर उपनिषदों और आरण्यकों की विचारधारा का रूप प्राप्त कर लिया। अन्ततोगत्वा इनमें ब्रह्माण्ड की रचना करने वाली भौतिक जगत से भिन्न परन्तु उसकी पूर्ण मूलाधार परमसत्ता (परम ईश्वर) की अवधारणा भी प्राप्त हो गई। आगे चलकर सांख्य और वैशेषिक तथा न्याय का प्रतिनिधित्व करने वाली विचारधारा ने इसका विरोध किया जिसमें लोकायतों की मान्यताओं का पर्याप्त सहयोग रहा है। बौद्ध एवं जैन धर्म-मतों की विचारधारा ने भी उपनिषदों की परब्रह्म की अवधारणा को अस्वीकार कर नए ढंग के आदर्शवाद का प्रचार किया है। औपनिषदिक विचारधारा का खण्डन मण्डन तब तक चलता रहा, जब तक गीता के रचयिता ने फिर से पुरुषोत्तम-सिद्धान्त

की स्थापना नहीं की। गीताकार के द्वारा पुरुषोत्तम के सिद्धान्त की स्थापना और उसे क्षर और अक्षर से अतीत सत्ता मान लेने के उपरान्त पदार्थ को प्राथमिक सत्ता मानने वाली विचारधारा भी ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तु ही रह गई। साम्राज्यवादी और सामन्ती व्यवस्था के कारण पौराणिक धर्म का रूप अधिक प्रभावशाली बन गया और उसकी मान्यताएँ तब तक निर्विरोध प्रचार प्राप्त करती रही हैं, जब तक उत्तर-मध्यकाल में निगुण सन्तों के द्वारा नए धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलन का सूत्रपात नहीं हो गया।

● यथार्थवादी दर्शनों की अवधारणाएँ एवं मान्यताएँ

पदार्थ की प्राथमिक सत्ता के रूप में स्वीकृति—इसी खण्ड के चतुर्थ अध्याय में 'भौतिकवादी दर्शन-परम्परा में परम तत्त्व' शीर्षक के अन्तर्गत हम यह बतला आये हैं कि लोकायतिकों (चार्वाकियों) की विचारधारा का मूल स्रोत मानव का जीवन के प्रति सहज एवं स्वाभाविक दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार वह ऐहिक जगत को ही यथार्थ मान कर जीवन में आचरण करता है। यहाँ जगत को यथार्थ मानने की बात किसी दार्शनिक प्रणाली विशेष का अनुगमन करने से सम्बन्धित न होकर केवल मनुष्य की उस अवस्था की परिचायक है, जिस समय वह बौद्धिक चिन्तन से कम और सहज प्रवृत्तियों की स्वाभाविक प्रेरणा ही से अधिक काम लेता है। वही पर इन तथ्यों को भी संकेतित कर दिया गया है कि संहिता काल के अन्तिम समय की आदर्शवादी अवधारणा ने जिस समय उपनिषदों और आरण्यकों की मान्यताओं के रूप में निश्चित दर्शन-प्रणाली जैसा रूप प्राप्त करना आरम्भ किया, उस समय इस प्रकार के चिन्तक भी सक्रिय हो उठे, जिन्हें पराविद्या स्वीकार्य नहीं थी और जो इस प्रकार की अवधारणाओं को मात्र बौद्धिक विलास एवं वर्ग-हित की भावना का प्रचार मानते थे। इस द्वन्द्वात्मक संघर्ष ने जिस यथार्थवादी चिन्तन-परम्परा को जन्म दिया, उसे आदर्शवादियों की ओर से चार्वाक या लोकायत दर्शन-प्रणाली का नाम दिया गया है। चार्वाक के पीछे तो उपहास उड़ाने की प्रवृत्ति कार्यरत है, जबकि लोकायत शब्द ऐहिक जगत में विश्वास रखने वालों का द्योतकहोने के कारण साभिप्राय शब्द-प्रयोग है। लोकायतों ने आरम्भ में औपनिषदिक आदर्शवाद (ईश्वरवाद) का पर्याप्त विरोध किया और आत्म-सिद्धान्त के मुकाबले में अनात्म के सिद्धान्त के प्रचार के लिए अपनी कोशिशें भी जारी रखीं।

वृहस्पति को लोकायत विचारधारा का आदि प्रवर्तक माना जाता है। विद्वानों ने वृहस्पति का समय वैदिक काल माना है। इससे यह प्रमाणित होता कि उपनिषदों की रचना में ही पहले अध्यात्मवादी (ईश्वरवादी) धारणा का प्रचार हो चुका था और उसका विरोध भी तत्कालीन उसी समय आरम्भ हो गया था। लोकायतों का विश्वास है कि प्रत्यक्ष जगत से भिन्न किसी का अस्तित्व नहीं है। रामायण एवं महाभारत में लोकायतों की विचारधारा से सम्बन्धित कथाओं का उल्लेख करते हुए

यह भी बतला दिया गया है कि जैन एवं बौद्ध साहित्य में भी लोकायतों एवं उनकी विचारधारा के सम्बन्ध में उद्धरण प्राप्त हो जाते हैं। महावीर वर्धमान और महात्मा बुद्ध के समय ही शरीर से अलग चेतना के स्वतन्त्र अस्तित्व का निषेध करने वाले कई विचारक औपनिषदिक अध्यात्मवाद (ईश्वरवाद) का विरोध करने लग गये थे। जैन एवं बौद्ध धर्म मूलतः आदर्शवादी विचारधारा के ही अन्तर्गत आते हैं, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वोक्त वेद-विरोधी लोकायत विचारधारा ने भी इन धर्मों के दर्शनो की कई मान्यताओं पर अपने प्रभावों का अंकन किया है। सत्कार्यवाद और यहच्छावाद लोकायत विचारधारा के दो मूलभूत सूत्र हैं, जिनके आधार पर आत्म-मिद्धान्त और ईश्वर की अनादि, स्वतन्त्र चेतन अस्तित्व की अवधारणा का खण्डन किया गया है।

सांख्य और वैशेषिक क्रमशः प्रकृति (त्रिगुणात्मिका मूल जड तत्त्व) और परमाणुओं को प्राथमिक सत्ता मानते हैं और उन्हीं में गति और क्रिया के धर्मों की स्थिति मानते हुए शरीरी चेतना की व्याख्या करते हैं। न्याय और योग दर्शनो की आरम्भिक मान्यताएँ भी पदार्थ ही थी और इनमें बाद में ईश्वर और आत्मा की अवधारणाओं का प्रवेश हो गया था। फिर भी ये द्वैतवादी दर्शनो की श्रेणी में ही गिने जाते हैं। इन दर्शनो की प्रमुख विशेषता यह है कि इनमें शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने हुए भी इस अवधारणा पर अधिक बल दिया गया है कि शरीर के साथ ही शरीर के चैतन्य (आदर्शवादियों के आत्मा) का भी लोप हो जाता है। यह विचारधारा पुनर्जन्म के मिद्धान्त का विरोध करती है। वेदों को ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानती और इसकी पाप एवं पुण्य की परिभाषाएँ भी स्वतन्त्र प्रकार की हैं। इन दर्शनो का मूल स्वर ऐहिक है अतः परलोक की अवधारणा की स्वीकृति इनका मूलभूत विचार नहीं माना जा सकता। प्रायः इन सभी दर्शनो का रूप बाद में ही ईश्वरवादी धारणाओं में अनुप्राणित हुआ है। ये दर्शन भक्ति के परवर्ती रूपों एवं तद्विषयक अवधारणाओं से पूर्णतया मुक्त थे। इनके अनुसार न कोई अलौकिक परमधाम है और न ही इन में रहने वाली किसी अलौकिक सत्ता (वामुदेव या नारायण) से सम्बन्धित (पौराणिक) विचारधारा के प्रति इनमें विश्वास दर्शाया गया है। लोकायत ईश्वरवादियों की कर्म की अवधारणा का खण्डन करते हैं और कर्म को प्रवर्तन हीन मानकर जोशों की उत्पत्ति का हेतु भौतिक तत्त्व ही मानते हैं।

भौतिकवादी दर्शनो की एकत्व की अवधारणा के अनुसार ब्रह्म जगत का प्राथमिक तत्त्व (मूलकारण) नहीं। वे प्रकृति को स्वयं परिणमित मानते हैं और जगत के नाम और रूप को प्रकृति का विकास स्वीकार करते हैं। तदनुसार ब्रह्माण्ड समवायों (परमाणुओं या सांख्यो द्वारा स्वीकृत पञ्चीस तत्त्वों) का सम्मिलित रूप है। चेतना को समवाय का परिणाम स्वीकार किया गया है। उनके मत में जिस समय समवाय का विघटन हो जाता है, उस समय तज्जनित चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। भौतिकवादी विचारधारा के अनुसार अनादि तत्त्व के द्वैत को भी स्वीकार नहीं किया गया। उसमें केवल पदार्थ को ही प्राथमिक कारण का स्थान प्राप्त है। यह

विचारधारा चेतना या आत्मा को पदार्थ की भाँति अनादि चेतन तत्त्व मानने का विरोध करती है। मात्स्य शून्य से उत्पत्ति स्वीकार नहीं करने। उनके अनुसार यह अवधारणा कारण-कार्य के सम्बन्ध के अन्तर्गत नहीं आती। कणाद (वैशेषिक दर्शन के आचार्य) ने 'कर्म' को गति के अर्थ में ही स्वीकार किया है। वे कर्म की अवस्थिति स्वयं पदार्थ में अन्तर्निहित मानते हैं और इसी आधार पर ईश्वरवादी विश्वासों का विरोध करते हैं। नैव्यायिक परमाणुओं को जैव और अजैव की संरचना का आधार स्वीकार करते हैं। ईश्वर के द्वारा परमाणुओं को नियमित रूप देकर सृष्टि की रचना की अवधारणा न्याय-विचारधारा में बहुत बाद में स्वीकार की गई है। भौतिकवादी दर्शनों की मूल अवधारणाएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं।

(क) प्राथमिक सत्ता पदार्थ, प्रकृति अथवा परमाणुओं की है।

(ख) प्राथमिक मूल कारणों का समवाय ही शरीर में चेतना को जन्म देता है और जिस समय शरीर का नाश होता है, उसी समय चेतना भी लुप्त हो जाती है।

(ग) कर्म का अर्थ विंशत प्रकार का कर्मकाण्ड नहीं, बल्कि मूलपदार्थ की गति है, जिसके कारण जगत् का सम्पूर्ण वैविध्य बनता, विकसित होता एवं अन्त में विघटित होकर पुनः अपने मूलरूप को प्राप्त करता है।

(घ) पदार्थ में अनिरिक्त स्वतन्त्र चैतन्य (आत्मा) और परम चैतन्य (ईश्वर) का अस्तित्व नहीं है। जीवों के लिए पाप और पुण्य एवं ईश्वर द्वारा फल देने एवं आवागमन के चक्कर में भटकने आदि की अवधारणाएँ ईश्वरवादियों का मात्र अन्ध विश्वास है।

● आदिग्रन्थ में वर्णित बाह्यगुरु-स्वरूप का वैशिष्ट्य

आदिग्रन्थ में वर्णित बाह्यगुरु के स्वरूप के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि तदनुसार परमचैतन्य (ब्रह्म) एक (अद्वैत) है और जीव और जगत् उसी के द्वारा धारण किये हुये अपने रूप हैं। इसमें यह स्पष्ट होता है कि गुरुनानक एवं अन्य सिक्ख गुरुओं की दार्शनिक मान्यताओं का उक्त भौतिकवादी दर्शनों की मान्यताओं से किसी प्रकार का भी मेल नहीं है। बल्कि सिक्ख गुरु किसी भी ऐसी विचारधारा को, जिसमें परमात्मा की सत्ता एवं उसकी शक्तियों के सम्बन्ध में विश्वास न किया गया हो, अत्यन्त हेय दृष्टि में देखते हैं। उन्होंने जीव के गुरुमुख और मनमुख दो भेद किए हैं और मनमुख जीवों को नास्तिक तथा ईश्वर की शरण में विमुख बतलाया है। यहाँ तक कि उन के अनुसार ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कार्य ही बाह्यगुरु की इच्छा के संकेत, उसके हुक्म और उसकी 'कुदरत' के अधीन चल रहा माना गया है। ऐहिक जीवन में आसक्ति रखने वाले जीवों को बद्ध और आवागमन के चक्कर में भटकने वाले बतलाकर उन्हें गुरु की शरण, परमात्मा की भक्ति और नाभ-सिरत-साधना का उपदेश दिया गया है। उपर्युक्त समूचे मन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए

आदिग्रन्थ के ब्रह्म (बाह्यगुरु)-विचार को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

आदिग्रन्थ में परमात्मा को अद्वैत माना गया है। परन्तु बाह्यगुरु के अन्तिम स्वरूप को जिस रीति से हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया गया है, उसे पराद्वैत ही कहा जा सकता है। तदनुसार जगत और जीव अलग एवं यथार्थ सत्ताएँ नहीं हैं। आदिग्रन्थ के पराद्वैत-सिद्धान्त की दल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद और रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत जैसा सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता। मध्व का द्वैत-सिद्धान्त तो आदिग्रन्थ में किसी भी रूप में स्वीकार्य नहीं है। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत से उनके पराद्वैत की समानता का निराकरण भी गुरुबानी में बार-बार हुआ है। इसीलिए यहाँ आदिग्रन्थ की बाह्यगुरु के स्वरूप से सम्बन्धित विचारधारा के वास्तविक स्वरूप की जानकारी के लिए ऋग्वेद से आरम्भ कर, भारत के मुख्य-मुख्य धर्म-सम्प्रदायों में स्वीकृत परमतत्त्व के स्वरूप का उल्लेख करना पड़ा है।

आदिग्रन्थ में परमतत्त्व का जिस रीति से उल्लेख किया गया है, उसे एक विशेष अभिधान देना कठिन है। सिद्ध गुरु नाम के झगड़े में न पड़ कर उपास्य को 'माधव' 'नारायण' आदि विभिन्न नामों से पुकारते तो हैं, परन्तु उन्हें परात्पर सत्ता का नाम बाह्यगुरु ही विशेष कर प्रिय लगता है। वैष्णव धर्म-मतों की शब्दावली को उन्होंने अपना तो लिया है, परन्तु वामुदेव और नारायण अथवा विष्णु से उनका वही आशय नहीं जैसा कि वैष्णव आचार्यों का। अभिनवगुप्ताचार्य परमतत्त्व को 'अनुत्तर' कह कर उसे नाम की सीमा में बाँधना असम्भव बतलाने हैं।^१ आदिग्रन्थ में वर्णित बाह्यगुरु के स्वरूप की चर्चा करते हुए पीछे हम बतला आये हैं कि तदनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड बाह्यगुरु की इच्छा का ही साकार रूप है। बाह्यगुरु का यह स्वभाव ही उसकी 'शक्ति' 'हुकम' 'कुदरत' एवं 'इच्छा' है। हमारे विचार में शक्ति की अपेक्षा उसे बाह्यगुरु के स्पन्द स्वभाव का 'सक्रिय पक्ष' कहना ही अधिक समीचीन है। बाह्यगुरु केवल स्वप्रकाशित सत्ता ही नहीं, अपितु उसे अपने प्रकाश रूप का परिपूर्ण ज्ञान भी है। सत्ता सत् की होती है, और सत् का दिखाई देना आवश्यक है। यदि सत्-तत्त्व प्रकाशस्वरूप न हो तो वह दिखाई नहीं दे सकता। प्रकाशस्वरूप होने के कारण ही बाह्यगुरु स्वतन्त्र सत्ता है। इसके साथ ही वह उपर्युक्त विशिष्टताओं और योग्यताओं Potentialities के कारण अन्य पदार्थों के अस्तित्व का कारण भी है। इसी को काश्मीर शैव दर्शन में शिव और शक्ति के अभिधान के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

अद्वैतवेदान्तियों के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए हम बतला आए हैं कि उनके विचार से जगत की सत्ता यथार्थ नहीं, वह केवल आभास या प्रतीति है। इस आभास

^१ त० आ० २।२४ से २८, नैपशक्तिमहादेवी... .. दुर्विज्ञे या हिसावस्था किमप्येदमनुत्तरम् ॥

के कारण ही ब्रह्म की ईश्वर और जीव के रूप मे प्रतीत होती है। अद्वैतवेदान्त मे ब्रह्म का जिस रीति से विवेचन किया गया है, वह सान्द्र सभावानी परिपूर्ण सत्ता सिद्ध नहीं होता। आदिग्रन्थ मे अविद्या और माया की चर्चा तो की गयी है, परन्तु वहाँ यह नहीं माना गया कि अविद्या अथवा माया बाह्गुरु को आवरण मे ले लेती है या ले सकती है। तदनुसार बाह्गुरु तो स्वयं मायापति हैं, परन्तु इस रूप मे नहीं, जिस रूप मे वामुदेव अथवा नारायण को वेण्णवाचार्यों ने मायापति माना है।

आदिग्रन्थ मे कहा गया है कि बाह्गुरु ने अपने आप को अपनी इच्छा से विश्व के रूप मे अभिव्यक्त किया है। वही कारण और कारण दोनों है अथवा वही अपने रूप को देख कर रस ले रहा है। बाह्गुरु-स्वरूप के उपर्युक्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि उनके द्वारा जगत् की रचना और संहार कमल के उन्मीलन और निमीलन जैसा है। अर्थात् परमसत्ता ही त्रिगुणातीतता से जगत् का रूप धारण करती है और पुनः वही अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। इसे बाह्गुरु का स्वभाव, उसकी 'कुदरत' 'लीला' आदि कुछ भी नाम दिया जा सकता है। अभिधानों का भेद गुरुओ के मौलिक विचार मे द्विपी प्रकार का अन्तर उपस्थित नहीं करता। सांख्य दर्शन में पुरुष को निष्क्रिय साक्षि-चैतन्य माना गया है और संसार की रचना का कार्य प्रकृति का बतलाया गया है, परन्तु गुरु प्रकृति के कर्तृत्व वाले सांख्य-मिद्धान्त का समर्थन नहीं करते और न ही वे बाह्गुरु को मात्र 'साक्षि-चैतन्य' ही मानते हैं। अतः उनके 'बाह्गुरु के स्वरूप' का सांख्य दर्शन के 'पुरुष' से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। वे जीवो की सांख्या अर्थात् जीवो के अनेकरूप को भी स्वीकार नहीं करते।

अद्वैतवेदान्तियों का ब्रह्म चैतन्य सत्ता तो है, परन्तु उन्होंने जगत् की प्रतीति माया और अविद्या के कारण माना है। अतः उनके विचार मे ब्रह्म जगत् का उस प्रकार रचयिता नहीं जिस प्रकार आदिग्रन्थ मे उमे ब्रह्माण्ड का स्रष्टा माना गया है। विज्ञानवादी तथा शून्यवादी बौद्धों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों के साथ आदिग्रन्थ के विचारो की तुलना करना ठीक नहीं है, क्योंकि दार्शनिक चिन्तन के स्तर पर नया साधना के क्षेत्र मे वे सर्वातीत स्वतन्त्र चेतन सत्ता के सिद्धान्त को अन्य आस्तिक दर्शनों की भाँति स्वीकार ही नहीं करते। विज्ञानवादी बौद्ध चिन्त के सिवाय अन्य किसी भी दूसरे पदार्थ या विषय को स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते और ठीक उन्हीं की तरह शून्यवादी बौद्धों ने भी समूचे जागतिक व्यापार को 'शून्य' ही माना है। दोनों सम्प्रदायों की विचारधारा आदिग्रन्थ द्वारा प्रतिपादित 'बाह्गुरु' के स्वरूप तथा जीव और जगत् सम्बन्धी विचारो से पूर्णरूपेण भिन्न है।

विशिष्टाद्वैत, द्वैत और शुद्धाद्वैत इन सभी सम्प्रदायों मे परमसत्ता के बारे मे जिस रीति से विचार हुआ है तथा इनकी अवतार एवं व्यूह आदि के बारे मे जो मान्यताएँ हैं, वे भी आदिग्रन्थ की विचारधारा से भिन्न नहीं खाती। इसमे राम और कृष्ण, वामुदेव, विष्णु और नारायण की चर्चा वेण्णय सम्प्रदायों से भिन्न रूप मे

की गयी है। सिक्ख गुरु बाहगुरु के अनन्य भक्त है, अतः जहाँ तक भक्ति सम्बन्धी धारणाओं का प्रश्न है, किसी भक्त का उससे विरोध नहीं हो सकता। भक्ति-साधना के लिए भक्ति के बंधी स्वरूप के स्थान पर उन्होंने उसका केवल मानसीकरण किया है। उनकी शेष बहुत सी बातें अन्य भक्ति-सम्प्रदायों के विचारों से पर्याप्त समानता रखती हैं।

आदिग्रन्थ में वर्णित बाहगुरु को 'पूर्ण अस्मिता चैतन्य' भी कह सकते हैं। यह वह अस्मिता-भाव है, जिसमें समूची ब्रह्माण्डरूपता की अनुभूति समाहित है। जिस प्रकार वट के बीज में वट-वृक्ष समाया रहता है, उसी प्रकार बाहगुरु में सारी सृष्टि सूक्ष्म रूप में समाई रहती है। ब्रह्माण्ड की रचना को हम बाहगुरु की उच्छलता कह सकते हैं क्योंकि गुरुओं की दृष्टि में ब्रह्माण्ड की रचना के उपरान्त भी उनके निजी स्वरूप में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता। आदिग्रन्थ के अनुसार बाहगुरु को सृष्टि की रचना के लिए रजोगुण के विक्षोभ अथवा परमाणुओं की सहायता की आवश्यकता ही नहीं है। यही कारण है कि उसमें सृष्टि का निर्माण करने के लिए माया या अविद्या को अनादि एवं अनिवर्चनीय सत्ता ही नहीं माना गया। द्वैत-सिद्धान्त और पराद्वैत-सिद्धान्त की धारणाएँ भी परस्पर समान नहीं हैं। आदिग्रन्थ के अनुसार अद्वैत (प्रभु) में ही द्वैत या सृष्टि को साकार करने की पूर्ण सामर्थ्य है। बाहगुरु स्वयं मात्र स्पन्द नहीं, वह संवित्सागर है। स्पन्द का यह उन्मीलन एवं निमीलन उनकी शक्ति, इच्छा, विद्या अथवा महामाया है।

आदिग्रन्थ में बार-बार बाहगुरु की इच्छा का उल्लेख किया गया है। कुरान में भी खुदा द्वारा 'कुन' का उच्चारण करते ही कायनात के निर्माण का उल्लेख मिलता है। परन्तु बाहगुरु की इच्छा 'कुन' नहीं है। वह उसका स्पन्द है, जो अभेद से भेद की ओर अग्रसर होने का उसका अपना ही उन्मीलन पक्ष है। कुरान में यह नहीं बतलाया गया है कि परमात्मा किस प्रकार सारी कायनात में समाया हुआ है क्योंकि तदनुसार अल्लाह ही जगत का रूप धारण नहीं करता। वह शक्तिशाली चक्रवर्ती सम्राट् की भाँति सिंहासन पर बैठता है और 'कुन' कहकर सारी कायनात को बना डालता है। गुरुनानक के द्वारा वर्णित माया और बाहगुरु की इच्छा दोनों एक ही सिद्धान्त या दार्शनिक विश्वास है। बाहगुरु की इच्छा, पूर्ण स्वतन्त्रता है। यद्यपि गुरुनानक ने सृष्टि-क्रम का कहीं उल्लेख नहीं किया परन्तु बाहगुरु द्वारा स्वयं जीव रूप धारण करने के सिद्धान्त को मान लेने पर यह कहा जा सकता है कि पराद्वैतसत्ता ने विद्या दशा की इच्छा करने के बाद अपनी माया या शक्ति के द्वारा ही जीव रूप धारण किया हुआ है। समूचे आदिग्रन्थ का आद्योपान्त अध्ययन करने पर ही हम उनके मूल दर्शन के सिद्धान्तिक स्वरूप का यही विवेचन कर सकते हैं। अन्य दर्शनों से आदिग्रन्थ के बाहगुरु के स्वकप के अन्तर का यही स्वरूप एवं वैशिष्ट्य है।

द्वितीय खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा में जीव

भारतीय दर्शन-परम्परा उस स्रोतस्त्रिनी के समान है जिसके मूल उत्स एवं विस्तार में अप्रत्याशित अन्तर का अनुभव होता है। यद्यपि यही स्थिति विश्व की प्रत्येक दार्शनिक परम्परा की रही है, लेकिन यह स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होगी कि इस विज्ञान महाद्वीपाकार देश की दार्शनिक चिन्तन की धारा एक अपूर्व एवं दिलचस्प घटना है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि इस देश में इतना अधिक सामाजिक मिश्रण हुआ है जितना समार के किसी अन्य देश में नहीं। इस देश का भौगोलिक वानावरण भी विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं को जन्म देने का कारण बना है। इसके साथ ही जिन सामाजिक परिस्थितियों के कारण दार्शनिक मान्यताओं का जन्म होता है, उनका जन्म वैविध्य इस देश में रहा है तथा अब भी है वैसे किसी अन्य देश में नहीं। यही कारण है कि जिस समय हम किसी भी दार्शनिक मान्यता की चर्चा करने बैठते हैं, हमें बहुत पीछे की ओर देखना पड़ता है। भारतीय चिन्तन-परम्परा के सम्बन्ध में भी ऐसा किये बगैर हम उसे समग्र रूप एवं सही सन्दर्भ में समझ सकने में समर्थ नहीं हो सकते। जहाँ तक जीव के स्वरूप से सम्बन्धित धारणाओं आदि का सम्बन्ध है, उसके विषय में विचार करते समय बिना प्रागैतिहासिक जीव-स्वरूप सम्बन्धी मान्यताओं का पता लगाये समूची भारतीय चिन्तन-परम्परा में स्वीकृत जीव के स्वरूप से भली भौति अवगत नहीं हुआ जा सकता। अतः प्रस्तुत अध्ययन में जीव-स्वरूप सम्बन्धी आरम्भिक मान्यताओं को प्रस्थान बिन्दु के रूप में स्वीकार किया गया है।

● जीव-स्वरूप सम्बन्धी आदिम मानव-धारणा

मानव के जीवन के बहुपक्षी अध्ययन के आधार पर अब यह धारणा पक्की हो चुकी है कि व्यक्ति और समाज की मनोदशा युगीन व्यवस्था को जन्म देने वाली परिस्थितियों के अनुरूप रूपायित होती है। युग विशेष की परिस्थितियाँ परिवर्तन को जिस दिशा में करवट बदलती है, उनमें जीवन-यापन करने वाले व्यक्ति और व्यक्ति के माध्यम से सारे समाज के धार्मिक विश्वास कारण-कार्य-सम्बन्ध के अनुरूप निर्मित

होने लगते हैं। तदनन्तर साकार होने वाली दार्शनिक मान्यताएँ भी सामाजिक व्यवस्था से प्रेरित होती हैं, जिसके फलस्वरूप समय पाकर धार्मिक विश्वासों और दार्शनिक मान्यताओं में परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। मनुष्य न तो किसी धार्मिक विश्वास को लेकर जन्म ग्रहण करता है और न ही ये विश्वास शाश्वत एवं परम सत्य ही हुआ करते हैं। भारतीय दर्शन-परम्परा में जीव सम्बन्धी विश्वासों एवं मान्यताओं के प्रसंग में भी यह नियम अपवाद नहीं है।

भारत के आदिम समाज में तद्द्युगीन आर्थिक, भौगोलिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप ही जीव सम्बन्धी धारणाओं का निर्माण हुआ है। जीव सम्बन्धी आरम्भिक अर्थात् आदिम मानव की धारणाओं एवं पूर्ण विकसित समाज में स्वीकृत जीव-स्वरूप सम्बन्धी दार्शनिक मान्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन में हम विचार की पुष्टि हो जाती है कि सभी युगों के धार्मिक विश्वास एवं दार्शनिक मान्यताएँ एक जैसी नहीं होती। कोई भी विश्वास एवं मान्यता एक साथ ही नहीं बन जाती या व्यक्ति को वह पहले से ही निमित्त एवं दाय के रूप में उपलब्ध नहीं हुआ करती। प्रसिद्ध समाजशास्त्री फ्रांसीसी विद्वान् द्यूर्वे न भी यही माना है कि धार्मिक विश्वासों का रूप अपने युग की परिस्थितियों के अनुसार निमित्त होता है। वे मानव जाति की आरम्भिक धार्मिक मान्यताओं के विषय में लिखते हैं कि उस युग के मानव की जीवन-यापन की पद्धति ही हम प्रकार की थी कि वह जादू-टोना एवं गुणचिह्नवाद तथा किसी भीमा तक सर्वात्मवाद के प्रति विश्वासी बना।^१ हमें यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय भारतीय जन-जीवन में अनिमानवी शक्तियों के रूप में देवी-देवताओं का अस्तित्व को स्वीकार किया गया, उस समय की परिस्थितियों में ऐसे ही धार्मिक विश्वासों का आविर्भाव हो सकता था।

समाजशास्त्रियों के अनुसार मानव-समाज का ज्ञान-विविज्ञ जव आरम्भ सीमित था तब वह प्राकृतिक शक्तियों की तुलना में स्वयं का अत्यन्त असहाय एवं अगमर्थ समझता था। उसकी प्रमुख समस्या यह थी कि वह किस प्रकार अपने लिए पेट भर भोजन जुटा सके। वह कशियों के रूप में एवं सीमित सगठन वाले समूह में रहता था तथा उसका सम्पूर्ण जीवन-व्यापार उगी व्यवस्था में अनुशासित था। उसे जगत् का संचालन करने वाली किसी विश्व चेतन्यमयी शक्ति तथा जीव और जगत् के साथ उस शक्ति के सम्बन्धों आदि के विषय में सोच-विचार करने का अवकाश ही नहीं था। उसका अधिकारण समय जीवन की प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति में ही व्यतीत हो जाता था। अतः उसकी प्रत्येक समस्या व्यावहारिक (भौतिक) जगत् से ही सम्बन्ध रखती थी। चेतना (जीवात्मा) और पदार्थ के स्वरूप एवं इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों आदि के विषय में सोचने की उसे फुसंत नहीं थी। वह केवल

^१ दि एनिमेटरी फार्म आफ गिनिजस लाईफ, भूमिका (१९६१) अंग्रेजी अनुवाद।

प्राकृतिक शक्तियों के प्रति सबल जिज्ञासा-वृत्ति में प्रेरित तो था, लेकिन उसका तत्काल-संगत समाधान प्राप्त करने में असमर्थ था ।

उपर्युक्त तथ्य इसी मान्यता से सम्बन्धित है कि आदिमानव का जन्म सामाजिक जीवन था, उसी के अनुरूप जीव सम्बन्धी उसके विश्वास भी बने । उसने सर्वप्रथम ज़ादू-टोना की गणना ली, क्योंकि जीविकोपार्जन के लिए उसे इसी से प्रत्यक्ष सहायता मिल सकती थी । ज़ादू-टोना के प्रसंग में ही उसके धार्मिक विश्वास गणचिह्नवाद और किसी सीमा तक सर्वात्मवाद के रूप में आगे बढ़े । इस स्थिति में उसके लिए वस्तुगत एवं आध्यात्मिक जीवन के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा खींच सकना सम्भव नहीं था । वह केवल इतना ही सोच सकना था कि उसके चारों ओर का सारा अलौकिक रहस्यमयता में परिपूर्ण है । इस रहस्यमयता की भावना ने आरम्भिक भारतीय समाज को पशु-पक्षियों एवं वृक्षों आदि में रहस्यात्मक आरोपण की दिशा में अग्रसर किया । उसने यह सोचा कि इनमें किसी रहस्यमयी अलौकिक शक्ति का निवास है, जो प्रसन्न रहने पर उसके जीवन में सुख का संचार कर सकती है और कुपित हो जाने की स्थिति में अनिष्टकार भी मिट्ट हो सकती है । धार्मिक विश्वासों के प्राकृतिक अध्ययन करने वालों ने इसे गणचिह्नवाद (टोटम) का नाम दिया है । इसके उपरान्त उसने विचार के क्षेत्र में और प्रगति की, जिसके फलस्वरूप वह सर्वात्मवाद की धारणा तक पहुँचा । वास्तव में गणचिह्नवाद और सर्वात्मवाद सम्बन्धी आरम्भिक धारणाएँ ही उसकी जीव सम्बन्धी मान्यताएँ हैं ।

आदिमानव की सर्वात्मवादी मान्यता के सम्बन्ध में टायलर महादेव ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि यह मान्यता आरम्भिक मानव-समाज की आत्मा के अस्तित्व की स्वीकृति है । इस मान्यता के अनुसार व्यक्ति की आत्मा (Spirit) शरीर के नाश के साथ ही नष्ट नहीं हो जाती, बल्कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह तदनु बनी रहती है ।^१ इस प्रसंग में यह व्याप्तव्य है कि आदिमानव की इस धारणा के अन्तर्गत धर्म का वह स्वरूप निर्मित नहीं हो पाया था, जिसे दुर्धर्म विकसित धर्म के रूप में परिभाषित करने हेतु ।^२

^१ प्रिंमिटिव कल्चर, भा० २, पृ० ११, वही० भा० १, पृ० २३ ।

^२ दि एलिमेंटरी फार्म ऑफ रिलिजियस लाईफ, (अंग्रेजी अनुवाद) पृ० ६१-६२ ।

“A religion is a unified system of beliefs and practices relative to sacred things, that is to say, things set apart and forbidden—beliefs and practices which unite into one single moral community called a Church, all those who adhere to them. The second element which thus finds a place in our definition is no less essential than the first, for by Showing that the idea of religion is inseparable from that of the Church, it makes it clear that religion should be an eminently collective thing.”

● आदिम मानव की जीव सम्बन्धी सामान्य मान्यताएँ

आदिम मानव के द्वारा मान्य सर्वात्मवाद के स्वरूप की आरम्भिक स्थिति में देवताओं जैसी शक्तिशाली आत्माओं के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है, जिसे उनके द्वारा स्वीकृत जीव का स्वरूप माना जा सकता है। उसकी इस मान्यता का आधार सम्भवतः कबीले के शक्तिशाली सरदार थे, जिनकी आज्ञाओं एवं निर्णयों को उसे शिरोधार्य करना पड़ता था। इसे हम बौद्धों के अर्हंत, जैनो के तीर्थंकर, वैदिक आर्यों के देवता एवं अन्त में उपनिषदों के ब्रह्म की अवधारणा का मूल उत्स भी कह सकते हैं। आदिमानव-समाज में धार्मिक विश्वास के रूप में जीव के सम्बन्ध में यह धारणा प्रचलित थी कि मानवात्मा का अस्तित्व शरीर से भिन्न है और कुछ अति मानवी आत्माएँ ऐसी हैं, जो व्यक्ति को सुख एवं दुःख देने में पूर्ण समर्थ हैं।^१ आदिमानव के जीव सम्बन्धी विश्वासों के बारे में विभिन्न मनो को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है

(क) आरम्भिक मानव समाज में विकसित समाज जैसे धार्मिक एवं दार्शनिक विश्वास नहीं थे।

(ख) जन-जीवन विशेषतः वस्तुपरक यथार्थ में संचालित था।

(ग) जाने-अनजाने मानव की सम्पूर्ण व्यावहारिक क्रियाएँ भौतिक जगत की यथार्थ स्थितियों से अनुशासित थीं।

(घ) मानव-समाज प्रकृति के रहस्यों में बिल्कुल अपरिचित था और इसी कारण उसके धार्मिक विश्वास मुख्यतः जादू-टोनें, गणचिह्नवाद और इस धारणा में प्रेरित थे कि आत्मा (चेतना) का अस्तित्व शरीर से भिन्न भी है। मानव-जीवन की इस मान्यता का आधार स्वप्न था, जिसमें मानवात्मा (चेतना) शरीर में स्वतन्त्र होकर भी क्रिया-रत रहती है।

(ङ) सामान्य मानव से अधिक शक्तिशाली अतिमानवी जीवों की सत्ता में विश्वास किया जाता था।

(च) कालान्तर में ज्ञान के क्षितिज के विस्तार के कारण धीरे-धीरे यह धारणा भी बननी गयी कि व्यक्ति की अनुभूतियाँ संवेदनाएँ और विचार किसी अज्ञात आत्म-सत्ता (Spirit) के द्वारा निमित्त एवं अनुशासित हैं।

(छ) आत्मा (चेतना) की अलग सत्ता की धारणा के कारण यह विश्वास भी था कि आत्मा दूसरा शरीर धारण करती है। वस्तुतः पुनर्जन्म का मूलाधार यही मान्यता है।

(ज) वीर पूर्वजों की अतिमानवी आत्मा सामान्य मानव के भौतिक जीवन को अपनी इच्छानुसार परिचालित कर सकती है।

^१ प्रिमिटिव कल्चर, भाग २, पृ० ११, वही० भाग १, पृ० २३।

प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन राजनीतिक पराधीनता-जन्य परिस्थितियों के कारण पर्याप्त समय तक रुका रहा। दामना की स्थिति में यहां के चिन्तकों की मनोवृत्ति ही ऐसी बनी रही कि उन्होंने अपने अतीत के गौरव की ओर ध्यान ही नहीं दिया। फलस्वरूप हम अपनी परम्परा के प्रति बहुत अधिक उदासीन हो गये। खोज और अन्वेषण की जिज्ञासा के अभाव के कारण देश की जनता केवल कुलाचार के माध्यम से प्राप्त परम्पराओं का अखि मूँद कर आचरण करती रही। पश्चिम के विद्वानों में विभिन्न क्षेत्रों की जानकारी की जिज्ञासा हुई, जिसके फलस्वरूप उन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन आरम्भ किया। उनके इस अध्ययन का उद्देश्य चाहे जो भी रहा हो लेकिन इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस देश के विद्वानों ने प्राचीन साहित्य में निहित भारतीय विचारधारा के गौरव को पाश्चात्य विद्वानों के अध्ययन के आलोक में ही अधिक देखा और समझा है। भारतीय चिन्तन-परम्परा के अध्ययन में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर प्रायः इसी निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि भारतीय चिन्तन-परम्परा मात्र आदर्शवादी ही नहीं रही है। महर्षई से देखने पर आरम्भ में ही इसके समानान्तर एक भौतिकवादी विचारधारा भी सक्रिय दिखायी देती है। अतः जीव-स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें भौतिकवादी दृष्टिकोण को भी उचित महत्त्व देना चाहिए।

● वेदों में जीव-विचार

आदर्शवादी एवं भौतिकवादी तत्त्वों का मिश्रण— 'वेदों में जीव-विचार' के सम्बन्ध में कुछ कहने में पहले लोकमान्य तिलक के विचार, जो उन्होंने गीता ग्रन्थ में व्यक्त किये हैं, उद्धृत करना सगत प्रतीत होता है। वे लिखते हैं कि दुःख से सभी मुक्ति चाहते हैं और सभी मुख की कामना करते हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने आधिभौतिक मुखवाद की चर्चा की है और भारतीय भौतिकवादियों का वही स्वरूप प्रस्तुत किया है, जैसा कि सर्वदर्शनसंग्रहकार माधवाचार्य तथा आदर्शवादी विचारक आचार्य णकर ने। आगे चलकर उन्होंने आधिभौतिकवादियों के विषय में इस प्रकार अपना विचार व्यक्त किया है

“इसलिए हम देखते हैं कि उन पण्डितों को भी कर्मयोग शास्त्र बहुत महत्त्व का मालूम होता है कि जो लोग पारलौकिक विषयों पर अनास्था रखते हैं, या जिन लोगों का अव्यक्त अध्यात्मज्ञान (ईश्वर) में विश्वास नहीं है। ऐसे पण्डितों ने पश्चिमी देशों में इस बात को बहुत चर्चा की है—और वह चर्चा अब तक जारी है—कि केवल आधिभौतिक शास्त्र की रीति से (सामारिक दृश्य युक्तिवाद) कर्म-अकर्मशास्त्र की उपपत्ति दिखायी जा सकती है या नहीं। इस चर्चा से उन लोगों ने निश्चय किया है कि नीतिशास्त्र का विवेचन करने में अध्यात्मशास्त्र की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। किसी कर्म के भले या बुरे होने का निर्णय उस कर्म के बाह्य परिणामों से—जो प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं, किया जाना चाहिए, और ऐसा ही किया भी जाता है। क्योंकि, मनुष्य जो-जो कर्म करता है, वह सब सुख के लिए या दुःख-निवारणार्थ ही किया करता है और तो क्या ‘सब मनुष्यों का सुख’ ही ऐहिक परमोद्देश है, और यदि सब कर्मों का अन्तिम दृश्य फल इस प्रकार निश्चित है, तो नीति-निर्णय का मूर्च्छा मार्ग यही होता चाहिए कि सब कर्मों की नीतिमत्ता निश्चित की जाय।” वे मुखवादियों का वर्ग-विभाजन करते हुए पुनः लिखते हैं

“उत्तम में पहला वर्ग केवल स्वार्थ मुखवादियों का है। इस ग्रन्थ का कहना है कि परलोक और परोपकार सब झूठ है। आध्यात्मिक धर्मशास्त्रों को चालाक लोगों ने अपना पेट भरणे के लिए लिखा है। इस जगत में स्वार्थ ही सत्य है, और जिस किसी उपाय में स्वार्थ सिद्ध हो सके, अथवा जिसके द्वारा स्वयं अपने आधिभौतिक सुख की वृद्धि हो उसको न्याय, प्रणम्य या श्रेयस्कर समझना चाहिए। हमारे हिन्दुस्तान में बहुत पुराने समय में चार्वाक ने बड़े उत्साह में इस मत का प्रतिपादन किया था और रामायण में जाबालि ने अयोध्याकाण्ड के अन्त में श्रीरामचन्द्र जी को जो कुटिल उपदेश दिया है वह, तथा महाभारत में वणिज कणिकनीनि (म० भा० आ० १४२) भी इसी मार्ग की है। चार्वाक का मत है कि जब पचम्हाभूत एकत्र होते हैं, तब उनके मिलाप में आत्मा नाम का एक गुण उत्पन्न हो जाता है, और देह के जलने पर उसके साथ-साथ यह भी जल जाता है। इसलिए विद्वानों का कर्तव्य है कि आत्मविचार के झड़ट में न पड़ कर जब तक वह शरीर जीवित अवस्था में है, तब तक ‘ऋण लेकर भी तपोहार मनाये, क्योंकि मरने पर कुछ शेष नहीं रह जाता। चार्वाक हिन्दुस्तान में पैदा हुआ था, इसलिए उसने घृत ही से अपनी तृष्णा बुझा ली। नहीं तो उसने सूत्र (ऋण कृत्वा घृत पिबेत्) का रूपान्तर ‘ऋण कृत्वा सुरा पिबेत्’ होता।”^१

लोकमान्य तिलक का गीता भाष्य (गीता रहस्य) अध्यात्मवादी एवं आदर्शवादी मान्यताओं में प्रेरित होकर लिखा गया है। इसलिए चार्वाक (भौतिकवादियों) के प्रति उनकी यह मान्यता माधवाचार्य एवं आचार्य शंकर की धारणाओं की समकक्षी है।

^१ गीता रहस्य, आधिभौतिकमुखवाद, पृ० ८१।

लेकिन इस प्रकार से व्यक्त किये गये विश्वासों के अध्ययन में यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता की रचना तक अवश्य एक ऐसी विचारधारा पूरी शक्ति के साथ इस अवधारणा के प्रचार में निरत थी, जिसके अनुसार न तो ईश्वर का अस्तित्व ही स्वीकार किया गया था और न ही आत्म-सत्ता के विषय में यह मान्य था कि स्वतन्त्र चेतन्य के रूप में वह शरीर में भिन्न अनादि, अनन्त एवं शाश्वत सत्ता है। यही ने हमें यह आधार भी प्राप्त हो जाता है कि भारतीय चिन्तन पूर्णतया अध्यात्म-मूलक ही नहीं रहा, उसका एक पक्ष भौतिकवादी चिन्तन-परम्परा में भी जुड़ा हुआ है। अब यह तथ्य स्पष्ट होकर सामने आ गया है कि सिद्धान्त किसी अन्वेषण का प्रस्थान बिन्दु न होकर 'अन्वेषण की उपलब्धि' होता है। जिस युग की जैसी आर्थिक एवं नृजन्य सामाजिक परिस्थितियाँ हुआ करती हैं, उन्हीं के अनुरूप उस युग के धार्मिक विश्वास एवं दार्शनिक अवधारणाएँ भी निर्मित होती हैं।

उपनिषत्पूर्व विचारधारा के सम्बन्ध में एम० हिग्यिन्स का मत है कि उस समय की विचारधारा का निर्माण करने वाली सामग्री हमें दो मूल स्रोतों में प्राप्त होती है जिनमें पहला है भारत में आकर बस जाने के बाद आर्यों द्वारा रचित मन्त्र और दूसरा ब्राह्मण ग्रन्थ। मन्त्र काल की परवर्ती कृतियाँ (ब्राह्मण ग्रन्थ) कर्म-काण्ड प्रधान एवं आदेश ग्रन्थ हैं। तदनन्तर उपनिषदों का स्थान आता है। अथर्ववेद सम्मेलन उपनिषदों के अन्तर्वर्ती समय में सामाजिक जीवन में पर्याप्त अन्तर आ गया था, जिसके कारण चिन्तन के क्षेत्र में परिवर्तन स्वाभाविक था। अतः उपनिषदों में जिस ब्रह्मवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया गया है, वस्तुतः वह वैदिक समाज की प्रेरक शक्ति नहीं था। कहा जाता है कि वरुण देवता की अवधारणा आर्य अपने साथ यथा लाये थे। बाद में यहाँ की परिस्थितियों के अनुरूप उन्होंने इन्द्र देवता की अवधारणा का निर्माण किया, और ऐसी स्थिति में प्रधान देवता वरुण गौण बन गया। वैदिक देवता प्राकृतिक शक्तियों के अनुरूप ही वस्तुित किये गये हैं। इस दृष्टि में यूनानी और वैदिक आर्यों के देवताओं के व्यक्तित्व में पर्याप्त साम्य है। जिस प्रकार यूनानी देवता अतिमानव के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं उसी प्रकार का व्यक्तित्व वैदिक देवताओं को भी प्राप्त हुआ है। यह बात और है कि परिस्थितियों में परिवर्तन की तेजी आ जाने के कारण यह व्यक्तित्वारोपण की प्रक्रिया वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में अधूरी ही रह गयी है और आदर्शवादी (ब्रह्मवादी) प्रभाव के कारण यह व्यक्तित्व पुनः निराकार की ओर उन्मुख हो गया है। फिर भी इन्द्र में जो अहंकार, हिंसा एवं शौर्य दिखायी देता है, वह अवधारण मानव के व्यक्तित्व के अनुरूप है। वैदिक आर्य जानि का मूल लक्ष्य ऐहिक सुखों की प्राप्ति एवं उन सुखों के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण था। ऐसी स्थिति में न तो स्वर्ग और नरक की अवधारणा के लिए ही अवकाश था और न जन्मान्तर का ही कोई प्रश्न उठ सकता था।

इस प्रकार वैदिक मन्त्रों में अभिव्यक्त विश्वासों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'ऋत' की अवधारणा बन जाने पर भी आरम्भिक वैदिक आर्यों की आत्म-अवधारणा जैसी कोई मान्यता नहीं बन पायी थी। परलोक और जन्मान्तर जैसी मान्यताएँ भी तब तक अज्ञात थी। उपनिषद् और गीता में उत्तरोत्तर विकसित 'लिंग शरीर' वाली अवधारणा भी सहिता-काल में नहीं बन पायी थी। यद्यपि आर्य-पूर्व समाज की मान्यताएँ एवं विश्वास अन्नभूमि की प्रक्रिया में स्वीकार किये जाने लगे थे, लेकिन तब तक का समाज ऐसी व्यवस्था में नहीं पहुँचा था, जिसमें ब्रह्मवादी अवधारणा को परल्वित एवं पुष्पित होने का अवसर मिलता। इसलिए कर्म की अवधारणा भी भिन्न प्रकार की थी। ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों की कर्मा विषयक अवधारणा का निर्माण अभी भ्रूणावस्था में ही था। इस सम्बन्ध में हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि सहिता-काल में जीव के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में आदर्शवादी दृष्टिकोण नहीं बन पाया था और न पदार्थ-ज्ञान्य चेतना की अवधारणा ही बन सकी थी - यद्यपि आधार दोनों अवधारणाओं के लिए निर्मित हो रहा था।

● वेदों में जीव-स्वरूप सम्बन्धी भौतिकवादी दृष्टिकोण

वैदिक साहित्य (सहिताओं) में वर्णित आर्यों की आरम्भिक जीवन-दृष्टि के अध्ययन में पता चलता है कि सभ्यता के युग में प्रवेश करने में पहले उनके जीव सम्बन्धी विचार दैनिक जीवन की परिस्थितियों से ही अधिक प्रभावित थे। उनके जीवन का अविभाज्य सन्ध यथार्थ समस्याओं अर्थात् जीविकोपार्जन में ही व्यतीत होता था। उनके लिए न-पूर्ण प्राकृतिक जगत रहस्यमय था। प्राकृतिक शक्तियों एवं देश के मूलनिवासियों (गिन्धु-सभ्यता वाली) पर विजय प्राप्त करना ही उनकी तब तक की मुख्य समस्या थी। जीवन की उन यथार्थ समस्याओं में निपटने के लिए उन्होंने इन्द्र, वरुण, अग्नि एवं सूर्य आदि प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व का आगोप किया। तब तक वे जीव (मानव-चेतना) की स्थिति अथवा उसके स्वरूप आदि के सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं सोच सके थे। न ही उनका ध्यान इस ओर ही गया था कि प्रत्येक मनुष्य का चेतन्य अलग-अलग है और हर एक शरीर में एक ही चेतन सत्ता का निवास है। शरीर के विनाश के उपरान्त जीव के आवागमन के सम्बन्ध में भी वे अधिक विचार नहीं कर पाए थे। ऋग्वेद की आरम्भिक ऋचाओं में जीव के आवागमन एवं उसकी भूमि आदि के सम्बन्ध में हमें कोई निश्चित धारणा नहीं प्राप्त होती।

प्राकृतिक शक्तियों में देवी-देवताओं का आगोपन कर उनसे अपनी मनो-कामना की पूर्ति के हेतु ही आरम्भिक (वैदिक) आर्य जाति यत्नशील दिखाई देती है। देवताओं को प्रसन्न करने के हेतु किए जाने वाले यज्ञों आदि में अन्तर्निहित ऋषियों की धारणा से यह स्पष्ट है कि आरम्भिक वैदिक समाज मात्र अभ्युदय कामी ही था। वह दैनिक जीवन में काम आने वाली सामग्री एवं साधनों के लिए

यज्ञयागादि के द्वारा देवताओं में याचना करता था कि वे उसके शत्रुओं का नाश करके उसके जीवन को सुख-समृद्धि में सम्पन्न बनाएँ। आरम्भिक वैदिक समाज में देवताओं में उन्हीं शक्तियों का आरोप किया गया है, जो उसे प्राप्त नहीं थी और जिन्हें वह अपने जीवन में साकार देखना चाहता था। वैदिक देवतावाद के पीछे यही प्रेरणा क्रियाशील दिखलाई देती है। जीव के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में वेदों में वर्णित आरम्भिक आर्य जाति की मान्यताएँ दार्शनिक चिन्तन की ऐसी उपलब्धियाँ नहीं हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि उनमें परवर्ती अध्यात्म-चिन्तन की भाँति जीव के स्वरूप, उसके पुर्नजन्म आदि के सम्बन्ध में कोई निश्चित दृष्टिकोण अपनाया गया है।

पूर्ववर्ती वैदिक ऋचाओं में वर्णित धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में के० दामोदरन का मत है कि ऋग्वेद विभिन्न देवी-देवताओं को अर्पित प्रशस्ति-पूर्ण स्तुतियों एवं प्रार्थनाओं का सङ्कलन है।^१ इनके अनुसार वैदिक आर्यों ने जड़-चेतन मृष्टि की रचना के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया है। इसमें यह अनुमान लगाना असंगत नहीं कि वे पच महाभूतों में ही जगत् की रचना स्वीकार करने प्रवीण होते हैं, लेकिन जीव के चैतन्य के विषय में उनकी अलग में कोई विशेष मान्यता स्थिर नहीं हो पाई थी। डा राधाकृष्णन का भी विचार है कि ऋग्वेद के ऋषियों ने पच महाभूतों को भी जगत् के चरम सत्य (मूल भौतिक कारण) के रूप में स्वीकार कर लिया था। उनकी यह धारणा सम्पूर्ण परिवर्तनशील वस्तुओं के मूलाधार की खोज की जिज्ञासा के उत्तर में सम्बन्धित थी।^२ के दामोदरन ऋग्वेद के जीव सम्बन्धी इन विचारों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वैदिक ऋषि पदार्थ को भी जगत् की रचना का मूल कारण स्वीकार करता था।^३ जगत्, जिसमें जीव भी शामिल है, में वैदिक ऋषियों का आशय जड़-चेतन मृष्टि से है। इसमें यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जीव-चैतन्य की उत्पत्ति मूल पदार्थ (द्रव्य) से मानने की धारणा भी किसी न किसी रूप में वैदिक समाज में थी।

आरम्भिक वैदिक विचारकों के जीव सम्बन्धी भौतिकवादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में नामदीयस्कन् में वर्णित ब्रह्माण्ड की चर्चा भी महत्वपूर्ण है। अध्यात्मवादियों एवं भौतिकवादियों—दोनों ने इस स्कन् में वर्णित ब्रह्माण्ड-रचना सम्बन्धी विश्वासों की व्याख्या अपने-अपने ढंग में की है। यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि धीरे-धीरे वैदिक देवतावाद की धारणाओं में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। देवाधिदेव की धारणा से पहले इन्द्र, मित्र, वरुण एवं अग्नि आदि को अलग-अलग तथा स्वतन्त्र देवता माना गया था और भिन्न-भिन्न प्राकृतिक शक्तियों को ही देवत्व प्रदान किया

^१ भारतीय चिन्तन-परम्परा, (हिन्दी अनुवाद) पृ० ३७।

^२ भारतीय दर्शन भा० १, वैदिक प्रकरण।

^३ भारतीय चिन्तन-परम्परा, अध्याय २।

गया था। लेकिन देवाधिदेव की मान्यता के निर्माण के बाद इन देवताओं को विराट पुरुष या हिरण्यगर्भ (देवाधिदेव) की विभिन्न शक्तियाँ या अभिधान मान लिया गया। उसमें देवताओं के स्वतन्त्र अस्तित्व की मान्यता का विचार गौण होना गया तथा जीव और जगत के प्रसंग में परमसत्ता के अद्वैतत्व का महत्व बढ़ गया। नामदीयसूक्त में स्पष्ट रूप से परमसत्ता को हिरण्यगर्भ का अभिधान देकर ब्रह्माण्ड की रचना एवं उसमें पूर्व की स्थिति पर विचार किया गया है।

आरम्भिक वैदिक समाज में जगत की रचना के मूलाधार की चर्चा करते हुए के० दामोदरन ने कुन्हन महोदय के माध्यम पर इस मत का प्रतिपादन किया है कि नामदीयसूक्तकार के अनुसार आत्मा (जीव-चेतन्य) पदार्थ से अलग स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।^१ कुन्हन का मत है कि नामदीयसूक्त में पदार्थ से अलग आत्मा के स्वतन्त्र चेतन्य की चर्चा नहीं की गयी है। सूक्तकार के अनुसार सम्पूर्ण दृश्य जगत अनन्त है। यह अनन्त ही हमें अनुभव-जगत-पदार्थ और क्रिया के द्वारा स्थापित दिखायी देता है। पूर्ण एवं एकात्मिक सत्ता के रूप में स्थित अनन्त में ही जीवन-नन्व की स्थिति है। यह विश्वास अनीश्वरवादियों की उस धारणा की ओर संकेत है, जिसके अनुसार पदार्थ ही मूल कारण है। विश्व की प्रक्रिया का कोई (उसमें भिन्न) सृष्टा नहीं क्योंकि भौतिकवादी पूर्ण एकात्मिक सत्ता (अनन्त) में ही जीवन-शक्ति को अन्तर्निहित मानते तथा परिवर्तन और गतिमय ससार के विकास को भी उसी अनन्त पदार्थ में अन्तर्भूत स्वीकार कर लेते हैं।^२ ऋग्वेद में हमें देवताओं के अस्तित्व के सम्बन्ध में कहीं-कहीं मन्दिर की भावना भी प्राप्त होती है। वैदिक विचारधारा के आदर्शवादी व्याख्याताओं ने भी किसी न किसी रूप में वेदों में जीव के सम्बन्ध में भौतिकवादी मान्यता की स्थिति को स्वीकार किया है।

● उपनिषदों में जीव सम्बन्धी भौतिकवादी धारणा

उपनिषदों में विभिन्न प्रसंगों में जड़-चेतन सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में बार-बार जिज्ञासात्मक प्रश्न उठाये गये हैं। उस युग के विचारकों में यह पुछा जाना रहा है कि जगत (मानव एवं मानवतर जड़-चेतन) की रचना किसने और किस प्रकार की है? सृष्टि का मूल उत्स क्या है और वह उसमें किस तरह उत्पन्न, अभिव्यक्त एवं विकसित या निर्मित हुई है? इसके साथ ही उस विषय में भी जिज्ञासा व्यक्त की गयी है कि चेतन जगत (जीव) की चेतना का मूलाधार क्या है? मानव को जीव में प्राप्त होने वाले सुखों और दुखों के कारण का कौन-सा समाधान स्वीकार किया जा सकता है? क्या मानव-जीवन को कोई मूलधार चेतन शक्ति है

^१ भारतीय चिन्तन-परम्परा, पृ० ८१, 'पोस्ट फिलासफर्स ऑफ दि ऋग्वेद, के आधार पर।

^२ डी० सी० कुन्हन, पोस्ट फिलासफर्स ऑफ दि ऋग्वेद, पृ० २३०।

अथवा उसके सृष्ट और दुःख उसके भौतिक जीवन के ही क्रिया-व्यापार है जो कारण-कार्य व्यापार से सम्बन्धित है ? जीव सम्बन्धी ये प्रश्न उपनिषदों में जीवन की यथार्थ स्थिति में अवगत होने के लिए ही किये गये हैं ।

उपनिषद मुख्यतः अध्यात्मविद्या (पराविद्या) प्रधान है फिर भी उनमें भौतिकवादी दृष्टि का सर्वथा अभाव नहीं है ।^१ उनमें जगत के प्रसंग में किये गये प्रश्नों के उत्तर में जीव सम्बन्धी भौतिकवादी दृष्टिकोण भी प्राप्त होता है । उपनिषदों की विचारधारा के तत्काल बाद जिम जैन एवं बौद्ध विचारधारा का सूत्रपात हुआ, वह औपनिषदिक ब्रह्मवादी दृष्टिकोण में पर्याप्त भिन्न एवं कर्म-फल के सम्बन्ध में ईश्वर की सत्ता के हस्तक्षेप की विरोधी थी । जैनसूत्रों एवं बौद्ध ग्रन्थों में ऐसे विचारकों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है जो सबल तर्कों एवं युक्तियों के द्वारा ईश्वरवादी मान्यताओं का कटु विरोध करते थे । इसमें यह अनुमान भी लगाया गया है कि वैदिक काल में जो भौतिकवादी अथवा यथार्थ दृष्टिपरक विचार, एक विशेष सामाजिक व्यवस्था में, ध्रूण-स्थिति में विद्यमान थे, वे कालान्तर में उपनिषदों में मान्य ईश्वरवाद के बाद दार्शनिक विचारधारा का रूप धारण करने लगे थे । अतः इसमें सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता कि जिम समय उपनिषदों के विचारक ब्रह्मवाद का प्रचार कर रहे थे, उस समय पदार्थ को ब्रह्माण्ड का मूलकारण स्वीकार करने वाले विचारक भी विद्यमान थे । औपनिषदिक विचारधारा का गहरा चिन्तन-मनन करने वाले जर्मन विद्वान् इयूमेन्त एवं भारतीय चिन्तक डाक्टर राधाकृष्ण और हिरण्यना ने भी यह स्वीकार किया है कि उपनिषदों के विचारकों ने किसी पूर्व निर्मित एवं निर्धारित धारणा का आश्रय न लेकर जीव और जगत सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया है ।^२ इसमें हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उपनिषदों में भी जीव के सम्बन्ध में भौतिकवादी दृष्टिकोण का अस्तित्व है ।

उपनिषदों में एक ओर अनादि आत्मतन्त्र से सृष्टि की रचना की धारणा का प्रतिपादन हुआ है तो दूसरी ओर जगत का अनादि एवं मूल कारण पदार्थ भी बतलाया गया है । तदनुसार जगत की रचना, उनकी स्थिति एवं क्रियाशीलता (गति) पदार्थ के अन्तर्निहित गुण के कारण भानी गयी है ।^३ वेदोपनिषत्समाहित्य में 'ब्रह्म' (परममत्त) के कई अर्थ हमें प्राप्त होते हैं । कहीं पर 'ब्रह्म' शब्द वेद का वाचक है और कहीं पर उसका प्रयोग वैदिक कर्मकाण्ड के लिए किया गया है । कहीं ब्रह्म को

^१ Lokayata (A study in Ancient Indian Materialism) B. Chattopadhyaya, Cronology, Probably between 800 B. C. and 600 B. C.

^२ दि प्रिमिपल उपनिषत्स, पृ० ५८१, ७०६, वृ० उप० ७-१-१६ ।

^३ छान्दो० उप० ६-२-१ में ३, वृ० उप० ५-५-१, तैत्ति० उप० २-१-१, तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशं सम्भूतम् । आकाशाद्वायुं, वायोरग्निं, अग्नेर्गणं, अद्भ्यं पृथ्वीं, पृथिव्या औषधयः, औषधीभ्योऽन्नम्, अन्नादेन रेतसः पुरुषं × × × ॥

‘रहस्यपूर्ण शक्ति’ का पर्याय माना गया है तो कही वह मन्त्र-शक्ति के अर्थ का द्योतक है। कही-कही ऋत (ब्रह्माण्डीय सिद्धान्त) के लिए भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग मिल जाता है। अन्तिम सत्य के रूप में ब्रह्म का प्रयोग करते हुए उपनिषदों में उसे पदार्थ, प्राण, मन बुद्धि और अन्त में आनन्द के रूप में वर्णित किया गया है। इस प्रकार के प्रसंगों की व्याख्याएँ भौतिकवादी एवं अध्यात्मवादी विचारक अपने-अपने ढंग से करते हैं। इससे भी इसी मत की पुष्टि हो जाती है कि उपनिषदों के रचयिताओं के सम्मुख जीव सम्बन्धी भौतिकवादी दृष्टिकोण अवश्य विद्यमान था और वे उसकी चर्चा के लिए विवश थे। आदर्शवादी विचारक जिम समय बन देकर इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि जीव अनादि एवं शाश्वत चैतन्य है,^१ तब यह स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि उन्हें अवश्य किसी ऐसी विचारधारा का खण्डन भी करना था, जो जीव (चेतना) को पदार्थ-जन्य मानने के साथ ही पदार्थ को ब्रह्माण्ड का मूल कारण भी स्वीकार करती थी। उसके अनुसार चेतना की उत्पत्ति पदार्थ के समवाय में ही निहित थी।

● वेदोपनिषद् में जीव-स्वरूप सम्बन्धी आदर्शवादी अवधारणा

यह तथ्य विद्वानों द्वारा निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि वैदिक आर्य भी आरम्भ में ही रहस्यपूर्ण चिन्तन और मनन एवं परलोक की अवधारणाओं के प्रति उस सीमा तक व्यस्त नहीं हो गये थे, जिसका अवलोकन हमें उनके द्वारा व्यक्त अध्यात्म सम्बन्धी विचारों में प्राप्त होता है। वे जन्मान्तरवाद जैसी मान्यता जीवन्-यापन के पहले उत्थान में ही नहीं बना पाये थे और न ही जीवनादर्श के रूप में ज्ञान, भक्ति और कर्म के उपायों की परवर्ती धारणाएँ ही उनके द्वारा स्वीकार की गयी थी। ऋग्वेद की आरम्भिक ऋचाओं में उन्होंने ऐहिक जीवन की जैसी सुखमयी कामना की है, उसे यहाँ के मूलनिवासियों के साथ हुए उनके संघर्ष के सदर्थ में रख कर देखने में पता चलता है कि तब तक ‘स्वर्ग’ की कामना के लिए यज्ञ करने का विचार भी निर्माण की स्थिति में ही था। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में देवताओं से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि दस्युओं का नाश करने में ममर्थ वे उनके इन शत्रुओं के शस्त्रों का नाश करें।^२ वरुण उनका सेनानायक देवता था। अग्नि देवता में वे जीवन का वरदान मांगते थे। देवताओं में दो ही प्रधान वस्तुएँ प्राप्त करना चाहते थे—एक शत्रुओं पर विजय और दूसरी भौतिक उन्नति, लम्बी आयु, पशुधन एवं सन्तान धन की वृद्धि तथा हर प्रकार की सुख-समृद्धि।^३

^१ छान्दोग्य ३-१४-१ सर्वं स्वस्थितं ब्रह्म तज्जालानीति शान्त उपासीत × × × ॥

^२ ऋ० वे० १०-२२-८, अकर्मादित्युभि नी अमन्तुरन्यत्रतो अमानुष । त्व तस्या भित्रहृन्वर्षदासस्य दम्भय ॥

^३ ऋ० वे० २-२१-६ इन्द्र श्रेष्ठानि द्राविणानि घेहि चिन्ति दक्षस्य सुभगत्वमस्मे । पोष रयीणामरिष्टि तनूना स्वाद्यानं वाच सुदिनत्वमन्हाम् ॥

वैदिक आर्यों की उक्त कामनाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि इस समय तक के उपलब्ध साहित्य के आरम्भिक युग में उनकी परवर्ती जीव—स्वरूप सम्बन्धी अवधारणाएँ निर्मित नहीं हो पायी थीं। धीरे-धीरे ही सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों एवं राज्य-व्यवस्था के परिवर्तन आदि के साथ जीव, जगत एवं अन्य दार्शनिक धारणाओं का निर्माण हुआ। समय ने बहुत जल्दी ऐसी करवट ली कि एक ओर स्वर्ग की कामना के लिए यज्ञ किये जाने लगे और दूसरी ओर अन्तर्भूति की प्रक्रिया की यात्रा में यहाँ के मूल निवासियों के विश्वासों को भी अपनाया गया एवं परिवर्तित परिस्थितियों ने भी जीव (जीवन) के सम्बन्ध में विभिन्न रीतियों से सोचने-विचारने के लिए मार्ग प्रस्तुत किया। जिन मन्त्रों में जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है, वे परवर्ती रचनाएँ हैं। उनमें यह स्पष्ट ध्वनित होना है कि उस समय तक परिस्थितियों में पर्याप्त अन्तर आ गया था, जिन्होंने मानव के यथार्थ जीवन में ऊपर उठकर अध्यात्म-चिन्तन की ओर विचारकों को प्रेरित कर दिया था। इस नये चिन्तन में जिस साहित्य की रचना हुई, वह उपनिषद है। इन रचनाओं में जीव के स्वरूप के विषय में आदर्शवादी दृष्टि का प्राधान्य है—यद्यपि उपनिषदों में जीव के सम्बन्ध में भौतिकवादी दृष्टिकोण की चर्चाएँ भी हुई हैं। अतः हम कह सकते हैं कि महिनाओं में जीव को मुख्यतः मानव-जीवन के ऐहिक रूप में ही देखा एवं विचारा गया है।

औपनिषदिक विचारधारा इस दृष्टि में दार्शनिक चिन्तन की नवीनता में सम्बन्धित है क्योंकि उसमें वैदिक कर्मकाण्ड के साथ ही जीव और जगत के साथ परम सत्ता के सम्बन्धों एवं जीव के परमध्यय के विषय में भी विचार किया गया है। उपनिषद्विचार ब्राह्मणों के द्वारा किया गया नवीन चिन्तन नहीं, अपितु उसमें क्षत्रिय वर्ण का भी पर्याप्त योगदान है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह काल पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्था के विघटन एवं नयी वर्ग-व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) के आविर्भाव एवं उत्कर्ष की ओर बढ़ते चरणों का समय है। राज्यों के निर्माण में यद्यपि उस युग के ब्राह्मण वर्ण के हित भी अन्तर्निहित थे, लेकिन इसके कारण मुख्यतः क्षत्रियों का प्रभुत्व बड़ा और उन्होंने औपनिषदिक अध्यात्मविद्या के प्रचार में विशेष रुचि का परिचय दिया। इस समय बहुदेववादी अवधारणा के महत्त्व को गौण बना कर एकेश्वरवादी विचार-धारा स्वयं को अग्रिम पंक्ति में खड़ा करने में सफल हुई है। उपनिषदों में किसी एक ही समय में नहीं लिखी गयी, क्योंकि इनकी विचार-शृंखला में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। इसे ऐसा भी माना जा सकता है कि इन उपनिषदों में आये विचार विभिन्न समय में विभिन्न विचारकों के चिन्तन के परिणाम हैं।

उपनिषदों में मुख्यतः जीव की मानसिक स्थितियों एवं समस्याओं के विषय में ही अधिक विचार किया गया है। यह युगीन (परिवर्तित) परिस्थितियों का ही परिणाम है कि पूर्ववर्ती मान्यताओं के प्रति उदासीनता का भाव दिखलाया गया है और बौद्धिकता की शरण लेते हुए जीवन और जीव के परमलक्ष्य की ओर रुचि

प्रदर्शित हुई है। इस युग के चिन्तक ने वस्तुओं पर मन की स्थिरता का अनुभव किया। उसकी दृष्टि इन्द्रियों के द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्यों के कारण की ओर गयी और वह इस दिशा में सोचने की ओर भी अग्रसर हुआ कि व्यक्ति (प्राणी) उत्पन्न कैसे हुआ और जीवित कैसे रहता है। किसी को मुख और किसी को दुख कयो प्राप्त होता है। जीवन की चतुर्मुखी निरन्तर गतिमयता ने भी उसे मूल कारण की खोज में आगे बढ़ने की दिशा में प्रेरित किया। स्वप्न एवं सुषुप्ति की अवस्था के अनुभवों ने भी उसके सम्मुख कई प्रकार के प्रश्न खड़े कर दिये, जिनका उत्तर प्राप्त करना उसके लिए आवश्यक हो गया।

उपर्युक्त प्रश्नों ने इस युग के चिन्तक को विशेष रूप से आन्दोलित किया है और उसने इसके उत्तर भी प्राप्त किये हैं। लेकिन उत्तर एक जैसे न होकर उनकी स्वतन्त्र उपलब्धियाँ हैं। अतः जो लोग यह सोचते हैं कि उपनिषदों किसी निश्चित एवं समान विचारधारा का प्रतिपादन है, वे या तो भ्रम में हैं अथवा किसी पूर्व ग्रह से प्रेरित हैं। उपनिषदों में उठाये गये प्रश्नों के जो उत्तर हैं, उन्हें सामने रखकर एक निष्कर्ष तो यह निकाला जा सकता है कि उस युग का विचारक जीवन सम्बन्धी सम्पूर्ण समस्याओं पर दो दृष्टियों से विचार कर रहा था। एक दृष्टि यह थी कि सम्पूर्ण जगत् अर्थात् जड-चैतन्य मृष्टि का मूलाधार ब्रह्म (परम चैतन्य प्रकाश-विमर्शमयी सत्ता) है। दूसरी दृष्टि ब्रह्म नामक उक्त सत्ता को मूल कारण स्वीकार न कर पदार्थ को ही मूलाधार मानती है और उसी में जीवन एवं गति की शक्ति को निहित स्वीकार करती है।

मुण्डकोपनिषद् में उच्चकोटि के ज्ञान (पराविद्या) और न्यूनकोटि के ज्ञान (अपराविद्या) के रूप में ज्ञान के दो भेद स्वीकार किये गये हैं। तदनुसार वैदिक कर्मकाण्ड अपराविद्या और सर्वव्यापी शाश्वत तत्त्व (ब्रह्म) का ज्ञान पराविद्या अर्थात् पराकोटि का ज्ञान है।^१ आदर्शवादी दृष्टिकोण से सोचने वाले ऋषियों के मत में आत्मा स्वतन्त्र चैतन्य है एवं शरीर में भिन्न उसकी अलग सत्ता है। वे ब्रह्म को जगत् का मूलभूत कारण स्वीकार करते हैं तथा आत्मा (जीव) और ब्रह्म में अन्त अभेद मानते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में भी अनादि तत्त्व (सत्) के अस्तित्व की चर्चा के प्रसंग में 'सत्' का अर्थ ब्रह्म किया गया है और आरम्भ में केवल उसी की सत्ता मानी गयी है। तदनुसार जगत् का मूल कारण ब्रह्म (सत्) है एवं उसी से अग्नि एवं उसके उपरान्त सर्वा तत्त्वों की उत्पत्ति हुई है।^२ यहाँ ध्यानार्थ तथ्य यह है कि उपनिषदों की अध्यात्मवादी विचारणा के अनुसार आत्मा और ब्रह्म दो स्वतन्त्र सत्ताएँ नहीं हैं। अतः यह स्पष्ट है कि इस धारणा वाले ऋषि आत्मा (जीव) को पदार्थ—समवाय में जनित्र चेतना स्वीकार नहीं करते। तैत्तिरीय

^१ मुण्डक० उप० १-१-४, ५।

^२ छा० उप० ६-२-१/३, सदेव सोम्यभेदमग्र आसीदनेकमेवाद्वितीयम् × × ॥

उपनिषद् में आत्मा से आकाश की उत्पत्ति के उपरान्त अन्न और अन्न से वीर्य तथा वीर्य से मनुष्य की उत्पत्ति की चर्चा भी इस तथ्य का संकेत है कि आदर्शवादी दृष्टि-कोण के अनुसार आत्मा पदार्थ के समवाय के द्वारा उत्पन्न चेतना नहीं, बल्कि उसका अनादि एवं शरीर से भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व है ।^१

श्वेताश्वतर उपनिषद् में एक स्थान पर यह स्पष्ट तौर पर उल्लेख किया गया है कि समय, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पचभूत आदि कोई भी जगत का मूलकारण नहीं है । इसके साथ ही जगत को उक्त तत्त्वों का समवाय भी न मानकर आत्मा के अस्तित्व को ही स्वीकार कर लिया है ।^२ उपनिषद्कार ने अन्त में जब यह सोचा कि मानव की सत्ता उसके प्राणों के कारण है, तब उसने यह विश्वास बना लिया कि शरीर में स्थित यह प्राण आत्मा है और विश्व में स्थित इसी प्राणशक्ति को उसने ब्रह्म कहा । फलस्वरूप आत्मा को भौतिक शरीर की जीवन शक्ति और ब्रह्म को अनुभवाती सत्ता के रूप में विश्व की जीवन शक्ति स्वीकार किया गया है । सम्भवतः शरीर एवं सकल ब्रह्माण्ड में वायु की (प्राण शक्ति) व्यापकता के भाव ने ही इस अवधारणा को जन्म दिया जो कालान्तर में विशेष चिन्तन की आँच में पक कर दोनों की समरूपता के सिद्धान्त के रूप में साकार हुई । इसी विचारणा के आधार पर 'मै' और 'मेरा' की 'मीमांसा' में अतीत आत्मा एवं परमात्म-सत्ता की धारणा भी बनी । आत्म-सिद्धान्त की खोज का आधार मनोवैज्ञानिक है भी; क्योंकि इसकी पणिकल्पना मनुष्य की स्थिति पर आधारित है और इसे तुरीयावस्था कहा गया है ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को प्रकाशस्वरूप चैतन्य के रूप में स्वीकार किया गया है । तदनुसार मानव का प्रकाश उसकी आत्मा है । इसी प्रकाश के कारण मनुष्य चेतन एवं ज्ञाता है तथा उसे ज्ञेय के साथ ही अपने ज्ञानृत्व का बोध होता रहता है । आत्मा की सर्वव्यापकता की तर्क-संगत सिद्धि के लिए पानी में घुले हुए नमक से उसे उपमित किया गया है । इसी साक्ष्य के आधार पर आत्मा को चिरंतन और अनश्वर माना गया है । इसी प्रसंग में ऋषि ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को यह भी स्पष्ट किया है कि आत्मतत्त्व मनुष्य के प्राणतत्त्व से भिन्न एवं स्वतन्त्रचैतन्य है ।^३ उपनिषद् के इस विचार के अनुसार आत्मा ही परमात्मा है क्योंकि आत्म-ज्ञान ही परमात्म-ज्ञान है । यही विश्वास छान्दोग्योपनिषद् में भी दुहराया गया है ।

^१ तैत्ति० उप० २-१-१, तस्माद्वा एतस्यादात्म न आकाश मभूत् ।

^२ श्वे० उप० १-२, कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इति तित्थयम् । संयोग एषा न त्वनात्मा-अप्यनीश सुख-दुःख हेतो ॥

^३ अस्तमिति आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यतमिते शान्तेऽग्नी शान्ताया वाचि किञ्चिज्ज्योतिरेवाय पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवाय ज्योतिषास्ते पत्ययते कर्म कर्त्ते विपत्येतीति ॥

उद्दालक एक प्रसंग में अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाते हुए कहते हैं कि ब्रह्माण्ड का सारतत्त्व आत्मा है। मनुष्य के आत्मतत्त्व और विश्वात्मतत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। तैत्तिरीयोपनिषद् में इसी आशय को एक दूसरे ढंग से प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म को न जानने की बात कहने वाला अपने अस्तित्व को ही नकारता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में अद्वैतवादी (आदर्शवादी) विचारधारा का अत्यधिक उपवृंहण करते हुए उस व्यक्ति को अज्ञानी की सजा दी गयी है, जो इस अनुभव-साक्ष्य के अनुसार आचरण नहीं करता कि वह स्वयं ही ब्रह्मस्वरूप या 'ब्रह्म' है। इस प्रसंग में विशेष कर ध्यातव्य बात यह है कि इसके द्वारा एक ओर देववाद या बहुदेववाद का खण्डन किया गया है और दूसरी ओर आध्यात्म-अनुभव के आधार पर यह मिथ्या करने का प्रयत्न भी है कि सभी कुछ ब्रह्ममय है। इसी कारण किसी देवता को अपने से अलग एवं दैवीय शक्ति मानकर उसकी पूजोपासना करने का निषेध भी किया गया है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति ज्ञानं उपासीत' द्वारा इसी आशय का समर्थन हुआ है। इस प्रकार अध्यात्मवादी (आदर्शवादी) ऋषियों ने सम्पूर्ण जागतिक घटना-व्यापार को परमात्मा (ब्रह्म) की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है। मुण्डक उपनिषद् में 'ब्रह्म ही ब्रह्माण्ड है,' कहकर ब्रह्म की सर्वव्यापकता^१ स्वीकार गयी है, जो आत्मा सम्बन्धी आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिचायक है।

उपनिषदों की विचारधारा के सम्बन्ध में यह भी ध्यातव्य है कि भौतिकवादी दृष्टि के रहते हुए भी उन में प्राधान्य आदर्शवादी दृष्टि का ही है। कई विद्वानों के अनुसार उपनिषदों में अभिव्यक्त भौतिकवादी विचार मूल तथ्य नहीं, अपितु उनका उल्लेख, मात्र खण्डन करने के हेतु किया गया है। लेकिन इससे एक दूसरा तथ्य भी हमारे सम्मुख उपस्थित होता है कि उपनिषदों में भौतिकवादी विचारधारा के प्राबल्य की स्पष्ट स्वीकृति है। उपनिषदों में कई प्रसंगों में अन्न की प्राप्ति के उपायों तथा अन्न का सर्वोपरि स्वीकार करने का विश्वास भी प्रकट हुआ है। फिर भी इस तथ्य को भुलाया नहीं जा सकता कि उपनिषदों में भौतिकवादी विचारधारा का बाहुल्य नहीं है, और न ही उनका मूलस्वर ही भौतिकवादी है।

● आदर्शवादी-भौतिकवादी विचारधारा का संघर्ष

परिस्थितियाँ— भौतिकवादी दृष्टि से सिद्धान्त किसी अन्वेषण का प्रस्थान-बिन्दु न होकर 'अन्वेषण की उपलब्धि' होता है।^१ प्रकृति एवं मानव-जीवन के आचरण (Behaviour) में सिद्धान्त निःसृत होता है, अतः वह जीवन का शाश्वत नियम नहीं। इसलिए किसी शाश्वत नियम को स्वीकार कर, उसे प्रकृति एवं मानव-जीवन पर लागू करना गलत निष्कर्षों को प्राप्त करने का गलत प्रयत्न होगा। अतः कोई भी सिद्धान्त प्रकृति एवं इतिहास की अन्विति में ही श्राव्य हो सकता है। एंगेल्स की इस धारणा को आधार बनाकर के० दामोदरन का निष्कर्ष है कि भारतीय दर्शन-परम्परा के आदर्शवादी विचारको ने एकांगी (आदर्शवादी) दृष्टिकोण को अपनाया है। उनके अनुसार 'भारत की वेदान्तिक चेतना' पर बल देकर यह भुना दिया गया है कि भारतीय दर्शन-परम्परा के निर्माण में भौतिकवादी चिन्तकों का भी पर्याप्त योगदान है।^२

नासदीयमूकन में पदार्थ से अलग आत्मा के स्वतन्त्र चैतन्य की चर्चा नहीं की गई है। मूकनकार के अनुसार सम्पूर्ण दृश्य जगत अनन्त है। यह अनन्त ही हमें अनुभव जगत में पदार्थ और क्रिया के द्वारा रूपायित दिखायी देता है। पूर्ण एवं एकात्मिक सत्ता के रूप में स्थित अनन्त में ही जीवन-तत्त्व की स्थिति है। यह विश्वास अनीश्वर-वादियों की उस धारणा की ओर संकेत है, जिसके अनुसार पदार्थ ही मूल कारण है। विश्व की प्रक्रिया का कोई सृष्टा नहीं क्योंकि भौतिकवादी पूर्ण एकात्मिक सत्ता (अनन्त) में ही जीवन-शक्ति को अन्तर्निहित मानते हैं तथा परिवर्तन और गतिमय ससार के विकास को भी उसी अनन्त पदार्थ में अभिव्यक्त स्वीकार करते हैं।^३

^१ विशेष विवरण के लिए देखिए. दि कारेस्पाडेन्स आफ मार्क्स एण्ड एंगेल्स, एवं एंगेल्स के द्वारा ड्यूरिंग के मत का खण्डन,

^२ भारतीय चिन्तन-परम्परा, प्रस्तावना, पृ० २,

^३ डी० सी० कुन्हुन, पोस्ट फिलोसफर्स आफ दि ऋग्वेद, पृ० २३०,

ऋग्वेद में हमें देवताओं के अस्तित्व के सम्बन्ध में भी सन्देह की भावना प्राप्त होती है। वैदिक विचारधारा के आदर्शवादी व्याख्याताओं ने भी यह स्वीकार किया है कि वेदों में जीव और जगत के सम्बन्ध में भौतिकवादी दृष्टि का आत्यन्तिक अभाव नहीं है।

इस सम्बन्ध में यदि हम आदिम सामाजिक परिस्थितियों-प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन करें तो भौतिकवादी एवं आदर्शवादी धारणाओं के निर्माण के प्रेरक तत्त्वों का स्पष्ट रूप से पता चल जायगा। मानव-जाति की आरम्भिक जीवन की परिस्थितियों के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय वह कबीलों और कुलों की व्यवस्था के रूप में जीवन-यापन करती थी। उसने 'गणचिह्न' के रूप में अपने धार्मिक विश्वास बनाये थे, क्योंकि उसका मसार मुख्यतः पशु-पक्षियों एवं वनस्पति-जगत से ही सम्बन्धित था। ये गण-चिह्न ही ऐसे प्रतीक थे, जिनके द्वारा उस युग के मानव की नैतिक भावनाओं की सामूहिक स्वीकृति का कार्य सम्पन्न हो जाता था।^१ प्रकृति के प्रकोपों के प्रति असमर्थता के कारण ऐसी विचारधारा भी सक्रिय रही है। जीव-स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें भौतिकवादी दृष्टिकोण को भी उचित स्थान देना ही चाहिए। मानव ने जादू-टोना के द्वारा शक्तियों को नियन्त्रित कर सकने का विश्वास बनाया, जिसमें उसने नृत्य और बलि आदि के उपायों को भी सम्मिलित कर लिया। कृषि युग में प्रवेश करने पर उसका समूचा कर्मकाण्ड कृषि-केन्द्रित हो गया। इसके सम्बन्ध में जार्ज थामसन का मत है कि जादू-टोना आदि अनुष्ठान मानव की आवश्यकता-जन्य उस प्रवृत्ति में प्रेरित हैं, जिसके अन्तर्गत वह इनके द्वारा प्रतिकूल शक्तियों को 'स्ववश' बनाने का विश्वास करता है। कई विचारकों के मत में उस युग के मानव की यह भावना धार्मिक नहीं मानी जा सकती, क्योंकि धर्म का प्रेरक भाव चेतना-युक्त अधोक्षिक शक्तियाँ (Agents) होती हैं। इनके सम्बन्ध में यह विश्वास आवश्यक होता है कि ये शक्तियाँ प्रार्थयिता की इच्छाओं-एषणाओं को पूर्ण बनाने में समर्थ हैं।^२ परन्तु कुछ विद्वान् जादू-टोना, गणचिह्नवाद एवं सर्वात्मवाद जैसी मान्यताओं को भी धर्म के अन्तर्गत मानते हैं। वस्तुतः ये धर्म-विक्रम की परम्परा के प्रारूप हैं। इन आरम्भिक विश्वासों एवं सम्यतायुगीन धार्मिक विश्वासों के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर है। के० दामोदरन के अनुसार सर्वात्मवाद, प्रकृति की आराधना, गणचिह्न, जादू-टोना एवं प्रेन (पितर) पूजा आदि की भावनाओं ने धर्म के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।^३

^१ जॉन लेविस, दि रिलिजन्स आफ दि वर्ल्ड मेड सिम्पल, पृ० २१, एरेनफेल्स, कांडर आफ कोचीन, पृ० १८०, जार्ज थामसन, स्टडीज इन एनशियेण्ट ग्रीक सोसाइटी, पृ० ३६,

^२ फ्रेजर मैजिक एण्ड रिलिजन, पृ० ८३-८४,

^३ के० दामोदरन, भारतीय चिन्तन-परम्परा, पृ० २६-३०,

आर्यों के आगमन के उपरान्त सिन्धु-सभ्यता के सामाजिक जीवन एवं उसमें प्रचलित धार्मिक विश्वासों में पर्याप्त परिवर्तन हुआ। यहाँ के इन मूल निवासियों पर विजय के उपरान्त अन्तर्भुक्ति की प्रक्रिया आरम्भ हुई, जिसके फलस्वरूप अनेक पूर्ववर्ती धार्मिक आचार एवं विश्वास स्वीकार कर लिए गये। उस समय देश के अधिकांश भागों में कुल-कबीलों वाली व्यवस्था ही प्रचलित थी। आर्यों के प्रसार के साथ ही आरम्भिक कबीलों एवं कुलों वाले समाज में तेजी से परिवर्तन हुआ और जल्दी ही गण-समूहों के उपरान्त साम्राज्य-व्यवस्था का प्रभाव बढ़ने लगा। इसी समय वर्ण-व्यवस्था बलवती हुई। वर्ण-हीन समाज का रूप वर्गात्मक बन गया। एक साथ समूचे मानव-समाज में एक जैसी व्यवस्था का प्रचलन सम्भव नहीं था और सभी नवोत्थित राज्य-व्यवस्था को स्वेच्छा से स्वीकार करने के लिए सहमत भी नहीं हो सकते थे। इसलिए धार्मिक मान्यताओं एवं चिन्तन के क्षेत्र में वैचारिक मघर्ष की जन्म मिलना स्वाभाविक ही था। उन लोगों, जिनका जीवन सहज जीवन के रूप में व्यतीत होना था और जो आर्यों की वर्ण-व्यवस्था एवं वर्ण-समाज से अभ्यस्त नहीं थे, में वैचारिक क्रान्ति ने जन्म लिया। उन्होंने ब्राह्मण व्यवस्था एवं उसके धार्मिक विश्वासों का विरोध किया तथा उभरती हुई आदर्शवादी मान्यताओं के विरोध में ईश्वरवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि जगत का निर्माण स्वभाव या यदृच्छावाद के अनुसार होता है। उसकी निर्मायक शक्ति ईश्वर नहीं है। जगत का मूल कारण पदार्थ है और उसी के समवाय से जगत निर्मित होता है। ईश्वर की भाँति ही जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व की मान्यता को भी उन्होंने अस्वीकार किया। वे यह कहते रहे कि जीव (चेतना) अनादि स्वतन्त्र सत्ता नहीं बल्कि वह नस्वों के मिश्रण में उद्भूत है। शरीर के नाश के साथ ही इसका भी नाश हो जाता है। इस प्रकार की विरोधी विचारधाराओं के समय को ही हम आदर्शवादी एवं भौतिकवादी विचारधाराओं का सघर्ष-काल कह सकते हैं।

आदर्शवाद की विजय—आचार्य शंकर ने लोकायतों के भौतिकवादी दृष्टिकोण का खण्डन किया है। इसके साथ ही उन्हें प्रकृत जन-समूह की कोटि में रखते हुए भोगवादी माना है। सांख्य दर्शन के प्रकृति-सिद्धान्त के खण्डन में भी उन्होंने यही दृष्टिकोण अपनाया है। उनसे पहले बादरायण के ब्रह्मसूत्रों और गौडपादकारिका में भी हमें लोकायत-विचारधारा का खण्डन प्राप्त होता है। 'सर्वदर्शन-संग्रह' में माधवाचार्य ने भी अपने विचार-गुरु आचार्य शंकर की मान्यताओं का अनुसरण करते हुए चार्वाकों की भौतिकवादी विचारधारा को ऐहिक सुखों की एषणा बतला कर, उसका विरोध किया है। इसके पीछे आदर्शवादी मान्यताओं की स्थापना का आग्रह ही क्रियाशील प्रतीत होता है। वस्तुतः लोकायतों ने उभरती हुई आदर्शवादी प्रवृत्तियों का कठोर विरोध किया था क्योंकि वे पदार्थ को जगत का मूलकारण मानते थे। उनका यह विचार ईश्वरवादियों की उन मान्यताओं को अस्वीकार करता है, जिनके प्रचार के लिए अनुकूल वातावरण बन गया था। इसलिए भौतिकवादी दृष्टि से जीव

और जगत के सम्बन्ध में विचार करने वालों को इसके विरोध में और अधिक सक्रिय होना पड़ा था।

आदर्शवादी विचारधारा के आत्यन्तिक प्रभाव में पहले की परिस्थितियों पर विचार करते हुए आधुनिक भौतिकवादी विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारतीय चिन्तन-परम्परा को, उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाश में, शुद्ध आदर्शवादी परम्परा स्वीकार करना उचित नहीं है। उनका मत है कि भारतीय चिन्तन-परम्परा में ईश्वरवाद की उपलब्धि को सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही देखा-परखा जाना चाहिए। इसके सम्बन्ध में भारत के सामाजिक इतिहास का अध्ययन करते हुए उन्होंने यह बतलाया है कि ईश्वरवादी दृष्टिकोण, कबीलों और कुलों की सामाजिक व्यवस्था के टूटने एवं वर्ग तथा वर्ण-व्यवस्था के पनपने के उपरान्त ही बना है। लेकिन इस आदर्शवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ उस विचारधारा ने भी अपने लिए स्थान बनाए रखा है, जिसके फलस्वरूप समय-समय पर विचारक जीव, जगत और ब्रह्माण्ड के मूल कारण के सम्बन्ध में भौतिकवादी दृष्टि से काम लेते रहे हैं। 'पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप प्रचलित मान्यताओं को पोंछे धकेल कर साम्राज्यवादी व्यवस्था के समय आदर्शवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ा', इसे वे स्वीकार करते हैं। परन्तु वे यह भी मानते हैं कि आदर्शवादी विचारों के विरोध में भौतिकवादी विचार भी क्रियाशील रहे हैं एवं इन दोनों में परस्पर पर्याप्त सघर्ष भी होता रहा है। आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार भारतीय दर्शन-परम्परा का अध्ययन करने वाले आधुनिक आदर्शवादी विचारकों ने भी यह स्वीकार किया है कि आदर्शवादी विचारधारा, भौतिकवादी विचारधारा के साथ सघर्ष में विजयी हुई है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि जिस समय ईश्वरवादी विचारधारा का चिन्तन के क्षेत्र में आत्यन्तिक प्रभाव था, उस समय भी भौतिकवादी विचारक जागतिक समस्याओं के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे थे। हमें बौद्ध एवं जैन-ग्रन्थों के साथ-साथ रामायण और महाभारत में भी भौतिकवादी विचारधारा एवं भौतिकवादी विचारकों के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। ये रचनाएँ स्वयं आदर्शवादी दृष्टिकोण के पक्ष का समर्थन करती हैं। इनमें भौतिकवादियों की मान्यताओं के उल्लंघन प्रतिपक्षी या विरोधी विचारधारा के रूप में हुए हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिकवादी विचारधारा एवं आदर्शवादी विचारधारा में परस्पर पर्याप्त सघर्ष रहा है। परिस्थितियों के प्रतिकूल होने के कारण आगे चलकर भौतिकवादी विचारधारा 'जीवन दर्शन-प्रणाली' के लुप्त रूप में मृत प्रायः हो गई। आदर्शवाद का प्रभाव इतना अधिक बढ़ा कि सांख्य एवं वैशेषिक दर्शन जैसी भौतिकवादी स्वर प्रधान दर्शन-प्रणालियों में भी स्वतन्त्र चैतन्य के रूप में आत्मा को और जगत की रचना करने वाली शक्ति के रूप में ईश्वर की सत्ता को मान लिया गया।

● सांख्य-योग विचारधारा के अनुसार जीव-स्वरूप

आरम्भिक सांख्य—कुछ विद्वानों का विचार है कि सांख्यकारिका में जिस

रूप में साख्य-विचारधारा को प्रस्तुत किया गया है, उस पर पर्याप्त आदर्शवादी (ईश्वरवादी) प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके सम्बन्ध में श्री० चट्टोपाध्याय ने अपनी रचना 'लोकायत' में बहुत अधिक विस्तार के साथ विचार किया है। साख्य विचार-सरणि प्राचीनतम दार्शनिक प्रणालियों में से है और किसी समय इस दर्शन-प्रणाली का भारतीय जन-जीवन पर पर्याप्त प्रभाव भी रहा है। डैवीज 'हिन्दू फिलासफी' में लिखते हैं कि विश्व और मानव की उत्पत्ति एवं अन्य ऐसे ही विषयों के सम्बन्ध में तर्क और युक्ति से जिन दर्शन-प्रणालियों में काम लिया गया है, उनमें साख्यो का विशेष महत्त्व है। महाभारत के शान्तिपर्व के एक प्रसंग में प्रह्लाद के द्वारा जिस गीति से जीव (मानव-चेतना) की चर्चा की गई है, उसके अनुसार प्रकृति (प्रधान) ही परम है और इसे स्वयमेव अस्मित्वमयी सत्ता स्वीकार किया गया है। जीव के सम्बन्ध में आदर्शवादी दृष्टिकोण से भिन्न यह कहा गया है कि जीव को प्राप्त होने वाले सुख और दुःख आदि के सम्बन्ध में ईश्वर के हस्तक्षेप आदि की चर्चा करना बिल्कुल व्यर्थ, युक्ति एवं तर्क को तिलाञ्जलि दे देने के समान है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि साख्यो की धारणा काफी प्राचीन है, जिसका आरम्भिक स्वर भौतिकवादी रहा है।

साख्य विचारधारा की प्राचीनता के सम्बन्ध में रिचार्ड गार्ड का विचार है कि प्राचीन बौद्ध धर्म पर्याप्त सीमा तक साख्य विचारधारा से प्रेरित रहा है। साख्यदर्शन-प्रणाली को ब्राह्मणवादी परम्परा से स्वतन्त्र एवं अवैदिक मानने का सुझाव देते हुए जिम्मर लिखते हैं कि साख्य और योग दर्शन का मूल पूर्व-वैदिक काल में भी खोजा जा सकता है।^१ साख्यकारिका के अनुसार जीव का परम माध्य ज्ञान के द्वारा दुःख की पूर्ण निवृत्ति है। इसमें यह स्पष्ट है कि साख्यो की दृष्टि अवैदिक है और उसमें मोक्ष आदि की प्राप्ति के साधन के रूप में कर्मकाण्ड आदि को स्वीकार नहीं किया गया है। मोनियर विलियम्स का मत है कि साख्य-विचारधारा सत्कार्यवाद के सिद्धान्त पर आधारित है और जगत् की स्रचना के विषय में साख्यो ने इसी सिद्धान्त को मूलधार बनाया है।^२ जीव के सम्बन्ध में विचार करते हुए स्तचेर्वात्स्की लिखते हैं कि साख्यो के अनुसार जीव (मानव शरीर) का आधार भी वही है, जो जड़ जगत् का - अर्थात् प्रकृति या आदि पदार्थ में ही जीव (चेतना) का आविर्भाव होता है।^३ साख्य दर्शन जीव को प्रकृति के रूपान्तरण का ही परिणाम मानता है। कपिल ने प्रकृति को 'अमूलम्-मूलम्' कह कर उसके किसी आदि मूल को स्वीकार करने से इन्कार किया है।^४ सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियो—मन, अहंकार और इन सभी के समवाय से

^१ फिलासफी ऑफ इंडिया, पृ० २८,

^२ इरियन विजडम्, पृ० ८६-९०,

^३ बुद्धिस्ट लॉजिक, खं० १, पृ० १८,

^४ साख्य प्रवचन सूत्र, १-६८, मूले मूलाभावादमूलम्।

उत्पन्न चेतना को भी पदार्थ से उत्पन्न बतलाना यह प्रमाणित करता है कि आरम्भिक सांख्य जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यन्त स्पष्ट दृष्टिकोण रखते थे। तदनुसार जीव स्वतन्त्र अनादि चैतन्य नहीं है जैसा कि आदर्शवादी विचारक मानते हैं। सांख्यो के अनुसार मूलसत्ता केवल प्रकृति (पदार्थ) की ही है; और पदार्थ के समवाय से चेतना का आविर्भाव ही जीव (पुरुष) है। आरम्भिक सांख्य विचारधारा के अनुसार इन्द्रियों से चेतना के सम्पर्क के बाद मज्ज्ञान का उदय होता है। गीता का लिंगशरीर सांख्य दृष्टिकोण की ही प्रकारान्तर से स्वीकृति है। सूक्ष्म या लिंगशरीर की अवस्थिति के लिए स्थूल शरीर आवश्यक है क्योंकि लिंगशरीर स्थूल शरीर के अभाव में अनुभव की योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता। सांख्यो की मूलभूत दृष्टि भौतिक है और उस अविक्रमित दशा में वे तर्क, अनुमान, अनुभव और युक्ति के आधार पर जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में इतना ही मोच सकते थे। सांख्य विचारक ईश्वर के अस्तित्व को अप्रामाण्य बतलाते हैं।^१ अतः फलो की प्राप्ति के हेतु उन्होंने ईश्वर के हस्तक्षेप आदि को भी नहीं माना है। इस प्रकार उनका जीव आदर्शवादियों से भिन्न पदार्थ (प्रकृति) से सम्भूत 'चेतना' मात्र है।

उपर्युक्त धारणा से इस तथ्य का पर्याप्त स्पष्टीकरण हो जाता है कि सांख्यो का 'पुरुष' ईश्वरवादियों के 'आत्मा' से भिन्न प्रकार की अवधारणा है। वे किसी सर्वव्यापक आत्मा (ईश्वर) के अंश के रूप में पुरुष की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। यही कारण है कि 'पुरुष' सख्या में अनन्त माने गये हैं। पुरुष को सक्रिय स्वीकार न कर, प्रकृति ही को क्रियाशील मानने का आशय भी यही है कि सांख्यो का पुरुष, जीवात्मा की अवधारणा से पर्याप्त भिन्न है। 'सांख्यप्रवचनसूत्र' में कपिल ने जगत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आत्मा के योग को अस्वीकार किया है। जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में प्राचीन सांख्य विचारक यही स्वीकार करते दिखलायी देते हैं कि विचारतन्त्र (पुरुष) का उद्भव, पदार्थ के विकास की प्रक्रिया के बिना और कुछ नहीं है, अतः उसे स्वतन्त्र चेतन सत्ता स्वीकार नहीं किया जा सकता।^२

आरम्भिक सांख्य में जीव (पुरुष) को भौतिक विकास की एक विशिष्ट स्थिति मान कर कर्म, ज्ञान, सुख और दुःख आदि को भी इसी विशिष्ट स्थिति (पुरुष चैतन्य) के अन्नगन्त स्वीकार किया गया है। इससे यह भी ध्वनित हो जाता है कि मूल सांख्य विचारक शरीर से अलग आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं।

आरम्भिक योग—'भारत में योग की साधना का प्रचलन आर्य-पूर्व काल में भी था', जिसे वे लिए अब सिन्धु सभ्यता के अवशेषों ने पर्याप्त आधार प्रस्तुत कर

^१ सांख्य प्रवचन-भाष्य, १-६३,

^२ सांख्य प्रवचन सूत्र, १-७५,

दिया है। उपनिषदों में भी योग-साधना के उल्लेख मिलते हैं।^१ बुद्ध एवं महावीर के द्वारा अपनाये गये योग-साधना के उद्घरणों से यह स्पष्ट है कि तब तक योग की साधना पर्याप्त प्रभावशाली हो चुकी थी। पतञ्जलि ने योग की पूर्व-परम्परा को सूत्रबद्ध किया और उसके विचार-पक्ष को सकलन का रूप देकर सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया।^२ धीरे-धीरे योग की साधना अव्यात्म-अनुशासन हो गयी, जिसके अनुसार शरीर के अनुशासन के द्वारा चित्त की एकाग्रता, इसका मुख्य लक्ष्य स्वीकार किया जाने लगा। योग में सांख्य से एक विशेष अन्तर यह है कि सांख्य में ईश्वर के लिए जहाँ स्थान ही नहीं, वहाँ योग में ईश्वर की जीवन से अलग सत्ता स्वीकार की गयी है। 'योग सूत्र' में (तेईसवें से उन्तीसवें सूत्र तक) ईश्वर की विस्तार से चर्चा प्राप्त होती है। गार्बे के अनुसार योग के आरम्भिक रूप में ईश्वर की सत्ता की स्वीकृति नहीं थी। अतः ईश्वर का प्रवेश उसमें परवर्ती घटना है। इस प्रकार का अन्तर आदर्शवादी प्रभाव का ही परिचायक है।

हरिदास भट्टाचार्य का मत है कि आरम्भ में योग का ध्येय ईश्वर से अभिन्नता स्थापित करना नहीं था। लेकिन ईश्वर के प्रवेश के बाद योग की जीव सम्बन्धी अवधारणा ने आदर्शवादी आत्मा का स्वरूप प्राप्त कर लिया। ऐसी स्थिति में योगाभ्यासी के लिए चित्त-वृत्ति का निरोध मात्र साधन रह गया और ईश्वर के साथ ऐक्य स्थापित करना ही उसका परम लक्ष्य बन गया।^३ इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस स्थिति में भी योग के अन्तर्गत ईश्वर की स्थिति सर्वथा अनिवार्य नहीं थी। ईश्वर-प्राप्ति को लक्ष्य न मानने वाले साधक भी बराबर योग की साधना में निग्न रहे हैं, जिनका लक्ष्य केवल चित्त-वृत्तियों का निरोध ही रहा है।

डा० राधाकृष्णन् ने भी योग के प्रसंग में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि इसमें व्यक्तिगत ईश्वर की मान्यता दर्शन के शेष भाग में अधिक सम्बन्धित नहीं लगती।^४ यहाँ ईश्वर का स्वरूप ब्रह्माण्ड के रचयिता एवं रक्षक का न होकर केवल पुरुष जैसा ही है। योग की साधना मूलतः पुरुष को प्रकृति से अलग करने का यत्न था। ज्ञान की साधना द्वारा भी इसकी प्राप्ति में विश्वास किया जाता था। इसी प्रकार की अन्य अनेक बातें यह प्रमाणित करती हैं कि योग का साधना एवं चिन्तन-पक्ष, दोनों ही, प्रकृति से अपने आपको अलग कर लेने के प्रयत्न थे। सम्भवतः योग शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों को और अधिक बढ़ा लेने का एक उपाय मात्र हो, जिसे बाद में ईश्वर की प्राप्ति के उपाय के रूप में भी स्वीकार कर लिया गया। जादू-टोना के विश्वास में भी इस साधना की आवश्यकता अनुभव की जाती है।

^१ श्वे० उप० २-८, त्रिरुल्लत स्थाप्य समं शरीरम् ...॥ कठ० उप० २-३-२,

^२ एस० एन० दास गुप्ता, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, खं० १, पृ० २२६,

^३ दि कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ३,

^४ डा० रा० कृ० भा० ८० भा० २, पृ० ३७१,

उक्त तथ्यों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साख्यो की भाँति योग के अन्तर्गत भी जीव पदार्थ-चैतन्य ही था और दुःखों से निवृत्ति अथवा शारीरिक एवं मानसिक शक्ति की वृद्धि के हेतु ही योग-साधना की जाती थी।

● परवर्ती साख्य-योग में जीव

परवर्ती साख्य में पुरुष को पदार्थ-जन्य चैतन्य के स्थान पर अपरिणामी और नित्य माना गया है। लेकिन प्रकृति में क्रियाशीलता की मूल अवधारणा तद्वत् बने रहने के कारण उसे निष्क्रिय स्वीकार किया जाता है। इस स्थिति में पुरुष से कर्तृत्व की शक्ति छीन ली है और उसे केवल भोक्ता का ही स्थान प्राप्त हुआ है। पदार्थ के समवाय में चेतना की उत्पत्ति की पूर्ववर्ती मान्यता की अस्वीकार कर देने के कारण जड़ जगत के साथ ही चेतन तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य हो गया। पुरुष की सत्ता स्वीकार कर लेने के बाद उसे अनेक माना गया है।^१ इस मान्यता का आधार यह है कि मानव-मानव का जीवन भिन्न प्रकार का है और उसकी भौतिक, नैतिक एवं बौद्धिक शक्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। साख्य विचारकों ने पुरुष को जड़ जगत से अलग चैतन्य सत्ता मान कर उसकी निमित्त और प्रयोजक कारण की अवधारणा की है। इसके अनुसार जगत का प्रयोजक कारण पुरुष को भोग या अपवर्ग प्रदान करना स्वीकार किया गया है। अपवर्ग का आशय पुरुष का अपनी स्वाभाविक अवस्था को पुनः प्राप्त कर लेना है। प्रकृति के परिणामन के लिए यही मूल प्रेरक हेतु है। परवर्ती साख्यो की एक विशिष्ट अवधारणा यह है कि गत जन्म के मस्कार पुरुष को लिप्त नहीं बनाने, बल्कि वे बुद्धि को ही प्रभावित करते हैं। इसीलिए ये प्रभाव प्रकृतिगत ही माने गये हैं—पुरुषगत नहीं। परवर्ती साख्य में पुरुष को, आरम्भिक अवधारणाओं से भिन्न, कारण और कार्य से अतीत, शुद्ध चैतन्य स्वीकार किया गया है। एम० हिरियन्ना का मत है कि साख्य में पुरुष का स्वरूप परवर्ती न्याय और वैशेषिक में स्वीकृत ईश्वर जैसा है।^२ लेकिन न्याय और वैशेषिक के ईश्वर की भाँति साख्यो का पुरुष जगत की सृष्टि में एक जैसी भूमिका का निर्वाह नहीं करता। साख्यो का जीव (पुरुष) अपने शुद्ध रूप में अनुभवकर्ता नहीं—अनुभव महत् या बुद्धि में माना गया है, जो प्रकृति का विकार होने के कारण जड़ है। अतः ज्ञाता का कार्य केवल पुरुष या केवल बुद्धि का न स्वीकार कर दोनों का माना गया है। पुरुष, बुद्धि (महत्) में प्रतिबिम्बित होकर उसमें ऐसी स्थिति का निर्माण कर देता है, जिससे वह चेतन ज्ञाता का कार्य करने लग जाती है। अतः साख्यो का पुरुष अद्वैतवेदान्तियों की आत्मा में भिन्न अनुभवशील है—अनुभवानीत नहीं।

^१ सा० का० सख्या, १८,

^२ भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० २८१,

सांख्यो के अनुसार जड़ बुद्धि चेतन जैसी हो जाती है और निष्क्रिय पुरुष सक्रिय जैसा बन जाता है।^१ इस स्थिति के कारण वृत्ति ही ज्ञान 'का सा' रूप प्राप्त कर लेती है। यही पर यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि सांख्य दार्शनिकों के मत में मानसिक कहलाने वाले व्यापार भौतिक अंगों की यान्त्रिक क्रियाएँ हैं और ये भौतिक अंग पुरुष में प्रकाशित होकर ही चेतन स्वरूप प्राप्त करते हैं। सांख्य और योग दर्शन में बुद्धि स्वतः क्रियाशील है। बुद्धि में असंख्य अनुभव-मस्कार समाहित रहते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि का झुकाव भिन्न-भिन्न हुआ करता है। बुद्धि-व्यापार को चयनात्मक माना गया है। अतः किसी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान द्रष्टा की उस समय की मनोदशा के अनुरूप होता है।^२ न्याय-वैशेषिक के विपरीत सांख्य-योग में भ्रम का कारण किसी चीज का अज्ञान है— विपरीत ज्ञान नहीं। जैनों की भाँति सांख्य-योग विचारक भी पूर्ण ज्ञान को सम्भव मानते हैं, लेकिन इस शर्त के साथ कि बुद्धि पूर्णतया शुद्ध हो। उन्होंने पूर्ण ज्ञान का अभाव ही जीव का अविवेक माना है। परवर्ती सांख्य एवं योग में कर्म और पुनर्जन्म को भी स्वीकार कर लिया गया है। परन्तु इस स्वीकृति में भी आरम्भिक धारणा बनी ही रही है। तदनुसार पुनर्जन्म पुरुष का नहीं, बल्कि 'लिंग शरीर' का ही होता है। लिंग शरीर की संरचना के विषय में लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य में यही स्वीकार किया है कि वह ग्यारह ज्ञानेन्द्रियो, बुद्धि, अहंकार और पञ्चतन्मात्राओं की संहति है। जीव (पुरुष) का लिंग शरीर से मुक्त होना उसी समय सम्भव है, जब वह कैवल्य प्राप्त कर ले। जीव को सांख्य एवं योग-विचारधारा 'केवल' (कैवल्य प्राप्त या युक्त) मानती है। अतः तदनुसार धर्म और अधर्म पुरुष का गुण नहीं, बल्कि मात्र बुद्धि की वृत्तियाँ हैं। यह पुरुष का भ्रम है कि वह अपने ऊपर इन वृत्तियों का आरोप कर लेता है। कोई भी पुरुष न मुक्त है और न ही बद्ध। पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता। प्रकृति ही नानारूपा है एवं बही बन्धन और मुक्ति तथा पुनर्जन्म धारण करती रहती है।^३ वैचारिक स्तर पर योग की जीव सम्बन्धी मान्यताएँ भी प्रायः सांख्य दर्शन जैसी हैं। योग चिन्तन प्रधान न होकर साधना प्रधान दर्शन है। तदनुसार जीव का परमसाध्य असम्प्रज्ञात समाधि है, जहाँ चित्त का पूर्ण निरोध हो जाता है। इस अवस्था में ही जीव को विदेह मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसके अन्तर्गत बुद्धि के सम्पूर्ण दोष धुन जाते हैं और वह चैतन्य के द्वारा पूर्णरूपेण प्रकाशित होने लगती है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक का 'केवल' पुरुष एक ही अवस्था के सूचक है।^४

^१ सांख्य कारिका, २०,

^२ सांख्य तत्त्व कौमुदी, श्लो० १३,

^३ सां० का० श्लो० ६२, सांख्य प्रवचन सूत्र, ५/२०-२५,

^४ सा० का० श्लो० ६७-६८,

निष्कर्ष— सांख्य और योग दर्शन—दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सांख्य का सम्बन्ध अधिकांशतः दार्शनिक चिन्तन से है और योग का सम्बन्ध जीव द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के उपायों से। एक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है तो दूसरा उसे क्रियात्मक रूप देना है। आन्तरिक विवाद के कारण सांख्य के भी दो भेद—निरीश्वर सांख्य और सेश्वर सांख्य—हो गये हैं। सांख्य आरम्भ में निरीश्वरवादी ही थे, परन्तु ईश्वरवाद के प्रभाव के कारण कालान्तर में, इस दर्शन में ईश्वर के सिद्धान्त की स्वीकार किया गया और उसकी यह भावा 'सेश्वर सांख्य' कहलाने लगी। ईश्वर की स्वीकृति के बावजूद भी यह दर्शन प्रकृति और पुरुष की चर्चा ही अधिक करता है तथा तत्त्व-विचार एवं योग की साधना-द्वारा पुरुष के कवल्य पर ही अधिक ध्यान देता है। ईश्वरकृष्ण की रचना सांख्यकारिका निरीश्वर सांख्य की एक मात्र उपलब्ध प्रामाणिक रचना है। तदनुसार जीवों की दो ही कोटियाँ हैं। पहली कोटि उन जीवों (पुरुषों) की है, जिन्हें कवल्य प्राप्त हो चुका है। वे जीव, जो प्रकृति के परिणाम का अपने ऊपर आरोप कर, आवागमन में भटक रहे हैं, दूसरी कोटि में आते हैं। ये ही बद्ध जीव हैं।

योग दर्शन में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि की चर्चा के अन्तर्गत जीव की 'ज्ञाश्चत केवल' तथा 'सामान्यजीव' दो कोटियों के उल्लेख भी किये गये हैं। तदनुसार जीव सांख्या में अनेक हैं। उन्हें न्याय और वैशेषिक दर्शन की भांति ही अनादि माना गया है और उनके स्वतन्त्र अस्तित्व पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया है। प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन। पुरुष अपने शुद्ध स्वरूप में 'केवल' है, लेकिन प्रकृति के परिणाम को अपना धर्म मान लेने के कारण उस समय तक बद्ध रहता है जब तक वह पुनः अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित नहीं हो जाता। जीव का आवागमन तभी तक है, जब तक वह प्रकृति के प्रभाव में रहता है। प्रकृति के आकर्षण से मुक्त होते ही वह आवागमन के बन्धन में भी मुक्त हो जाता है।^१

● न्याय-वैशेषिक चिन्तन-प्रणाली के अनुसार जीव-स्वरूप

आरम्भिक—वैशेषिक दर्शन में सांख्या की भौतिकवादी धाराणाओं को और अधिक पुष्ट किया गया है। उनका मूल स्वर भौतिकवादी ही है। वैशेषिक में जीव की चर्चा जगत में भिन्न स्वतन्त्र रूप में नहीं की गयी। कणाद ने जैन विचारकों की इस अवधारणा को, कि समूचे भौतिक वस्तु समार का निर्माण अत्यन्त सूक्ष्म अणुओं (परमाणुओं) से होता है, किसी सीमा तक अपना लिया है। उनका मत है कि वस्तुगत रूप में जगत का अस्तित्व मानव-चेतना में स्वतन्त्र एवं पूर्णतया बाह्य है। उनकी

^१ योग सूत्र, १/२४-२५, —क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर।
न पूर्वेषामपि गुणकालेनानवच्छेदात् ॥

इस मान्यता का आधार यह है कि व्यक्ति अपने से भिन्न जगत का हर दृष्टि से विश्लेषण करने में सक्षम है। इस सत्य की पूर्ण एव सही जानकारी को कणाद ज्ञान का नाम देते हैं। चेतना (जीव) के सम्बन्ध में कणाद के अनुसार द्रव्य में ही उन गुणों और क्रियाओं की स्थिति विद्यमान रहती है, जिनके कारण चेतना का अविर्भाव होता है। उन्होंने पदार्थों की दो कोटियाँ—भौतिक एव अ-भौतिक स्वीकार की हैं। परन्तु इन दोनों ही कोटियों को वे द्रव्य के अन्तर्गत ही स्वीकार करते हैं। वे अ-भौतिक पदार्थों को यथार्थ मानते हैं। उन्होंने गुण और द्रव्य को अन्योन्याश्रित स्वीकार किया है। इसमें यह सिद्ध है परमाणु स्वतन्त्र अर्थात् स्वभावन अ-स्थैतिक एव अ-निष्क्रिय होता है। ब्रह्मवादियों की भाँति कणाद ने ब्रह्म को जगत का आदिकारण स्वीकार नहीं किया। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि उनके द्वारा स्वीकृत जीव के स्वरूप की अवधारणा ब्रह्मवादियों के द्वारा मान्य जीव (चैतन्य) की अवधारणा से पर्याप्त भिन्न एव लोकयतो की जीव-अवधारणा के अधिक अनुरूप है।

वैशेषिक दर्शन में आत्मा के धर्म और मनस् के धर्म अलग-अलग स्वीकार किये गये हैं।^१ तदनुसार चेतना, बुद्धि और मज्ञान आदि पदार्थ से स्वतन्त्र आत्मा के गुण नहीं हैं। इसके सम्बन्ध में कं० दामोदरन 'भारतीय चिन्तन-परम्परा' में लिखते हैं कि वैशेषिक सूत्रों में आत्मा शब्द का प्रयोग तात्त्विक और आदर्शवादी अर्थ में नहीं किया गया। अन्य पदार्थों की तरह ही वह भी चेतना-सम्पन्न पदार्थ ही है।^२ 'आत्मा और इन्द्रियों से जिस वस्तु का सम्पर्क होता है, उमी का ज्ञान मनुष्य को प्राप्त होता है', कणाद को यह अवधारणा इस तथ्य की ओर भी संकेत करती है कि मन में मयुक्त होकर ही आत्मा का क्रिया-व्यापार सम्पन्न होना सम्भव है। इससे अधिक कणाद ने आत्मा (जीव-चैतन्य) के सम्बन्ध में विचार ही नहीं किया है। उनका मुख्य प्रतिपाद्य जगत है, जिसके अन्तर्गत आत्मा स्वयमेव आ जाता है। वैशेषिक दर्शन की मूल धारणा यह है कि जगत की रचना के लिए किसी अभिकर्ण (ईश्वर) के अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा या जीव के स्वरूप को मान्यता के सम्बन्ध में जिस प्रकार अन्य दर्शनों में आदर्शवादी प्रभाव के कारण अन्तर आये, उसी प्रकार वैशेषिक विचारधारा के प्रतिपादकों ने भी बाद में कर्म और धर्म की परिभाषाओं में पर्याप्त अन्तर कर, जीव की अवधारणा में आदर्शवादियों के विचारों को मान्यता दे दी। इस परिवर्तन के कारण जीव मात्र चेतना न रह कर आत्मा और जीवात्मा की आदर्शवादी अवधारणाओं के अनुरूप ढाला गया—उसे पदार्थ-समवाय से जनित चेतना से भिन्न स्वतन्त्र चैतन्य स्वीकार कर लिया गया।

न्याय या 'हेतु विद्या' समानार्थक शब्द है। अतः इस दर्शन-प्रणाली को तात्त्विक एव तार्किक सिद्धान्तों के प्रतिपादन की विद्या माना जा सकता है। न्याय चिन्तन-

^१ वैशेषिक सूत्र ३-२-४,

^२ भारतीय चिन्तन-परम्परा, पृ० १६७,

प्रणाली की मान्यताएँ मुख्यतः वे ही हैं, जो वैशेषिक दर्शन की। न्याय दर्शन के अनुसार भी ब्रह्माण्ड की रचना परमाणु संघात से स्वीकार की गयी है और इसी प्रसंग में जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में भी विचार हुआ है। जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में आरम्भिक नैयायिक विचारधारा मूलतः भौतिकवादी विचारधारा है। इसके अन्तर्गत भी जगत की रचना के लिए ईश्वर (अभिकरण) की कोई आवश्यकता नहीं स्वीकार की गयी है। जगत का मूलकारण परमाणु है। पदार्थ-समवाय में पाँच महाभूतों की रचना को स्वीकार करने के उपरान्त जीव (चेतना) की उत्पत्ति के लिए भी इन्हीं महाभूतों को आधार सामग्री माना गया है। वैशेषिकों की भाँति चेतन और अचेतन नामक पदार्थ की दो मुख्य श्रेणियाँ मानकर दोनों को अन्योन्याश्रित ही बनलाया गया है। न्याय दर्शन के अनुसार चेतन और अचेतन एक दूसरे में स्वनन्त्र होते हुए भी परस्पर अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं।

वैशेषिकों की भाँति न्याय दर्शन की मूलभूत अवधारणाओं पर विचार करने वालों का आरम्भ में यह मत था कि जीव (चेतन तन्त्र) के अस्तित्व का ज्ञान हम केवल अचेतन तत्त्वों की क्रियाशीलता के माध्यम में ही प्राप्त कर सकते हैं। जीवों की उत्पत्ति भी उसी तरह परमाणुओं में ही मानी गयी, जिस प्रकार जड़ जगत की। मैक्समूलर का मत है कि जीव (चेतना) के सम्बन्ध में नैयायिकों की मान्यता उसे ईश्वरवादियों के आत्म-स्वरूप से भिन्न रूप में प्रस्तुत करती है। तदनुसार मस्तिष्क में स्वाभाविक ऐसी शक्ति विद्यमान है, जिसकी सहायता से हम इन्द्रिय-जन्य प्रतिबिम्बों को एक साथ मस्तिष्क में प्रवेश करने से रोक देते हैं। इसका कारण यह है कि आत्मा में एक समय ज्ञान की एक ही क्रिया होती है। जिस समय तक इन्द्रिय-जन्य एक प्रतिबिम्ब मस्तिष्क में प्रवेश किये रहता है, तब तक यह प्रतिबिम्ब चेतना में नियन्त्रित स्थिति में विद्यमान रहता है। जीवों के कर्मों के बारे में विचार करते हुए गौतम ने न्याय सूत्रों में इस मत का प्रतिपादन किया है कि वैध ज्ञान के उपरान्त मानव के द्वारा किये गये कर्म, उसके लिए मूल के कारण बनते हैं। इसी तरह जो कर्म वैध ज्ञान के द्वारा सम्पादित नहीं होते, वे ही मानव-जीवन में दुख के हेतु बनते हैं। इसमें अधिक जीवों के कर्मों पर न्यायदर्शन में विचार नहीं किया गया। कर्मवाद की परवर्ती मान्यताएँ भी आरम्भिक न्याय की धारणा से स्वतन्त्र एवं पर्याप्त सीमा तक भिन्न प्रकार की हैं। अतः सिद्ध है कि आरम्भ में न्यायदर्शन के विचारक स्वतन्त्र पदार्थ के वस्तुगत अस्तित्व को मस्तिष्क में स्वतन्त्र स्वीकार करते थे और उनकी जीव की अवधारणा पदार्थोत्पन्न चेतना की मान्यताओं पर ही मुख्यतः आधारित थी। लेकिन कालान्तर में आदर्शवाद के प्रभाव के कारण न्याय दर्शन की मान्यताएँ भी ईश्वरवादी बनती गयी, और इसके साथ ही जीव के स्वरूप से सम्बन्धित मान्यताओं में भी पर्याप्त अन्तर आ गया। जगत की रचना के लिए अभिकरण के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को मान्यता मिली एवं उसे जगत का निमित्त कारण मान लिया गया। अतः जीव का स्वरूप अध्यात्मवादियों के द्वारा स्वीकृत आत्मा के स्वरूप जैसा हो गया और इसी

सन्दर्भ में 'कर्म' और 'धर्म' को भी नवीन रूप में परिभाषित किया गया। व्याख्या-कारों और भाष्यकारों ने तत्कालीन परिस्थितियों के दबाव के कारण आदर्शवादी मान्यताओं से समझौता कर लिया और आत्मा मात्र पदार्थ-जन्य चेतना न रहकर स्वतन्त्र अनादि चैतन्य बन गया।

परवर्ती—कणाद के 'वैशेषिक सूत्रों' के व्याख्याकार प्रशस्तिपाद ने उसे आदर्शवादी मोड़ दिया। प्रशस्तिपाद की भाँति ही वात्स्यायन (४०० ई०) ने भी गौतम के न्याय सूत्रों की आदर्शवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। फलस्वरूप न्याय-वैशेषिक दर्शनों में भी जीव के सम्बन्ध में ईश्वरवादी धारणा को प्रवेश मिल गया। आरम्भिक स्थिति में इन दर्शनों का मूल स्वर भौतिकवादी ही था। जगत की रचना के सम्बन्ध में ये दर्शन पदार्थ को मूलकारण मानते थे और केवल उसी की क्रियाशीलता को स्वीकार करते थे। ईश्वर की सत्ता को वे पूर्णतः अस्वीकार करते थे। जीव को वे पदार्थ-समवाय-जन्य चेतना मानते थे। लेकिन तत्कालीन आदर्शवादी प्राबल्य के कारण ईश्वरवादी प्रभाव से इन दर्शनों की मूलभूत धारणाओं में पर्याप्त अन्तर आ गया। इन परिवर्तनों को दृष्टि में रखते हुए एम० हिरियन्ना इसे भौतिकवादी दर्शन स्वीकार करने में मकोच करते हैं।^१ फिर भी इस वास्तविकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ये दर्शन आत्मा को भी अन्य वस्तुओं की भाँति ही एक वस्तु मानते हैं। तदनुसार आत्मा अन्य वस्तुओं के समान ही गुणों और सम्बन्धों से युक्त ज्ञेय सत्ता है। परवर्ती न्याय-वैशेषिक के अनुसार आत्माएँ सख्या में अनेक मानी गयी हैं तथा प्रत्येक आत्मा सर्वव्यापी और नित्य मानी गयी है। फिर भी भौतिकवादी स्वर के बने रहने के सकेत भी इन दर्शनों में प्राप्त हो जाते हैं। जहाँ सिद्धान्त के रूप में आत्माओं को नित्य और सर्वत्र विद्यमान माना गया है, वहीं यह भी स्वीकार किया गया है कि आत्मा के ये गुण तभी तक उसके साथ जाते हैं जब तक वह भौतिकजगत्गोरी होती है। ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण मानना भी इन दर्शनों की आत्मा सम्बन्धी मान्यता को आदर्शवादी विचारों की मान्यता से भिन्नता प्रदान करता है। आत्मा का जड़ द्रव्य से इतना ही अन्तर स्वीकार किया गया है कि वह चैतन्य से युक्त हो सकता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन की आत्म-धारणा में आदर्शवादी प्रभाव के कारण यह अन्तर भी आ गया कि मूल अजड तत्त्व को आत्मा स्वीकार करना छोड़ दिया गया और इसके साथ ही पदार्थ-समवाय से जन्य चेतना की अवधारणा भी परिवर्तित हो गयी।^२

निष्कर्ष—वैचारिक दृष्टि से न्याय और वैशेषिक दर्शन एक दूसरे के निकट ही नहीं बल्कि एक-दूसरे के पूरक भी हैं। दोनों के अनुसार जीव ज्ञाता है और उसका अस्तित्व भी ईश्वर की भाँति अनादि है। द्वैतवेदान्तियों ने ईश्वर और जीव का

^१ एम० हिरियन्ना, 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा', पृ० २२७.

^२ न्याय सिद्धान्त मुक्तावली (निर्णय सागर) पृ० २०६.

स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर उन्हें केवल प्रतीत सत्ता ही स्वीकार किया है। उनका मत है कि वास्तविक सत्ता केवल ब्रह्म की है। वही माया के कारण ईश्वर के रूप में प्रतीत होता है और ईश्वर ही अविद्या के कारण जीव के रूप में भ्रामित होता है। अद्वैतवेदान्ती जीवों की अनेकता के विचार को स्वीकार नहीं करते, लेकिन न्याय और वैशेषिक दर्शन के अनुसार जीव अनन्त है। जीव और ईश्वर के अन्तर की चर्चा करते हुए उन्होंने यह बतलाया है कि जीव का ज्ञान और शक्तियाँ ईश्वर की तुलना में सीमित है। दोनों दर्शन ईश्वर को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। जीवों का वर्गीकरण करते हुए उन्हें 'मुक्त जीव' और 'बद्ध-जीव' दो श्रेणियों में बाँटा गया है। साथ ही मुक्ति के पथ पर आरूढ़ जीवों के भी दो भेद स्वीकार कर लिए गये हैं। ईश्वर इन दर्शनों की दृष्टि में पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता है, जिसकी तुलना में जीव का स्वातन्त्र्य सीमित है। ईश्वर ब्रह्माण्ड का सृष्टा, पालक, नियन्ता और संहारकर्ता है। सम्पूर्ण सृष्टि-विधान उसकी स्वतन्त्र इच्छा के अधीन है। जीव परमात्मा के अधीन बनलाये गये हैं। सृष्टि के विधान में जीवों के स्वतन्त्र योग को ये दर्शन स्वीकार नहीं करते। सभी को उस के सकेतादेशों पर चलने वाला मानते हैं।^१

● बौद्ध धर्म-दर्शन में जीव का स्वरूप

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने जिस समय अपनी विचारधारा का प्रचार किया (ई० पूर्व छठी शताब्दी) उस समय वर्ण-व्यवस्था के रूप में वर्ग-समाज का निर्माण हो चुका था। अतः उस समय की सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताएँ स्वयं इस नवोत्थित साम्राज्यवादी व्यवस्था से प्रभावित थीं एवं बदले में वे उस व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में सहयोग भी दे रही थी। पूर्ववर्ती कुलों और कबीलों वाली व्यवस्था टूट रही थी और उसके टूटने के कारण सामान्य जनता को शोषण का शिकार होता पड़ रहा था। मैक्समूलर के अनुसार जिस समय बौद्ध धर्म पूर्व और दक्षिण में उत्तरोत्तर विजयी हो रहा था, उसी समय पश्चिम में ब्राह्मणवाद भी पूर्ण तरह फल-फूल रहा था।^२ भारत जैसे विशाल देश में यह स्थिति अस्वाभाविक नहीं थी। इससे यह ध्वनित होता है कि गौतम के मस्कार, कबीलों एवं कुलों वाली सामाजिक व्यवस्था के थे और उन्होंने जिन चार आर्य सत्त्यों की खोज की एवं जिस 'प्रतीत्यसमुत्पाद' नामक अवधारणा को हमारे सम्मुख उपस्थित किया, उसका मूल कारण उस समय की जनता में फैली हुई निराशा एवं असन्तोष ही है।

उपर्युक्त परिस्थिति का विश्लेषण इस प्रकार भी किया जा सकता है कि बौद्ध कालीन पुरोहित चिन्तकों का हित इसमें था कि वे धार्मिक एवं सामाजिक

^१ न्या० सि० मुक०, १।५१, भारतीय दर्शन (डा० रा० कृ०) भा० १, पृ० ३००-३३ वही० पृ० ६५-६६,

^२ सिक्स सिस्टमज आफ इण्डियन फिलासफी, पृ० १५,

जीवन में ऐसी मान्यताओं का प्रचार करें, जिनके कारण साम्राज्यवादी व्यवस्था को दृढ़ आधार मिले और वह अधिकाधिक फूले और फले। लेकिन दूसरी ओर एक समाज-समुदाय ऐसा भी था, जिसे पूर्ववर्ती जीवन-चर्या में सुख का एहसास होता था और जिसे नव-निर्मित सामाजिक व्यवस्था में घुटन, पीड़ा एवं निराशा-जन्य दुःख महसूस हो रहा था। विद्वानों का विचार है कि बुद्ध के समय के कुछ एक विचारको, मक्खालिगोस्साल और केशकम्बिलन् आदि के दार्शनिक विचारों का निर्माण उपर्युक्त निराशा-जनित समाजव्यापी प्रवृत्तियों के कारण ही हुआ था। उस समय के इन प्रमुख विचारकों की चिन्तन-धारा पर समग्र रूप में दृष्टि डालने से इस तथ्य की स्पष्ट एवं पर्याप्त पुष्टि हो जाती है। इन चिन्तकों की निराशा से यह भी पता चलता है कि वे जनता को किसी निश्चित आदर्श का सम्बल नहीं दे पाये थे। उन्होंने केवल परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण स्थापित हो रही ब्राह्मण-व्यवस्था का कटु विरोध ही किया था, लेकिन अपनी ओर से वे किसी नये आधार की स्थापना नहीं कर सके थे। यही कारण है कि वे स्वयं भी टूटे तथा समाज को भी घोर निराशा के गर्त से बाहर न निकाल सके।

गौतम बुद्ध उपर्युक्त परिस्थितियों में पूर्णतया अवगत थे। स्वयं वे यथार्थ से सघर्ष नहीं कर सकते थे, इसलिए यथार्थ जगत में सम्बन्धित जीवन की समस्याओं का यथार्थ समाधान भी नहीं खोज सके थे। वे ऐसा कर भी नहीं सकते थे। इसके सम्बन्ध में जी० धाममन महोदय के विचार ध्यान देने योग्य हैं। वे लिखते हैं कि ऐसी परिस्थितियों में वर्तमान में असन्तुष्ट किन्तु स्वयं उस व्यवस्था को परिवर्तित कर सकने में असमर्थ समाज एवं धर्म में मुधार करने वाला नेता जगत के यथार्थ में पलायन कर, किसी ऐसी आदर्शवादी मान्यता की शरण ले लेता है, जो उस युग की मुख्य भ्रमात्मक सान्त्वना बन जाती है।^१ गौतम बुद्ध ने जिन चार आर्यसत्थों की चर्चा की है, वे इसी भ्रमात्मक सान्त्वना के सूचक हैं।

(क) पाँचों सासारिक आसक्तियाँ दुःख की कारण हैं।

(ख) होना (शरीरी अस्तित्व) की तृष्णा-दुःख है और ये मुख्य तृष्णाएँ सख्या में पाँच हैं।

(ग) तृष्णाओं से मुक्ति अष्टधा मार्ग पर चलकर ही प्राप्त की जा सकती है।

(घ) तृष्णा-परिहार ही निर्वाण (निब्बान) है।

बुद्ध ने भौतिक दुःखों को विश्वव्यापी शाश्वत पीड़ा स्वीकार किया है और यथार्थ जगत में प्राप्त दुःखों का मानसीकरण कर दिया है। वे पुनर्जन्म को अनादि एवं दुःखों का कारण बतलाते हैं और इससे मुक्ति ही उनके अनुसार निर्वाण है। बुद्ध के अनुसार अविद्य में संस्कार और संस्कारों से चेतना (consciousness) की उत्पत्ति होती है। चेतना से उन्होंने नाम-रूप सत्ता एवं तदनन्तर छः ज्ञानेन्द्रियों एवं उनसे

तृष्णा (तण्हा) की उत्पत्ति मानी है। तृष्णा आसक्ति को जन्म देती है और आसक्ति से ही 'मैं हूँ' (Existence) का आविर्भाव होता है। इसके बाद ही शरीरधारी जीव अस्तित्व में आता है। यह जन्म ही जरा, मृत्यु, दुःख, सन्ताप, ग्लानि और निराशा का कारण है। इस क्रम को उलटकर निर्वाण की प्राप्ति होती है। महावग्ग में इसी को प्रतीत्यसमुत्पाद कहा गया है।^१ अविद्या को इतना अधिक महत्त्व देकर बुद्ध ने व्यक्ति को यथार्थ से पलायन कर निर्वाण के आदर्श के व्यामोह की ओर आकर्षित किया है। वे सीधे जीव के स्वरूप की चर्चा नहीं करते, किन्तु उनके उपर्युक्त 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त के अन्तर्गत उनके जीव-स्वरूप सम्बन्धी अवधारणा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदायां एवं 'अभिधम्मपिटक' में वर्णित बुद्ध की दार्शनिक मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर को देखते हुए विद्वानों ने आरम्भिक बौद्ध धर्म की अलग से चर्चा की है। अभिधम्मपिटक के रचना-काल एवं उपनिषत्काल में अधिक समय का अन्तर नहीं है। दूसरा तथ्य यह है कि ये दोनों ही विचारधाराएँ वैदिक युगीन यज्ञवाद को अपने-अपने ढंग में अस्वीकार करती हैं, अतः दोनों में कुछ एक विषयों के सम्बन्ध में साम्य की शलक विद्यमान है।^२ एकाग्र समानता की ओर ध्यान देने के उद्देश्य से कहा जा सकता है कि उपनिषदों में जिस पुरुषरूप ईश्वर का निषेध किया गया है और आत्मा का गुण-निषेध हुआ है, उसी आशय को अपने अनुभव की उपलब्धियों के आधार पर प्रतिपादित करते हुए गौतम बुद्ध ने ईश्वर और आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की मान्यता को बिम्बुल अस्वीकार जैसा कर दिया है। बुद्ध की सर्व-प्रधान मान्यता यह थी कि इस ससार में दुःख है और उसका नाश किया जा सकता है।^३ उनकी इस दुःखवादी धारणा के सामाजिक कारणों की चर्चा हम किसी अन्य प्रसंग में कर चुके हैं।

बुद्ध के पूर्व दर्शन को अधिक तर्क प्रधान एवं बौद्धिक वाद-विवाद का विषय बना दिया गया था। बुद्ध प्रत्यक्षवादी विचारक तो थे, लेकिन कर्म-सिद्धान्त में उनका विश्वास था और वे सम्कार-प्रवाह की धारणा को स्वीकार करने थे। आरम्भिक बौद्ध धर्म की दूसरी विशेषता यह है कि वह व्यवहार-निष्ठ धर्म है क्योंकि बुद्ध के अनुसार किसी व्यक्ति को शान्ति ही निर्मल बना सकती है—दार्शनिक ऊहापोह नहीं। आत्मा (जीव) के सम्बन्ध में गौतम बुद्ध के विचार ये हैं कि वे क्षणिक सवेदनों और विचारों की सत्ता को ही स्वीकार करते थे, अतः उन्होंने अपरिवर्तनशील सत्ता वाले 'आत्म-सिद्धान्त' को अस्वीकार कर दिया है। उनके अनुसार यदि आत्मा के स्वरूप का वर्णन करना हो तो कह सकते हैं कि सवेदन, विचार और भीतिक

^१ F Max-Muller, Sacred Books of the East, 13, p. 75-78,

^२ देखिए Religion of the Veda पृ० २, ३, Oldenberg, Buddha, पृ० ५३,

^३ वही० पृ० २१६-१७,

देह (जिससे उक्त दोनों सम्बद्ध हैं) का संघात ही आत्मा है। इसके सम्बन्ध में बुद्ध के आत्म-विचार के विषय में मिमेज रीस डेविड्स की यह धारणा कि बुद्ध 'सवेदनों' की सभा करने वाले किसी आत्मा रूपी राजा को नहीं मानते, ^१ यह स्पष्ट कर देती है कि बुद्ध ने उपनिषदों के आत्म-सिद्धान्त को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया है। उपनिषदों में आत्मा (अधिष्ठान) को ही एकमात्र सत्य माना गया था।

आत्मा के विषय में 'पंचस्कन्ध-सिद्धान्त' की चर्चा बौद्ध सम्प्रदायों में विशेष विस्तार के साथ की गयी है। यह विचार बुद्ध के उस विचार का दार्शनिक रूप है, जिसके अनुसार वे रूप, विज्ञान, वेदना, सज्ञा और सम्कार के संघात को आत्मा मानते हैं। बुद्ध चिन्तन को परिवर्तनशील (चंचल) मानते हैं और न तो आत्मा के सम्बन्ध में एकता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं और न ही भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में हो। दोनों स्थितियों में उन्हें 'संघात-सिद्धान्त' ही स्वीकार्य है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण हमें राजा मिनेण्डर और बौद्ध विचारक नागसेन में हुए वार्तालाप में हो जाता है। कहा जाता है कि एक बार मुनि नागसेन ने राजा को रथ और उसके घटकों का उदाहरण देकर यह समझाया था कि अकेला घटक रथ नहीं; बल्कि घटक-समुदाय ही रथ है और इसी तरह 'आत्मा' भी भौतिक एवं मानसिक घटकों के समुदाय का नाम है।^२ बुद्ध ने न भूतद्रव्यों की और न ही आत्मा की विशेष प्रकार के विन्यास में भिन्न स्वतन्त्र सत्ता ही स्वीकार की थी। उनके अनुसार उक्त संघात भी परिवर्तनशील ही है—उसे उन्होंने मात्र वस्तुओं या घटनाओं की सन्तति (प्रवाह) माना है।

बुद्ध उपनिषदों के अनुसार आत्मा की मान्यता का एक दूसरे ढंग से भी खण्डन करते हैं। वे केवल क्रिया को स्वीकार करते हैं और किसी चेतन कर्ता की मान्यता का निषेध कर उत्पत्ति को निरन्तर हो रही प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसी आधार पर बुद्ध ने उक्त अनुक्रम के भीतर ज्ञात तत्त्वों को तो स्वीकार कर लिया है, लेकिन ईश्वर का अलग अस्तित्व न मान कर उसे भी ज्ञात तत्त्व के अन्तर्गत ही माना है। इस दृष्टि से बुद्ध स्वभाववादी या यहच्छावादी ही ठहरते हैं क्योंकि वे उपनिषदों की भाँति आत्म या परमात्म तत्त्व के विषय में विचार नहीं करते।^३ यहाँ यह तथ्य विशेषकर ध्यातव्य है कि बुद्ध का स्वभाव या यहच्छावाद स्वतन्त्र प्रकार की अवधारणा है। तदनुसार कोई भी सन्तति तब तक अस्तित्व में नहीं आती, जब तक कुल उपाधियाँ पहले से पूरी न हो गयी हों। एक बार आरम्भ हो जाने के उपरान्त सन्तति तब तक समाप्त नहीं होती जब तक उपाधियाँ बनी रहती हैं। आत्मा के प्रसंग में यह जान लेना भी जरूरी है कि बुद्ध के अनुसार अविद्या कोई 'विश्व शक्ति' नहीं जो ब्रह्मवादियों के द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्म को व्यावहारिक

^१ बुद्धिस्ट साइकालोजी, पृ० ६८,

^२ ओल्डन वर्ग, बुद्धा, पृ० २५४,

^३ Keith, Buddhist Philosophy. पृ० ६८,

के रूप में प्रस्तुत करने का कारण मानी जाती है। आरम्भिक बौद्ध विचारधारा के अनुसार दुःख, दुःख की उत्पत्ति, दुःख का विनाश और दुःख के विनाश का उपाय नामक चार आर्यसत्य स्वीकार किये गये थे और इस तथ्य के अज्ञान को ही 'अविद्या' मान लिया गया था।

आरम्भिक बौद्ध धर्म मुख्यतः बुद्ध की उस विचारधारा का रूप है, जिसे पर्याप्त सीमा तक 'त्रिपिटक' में सङ्गृहीत किया गया है। फिर भी बुद्ध ने जो कुछ कहा था, वह प्रायः मौखिक ही था, इसलिए किसी अंश तक अस्पष्ट भी। बाद में जिस समय इस धर्म का व्यापक प्रचार हुआ उस समय बुद्ध के मूल उपदेशों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की जाने लगी। इसी कारण यह धर्म कालन्तर में हीनयान और महायान नामक दो प्रधान मार्गों में विभक्त भी हो गया। हीनयान मुख्यतः सर्वास्तित्व-वादी है, लेकिन महायानियों ने इसमें भिन्न स्वतन्त्र सम्प्रदायों का निर्माण किया है। महायान बौद्ध धर्म एक प्रकार में दर्शन प्रधान धर्म बन गया। आगे चलकर महायान बौद्ध धर्म में जिन दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ, उनमें विज्ञानवादी और शून्यवादी विचारकों की मान्यताओं का जीव के स्वरूप की मान्यताओं की परम्परा में विशेष महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। जीव के विवेचन के प्रसंग में हम मुख्यतः इन्हीं उक्त दो विचारधाराओं का उल्लेख कर रहे हैं।

● परवर्ती बौद्ध धर्म में स्वीकृत जीव-स्वरूप

विज्ञान की जीव के रूप में प्रतीति

बौद्ध दर्शन जीव की सत्ता उस प्रकार नहीं मानते, जिस प्रकार उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों एवं गीता आदि के आधार पर आचार्य शंकर एवं उनके बाद के अद्वैत-वेदान्तियों ने मानी है। बौद्धों का जीव-सिद्धान्त वैष्णव आचार्यों की मान्यताओं से भी पूर्णतया भिन्न है। इस का प्रधान कारण यह है कि बौद्धों ने चित्त और विज्ञान से अलग किसी दूसरी सत्ता को स्वतन्त्र प्रमाणा माना ही नहीं है। उनके अनुसार विज्ञान (बुद्धि) ही हमें जीवत्व की प्रतीति करवाता है और इस प्रतीति का कारण उन्होंने अहन्ता-भाव माना है। बौद्ध इसे जीव नहीं कहते। वे इसे 'आलय विज्ञान' का नाम देते हैं। बौद्धों के चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं और उन सभी के अनुसार मूल सत्ता केवल चित्त या विज्ञान की ही है। 'आलय विज्ञान' के रूप में ही जीव के चैतन्य का आभास विभिन्न रूपों में हमें बौद्ध दर्शनों में मिलता है। योगाचार के अनुसार जगत क्षणात्मक सत्ता है और क्षण-क्षण का नैरतय या प्रवाह ही जीव के अस्तित्व का अनुभव करवाता रहता है। बौद्धों की जीव सम्बन्धी मान्यता केवल इसी रूप में समझी जा सकती है। प्रस्तुत प्रसंग में हम इसे बौद्धों का जीव-सिद्धान्त मान सकते हैं। योगाचार सम्प्रदाय वालों के अनुसार जीव दो प्रकार के है। एक जीव वे हैं, जिन्हें अभी तक निर्वाण प्राप्त नहीं हुआ है। ये जीव भव-बन्धन का दुःख उठा रहे हैं। दूसरे प्रकार के जीव वे हैं जिन्होंने निर्वाण प्राप्त कर लिया है। उन्हें शाश्वत

भास्वरता में तदाकार या एकमेक होने वाला जीव कहा गया है। योगाचार विचारकों ने जीवों के निर्वाण की अवस्था को उनकी भास्वरता माना है। माध्यमिक बौद्धों का दृष्टिकोण उनसे कुछ भिन्न है। वे इसे जीव का 'शून्य में समा जाना' मानते हैं। क्योंकि उनके मतानुसार निर्वाण का अर्थ शून्यरूपता प्राप्त करना है।^१

जैन दर्शनो में जीव के स्वरूप की चर्चा बौद्धों से भिन्न ढंग में की गयी है। वे जीव का यथार्थ अस्तित्व मानते हैं। उन्होंने जीव को तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं—बद्ध जीव, आलोकाकाशोन्मुख जीव और शाश्वत-मुक्त जीव। 'बद्ध जीव' वे हैं, जो अभी तक आवागमन के चक्कर में भटक रहे हैं। 'आलोकाकाशोन्मुख' जीवों को मुक्ति तो प्राप्त नहीं रहती, लेकिन उनकी यात्रा मुक्ति की ओर होती है। तीर्थंकर ही शाश्वत-मुक्त जीव हैं, जिनका निवास सिद्धशील लोक माना गया है।^२

शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध और जीव

माध्यमिक या शून्यवादी बौद्ध विचारक यह मानते हैं कि सत्ता नामक कोई वस्तु या तत्त्व है ही नहीं। कारणता की धारणा के सम्बन्ध में विलक्षण दृष्टिकोण अपनाते हुए भी जहाँ अन्य बौद्ध सम्प्रदाय वस्तुओं की उत्पत्ति को स्वीकार कर लेते हैं, वहाँ शून्यवादी इसका निषेध ही मानते हैं। उनके मत में जगत मिथ्या सम्बन्ध रखने वाली मिथ्या वस्तुओं का जाल है।^३ नागार्जुन ने पहली कारिका में ही इस मन को स्पष्ट कर दिया है कि किसी का भी अस्तित्व नहीं है। इसी प्रसंग में उन्होंने अस्तित्व का हर दृष्टि से खण्डन किया है, लेकिन अद्वैतवेदान्तियों की भाँति वे जगत और जागतिक पदार्थों का व्यावहारिक अस्तित्व भी स्वीकार कर ही लेते हैं। शून्यवादी योगाचारी हैं और योगाचार के अनुसार सम्पूर्ण भौतिक जगत का अस्तित्व भ्रमात्मक माना गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शून्यवादियों की दृष्टि में शून्य ही एकमात्र सत्य है। शून्यवाद को ही शंकराचार्य ने खण्डन का विषय बनाते हुए यह कहा है कि सत्य सत्ता की स्वीकृति के अभाव में किसी अन्य वस्तु का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।^४ बाद में 'शून्य' को भावात्मक सत्ता के रूप में स्वीकार कर, यह मान लिया गया कि शून्य से माध्यमिकों का आशय सम्भवतः 'शून्य जैसा' में था।^५ इसके सम्बन्ध में एम० हिरियन्ना लिखते हैं कि उक्त भावात्मक शून्य-अवधारणा परवर्ती आरोपण है, जबकि वे माध्यमिकों को पूर्वोक्त मान्यता के अनुसार शून्यवादी ही मानते हैं।^६

^१ सौन्दरानन्द १६।२८, २९, डा० रा० कु० भा० द० खं० १, पृ० ६००-६०१,

^२ भा० दर्शन, डा० रा० कु० ख० १, पृ० ३२५, ३२३, वही० पृ० ३२०, ३३३,

^३ पीटर्स वर्ग सम्करण, नागार्जुन-कारिका, (टीका) पृ० ५८, वही० १३-१,

^४ देखिए : वे० सू० २-२-३१, (शां० भा०)

^५ भारतीय दर्शन (रा० कु०) भा० १, पृ० ६६२-६६,

^६ भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० २२३,

जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में माध्यमिकों की उक्त धारणा को लागू किया जा सकता है। जीव के कर्मों के विषय में नागार्जुन (माध्यमिक आचार्य) का मत है कि बोधिसत्त्व चाहे तो अपने शुभ कर्म दूसरों को बाँट सकता है। बोधिसत्त्व के विषय में यह धारणा भी प्रचलित है कि वह अपने पुण्य अपने साथियों में वितरित कर सकता है और करता भी है। यही से भक्ति के तत्त्व ने बौद्ध धर्म में प्रवेश किया है और बोधिसत्त्व को वही स्थान प्राप्त हुआ है, जो अवतारवादी धारणा के अनुसार अवतारी पुरुषों को प्राप्त है। जीव के सम्बन्ध में माध्यमिकों की मान्यताओं में धीरे-धीरे परिवर्तन भी हुआ है।

● वैचारिक संघर्ष

सिन्धु सभ्यता के अवशेषों के अध्ययन के उपरान्त विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं उस काल के भारत में कृषि-अर्थव्यवस्था प्रचलित थी और परिस्थितियों में परिवर्तन आ जाने के कारण कालान्तर में स्वयं यायावर आर्य जाति का जीवनाधार भी कृषि बन गया था। इस परिवर्तन वानावारण के प्रभाव से विभिन्न वर्ग बन गए थे और आर्य जाति की पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन हो गया था। गणपति या विशपति के रूप में जीवन-यापन करने वाले आर्यों के समाज में परिवर्तन के कारण का स्थान राज्य-व्यवस्था एवं जमींदारी प्रथा ने ले लिया। वर्ण-व्यवस्था की स्थापना उक्त परिस्थितियों में साकार हुए परिवर्तनों एवं नयी व्यवस्था को सुचारु ढंग में चलाने की उपलब्धि थी। इस तरह नये वानावरण ने एक ओर श्रम-विभाजन के लिए मार्ग प्रशस्त किया एवं दूसरी ओर विशेषीकरण तथा विनिमय की प्रथा का प्रचलन हुआ। ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' में हमें नव निर्मित वर्ण-व्यवस्था के प्रचलन के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं, यद्यपि यह स्थिति पूर्ववर्ती वैदिक कालीन ही थी। वर्ण-व्यवस्था का उदय भी सामाजिक विकास की एक अवस्था विशेष का ही परिणाम था।

हम गन पृष्ठों में इस तथ्य का प्रतिपादन कर चुके हैं कि जीवन-यापन के हेतु अर्जन के उपायों में परिवर्तन के साथ ही सामाजिक चिन्तन में भी परिवर्तन आ जाता है, जिसके फलस्वरूप धर्म और दर्शन का स्वरूप बदल जाना स्वाभाविक है। उदाहरण के रूप में शरीर में भिन्न आत्मा की सर्वात्मवादी धारणा तथा मृत्यु के उपरान्त आत्मा के द्वारा दूसरे शरीर में प्रवेश करने की परिकल्पना एवं विश्वास ने ही परिवर्तित परिस्थितियों में कर्म-सिद्धान्त को जन्म दिया है। डा० राधाकृष्णन ने 'भारतीय दर्शन' के प्रथम खण्ड में यह स्वीकार कर लिया है कि कर्म और पुनर्जन्म की अवधारणाओं का आधार आदिवासियों का वह विश्वास है, जिसके अनुसार वे

यह मानते थे कि मृत्यु के उपरान्त आत्माएँ पशुओं के शरीर में निवास करती हैं।^१ अन्तर केवल यह है कि पहला विश्वास एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था के चिन्तन का परिणाम है एवं दूसरे प्रकार का चिन्तन दूसरे प्रकार की सामाजिक व्यवस्था की उपलब्धि। इस परिवर्तित सामाजिक स्थिति में इस प्रकार के अन्य भी कई परिवर्तन हुए हैं, लेकिन जीव के स्वरूप आदि की मान्यताओं के प्रसंग में हमारे लिए केवल यही उदाहरण पर्याप्त है। अतः जैसे ही जीव से सम्बन्धित चिन्तन में परिवर्तन हुआ वैसे ही यह भी मान लिया गया कि जीव को उसके द्वारा किए गए कर्मों के अनुसार पुरस्कार या दण्ड आदि प्राप्त होता है। कर्म की यह अवधारणा उक्त नवीन सामाजिक व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) की ही उपलब्धि है, जिसमें सामाजिक असमानता का समाधान प्राप्त किया गया है। आत्मा को इकाई के रूप में स्वीकार कर, उसके द्वारा एक शरीर का त्याग एवं दूसरे शरीर धारण करने की मान्यता भी उक्त कर्म-सिद्धान्त पर ही आधारित प्रतीत होती है। इस विचार का विशेष पल्लवन भगवद् गीता में स्पष्ट दिखाई देता है, जो वर्ण-व्यवस्था की धारणा को अत्यन्त पुष्ट बनाने में अत्यधिक क्रियाशील रहा है। इस नयी व्यवस्था को ब्राह्मणवाद का अभिधान दिया जा सकता है। आरम्भ में नवीन परिवर्तनों के कारण नयी सामाजिक व्यवस्था को वर्ण-व्यवस्था ने एवं तत्तन्त्र्य दार्शनिक चिन्तन ने पर्याप्त सहायता पहुँचाई थी। लेकिन कालान्तर में ब्राह्मणवाद जब स्वयं सामाजिक प्रगति के मार्ग का अवरोध बन गया, तब की परिस्थितियों में ब्राह्मणवाद का विरोध करना भी आवश्यक हो गया। यही समय आदर्शवाद एवं भौतिकवाद के मध्य वैचारिक मघर्ष का समय है।^२

● जीव-स्वरूप सम्बन्धी भौतिकवादी दृष्टिकोण

ऊपर संक्षेप में जीव की अवधारणा के प्रसंग में वैचारिक मघर्ष की चर्चा इसलिए की गई है ताकि इस तथ्य से अवगत हुआ जा सके कि जीव की ब्राह्मणवादी अवधारणा पूर्ववर्ती जीव-धारणा से क्यों एवं किस रूप में भिन्न है तथा कालान्तर में ब्राह्मणवाद के विरोधियों ने इसे क्यों भौतिकवादी दृष्टिकोण के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। भारत की दार्शनिक प्रणालियों की मुख्यतः दो—आस्तिक एवं नास्तिक—प्रणालियों में विभाजित किया जा सकता है। आस्तिक प्रणालियाँ वे हैं, जो परलोक में विश्वास रखती हैं एवं वेदों की सत्ता को मानती हैं। जिन दर्शन-प्रणालियों में उपर्युक्त दोनों मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया गया है, वे नास्तिक कहलाती हैं। इन्हीं आदर्शवादी एवं भौतिकवादी चिन्तन-प्रणालियाँ कहना ही अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है। भारत में भौतिकवादी विचारधारा की परम्परा का उल्लेख प्रस्तुत रचना के प्रथम खण्ड में विस्तार के साथ कर दिया गया है।

^१ भारतीय दर्शन, ख० १, पृ० १३६,

^२ विशेष विवरण के लिए देखिए . डा० रा० कृ० भा० द० भाग १, पृ० ३५२-५३,

इसके सम्बन्ध में अब कोई असहमति नहीं है कि भारतीय चिन्तन के फलक में भौतिकवादी विचारधारा भी उतनी ही पुरानी है, जितना कि स्वयं दर्शन । भौतिकवादी विचार, बुद्ध से भी पहले किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान थे, जिनके संकेत हमें ऋग्वेद में भी प्राप्त हो जाते हैं।^१ जीव के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में आदर्शवादी धारणाओं का निर्माण हो जाने और कर्म एवं पुनर्जन्म एवं परलोक की अवधारणाएँ बन जाने पर, जीव को स्वतन्त्र चैतन्य मानने का विरोध भी होने लगा । इसका कारण यह था कि पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त की अवधारणा के प्रचार के कारण जनता के शोषण के लिए ऊँचे वर्ण वालों को आधार प्राप्त हो गया था एवं वे अपने स्वार्थों को और अधिक दृढ़ बनाने में सफल होने लगे थे । जिन्हें यह व्यवस्था हितकर नहीं लगी, उन्होंने जीव (मानव-चेतना) को पदार्थ-जन्य माना और ईश्वर की परमसत्ता का विरोध करते हुए पदार्थ को ही ब्रह्माण्ड का मूल कारण बतलाया । उक्त अवधारणा का भी खण्डन किया, जिसके अनुसार यह माना जाता था कि शरीर के नाश के साथ ही आत्मा का नाश नहीं होता और वह एक शरीर का त्याग करने के उपरान्त दूसरा शरीर धारण कर लेती है । ऐसे विचारको को लोकायत या भौतिकवादी कहा गया है और उनके द्वारा प्रचारित दर्शन-प्रणाली को लोकायत विचारधारा या 'भौतिकवादी विचारधारा' का नाम दिया गया है ।

डी० भट्टाचार्य के अनुसार भारतीय भौतिकवाद के आदि प्रणेता बृहस्पति (वैदिक युगीन) के मत में पदार्थ ही परम सत्य है । आत्मा अमर सत्ता नहीं और न ही मृत्यु के बाद जीवन के बने रहने की अवधारणा को ही स्वीकार किया जा सकता है।^२ आचार्य भृगु ने भी जीव की उत्पत्ति पदार्थ से ही मानी है । वे लिखते हैं कि जीवों का जीवनाधार पदार्थ है । सभी जीव अन्ततः पदार्थ में ही समाहित हो जाते हैं । उपनिषदों के कई प्रसंगों में भी पदार्थ के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का अनादि अस्तित्व न मानकर परलोक की अवधारणा का खण्डन किया गया है।^३ पुरान कम्प, माखन गोसाल, अजीत केशकबलि आदि चिन्तकों के स्पष्ट उल्लेख बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं । ये सभी विचारक आत्मा को शरीर से स्वतन्त्र एवं अलग सत्ता स्वीकार करने का विरोध करते थे । उनका विचार था कि जिन तत्त्वों से शरीर का निर्माण हुआ है, शरीर के निधन के उपरान्त उसकी सामग्री पुनः अपने-अपने मूल तत्व में समा जाती है । मृत्यु के बाद आत्मा अर्थात् चैतन्य का भी अन्त हो जाता है । अजीत केशकबलि के अनुसार जिस समय तक शरीर है, उसी

^१ डा० रा० कृ० भा० द० ख० १, पृ० २७७,

जवाहरलाल नेहरू, भारत की खोज, पृ० ७१,

^२ हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी, ख० १, पृ० १३, रा० कृ० भा० द० भा० १, पृ० २७७,

^३ एम० एन० राय, मैटिरियलिज्म, पृ० ७७-७८ पर उद्धृत ।

समय तक चेतना रहती है। शरीर के विनाश के बाद आत्मा (चेतना) का बने रहना सम्भव नहीं है। आत्मा को शरीर से भिन्न एवं स्वतन्त्र चैतन्य मानने वाले उसके स्वरूप आदि के बारे में निश्चित रूप में कुछ भी बतला नहीं सकते। अतः आत्मा की शरीर में स्वतन्त्र स्थिति का दावा करने वाले गलती पर है।^१ जैनसूत्रों में उक्त भौतिकवादी विचारको के मतों का उल्लेख करते हुए यह बतलाया गया है कि उनके अनुसार पाप और पुण्य की धारणाएँ मात्र कल्पना है क्योंकि शरीर को बनाने वाले पदार्थ-समवाय के विघटित हो जाने पर स्वतन्त्र चेतना का अस्तित्व शेष रह ही नहीं सकता।

आजीवक विचारक आत्मा के आवागमन की अवधारणा के विरोध के माध्यम से उसे अविनाशी चैतन्य मानने का विरोध करते थे। उनके अनुसार नियति विश्व की घटनाओं की परिचालिका है—ब्रह्म नहीं। चेतना का जन्म शरीर से होता है। रामायण एवं महाभारत में भी भौतिकवादी विचारको की मान्यताओं का उल्लेख हुआ है, जिनके अनुसार मृत पुरुषों को उनकी सन्तान का दिया हुआ कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। इन विचारको का यह दावा है कि इस ससार में परे मनुष्य जीवित नहीं रहता। महाभारत में उपदेश देने हुए भारद्वाज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा की मान्यता की कोई आवश्यकता ही नहीं है। महाभारत में विभिन्न प्रसंगों में उन आचार्यों की मान्यताओं का उल्लेख आया है, जिन्हें विद्वानों ने स्वभाववादी यदृच्छा या परिणामवादी विचारक कहा है। ये विचारक विश्व को स्वयं निर्देशित मानते हैं और उसका निर्माण या नियमन करने वाली किसी अलौकिक शक्ति के अस्तित्व का विरोध करते हैं। शांतिपर्व के एक प्रसंग में कहा गया है कि जीव और शरीर यदृच्छा से या अपने स्वभाव के कारण जिस प्रकार एक साथ सह अस्तित्व में आते हैं, उसी प्रकार इनका एक साथ ही नाश भी हो जाता है। प्रत्येक प्राणी का अन्त मृत्यु है—इससे और अधिक कुछ नहीं।

स्वभाववादी विचारको की धारणाओं की चर्चा करते हुए महाभारत में उनकी मान्यताओं के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वे सभी वस्तुओं का स्वभावज्ञ अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यह मिद्धान्त प्रकाशान्तर से साक्ष्यों का ही मूलभूत प्रकृति-सिद्धान्त है। यदृच्छावादियों का मत है कि सभी कुछ यदृच्छया ही होता है अतः जगत की रचना के सम्बन्ध में ईश्वरीय सृष्टि के सिद्धान्त में भटकने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।^२ आत्मा की सत्ता को भौतिकवादियों ने भी माना है। आदर्शवादियों में भिन्न उनकी धारणा यह है कि वे उसकी अवस्थिति शरीर से भिन्न एवं स्वतन्त्र स्वीकार नहीं करते। वे पदार्थ की सत्ता को चेतन-निर्भर न मान कर चेतना की सत्ता पदार्थाश्रित मानते हैं। उनके अनुसार जीव (मानव-

^१ एच० जैकोबी, जैन सूत्राज, भूमिका, पृ० ३४, वही० पृ० ३३६-४१,

^२ हिरियमा, आउटलाइन्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृ० १०३-४,

चेतना) का मूल कारण पदार्थ है और यह चेतना (शरीर) पदार्थ-समवाय में स्वयमेव उद्भूत हो जाती है।

ऊपर जिन विचारको एव जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में उनके विचारों का उल्लेख किया गया है, वे हमें बहुधा उन रचनाओं में बिखरे रूप में मिलते हैं, जो स्वयं आदर्शवादी विचारधारा से प्रेरित हैं एवं जिनमें जीवपरक भौतिकवादी विचारधारा का उल्लेख भिन्न एव विरोधी पक्ष के रूप में हुआ है। ब्रह्म अर्थात् ब्रह्माण्ड के मूलकारण की मान्यताओं के सम्बन्ध में भारतीय विचार-परम्परा का उल्लेख करते हुए हमने इस तथ्य का प्रतिपादन कर दिया है कि भौतिकवादी दृष्टि में जगत के सम्बन्ध में विचार करने वाली प्रायः सभी रचनाएँ या तो स्वयमेव काल-कवलित हो गयी हैं अथवा आदर्शवादी चिन्तकों के द्वारा उन्हें नष्ट कर दिया गया है। अध्यात्मवादियों ने अपने सिद्धान्तों की स्थापना करते समय भौतिकवादी विचारकों की मान्यताओं का खण्डन करने के लिए ही उनकी रचनाओं एवं उनमें व्यक्त विचारों का उल्लेख किया है, जिसमें यह पता चलता है कि ब्रह्माण्ड की रचना एवं जीव-चैतन्य के विषय में उनके क्या विचार थे। इस विषय में किसी को सन्देह नहीं कि भौतिकवादी विचार-परम्परा किसी समय लोकायत दर्शन के रूप में एक विशिष्ट दर्शन-प्रणाली के रूप में इस देश में प्रचलित हुई एवं उसने आदर्शवादी विचारधारा की न्यूनताओं को पर्याप्त सीमा तक सम्मुख लाने का प्रयत्न भी किया है। लोकायत दर्शन-प्रणाली की मान्यताओं को विद्वानों ने पुनः निमित्त किया है, जिसके अनुसार उसकी जीव-चैतन्य सम्बन्धी धारणाओं को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है

(१) लोकायत पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तत्त्वों की ही अनादि सत्ता मानते हैं और जीव-चैतन्य को इनके समवाय से उद्भूत चेतना का नाम देते हैं।

(२) उनके मत में सत्ता केवल उसी की मानी जा सकती है, जिसका प्रत्यक्षण सम्भव है या जो इन्द्रिय-गोचर है।

(३) स्वतन्त्र आत्म चैतन्य की मान्यता को अस्वीकार कर लोकायतों ने इस धारणा का प्रचार किया है कि प्रकृति ही जगत का मूलकारण है।

(४) आत्मा को वे शरीर ही स्वीकार करते हैं, उससे भिन्न एव स्वतन्त्र चैतन्य नहीं। उनका मत है कि जिस तरह पान, गुपारी और चूने के योग से लाल रंग की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पदार्थ-समवाय से जीव या चेतना का प्रादुर्भाव हो जाता है।

(५) जीव के जन्मान्तरण को वे नहीं मानते, अतः उनके अनुसार परलोक की अवधारणा मात्र कल्पना है। स्वर्ग एवं नरक की मान्यता को भी उन्होंने आदर्शवादियों की मनगढ़न्त धारणा का ही नाम दिया है।

(६) आत्मा की अमरता का वे खण्डन करते हैं और शरीर की मृत्यु के उपरान्त सभी तत्त्वों का बिखराव ही उन्हें मान्य है। तदनुसार आत्मा न किसी

दूसरे शरीर में प्रवेश करती है और न ही उसका किसी अन्य लोक में गमन ही होता है ।

(७) अन्तर्भूत शक्ति या स्वभाव ने कारण भौतिक तत्त्व स्वयमेव ब्रह्माण्ड की रचना का कारण बनते हैं । मुक्ति को जीवन का लक्ष्य स्वीकार करना भ्रम है क्योंकि मोक्ष की अवधारणा एवं मात्र कल्पना है ।

अद्वैत वेदान्त एवं शैव-शाक्त दर्शनों में स्वीकृत जीव-स्वरूप

अद्वैतवेदान्ती केवल ब्रह्म का ही यथार्थ अस्तित्व मानते हैं। उनके मतानुसार केवल ब्रह्म ही अनादि एवं अनन्त सत्ता है और जीव तथा जगत् मात्र प्रतीत सत्ताएँ हैं। जीव को केवल इसी दृष्टि से अनादि एवं कर्म करने में स्वतन्त्र माना गया है कि ब्रह्म में ईश्वर की और ईश्वर में जीव की प्रतीति की आरम्भावस्था के बारे में कुछ कहना सम्भव नहीं है। आवागमन का सिद्धान्त अद्वैतवेदान्ती भी स्वीकार करते हैं, अतः उन्हें जीवों की अज्ञानता को भी मानना पड़ा है। परन्तु उनके अनुसार जीव का अज्ञान वैसा नहीं है, जैसा कि माण्य विचारक मानते हैं। अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार अविद्या और माया से अतीत जीव ही ब्रह्म है, इसलिए उसका कैवल्य वैसा ही नहीं, जैसा कि माण्यों के पुरुष का। माण्यों के अनुसार पुरुष अनेक है और उनका शुद्ध स्वरूप ही उनकी मुक्ति (कैवल्य) है। निरीश्वर साख्य तो प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त ब्रह्म नाम की किसी तीसरी अवीश्वर सत्ता को मानते ही नहीं। शंकराचार्य का मत है कि माया के आवरण के कारण ब्रह्म ही ईश्वर है और अविद्या का आवरण ईश्वर की प्रतीति जीव के रूप में करवाता है।^१

कर्म-विधान और ईश्वर के नियमन के प्रश्न का उत्तर देते हुए अद्वैतवेदान्तियों ने ब्रह्माण्ड को धारण करने वाली चेतन सत्ता को 'ईश्वर' कहा है। वही विश्व की नियामक शक्ति है। वे यह भी मानते हैं कि ईश्वर को भी अविद्या अपने आवरण में ले लेती है और उसका आवरणभूत रूप ही जीव है।^२ जीवों में एक दूसरे से अन्तर

^१ पञ्चदशी, १-१७, माया विम्बो वशीकृत्य ता स्यात् सर्वज्ञ ईश्वर । अविद्या वश-
गस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा × × × × ॥

^२ ब्र० सू० शा भा० २।१।३४, सापेक्षो हीश्वरो विषमा सृष्टिं निमिमीते । किमपेक्षत
इति चेत् धर्मधर्मविषेक्षत इति वदाम । अतः सृज्यमान प्राणिधर्मधर्मविषया
विषमासृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापगच्छ । वही० २।१।३५, विभागादूर्ध्वं कमपिदा
ईश्वरः प्रवर्तता नाम । प्राग्विभागाद्वैचित्र्य निमित्तस्य कर्मणोऽभावात्तुल्यवाद्यासृष्टिः
प्राप्नोतीति चेत्.....नैष दोष । अनादित्वात्ससारस्य । भवेदेव दोषो यद्यादिमान्
ससारः स्यात् । अनादौच ससारे बीजाकुर वद्धे तु मद्भावेन कर्मणः सर्गं वैधर्म्यस्य
च प्रवृत्तिर्न विरुद्धयते..... ॥

देखकर अद्वैतवेदान्तियों ने उनकी विश्व, तैजस् और प्राज्ञ तीन कोटियाँ स्वीकार कर ली हैं। ईश्वर को उन्होंने एक ही माना है। जीवों की इन तीन कोटियों में से हर एक कोटि के तीन-तीन भेद भी माने गये हैं।^१ इस तरह व्यावहारिक दृष्टि से जीवों की अनेकता को किसी न किसी रूप में अद्वैतवेदान्ती भी स्वीकार कर लेते हैं। जीवों का अनादि एव स्वतन्त्र अस्तित्व न मानने के कारण अद्वैतवेदान्ती शाश्वत मुक्त जीवों के मत का समर्थन नहीं करते। अगर वे यह मान ले तो उनका जीव और जगत का सिद्धान्त ही बाधित हो जाता है। विद्यारण्य स्वामी ने 'कूटस्थ जीव' का भी उल्लेख किया है, लेकिन उनकी यह धारणा मौलिक नहीं है।^२ कूटस्थ जीव पीछे बतलायी गयी जीव की कोटियों के ही अन्तर्गत है।

● प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार जीव-स्वरूप

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार जीव में विभिन्न मलो (आवरणों) की स्थिति स्वीकार की गयी है। तदनुसार तीसरा मल 'कर्म मल' कहलाता है। जीव की आसक्ति-भाव से कार्य में प्रवृत्त होने की अवस्था ही उसका 'कर्म मल' माना गया है।^३ प्रत्यभिज्ञावादियों के मत में ईश्वर के अनुग्रह में ही जीव कर्मों में प्रवृत्त होता है, लेकिन कृत-कर्मों के फल के प्रति वह इसलिए उत्तरदायी माना गया है, क्योंकि उसके वासना-संस्कार अपने-अपने हैं और वह अपनी ही गति एव अगति के कारण ही विशेष कर्मों की ओर उन्मुख होता है। जीव को कर्मों की ओर प्रवृत्त करने वाली शक्ति माया स्वीकार की गयी है। अन्त में उसके कर्म ही (अच्छे-बुरे) उसकी मुक्ति एव बन्धन के कारण बनते हैं। कर्म-प्रवाह में बहते-बहते जीव में संस्कारों की स्थिति दृढ़ हो जाती है और वह उसे बन्धन में डालने वाले आवरणों में लपटनी रहती है। बढ़ होकर जीव एक योनि में दूसरी योनि में पूर्वजन्म-कृत कर्मों का फल भोगने के हेतु भटकता रहता है। उसका कर्म-संस्कार उस समय तक नहीं टूटना जब तक वह भक्ति आदि उपायों का आश्रय ग्रहण कर धीरे-धीरे उन्हें दूर नहीं कर लेता। कर्म-संस्कार ही जीव का प्रवृत्ति-प्रवाह है, जिसमें डबता-उतगता जन्म-जन्मान्तर की यात्रा में वह मुल-दुःख भोगता है।^४

^१ गी० पा० का० १।१.—बहि प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तः प्रज्ञस्तु तैजसः । घनप्रज्ञ-
मत्था प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृता ॥ (ख) वही० १।३, विश्वाहि स्थूल भुङ् नित्य
तैजस प्रविविक्त भुक् आनन्दभुक् तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोग निबोधत ।

^२ पञ्चदशी, ८।१६, (क) कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येव चिच्चतुर्विधा ॥ वही० (ख)
६।२२, अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्न चेतन । कूटवन्निविकारेण स्थित कूटस्थ
उच्यते ॥

^३ प्र० हू० पृ० १६, तद्भूमिका सर्वदर्शन स्थितय ॥

^४ ई० प्र० वि० ३-२-८, कर्मोऽस्ति वासना संस्कार रूपो धर्माधर्मास्त्येव × × ॥

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जीव का स्वतन्त्र (चेतन) अस्तित्व नहीं। उसके प्रत्येक आचरण को शिव की इच्छा से ही प्रेरित एवं नियमित बतलाया गया है। इस धारणा का आधार यह है कि शिव ही पशु का रूप धारण करते हैं—अतः जीव का शिवाधीन होना स्वाभाविक है। इच्छा-स्वातन्त्र्य शिव का माना गया है—जीव का नहीं। परमसत्ता द्वारा जीव का रूप धारण करना ही जीव के अस्वातन्त्र्य का स्रोतक है।^१ जो अद्वैतदर्शन ऐसा मानते हैं, उन सभी में प्रायः इसी धारणा का प्रतिपादन हुआ है। नदनुसार जीव मायीय मनो के आवरण के कारण अपने शुद्ध (चैतन्य) स्वरूप को भूल जाता है। वह इन्द्रियों के धर्मों को अपने धर्म मान बैठता है और धर्म के कारण कर्तृत्व के भाव में ग्रस्त हो जाता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में जीव की स्थिति के बारे में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जीव के काम-मनो ने ही उसे शिव में पशु बना दिया है।^२ पशु-दशा में 'शिवोद्भूतम्' को भूल कर संसारी बन जाना शिव की लीला है। इस रूप में वह जीव है—प्रकृति-बद्ध जीव। संसारी जीव के सभी आचरण अविद्या-प्रेरित माने गये हैं। जब वह शिव की भक्ति एवं शाम्भव योग की साधना द्वारा फिर से आरोग्योन्मुख बन कर मध्यवर्ती भूमियाँ पार करता है, तब वह पुनः शिवत्व प्राप्त कर लेता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार आरोग्य की स्थिति में शिव प्रकाश-विमर्श रूप चैतन्य का असीम सागर है। उसमें भिन्न एवं आणव मनो से बद्ध पशु नाम की कोई अनादि सत्ता (सीमित चैतन्य) नहीं। शिव स्वयं ही अपनी इच्छा द्वारा असीम से सीमित बनता है। उसकी यह आणव-वस्था ही पशु-भाव है, जिसे काश्मीर शैव 'पशु' का अभिधान देते हैं। इसको शिव द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप को भुना देना माना गया है।^३ आणव स्थिति में शिव ही पशु कहलाता है। आणव पाश है, और स्वयं को पाशों में बांध लेने के कारण ही शिव पशु है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार ईश्वर और जीव की भाँति शिव और पशु आरम्भ में ही दो पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। जीव अनादि एवं सख्या में अनन्त है। ईश्वर एक एवं सर्वज्ञ तथा सर्व-शक्तिमान सत्ता है, जिस की तुलना में जीव का ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व—दोनों ही सीमित हैं। शैवागमों की दृष्टि में पशु (जीव) की अणुता उसका निम्न धर्म नहीं, लेकिन न्याय और वैशेषिक

^१ वही० २-४-६, तस्मात् वस्तुन ईश्वर एव सर्वत्र कर्ता, अहं च स च इति न परिमिते कर्ता अपितु सर्वत्र कर्ता × × ॥

^२ ई० प्र० वि० २।४।६, नन्वेव कुम्भकृतो नास्ति कर्तृत्वम् इति मनुस्मिदेव धर्माधर्मादि व्यवस्था। यदि प्रत्येपि युक्तप्रागमयोस्तदेवमेव ॥ तथापि समस्तेतर निर्माणमध्यमेवेदमपि परमेश्वरेणैव निर्मितं यत् अविचलस्तस्य कुम्भकार-पशो-मिथ्याभिमान प्रतिभुवे इवाधर्मणनाभिमान ... ॥

^३ ई० प्र० वि०, २।४।२० भासमानवधोऽयमगम प्रमाणकोऽयमभेद इति चेत् आगमोऽपि भेदात्मक एव वस्तुभूत प्रमातृ प्रमाण प्रमेय विभागश्च × × ।

दर्शन के अनुसार ईश्वर की तुलना में जीव आरम्भ से ही पृथक् है और उनकी शक्तियाँ अत्यन्त सीमित हैं।

संख्य दर्शन में जीव को त्रिगुणातीत, निष्कल एवं केवल माना गया है। वह मात्र द्रष्टा चैतन्य है। ब्रह्माण्ड का सारा व्यापार प्रकृति का है लेकिन पुरुष (जीव) प्रकृति के भुलावे में आकर प्रकृति के कर्तृत्व का अपने ऊपर आरोप कर लेता है। इस आरोपण से वह कैवल्य के सिंहासन से नीचे उतर कर आवागमन में भटकने लगता है। जो पुरुष तत्त्व-विचार तथा योग की साधना के द्वारा प्रकृति के माया-जाल से अपने आप को मुक्त कर लेते हैं, वे कैवल्य पद पा जाते हैं। साराण यह कि प्रकृति की भाँति ही वहाँ पुरुष की अनादि सत्ता मान ली गयी है, जो मात्र प्रतीति या आभास न होकर सत्य है। जीव का अस्तित्व अद्वैतवेदान्ती भी मानते हैं किन्तु मात्र व्यावहारिक सत्ता के रूप में ही। उनके मत में अविद्या के कारण ईश्वर जीव प्रतीत होता है। जीव के रूप में 'मैं कर्ता हूँ' 'मैं ही भोक्ता भी हूँ' आदि का भाव अज्ञान है और यह अज्ञान, अविद्या का परिणाम है। वे केवल ब्रह्म की ही यथार्थ सत्ता मानते हैं। प्रत्यभिज्ञावादियों की भाँति वे यह स्वीकार नहीं करते कि आरोहण में जो शिव है वही अवरोहण में पशु है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जीव भी सत्य है और शिव भी एव जीव द्वारा शिवत्व-लाभ भी। जीव की वे न व्यावहारिक सत्ता मानते हैं और न ही यह स्वीकार करते हैं कि अन्त तक पशु और शिव में द्वैत ही बना रहता है। वैष्णव आचार्यों ने जीव-स्वरूप सम्बन्धी जिन मान्यताओं की स्थापना की है, प्रत्यभिज्ञावादियों का मत उन से स्वतन्त्र एवं भिन्न है।

शैव दर्शन के अनुसार शिव अपने आपको पाशों में आवद्ध कर लेने के कारण ही पशु है। वह जब तक पशु है, उसकी वह स्थिति यथार्थ है—मिथ्या या भ्रम नहीं। पाशों को तोड़ लेने पर पशु शिव हो जाता है, पर शिव रूप नहीं। जीव द्वारा ब्रह्म रूप होने की मान्यता एव पशु द्वारा शिव होने की धारणा पूर्णतया भिन्न है। वैष्णव भक्ति-दर्शनो एव इतर शैव मतों से काश्मीर शैवदर्शन इस मान्यता के कारण विशिष्ट रूप प्राप्त कर लेता है। तदनुसार जीव की अणुता उसका नित्य धर्म नहीं है। अतः अपने मनो को हटाता हुआ जीव आरोहण की यात्रा की समाप्ति पर शिवत्व प्राप्त कर लेता है। इसे शिव का पशु रूप त्याग कर पुनः स्वरूप प्राप्त कर लेना कह सकते हैं। काश्मीर शैवों की 'शिवोऽहम्' की मान्यता अद्वैतवेदान्तियों की 'अह-ब्रह्मस्मि' जैसी ही है। लेकिन शंकर के मायावाद के अनुसार जीव के मिथ्यात्व का विचार एव प्रत्यभिज्ञादर्शन में पशु सम्बन्धी मान्यता एक दूसरे से भिन्न है। 'अह-ब्रह्मस्मि' और 'शिवोऽहम्' में 'मैं ब्रह्म हूँ' तथा मैं 'शिव हूँ' दोनों का प्रेरक दार्शनिक धरातल भिन्न है। एक के अनुसार जीव का जीवत्व अयथार्थ है जबकि दूसरे के अनुसार पशु का स्वरूप भी उतना ही सत्य है जितना कि शिव का।

प्रत्यभिज्ञावादियों का मत है कि अणुता की स्थिति में जीव (पशु) ज्ञाता और ज्ञेय रूप में स्वयं को जगत से भिन्न अनुभव करने लगता है। यह पूर्ण भेद की

अवस्था है, जिसमें जीव-जीव में भेद हो जाता है और अपने-अपने वासना-संस्कारों के अनुसार सभी कुछ अपने में भिन्न बन जाता है।^१ जीव, जगत से और जगत, जीव से पृथक् हो जाता है। शिव, पशु और प्रकृति इन तीनों का पूर्ण अलगाव ही इस भेदानुभूति का परिणाम है। जीव जागतिक विषयों में लिप्तता का अनुभव करने लगता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार जीव की यही स्थिति उसका पशु-भाव है।

● हिन्दू तान्त्रिक दर्शनों के अनुसार जीव का स्वरूप

ग्रौह तान्त्रिकों ने वज्रोपाय आदि के रूप में शक्तिमान और शक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हिन्दू तान्त्रिक दर्शनों में भी जीव और शक्ति के रूप में जीव और जगत की नियामक शक्तियों का उल्लेख मिलता है। जीव के सम्बन्ध में हिन्दू-तन्त्र दर्शन की मान्यता है कि आत्मतन्त्र ही मौलिक रूप में जीव का अभिधान प्राप्त करता है। तान्त्रिकों की पंचमकार की साधना के विरोध के फलस्वरूप आदि ग्रन्थ में शाक्तों को मायोपासक बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में अभी तक आदि ग्रन्थ के दर्शन के व्याख्याताओं का ध्यान ही नहीं गया कि सिक्ख गुरु शाक्तों को माया के पुनर्ले बतलाकर, उनकी निन्दा करने है। आदिग्रन्थ के टीकाकारों ने शाक्त का अर्थ माया-लिप्त जीव किया है, जो शाक्त सम्प्रदायों की मान्यताओं के अनुसार ठीक नहीं है। सम्भवतः शाक्तों की विचारधारा में अवगत न होने के कारण ही शाक्त-निन्दा के पूरे के पूरे मद्दर्भ को ही गलत परिप्रेक्ष्य दे दिया गया है। हमारे विचार में शाक्तों की मनमुख बतलाकर, उनके आचरण की निन्दा गुरुओं ने मात्र उन्नी जीवों को लक्ष्य बना कर नहीं की, जो सामाजिक आसक्तियों में लिप्त रहने है। यदि उन द्वारा शाक्तों की निन्दा, इस उद्देश्य से ही की गयी होती तो वे उन्हें शाक्त न कह कर किसी अन्य अभिधान का प्रयोग भी कर सकते थे।

शाक्त एक सम्प्रदाय है और निर्गुणसन्तो के समय तक उनका व्यापक प्रभाव युगीन समाज में विद्यमान था। यह तो हो सकता है कि शाक्तों के अनिष्टकृत ओषड आदि दूसरे सम्प्रदायों को भी शाक्त सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही मान लिया गया हो, लेकिन शाक्तों ने सन्तों का आशय मात्र मनमुख जीवों से ही नहीं है। शाक्त शब्द का प्रयोग उस सम्प्रदाय के साधकों के लिए हुआ है, जो शक्ति के उपासक हैं और जिनकी साधना-विधियाँ धीरे-धीरे समाज विरोधी लगती हैं अथवा नैतिकता की दृष्टि में वास्तव में ही समाज को पतनोन्मुखी बताने वाली है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा माया-सिद्धान्त के प्रसंग में की जायगी। प्रस्तुत मद्दर्भ में हमारा केवल अभीष्ट यह है कि हिन्दू तन्त्र-दर्शन के अनुसार जीव का स्वरूप क्या है। तान्त्रिक दर्शन तन्त्र-विचार की दृष्टि से अत्यन्त गम्भीर एवं युक्ति तथा प्रमाणों के धरातल पर बहुत अधिक लाजिकल है। वे शुद्ध स्वरूप की स्थिति में जीव को चित्-सचित्

सत्ता ही मानते हैं। तदनुसार विश्व चैतन्य (World consciousness) और आत्म चैतन्य में मूलतः कोई भेद नहीं है। उनकी यह भी मान्यता है कि शुद्ध आत्म चैतन्य अपरिच्छिन्न, अरूप एवं अपरिणामी सत्ता है। तदनुसार शिव तत्त्व और उसके क्रियाशील पक्ष (Energy) को शक्ति तत्त्व स्वीकार किया गया है। शैव तान्त्रिक शिव के उपासक हैं क्योंकि वे शक्तिमान रूप की आराधना करते हैं। शाक्तों के अनुसार 'शक्ति के बिना शिव, शव' है। शक्ति के उपासक शाक्त कहलाते हैं। अतः दोनों तान्त्रिक विचारधाराओं के अनुसार शिव और शक्ति दोनों एक दूसरे से भिन्न एवं स्वतन्त्र सत्ताएँ नहीं हैं, बल्कि एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं। शक्ति का कार्य सृष्टिरूप होना या सृष्टि करना माना जाता है। शैवों के अनुसार अपने विमर्श-पक्ष द्वारा सृष्टि की रचना करने के कारण शिव ही जगत् की रचना करने वाली सत्ता है। शिव और शक्ति की अभेदावस्था का स्वरूप ही परमशिव है, जिसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन में 'अनुत्तर' कह कर अनिवर्चनीय परम सत्ता स्वीकार किया गया है।

तान्त्रिकों के शिव और शक्ति-सिद्धान्त का प्रभाव सभी युगनद्ध साधना वाले सम्प्रदायों पर दिखायी देता है। यहाँ तक कि वामुदेव और उनकी शक्ति की परवर्ती धारणाएँ भी तान्त्रिकों की शिव और शक्ति की अभेदावस्था की धारणा से प्रभावित हुई हैं। यह प्रभाव वैष्णव महजियों तक व्याप्त है। तान्त्रिकों के अनुसार शक्ति (महामाया) विश्व की जननी है। तान्त्रिक ग्रन्थों में महामाया का वर्णन ब्रह्माण्ड की योनि के रूप में प्राप्त होता है।

जीव के स्वरूप-लक्षण के प्रसंग में तान्त्रिक आचार्यों ने विश्व की प्राण-शक्ति महामाया को ही जीव की भी प्राण-शक्ति माना है। महामाया महाकुण्डलिनी के रूप में विश्वव्यापी सत्ता मानी गयी है। वही कुण्डलिनी के आकार में मानव-देह में मूलधार में स्थित रहती है। यही चैतन्य है जो उत्पादन से पूर्व प्रसुप्तावस्था में अपने शुद्ध स्वरूप को भूला हुआ बतलाया गया है। अतः तीन वलयों में अवस्थित प्रसुप्त कुण्डलिनी को जगा कर, इडा और पिंगला के मध्यवर्ती सुषुम्ना-मार्ग से ऊपर ले जाकर दशम द्वार में शिव से एकमेक कर देना ही तान्त्रिकों के अनुसार जीव का मोक्ष है। जगत् की रचना आदि के सम्बन्ध में भी तान्त्रिकों की स्वतन्त्र मान्यताएँ हैं। तदनुसार जगत् की रचना महाकुण्डलिनी रूपा महामाया की योनि में होती है। विश्व की रचना, स्थिति एवं संहार आदि के हेतु महामाया की विभिन्न शक्तियों को भी स्वीकार कर लिया गया है। इस दृष्टि में तान्त्रिकों की ब्रह्माण्ड-रचना सम्बन्धी-मान्यताएँ मौलिक हैं।

प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में परमसत्ता की शक्ति द्वारा जगत् की रचना के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन हुआ है, लेकिन शाक्तों के ब्रह्माण्ड-रचना-सिद्धान्त में महामाया को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है। शक्ति द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना मानने वाले कई सिद्धान्तों में शक्ति की अपेक्षा शक्तिमान का पक्ष प्रबल है, जबकि शाक्तों के अनुसार शक्तिमान को शक्ति के बिना निष्क्रिय बतला कर शक्ति को ही अधिक

महत्त्व दिया गया है। तान्त्रिकों के अनुसार महामाया की वही स्थान प्राप्त है, जो शक्ति के अधीश्वर शक्तिमान को अन्य सम्प्रदायों में। परमसत्ता के सम्बन्ध में भी तान्त्रिक विचारक जिस रीति से उसके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, वह अद्वैत वेदान्तियों के ब्रह्म के स्वरूप एवं साख्यों के पुरुष-विचार से भिन्न है। तदनुसार मृष्टि शक्ति का कार्य है तां सही, लेकिन अद्वैत वेदान्तियों के ब्रह्म एवं साख्यों के पुरुष की भाँति वह निष्क्रिय चेतन मत्ता नहीं है। तान्त्रिक शक्ति के भी दो रूप स्वीकार करते हैं। उस का एक स्वरूप कर्मशरीरी है और दूसरा पराशक्त्यात्मक। शक्ति के ये दो स्वरूप मूलतः स्वतन्त्र एवं भिन्न न होकर, महामाया की दो शक्तियों के ही प्रतीक हैं। जिस समय वह ब्रह्माण्डमयी कहलाती है, उसे कर्मशरीरिणी का अभिधान दे दिया जाता है और जब वह परात्पर अवस्था में होती है, उसे पराशक्ति के रूप में वर्णित किया जाता है।

महामाया के उपर्युक्त दोनों रूप उसकी दो भुजाएँ मानी गयी हैं। यही मान्यता ब्रह्माण्ड को शिव-शक्तिमय बनाने का मूल आधार है।^१ तदनुसार ब्रह्माण्ड केवल शिवमय अथवा केवल शक्तिमय नहीं है। आत्म चैतन्य को सीमित बना कर उसे जीव की स्थिति में ले आने वाली शक्ति ही है।

आत्म चैतन्य की अवस्था में जाता, ज्ञान और ज्ञेय का अलग-अलग अनुभव नहीं रहता। यह आत्म साक्षात्कर में मिलती-जुलती स्थिति है, जिसे तान्त्रिक शब्दावली में स्वप्रकाशस्वरूपता कहा गया। माया शक्ति के प्रभाव से जब आत्म चैतन्य जीवरूपता प्राप्त करता है, तब वह स्वप्रकाशस्वरूप नहीं रहता। उसे अस्मिता का स्पष्ट अनुभव होने लगता है और ज्ञेय एवं ज्ञान भी उसे अलग-अलग दिखायी देने लगते हैं। यह उसकी वह अवस्था है जब कर्म-संस्कार बनते हैं और संस्कार वासना का रूप धारण कर लेते हैं। संस्कार और वासना के मलावरण ही जीव के बन्धन हैं। और इस अवस्था में वह बद्ध जीव कहलाता है। यह स्थिति प्राप्त हो जाने के उपरान्त वह अपने आपको दूसरे जीवों से भिन्न मानने लगता है। व्यक्तित्व विशेष की प्राप्ति एवं उसकी अनुभूति तथा तदनुकूल आचरण ही बद्ध जीव की पहचान है। कुछ लोग उसे अपने लगने लगते हैं और कुछ के प्रति वह पर का भाव बना लेता है। 'मे' और 'मेरा' की स्थिति यही है कि जीव व्यापक आत्म चैतन्य न रह कर सीमित चैतन्य बन जाता है।

तान्त्रिकों के अनुसार जीव का व्यक्तित्व विशेष ही उसका पारतन्त्र्य है। वह कोई अतिरिक्त स्वतन्त्र सत्ता न होकर शरीर, चित्त कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों में युक्त आत्म चैतन्य का ही रूप है। इस मान्यता की परिधि में आते ही तान्त्रिक भी

^१ आर्थर एवेलॉ, सप्टेंट पावर, पृ० २५-२७, कुब्जिकातन्त्र, अध्या० १, योगिनी हृदयतन्त्र (सप्टेंट पावर पृ० २७ पर उद्धृत) महानिर्वाणतन्त्र, पृ० ७।६८ प्रपञ्चसार तन्त्र, अध्या० १६,

अद्वैत विचारको जैसे ही हो जाते हैं। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्ती आत्म चैतन्य को पूर्ण एवं स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार तान्त्रिक भी। फिर भी जीव के सम्बन्ध में तान्त्रिकों और अद्वैतवेदान्तियों की मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर है। अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार जीव और जगत की सत्ता मिथ्या या मात्र व्यावहारिक है, लेकिन तान्त्रिकों के मन में जीव और जगत मिथ्या नहीं है। जीव की परावस्था को तान्त्रिकों ने स्वीकार तो किया है, परन्तु एक विशेष रूप में ही। तदनुसार परावस्था जीव की स्थिति विशेष है, जिसमें 'अहम्' और 'इदम्' का अलग-अलग अनुभव नहीं होता। तान्त्रिकों की शब्दावली में इसे जीव की परामयित्-अवस्था कहा गया है। जीव के मन्दर्भ में ही तान्त्रिकों ने पराशक्ति को परादेवी माना है और उसे प्रकाश-विमर्श स्वरूपिणी कहा है। तदनुसार पराशक्ति स्व-स्वरूप के प्रकाशतार्थ सर्वप्रथम सचिकल्प ज्ञान-दशा को प्राप्त करती है। उसके बाद उसके विषय और विषयी दो अलग-अलग रूप उत्पन्न होते हैं।^१ तान्त्रिक विचारक शुद्ध और अशुद्ध तत्त्वों के रूप में तत्त्व-भेद की चर्चा भी करते हैं। तदनुसार माया के बाद के सभी तत्त्व माया द्वारा धारण किये हुए रूप हैं। इस प्रकार तान्त्रिकों ने द्वैत को स्वतन्त्र मान्यता दे दी है। वे प्रकृति के उपरान्त विकृति-प्रकृति-क्रम के अनुसार तत्त्वों के उत्तरोत्तर परिणमन हो तो स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन जहाँ सांख्यो ने प्रकृति को ब्रह्माण्ड का मूल माना है, वहाँ तान्त्रिकों ने माया को मूल माना है। सांख्यो और तान्त्रिकों के तत्त्व-विचार में यही मौलिक भेद है। यह भेद परिणमन और विकास के रूप में भी है और प्रकृति एवं माया के रूप में भी। एक के अनुसार पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त प्रकृति (प्रधान) का उत्तरोत्तर परिणमन होता है, दूसरे के अनुसार यह माया का विकास है। अर्थात् माया ही उत्तरोत्तर अपने आपको पृथ्वी तत्त्व तक लाकर ब्रह्माण्ड का रूप धारण कर लेती है। अब यह स्पष्ट है कि तान्त्रिकों के मन में ब्रह्माण्ड की समग्र रचना माया का कार्य है प्रकृति का नहीं।

तान्त्रिक महाकुण्डलिनी (माया) के अवरोहण को ब्रह्माण्ड की रचना का विधान मानते हैं। उनके अनुसार मानव-देह में कुण्डलिनी उसी का कनिष्ठ रूप है। कुण्डलिनी ही जीव है जो मूलधार में गुणावस्था में रहती है। तान्त्रिकों के अनुसार ब्रह्माण्ड में जो स्थिति महाकुण्डलिनी की है, वही मानव-देह में कुण्डलिनी की। जीव कुण्डलिनी अथवा प्राण शक्ति है। योग दर्शन में भी कुण्डलिनी के रूप में ही जीव का अस्मिन्त्व स्वीकार किया जाता है। अन्त साधना प्रधान प्राय सभी सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में कुण्डलिनी-सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। 'शारदातिलकसार तन्त्र' के अनुसार पारमार्थिक सत्ता केवल शिव की मानी गयी है। शिव को सच्चिदानन्द स्वरूप बतलाया गया है। शक्ति न शिव में भिन्न है और न ही शिव

^१ कृत्वृष्टार्माण निगम, अध्या० १, श्लोक १६-२४, शारदातिलक, अध्या० ६, योगिनीतन्त्र, (गर्पण पर्व, पृ० ३३ पर उद्धृत)

द्वारा उत्पन्न स्वतन्त्र सत्ता । वह शिव की नयी सृष्टि नहीं, बल्कि उसी का क्रियाशील पक्ष है । शक्ति के उदरान्त नाद या सादाख्य तत्त्व का उदय होता है, वही बिन्दु का रूप धारण करता है । यह बिन्दु तत्त्व ही ईश्वर माना गया है । इसके अनन्तर शक्ति स्वरूप क्रिया-शक्ति का विस्फोट होता है । शब्द रूप यह विस्फोट ही जगत है । यह मान्यता एक प्रकार से आदिग्रन्थ में भी प्राप्त होती है । '१ ओंकार' की व्याख्या में हम इसी मान्यता का मकेत पाते हैं । लेकिन गुरुओं की इस मान्यता को तान्त्रिक धारणा का अनुसरण नहीं करा जा सकता ।

बिन्दु के विस्फोट को तान्त्रिक साकार ब्रह्माण्ड मानते हैं और ब्रह्माण्ड की रचना के सन्दर्भ में ही उन्होंने जीव के स्वरूप की चर्चा की है ।^१ गोरखनाथ के नाम से प्रचलित 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में भी विस्फोट के सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त है । शक्ति के स्थान पर शिव तत्त्व को प्राधान्य देकर नाथ सम्प्रदाय में तान्त्रिकों की अधिकांश मान्यताओं को स्वीकार कर लिया गया है । कहा जाता है कि गोरखनाथ ने विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताओं को लेकर नाथ सम्प्रदाय की स्थापना की थी । दर्शन के क्षेत्र में शिव को परम तत्त्व का महत्त्व एवं कुण्डलिनी-साधना द्वारा दशम द्वार में जीव और शिव का मिलन, नाथ सम्प्रदाय की प्रधान विशेषता मानी जाती है । जीव के स्वरूप के बारे में गोरखनाथ के विचार तान्त्रिकों से अधिक भिन्न नहीं हैं ।

^१ शांति १०० अंश १, सत्त्विकदानन्द विभवात् सकलान् परमेश्वरात् । आर्माच्छक्ति स्वर्ता नादा नादाद् बिन्दुसमुद्भव ॥ सर्पेष्ट पर्वर, पृ. ४३, पराशक्तिभयः सादान् त्रियानु भिन्ने पृत । बिन्दुर्नादो धीर्जमिति तस्य त्रिदा स्मृता ॥ बिन्दू विश्वात्मक प्रीति शक्तिर्नादस्त्वयोमिथ । समवाय समाख्यान गर्वागमविशारदै ॥ यही ० पृ. ४४, निर्गुण सगुणश्चेति शिवो ज्ञेय सनातन । निर्गुणाच्चैव सजाता बिन्दवस्त्वत्पञ्च ॥ ब्रह्मा बिन्दुर्विष्णु बिन्दु रुद्र बिन्दुर्महेश्वर ॥

● पंचरात्र संहिताओं में वर्णित जीव-स्वरूप

श्रेडर ने पंचरात्र संहिताओं के रूप में वैष्णव सम्प्रदाय को अत्यन्त प्राचीन माना है। इन संहिताओं के रचना-काल में ही वासुदेव के अवतार के मिथ्यान्त को मान्यता प्राप्त हो गयी थी। वासुदेव की भक्ति के उल्लेख हमें गुप्त सम्राटों के शासन काल में ही प्राप्त होने लगते हैं। तदनन्तर वासुदेव की भक्ति का खोल क्षीण हो गया एवं उसका पुनरुत्थान तब हुआ जब वैष्णव आचार्यों ने शाकर मायावाद का खण्डन कर भक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करने के यत्न किये। श्रेडर ने संहिताओं के पुनरुद्धार द्वारा वासुदेव की भक्ति-परम्परा के भूले हुए सूत्रों की फिर से सामने लाने का प्रयत्न किया है। पंचरात्र संहिताओं के प्रतिपाद्य से यह सिद्ध है कि वासुदेव (कृष्ण) की भक्ति के नये रूप के निर्माण में उन्होंने दार्शनिक आधार का कार्य किया है। इनमें अहिर्बुध्न्य और जयाख्य संहिताएँ दार्शनिक विश्वासों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की हैं और कृष्ण। भक्ति के नये स्वरूप के प्रचार में अन्य रचनाओं के साथ ही उनका भी पर्याप्त योग है। आचार्य शंकर ने बौद्धों के शून्यवाद का खण्डन कर उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों एवं गीता की मान्यताओं के आधार पर ब्रह्म-मिथ्यान्त की स्थापना की। शाकर मायावाद एवं उनके ब्रह्म-विचार के सम्मुख बौद्ध धर्म न टिक सका और उसे भीमावर्ती देशों में शरण लेनी पड़ी। सामयिक परिस्थितियों के कारण शंकराचार्य को अपने ध्येय में अप्रत्याशित सफलता मिली तो सही, लेकिन उससे भक्ति के मार्ग में अवरोध भी उपस्थित हुआ।

शाकर मायावाद के विरोध में वैष्णव आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत तथा द्वैत आदि मिथ्यान्तों की स्थापना कर, नव्य भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात किया। इन आचार्यों ने भी प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे और ब्रह्म, जीव, जगत एवं माया के स्वरूप आदि के बारे में स्वतन्त्र मान्यताओं की स्थापनाएँ की। भक्ति की साधना का प्रचार करना वैष्णव आचार्यों का मुख्य ध्येय था, अतः उन्होंने आलवारों के भक्ति-गीतों, विष्णुपुराण आदि के साथ ही पंचरात्र संहिताओं को भी साक्ष्य माना और शाकर मायावाद तथा जगन्मिथ्या के विश्वासों का खण्डन किया। ज्ञान-साधना के

स्थान पर भक्ति की साधना पर बल दिया गया और फिर से भागवत भक्ति के प्रचार का मार्ग प्रशस्त हुआ। पंचरात्र महिताओं की जीव सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि वैष्णव आचार्यों ने जीव के बारे में अपनी मान्यताओं के निर्धारण में उनसे पर्याप्त सहायता ली है।

अष्टिर्बुध्न्य एव जयाख्य सहिता के अनुसार ब्रह्म की माया (वासुदेव की शक्ति) उसकी इच्छा के अधीन है। जगत की रचना उसी का कार्य है। जिस समय वासुदेव का सकेत होता है, वह ब्रह्माण्ड की रचना में प्रवृत्त हो जाती है। अतः वासुदेव की माया (शक्ति) का क्रियाशील होना ही मृष्टि का आरम्भ माना गया है।^१ उपर्युक्त दोनों महिताओं के अनुसार मृष्टि के तीन भेद हैं - शुद्ध मृष्टि, प्राधानिक मृष्टि और ब्राह्मी मृष्टि। वासुदेव को परब्रह्म बतलाया गया है। वासुदेव अपने आपको अच्युत, सत्य और पुरुष के रूप में अवतरित करने रहते हैं। जीव के प्रसंग में वासुदेव और उसकी शक्ति की चर्चा करते हुए यह बतलाया गया है कि जीव की सत्ता अनादि है। एक ही चैतन्य विविध रूपों में भासित नहीं होता, बल्कि जीव सख्या में अनन्त है। जीवों में अनादि वामना की मान्यता के आधार पर उनके आवासमन्त्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। तदनुसार जीव की अपुनारम्भावस्था ही उसका मोक्ष है।^२ रागादि दोषों में युक्त आत्म चैतन्य को जीव माना गया है और जीव के अज्ञान की धारणा का भी स्वतन्त्र दृष्टि में प्रतिपादन हुआ है।

महिताओं में जीव के अज्ञान की चर्चा करते हुए यह बतलाया गया है कि त्रिगुणमयी मृष्टि के मत्वावरणों में लिप्त होना ही उसका अज्ञान है। अतः तदनुसार जीव के अज्ञान की मान्यता, शाकर अद्वैत-विचार से भिन्न प्रकार की है। शंकराचार्य ने माया और अविद्या नामक दो शक्तियाँ मानी हैं। तदनुसार माया ब्रह्म की ईश्वर के रूप में प्रतीति करवानी है और अविद्या ईश्वर की जीव के रूप में। वे जीव और ईश्वर का यथार्थ अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करने। महिताओं के अनुसार जीव मात्र प्रतीति या आभास सत्ता नहीं है। वैष्णव आचार्यों का जीव-सिद्धान्त महिताओं से लिया गया है और उसे अन्य वैष्णव ग्रन्थों की मान्यताओं द्वारा पुष्टि एवं विस्तार प्राप्त हुआ है। महिताएँ भक्ति-दर्शन हैं, अतः जीव के शरीर धारण करने के प्रसंग को भी वे प्रतिपादित करती हैं। उनके अनुसार बद्ध जीव उस समय तक अज्ञान में भटकते रहते हैं जब तक वे वर्तमान मानव देह में ही भक्ति आदि उपायों की शरण प्राप्त नहीं कर लेते। भक्ति को महिताओं में व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है और ज्ञान एवं योग को अनन्याभक्ति के हेतु सहायक माना है। जीव का मानव-देह धारण करना आवश्यक है, क्योंकि अन्य योनियों कृत-कर्मों का फल भोगने के लिए है। जीव भक्ति की साधना मानव-देह में ही कर सकता है। इससे भी यही सिद्ध

^१ अयाख्य सहिता, (गायकवाड सिरौज) पृ० २८, स्वदीर्घित शोभयित्वा X X ॥

^२ बहो० पृ० ३२, अनादिवासना X X ॥

होता है कि संहिताओं में जीव की आभास मत्ता वाली मान्यता को स्वीकार नहीं किया गया है।

अध्यात्म-ज्ञान की प्राप्ति के बारे में भी संहिताएँ मायावादियों में भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण का प्रतिपादन करती हैं। तदनुसार प्रतिमा-पूजन, मन्त्र-जाप एवं अन्य भक्त्युपाय ही अध्यात्म-ज्ञान के साधन हैं। परमात्मानुक्ति को अध्यात्म-ज्ञान मान कर उसी को परमोपाय एवं परमोपलब्धि मानना उनका स्वतन्त्र दृष्टिकोण है।^१

परममत्ता का अनुग्रह ही भक्ति-मिद्धान्त की प्रधान मान्यता है। इस अनुग्रह-मिद्धान्त की नींव पर ही वामुदेव के पूर्णावतार, अशावतार, एवं व्यूहावतारों की धारणाओं का निर्माण हुआ है। व्यूहावतार भगवान् वामुदेव के अशावतार माने गये हैं, जिनके विभिन्न कार्यों आदि का उल्लेख भी हुआ है। उनके सभी कार्य जीव के प्रति अनुग्रह में प्रेरित बतलाये गये हैं। अतः प्रकाशान्तर से इसे हम वामुदेव का ही अनुग्रह मान सकते हैं। देवतावाद के सन्दर्भ में अशावतारों का विशेष महत्त्व है। देवताओं की मार्थकता मिट्ट कराने के लिए ही संहिताओं में अशावतारों का प्रतिपादन हुआ है। इसमें अन्त में ब्रह्माण्ड का प्रत्येक व्यापार भगवान् वामुदेव का ही कार्य मिट्ट होता है। अपनी प्रकृति (शक्ति) एवं अशावतारों के माध्यम में सृष्टि की रचना, पालन और संहार की लीलाएँ वामुदेव का ही विलास हैं। विशिष्टाद्वैत के अनुसार नारायण अशी है और जीव तथा जड़ सृष्टि उस का अण। इन मान्यता का आधार भी पंचरात्र संहिताओं में विद्यमान है।

रामानुजाचार्य के अनुसार परब्रह्म (नारायण) और जीव में विजातीय सम्बन्ध नहीं है। वे इसे सजातीय सम्बन्ध ही मानते हैं। पंचरात्र संहिताओं में परब्रह्म (वामुदेव) और जीवों के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए परब्रह्म को अग्नि और जीवों को उसका स्फुलिंग माना गया है। अतः सजातीय सम्बन्ध वाली उपर्युक्त मान्यता भी संहिताओं की ही देन है। पंचरात्र मत के अनुसार जीव, ब्रह्म नहीं हो जाता बल्कि वह उसमें समा जाता है। यही धारणा विशिष्टाद्वैत में अर्शाशभाव-सम्बन्ध द्वारा प्रतिपादित की गयी है। इस सजातीयता की धारणा के प्रतिपादन के साथ ही अशी द्वारा अशी में समा जाना की मान्यता का भी प्रतिपादन हो जाता है। इसमें अद्वैतवेदान्तियों के आभास-मिद्धान्त का खण्डन भी हो जाता है।

वैष्णव आचार्यों ने शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत आदि जिन स्वतन्त्र मिद्धान्तों का निरूपण किया है, वे सभी पंचरात्र संहिताओं में बीज के रूप में विद्यमान हैं। तदनुसार हर एक जीव एक दूसरे में भिन्न प्रकृति एवं स्वभाव वाला इसलिए है कि उसके अतीत सन्कार अपन-अपने होते हैं। जयाख्य एवं अहिर्बुध्न्य संहिताओं में भी वामना-सन्कारों के वैभिन्न्य की स्वीकृति द्वारा इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन हुआ है। जीवों के कर्मों के भेद आदि की धारणा भी संहिताओं में मिल जाती है

^१ जयाख्य संहिता, पृ० ४०, सर्वोपमानग्रहित वाग्वीत स्ववेदनम् × × × ॥

और ये धारणाएँ वैष्णव दर्शनों में मान्यता के रूप में स्वीकार कर ली गयी हैं। श्रीनिवासाचार्य के अनुसार विशिष्टाद्वैत में यह स्वीकार किया गया है कि वासना एवं सम्कारों के भेद के कारण ही जीवों का व्यक्तित्व एक दूसरे से भिन्न होता है।^१ यह मान्यता सहिता-दर्शन में स्वतन्त्र एवं भिन्न नहीं है। ब्रह्माण्ड को परममत्ता की प्रकृति (शक्ति) की रचना मानना जगत की सत्यता का प्रतिपादन है। जीव की आभास मत्ता मानने की वज्राय उन्हें अशी ब्रह्म का अंश स्वीकार करना जीव के यथार्थ अस्तित्व को स्वीकार करना है। व्यूहावतारों द्वारा ब्रह्माण्ड के विभिन्न कार्यों का सम्पादन जगत के मिथ्यात्व का खण्डन है। शंकराचार्य से पहले वामुदेव की भक्ति के प्रचारार्थ सहिताकारों ने दर्शन एवं उपाय की स्थापना कर दी थी, जिनका उपयोग वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी से अलग अपने सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि के रूप में किया है। जिस समय भक्ति की पुनः स्थापना के प्रयत्न आरम्भ हुए उस समय साध्य के रूप में इन सहिताओं ने पर्याप्त सहायता ली गयी। ऊपर पंचरात्र मत की जिन मान्यताओं का उल्लेख किया गया है, उनसे वैष्णव आचार्यों को अपने सिद्धान्तों के निर्माण एवं शंकराचार्य के मायावाद के खण्डन में पर्याप्त सहायता भी मिली है एवं सहिताओं के दर्शन का पुनः प्रतिपादन भी हुआ है।

● विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव का स्वरूप

विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक आचार्य रामानुज ने शांकर मायावाद के खण्डन के लिए, परममत्ता को चिदचिद्विशिष्ट सिद्ध किया है। उनका मत है कि चित् (जीव) एवं अचित् (जड़) की मात्र व्यावहारिक मत्ता नहीं बल्कि यथार्थ है, और ये अशी (नागयण) के अंश हैं। ब्रह्म एवं जीव के सम्बन्धों की दृष्टि में इसे अशी-सम्बन्ध-सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। तदनुसार अविद्या के आवरण के कारण जीव ईश्वर की प्रतीति नहीं बल्कि नागयण के अंश के रूप में उसका यथार्थ एवं अनादि अस्तित्व है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव परमात्मा तो नहीं है। परन्तु उसकी अनादि एवं यथार्थ मत्ता अवश्य है। रामानुज ने नारायण का स्वगत भेद या स्वज्ञानीय अंग होने के कारण जीव की रचना या उत्पत्ति के समय का निर्धारण नहीं किया है। क्योंकि अपने अशी नागयण की भाँति उसका अस्तित्व भी अनादि है। नागयण में समा जाना उसका मोक्ष है और आवागमन से पहले की स्थिति उसकी अनारम्भावस्था है। रामानुज में पूर्व शंकराचार्य ब्रह्म को निर्विशेष मत्ता मान चुके थे। ईश्वर के साथ ही जीव के स्वरूप का उल्लेख करते समय उन्होंने जीव की केवल व्यावहारिक मत्ता को ही स्वीकार किया था। उनके अनुसार अविद्या के कारण ईश्वर, जीव के रूप में प्रतीत होता है, इसलिए जीव की यथार्थ मत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती।

^१ पी० एन० निवासाचार्य, दि फिनामोफी आव विशिष्टाद्वैत, पृ० ६६, सान्याल. श्रीकृष्ण चैतन्य, भा० १, पृ० ६५।

‘ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या’ आचार्य शंकर की इस मान्यता का मूलाधार उनके द्वारा ब्रह्म को निर्विशेष मानना है इसी मान्यता के अन्तर्गत उन्होंने जीव के अनादि एवं यथार्थ अस्तित्व को भी अस्वीकार किया है।

विशिष्टाद्वैत के रूप में आचार्य रामानुज ने जीव और जगत (जड़त्व) को नारायण का अंग या अंश माना है और आचार्य शंकर के निर्विशेष सिद्धान्त का खण्डन किया है। तदनुसार माया या अविद्या ब्रह्म के अधीन है, अतः वह ब्रह्म एवं ईश्वर की अन्यथा प्रतीति करवाने में असमर्थ है। ब्रह्म का चिदश ही मन, बुद्धि एवं अन्य इन्द्रियों के समवाय रूप में जीव का अभिधान प्राप्त करता है। इससे यह स्पष्ट है कि ‘नारायण द्वारा जीव का रूप धारण करना’ एवं ‘ईश्वर की जीव के रूप में प्रतीति होना’ इन दोनों ही मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार महाप्रलय के समय समस्त जीव नाम और रूप का परित्याग कर पुनः अपने अंगों में समा जाते हैं। भक्ति की साधना से भी ससारी जीव अपने मलों का परित्याग कर आवागमन से मुक्त हो, अपने मूल उत्स में समा सकता है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जगत की रचना का उद्देश्य नारायण का अनुग्रह-भाव है। जगत की कर्म-भूमि में जीव को भक्ति के उपाय का आश्रय प्राप्त हो सकता है। अतः जीवों के प्रति द्रवित होकर नारायण उन्हें भक्ति का अवसर प्रदान करने के हेतु जगत की रचना करते हैं। तदनुसार लक्ष्मी का ही यह अनुग्रह है कि वे भक्तों को आवागमन से मुक्ति दिलाने के हेतु नारायण को जगत की रचना के लिए प्रेरित करती रहती है। नारायण जिस समय इच्छावान बन जाते हैं तब उनके मकेत में वह जगत की रचना में प्रवृत्त हो जाती है। अतः प्रकृति (लक्ष्मी) को जगत की रचना का मकेत करना भगवान का अनुग्रह है।

रामानुज के अनुसार गीता में भी जगत और जीव की रचना के सम्बन्ध में उपर्युक्त धारणा का ही प्रतिपादन किया गया है। उन्होंने जीव सम्बन्धी मान्यताओं की स्थापना के हेतु स्पष्टतः पञ्चरात्र संहिताओं, विष्णुपुराण, भागवत पुराण, ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और प्रबन्धों की मान्यताओं को साक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है।^१

जीव को परमात्मा का विशेषण बतलाकर, रामानुज ने दोनों में विशेष्य-विशेषण-भाव स्वीकार किया है। उनका मत है कि जिस प्रकार विशेषण विशेष्य की स्वयं विशेषता है, उसी प्रकार जीव भी नारायण का विशेषण है। अन्य भाव से उसमें अनुस्यूत चित्त सत्ता है। इस मान्यता को आधार बनाकर शंकराचार्य के निर्विशेष-सिद्धान्त को उन्होंने गलत मिद्ध किया है। ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखकर

^१ रामानुज, गीताभाष्य, अध्या० ३।१०, — महयज्ञा प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति । अनेन प्रमविष्यध्वमेध वोऽस्मिन्वष्ट काम धुक् ॥ वही० २।१२, — न त्वेवाह जानु नाम न त्व नेमे जनाधिपा । न चैव न भविष्याम सर्वे वयमतः परम्, श्रीभाष्य, २।२।४,

उन्होंने शंकराचार्य की जीव-सम्बन्धी धारणाओं का खण्डन किया है। साथ ही उन्होंने न्याय और वैशेषिक तथा संख्य एवं योग में स्वीकृत जीव-स्वरूप को भी गलत ठहराया है।^१ वे जीव को कर्ता, ज्ञाता एवं भोक्ता आदि मानते तो हैं, लेकिन उसे नारायण का अंश (शेष) स्वीकार करने की स्थिति में ही। इससे यह सिद्ध है कि जीव को पूर्ण रूप से नारायणाश्रित मानकर, उन्होंने उसके ज्ञातृत्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व को अन्य दर्शनों से भिन्न रूप में स्वीकार किया है। जीव का स्वातन्त्र्य वे केवल इसी सीमा तक स्वीकार करते हैं कि वह अपनी इन्द्रियों को इच्छित कर्मों की ओर नियोजित कर सकता है। इसमें अधिक उसका स्वातन्त्र्य नहीं, यह तो प्रतिक्षण परमात्मा के अनुग्रह पर निर्भर है। जीव को सतत भगवदाश्रयत्व का उपदेश देकर उन्होंने इसी मान्यता का प्रतिपादन किया है। सभी भक्ति-सम्प्रदायों में जीव के प्रयत्नों को अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से स्वीकार किया गया है। जीव के पारतन्त्र्य का यह अर्थ नहीं है कि अच्छे-बुरे कर्मों का उत्तरदायित्व उस पर नहीं, बल्कि उसे तो अपने कर्मों के फल को भोगने के लिए पूर्ण उत्तरदायी ही माना गया है। अतः जीव का पारतन्त्र्य इस दृष्टि से है कि वह हमेशा यही मानता रहे कि वह मात्र निमित्त है, जबकि कर्ता केवल परमात्मा है। जीव परमात्मा का अंश होने के कारण अपनी स्वतन्त्र सत्ता एवं तज्जनित स्वातन्त्र्य का दावा नहीं कर सकता। जिस समय सीमित चैतन्य के रूप में उसे जीवन प्राप्त हो जाता है, परमात्मा की सत्ता की तुलना में वह परतन्त्रता की कोटि में आ जाता है। इस सम्बन्ध में रामानुजाचार्य ने परमात्मा के निहनुक अनुकम्पा-भाव के आदर्श को भक्ति का प्रधान अंग स्वीकार किया है।^२

● परमात्मा और जीव में रक्षक-रक्षित सम्बन्ध

विशिष्टाद्वैत के अनुसार परमात्मा प्रकारी सत्ता है और जीव उसका प्रकार है। यह मान्यता सत्कार्यवाद का अनुसरण है।^३ गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुए इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन हुआ है। तदनुसार चित् और अचित् पुरुषोत्तम में इस गीति में अनुस्यूत रहने है, जिस तरह मूल में मणियाँ। यह विश्वास सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड

^१ रामानुज, वे० मू० भाष्य, २-३-११।

^२ वे० मू० २/३/३३, वही २/३/३६, तथा M, Yamunacharya, Ramana's Teachings in His own Words, p. 104 (1963);—"The souls on their side endowed with all the powers imported to them by the Lord and with bodies and organs bestowed by him and forming abodes in which he dwells, apply themselves on their own part, and in accordance with their own wishes, to work either good or evil. The Lord then recognizing him who performs good actions as one who obeys his commands bless him with piety, riches, worldly pleasures and final release; while him who transgresses his commands. He causes to experience opposite of all these."

^३ श्रीभाष्य, २-१-१५।

में परमात्मा के समाहित रहने की धारणा का आधार है। अर्जुन को वामुदेव के विराट रूप का दर्शन करवाना इसी आशय की अभिव्यक्ति है।^१ परमात्मा की कारण और जीव को कार्य स्वीकार करना भी प्रकारान्तर से उनके विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध को ही छोटित करता है। आचार्य रामानुज के द्वारा प्रतिपादित परमसत्ता का स्वरूप-लक्षण जीव के प्रसंग में ही प्रतिपादित किया गया है। वास्तव में आचार्य ने जीव को दृष्टि में रखकर ही नारायण का स्वरूपैश्वर्य वर्णित किया है। वे नारायण को चित् और अचित् के अंशी रूप में ही अद्वैत सत्ता मानते हैं। तदनुसार परमसत्ता को उस कपड़े के समान कहा है, जिसमें जीव (चित्) और जगत (अचित्) 'बाना' है और ताना (मूलाधार) स्वयं नारायण है। सजातीय भेद के रूप में ही जीव सूक्ष्म रूप से परमात्मा में समाहित रहना है। ईशावास्योपनिषद् में परमात्मा के सर्वव्यापकत्व को सम्भवतः इसी अर्थ में स्वीकार किया गया है। ईशावास्य के इस प्रसंग की व्याख्या करते हुए रामानुजाचार्य लिखते हैं कि परमसत्ता के व्यापकत्व द्वारा उपनिषत्कार का आशय जीव का पारतन्त्र्य सिद्ध करना है। विशिष्टाद्वैत की यह मान्यता मध्व के द्वैत-सिद्धान्त में स्वतन्त्र एवं भिन्न है। इससे परमात्मा से अलग जीव की अनादि चेतन सत्ता की मान्यता का खण्डन हो जाता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रामानुज का जीव-स्वरूप सम्बन्धी विचार साख्यो, नैयायिको एवं भेदवादी वैष्णवों में कुछ भिन्न है।^२

गीता के अनुसार अष्टधा प्रकृति भगवान को अपरा प्रकृति है। उसे विश्व की धारयित्री सत्ता स्वीकार किया गया है। रामानुज ने गीता के इस आशय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि नारायण की इच्छा का मकेत प्राप्त कर अपरा प्रकृति जीवों को उनके वामना-संस्कारों के अनुसार विभिन्न कर्मों में नियोजित करती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में परमसत्ता को मायापति और प्रकृति को माया बतलाया गया है। इसी धारणा के अनुरूप वहाँ जीव के स्वरूप का निरूपण हुआ है। गीता के अनुसार परमसत्ता जीवों को कर्मभूमि की सुविधा प्रदान करने के लिए जगत् की रचना करती है। रामानुजाचार्य इस मान्यता की अपने सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या करते हैं।^३ वामुदेव की प्रकृति को गीता में महद्ब्रह्म कहा गया है। तदनुसार भगवान महद्ब्रह्म अर्थात् अपनी प्रकृति में प्रवेशकर भूतात्मक सृष्टि की रचना करते हैं।^४ रामानुज ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या करते समय गीता की उक्त मान्यता को साक्ष्य के रूप

^१ गीता, अध्याय ७, श्लोक ७, बृह० उ० ३-७-३--यस्य पृथ्वी शरीरम् ॥ श० प० ब्रा० १४-५-६-५, यस्यात्मा शरीरम् ॥ श्रीभाष्य, १-१-१।

^२ कठोपनिषद्, २-५-१५।

^३ रामानुज, ब्र० सू० भाष्य. १-१-१।

^४ गीता, अध्याय, १४-३।

में उद्घृत करते हुए ब्रह्म और जीव में परस्पर आधाराद्यै-सम्बन्ध की धारणा का प्रतिपादन करते हैं।^१

विशिष्टाद्वैत के अनुसार पुरुषोत्तम (नारायण) नियामक सत्ता है और जीव उसके द्वारा नियम्य। वह प्रकृति द्वारा जीवों की रचना एवं उनका नियमन करता है। नारायण और उनकी प्रकृति में अभेद है। और प्रकृति के रूप में वह जीवों की रचना करता है। अतः प्रकृति द्वारा ब्रह्माण्ड के नियमन का आशय भगवद्देश्य है। रामानुज ने अपने इस सिद्धान्त को उपनिषदों के साक्ष्य द्वारा प्रमाणित किया है।^२ परम सत्ता और जीव में नियामक-नियम्य-भाव के अतिरिक्त रक्षक-रक्षित-भाव को भी स्वीकार किया गया है। तदनुसार भगवान् रक्षक है, जो जीवों को भक्ति की प्रेरणा दे कर उनकी रक्षा के हेतु ही (भगवान् प्रकृति रूप में) ब्रह्माण्ड की रचना करता है। जीव के प्रति यही भगवान् का अनुग्रह-भाव है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार चित् एवं अचित् की रचना करना भगवान् की लीला है। उनकी यह शाश्वत प्रतिज्ञा है कि वह भक्तों की रक्षा के हेतु समय-समय पर अवतार धारण करते रहते हैं। रामानुज ने इसे भगवान् का गोप्तृत्व-भाव माना है। वे उपदेश देते हुए कहते हैं कि जीव नारायण को सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान मानकर उसके अनुग्रह की कामना करना रहे।^३ अतः जगत तथा जीव सम्बन्धी उक्त उल्लेखों में यह स्पष्ट है कि आचार्य रामानुज जीव को नागयण का अंश मानते हैं। उसे वे पूर्ण रूप में परमात्मा ही न मान कर उसी पर निर्भर रहने का उपदेश देते हैं। जीव का स्वातन्त्र्य केवल इतना ही स्वीकार किया गया है कि वह इन्द्रियों का अधिपति होने की स्थिति में अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें सदसत्कर्मों में नियोजित कर सकता है।

● द्वैतवाद में जीव का स्वरूप

वैष्णव आचार्यों ने शांकर मायावाद का खण्डन करने और भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा प्रथम स्थान देने के हेतु विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्माण किया। उसी परम्परा में आचार्य मध्व ने द्वैतवाद की प्रतिष्ठा की है। आचार्य शंकर ने जीव के यथार्थ अस्तित्व का खण्डन करते हुए, उसे अविद्या के कारण मात्र प्रतीत सत्ता ही माना था। वे मानते हैं कि माया के कारण ब्रह्म की ईश्वर के रूप में और अविद्या के कारण ईश्वर की जीव के रूप में प्रतीति होती है। आचार्य रामानुज ने ब्रह्म के चित् और अचित् स्वरूप-लक्षण द्वारा जीव को उससे भिन्न मानते हुए भी

^१ ब्र० सू०, १-१-१।

^२ ब्र० उप० ३-७, तैत्ति० उप० ३-२४,

^३ गीता, अध्या० ६-३०, कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तो विनश्यति ॥ वही० १-१०-११—तेषां सतत् युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥ ददामि बुद्धिं योगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

उसकी अलग, स्वतन्त्र एव अनादि सत्ता को स्वीकार नहीं किया। लेकिन आचार्य मध्व के अनुसार जीव न तो मात्र प्रतीत सत्ता है, और न ही वह उसे आचार्य रामानुज की भाँति परमसत्ता का चिदश एव उसका स्वगत या सजातीय अंग ही मानते हैं। उनके मत में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों ही अवस्थाओं में उसका स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहता है। उनकी यह भी मान्यता है कि जीव को अपने इस अस्तित्व का अनुभव भी होता रहता है।^१ वस्तुतः आचार्य मध्व की धारणा उपनिषदों की अनुच्छित्ति-धर्मता पर आधारित है।

आचार्य शंकर जीव के अनेकत्व को स्वीकार नहीं करते, लेकिन आचार्य मध्व ने आरम्भ में ही शंकराचार्य की उक्त मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया है। वे द्वैतवादी आचार्य हैं, इसलिए वे जीव, जगत् और परमात्मा तीनों का अलग-अलग अस्तित्व स्वीकार करते हैं। यद्यपि जैन दर्शन के अनुसार भी जीव आरम्भ से ही अनेक है और पूर्वमीमांसक भी जीवों को सख्या में अनन्त ही मानते हैं, परन्तु उनके अनन्तता के सिद्धान्त एव द्वैतवाद की जीवों की अनन्तता की मान्यता में पर्याप्त अन्तर है। न्याय वैशेषिक, सांख्य एवं योग दर्शन भी द्वैतवादी ही हैं। उनमें वर्णित विश्वासों के अनुसार प्रत्येक जीव में परस्पर भेद है। यह भेद अनादि है। तदनुसार अविद्या के कारण ईश्वर की जीव के रूप में प्रतीति नहीं होती। रामानुज, निम्बार्क और वल्लभाचार्य भी शंकराचार्य की जीव सम्बन्धी मान्यताओं को स्वीकार नहीं करते, लेकिन वे मध्व की भाँति द्वैतवादी न होने के कारण जीव के बारे में भी भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। वे तीनों अवस्थाओं में जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व वाली मध्वाचार्य की मान्यता से भिन्न जीव के स्वरूप का निरूपण करते हैं। वैष्णव आचार्य केवल इस सम्बन्ध में ही एक मत हैं कि अविद्या के कारण ईश्वर की जीव के रूप में प्रतीति नहीं होती और यह जगत् मिथ्या या मात्र आभास नहीं है।

मध्वाचार्य एकात्मवादी हैं, लेकिन उनका एकात्मवाद पूर्ण मौलिक है। उसके अनुसार केवल परमात्मा की ही सर्वोत्तम सत्ता है। उन्होंने जीव और जगत् को नियम्य और परमसत्ता को उनका नियामक माना है। उनकी नियम्य और नियामक सम्बन्धी धारणा भी पर्याप्त मौलिक है, जो उनके अनादिशेष-सिद्धान्त पर आधारित है। अनादिशेष-सिद्धान्त के अनुसार जीव अनादि काल से ही विशिष्ट सत्ता है—सजातीय या स्वगत भेद नहीं। यही पर वे विशिष्टाद्वैतवादियों से पूर्णरूपेण भिन्न हो जाते हैं। वे इस तथ्य पर अधिक बल देते हैं कि जिस समय तक जीव मुक्ति प्राप्त नहीं करता, उसी समय तक उसकी विशिष्ट सत्ता रहती है।^२

^१ विष्णुनृत्त निर्णय, पृ० २६,

^२ उपाधिखण्डन, २,—आत्म स्वरूप भेदस्य निदेशित्वेन ॥ अनुव्याख्यान, ३, पृ० ४६;—यद्यनादिर्विशेषो न माग्रत कथमेव स ? आकस्मिको विशेषश्चेददृष्टे क्वचिदप्यते। सर्वत्राकस्मिकत्वं स्यात् नादृष्टोपक्षिता क्वचित् । अदृष्टाच्चेद्विशेषो-यमनादित्वं कुतो न तत् ? ॥

तदनुसार जीव की विशिष्ट सत्ता बनी ही रहती है। व्यष्टि (जीव) के स्वतन्त्र व्यक्तित्व एवं उसके भिन्न-भिन्न आचरणों को ध्यान में रखते हुए, मध्वाचार्य का द्वैत-सिद्धान्त यथार्थ के अधिक निकट प्रतीत होता है।^१ जीवों की अनेकता पर सांख्यों ने भी अधिक बल दिया है, पर उनकी पुरुष सम्बन्धी अन्य मान्यताएँ मध्वाचार्य की जीवसम्बन्धी धारणाओं से पर्याप्त भिन्न हैं। मध्वाचार्य भी सांख्यों की भाँति जीव को प्रकृति से पूर्ण स्वतन्त्र एवं अनादि शुद्ध चैतन्य नहीं मानते, लेकिन यह मानते हैं कि उसे ईश्वर के अनुग्रह की आवश्यकता है और वह मात्र तत्त्व-विचार के द्वारा ही प्रकृति के धर्मों के आश्रयण से मुक्त नहीं हो सकता। अतः सांख्यों के पुरुष-कैवल्य और मध्वाचार्य के जीव-मुक्ति-सिद्धान्त में पर्याप्त अन्तर है। मध्वाचार्य भी परमात्मा के अनुग्रह को जीव के लिए आवश्यक मानते हैं। उनके विचार में जीव केवल तत्त्व-विचार से ही मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। मध्वाचार्य के जीव-सिद्धान्त की मुख्य विशेषता यह है कि उसके अनुसार जीवों की अनेकता औपधिक नहीं है।^२ आचार्य मध्व ने परमात्मा और जीव में जिस प्रकार का पृथक्त्व स्वीकार किया है, वह आचार्य रामानुज से भिन्न है। वे शंकराचार्य की इस मान्यता को भी अस्वीकार करते हैं कि अविद्या और माया ईश्वर या परब्रह्म को अपने आवरण में लेकर उन्हें किसी दूसरे रूप में प्रस्तुत कर सकती है।^३

मध्वाचार्य के अनुसार स्वयं को भगवान् पर आश्रित न समझना ही जीव का अज्ञान है। परमतत्त्व के वास्तविक स्वरूप को न पहचानना भी वे जीव का अज्ञान मानते हैं। उनका मन है कि अज्ञानी जीव न तो अपने स्वरूप को ही पहचान सकता है और न ही वह भगवान् पर स्वयं को निर्भर ही मानता है। मध्व जीव को स्वतन्त्र कर्ता और स्वतन्त्र भोक्ता भी नहीं मानते। वे माया को पूर्णतया ब्रह्म की इच्छा के अधीन मानते हैं। माया के जिस स्वरूप को मध्वाचार्य ने चर्चा की है; उससे सांख्यों के

^१ Madhva's Teachings in his own words; p. 79, If the Individual peculiarities of equipment etc., are finally to be attributed to some inexplicable Adrishta or unseen merit that is also beginningless and uncaused, it would be as good as admitting that the plurality of selves is, in the last analysis, intrinsic and beginningless."

^२ विष्णुतत्त्व निर्णय, पृ० २६,—उपाधिमेदागिकारे हस्तपादाद्युपाधि भेदेऽपि तद्गत सुखदुःखादि भोक्तृयथा भदोऽपि प्रतीयते, एवमेव शरीरादि भेदेऽपि भोक्तु भेदो न दृश्यते। सर्वदेहगत सुख दुःखादिकमेकेनैव भुज्यते।

^३ वही० पृ० २६,—किंचोपाधिरात्मन एकदेश ग्रस्त्युत सर्वमात्मानम् ? एकदेशागिकारे सावयवत्वम्। सावयवस्य चानित्यत्वम्। सर्वभासे च नोपाधिभेदकः स्यात् ॥ वही० पृ० २८,—अज्ञान सिद्धौ मिथ्योपाधि सिद्धिः। अज्ञान विना मिथ्यत्वासिद्धिः। न च मिथ्योपाधि विना अज्ञानसिद्धिः। मिथ्योपाधि भिन्नस्यैवा- ज्ञत्वात्..... ॥

प्रकृति-सिद्धान्त का भी खण्डन हो जाता है। वे यह भी स्वीकार नहीं करते कि परमात्मा की इच्छा या आज्ञा (माया) जीव को भटका सकती है। इस प्रकार वे माया द्वारा जीव को अपने जाल में फँसाने की मान्यता का भी विरोध करते हैं।^१

● शुद्धाद्वैत में जीव का स्वरूप

शुद्धाद्वैत आचार्य बल्लभ का दार्शनिक मिळान्त है, जिसे ब्रह्मवाद या अविकृत-परिणामवाद भी कहा गया है। आचार्य बल्लभ पुष्टिमार्गी आचार्य-भवन है। जहाँ आचार्य रामानुज ने छाकर मायावाद का खण्डन करने और जगत को सत्य सत्ता मिद्ध करने के लिए ब्रह्म की मविशेषता पर बल दिया है, वहाँ आचार्य बल्लभ ने उसे माया-सबलित न मानकर उसकी शुद्ध स्वरूपता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार ब्रह्म माया-सबलित सत्ता नहीं। वह कार्य-कारण रूप है। अब पूर्ण शुद्ध सत्ता होने के कारण अमायिक है।^२ इसमें यह स्पष्ट है कि वे आचार्य शंकर की भाँति यह नहीं मानते कि माया ब्रह्म को प्रभावित कर सकती है। मायावाद का खण्डन करने के कारण ही आचार्य बल्लभ के मन को अविकृत परिणामवाद, ब्रह्मवाद एवं शुद्धाद्वैत के अभिधान प्राप्त हुए हैं। शुद्धाद्वैत के अनुसार जड़-चनन मृष्टि अर्थात् जगत् और जीव ब्रह्ममय है। ब्रह्माण्ड (जीव-जगत्) मिथ्या नहीं बल्कि सत्य सत्ता है। जीव और जगत् दोनों ब्रह्म के ही रूप हैं। जीव की बुद्धि का विकल्प ही उसे ब्रह्म से भिन्न अस्मिन्स्व की पत्तीनि करवाना है। इस पत्तीनि के निरसन के उपरान्त जीव एवं ब्रह्म के भेद का अन्त मिट जाता है।^३

^१ गीता, अध्या० ७-१४, —दे वी ह्यया गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरन्ति ॥ श्वे० उप० ३-१६, ब्र० सु० ३-२५, —पराभिध्यानान्तु तिरोहितं ततोऽस्य बन्धं विपर्ययोः ॥ M. T. words, — p. 86;—Here is obvious that there is some other principle—over and above all these—that is preventing the self from realizing its true nature in full, here and now. This is the principle of Prakriti-jada-which presses down the 'jivas' from beginningless eternity and obscures their natures at the will of the Lord and not by its own power."

^२ सु० भा० श्लो० २८, माया-सम्बन्ध-रहित शुद्धमित्युच्यते वृषं । कार्य-कारण रूप हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम् ॥

^३ सु० भा० ५, ६; सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वमिदमवबोधयेत्पुनः । सर्वशब्देन यावद् हि दृष्टश्रुतमतो जगत् ॥ बोध्यते तेन सर्वं हि ब्रह्मरूपं सनातनम् । कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्यात्कारणम् ॥ नत्त्र० दी० निर्ण० ११, ज्ञानाद् विकल्पं बुद्धिस्तु वाध्यते न स्वरूपतः ॥

शंकराचार्य के विपरीत आचार्य बल्लभ के अनुसार अविद्या के कारण जीव के रूप में ईश्वर की प्रतीति नहीं होती। उनके अनुसार उपनिषदों में भी ब्रह्म द्वारा अनेक रूप धारण कर रमण करने के उल्लेख मिलते हैं।^१ वस्तुतः उपनिषद् की इस मान्यता के आधार पर ही उन्होंने जीव के रूप में ईश्वर-प्रतीति का खण्डन किया है। वे यह मानते हैं कि ब्रह्म स्वयं अनेक रूपों में रमण करने की इच्छा के कारण अपने आनदाण का निरोधान कर लेता है और यही उसके द्वारा जीव का रूप धारण करना है। जीव इसलिए सत्य है क्योंकि वह परमसत्ता की लीला है। परमतत्त्व की लीला मिथ्या नहीं हो सकती क्योंकि वह स्वयं उसकी रचना है। इसलिए जीव को आभाम सत्ता मानना उचित नहीं है। जीव को शुद्धाद्वैत में ब्रह्म का अमर्याद अंश माना गया है। जीव-स्वरूप होने ही उसमें वासना-संस्कारों का उदय होता है और वह कर्म-क्रीडाओं में आवद्ध हो जाता है। जीव दशा में जीव ब्रह्मस्वरूप न रहकर जीवत्व के धर्म को प्राप्त कर लेता है। यही ब्रह्म स्वरूपता का निरोधान है। तदनुसार जीव नित्य सत्ता है।^२ जीव परमतत्त्व की सृष्टि है। लीला करने के लिए भगवान् जब तक जगत् को बनाए रखना चाहते हैं तब तक जीव भी लीला-यात्रों के रूप में बने रहते हैं। इस प्रकार शुद्धाद्वैत का जीव सिद्धान्त प्रत्यभिज्ञावादियों के पशु-सिद्धान्त से पर्याप्त भेद खाता है। प्रत्यभिज्ञावादियों के अनुसार भी पशु (जीव) शिव का धारण किया हुआ उमका अपना ही रूप है।

शुद्धाद्वैत के अनुसार परमसत्ता केवल ब्रह्म ही है और जीव का रूप उसी ने अपने आनदाण का निरोधान कर धारण किया हुआ है। अतः बल्लभाचार्य जीव का उत्पत्ति के स्थान पर उसका आविर्भाव स्वीकार करते हैं। जीव का आविर्भाव ब्रह्म से उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार स्फुलिंग अग्नि में आविर्भूत होते हैं। इसलिए गीता की भाँति ही उन्होंने जीव की उत्पत्ति और मरण को अस्वीकार किया है। जन्म लेना और विनाश होना शरीर के धर्म हैं—जीव के नहीं। शांकर मत के अनुसार जीव विभु है जबकि बल्लभाचार्य ने उसे 'अणु' माना है। शंकराचार्य जीव को कर्ता और भोक्ता नहीं मानते, जबकि शुद्धाद्वैत में उसे कर्ता भी माना गया है और भोक्ता भी। परन्तु जीव और ब्रह्म के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व में पर्याप्त अन्तर है। ब्रह्म में पूर्ण स्वातन्त्र्य की स्थिति स्वीकार की गयी है, लेकिन जीव का स्वातन्त्र्य भगवान् की इच्छा के अधीन है। बल्लभाचार्य जीव-सम्बन्धी यह मान्यता आचार्य रामानुज जैसी ही है। दोनों आचार्य किसी न किसी रूप में ब्रह्म और जीव के अशांति-भाव-सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। लेकिन दोनों की कई मान्यताएँ एक दूसरे से भिन्न

^१ तैत्तिरीयोपनिषद्,

^२ गीता, अध्या० २-२०, न जायते म्रियते वा कदाचन नाय भूत्वा भविता वा न भूय। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

^३ ब्र० सू० २-२-२६,

भी हैं। आचार्य बल्लभ ने 'तद्गुणसारत्वात्' और तद्व्यपदेश प्राज्ञवत् सूत्रों की व्याख्या द्वारा जीव के अणुत्व को सिद्ध किया है। 'तत्त्वमसि' सूत्र की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि जीव में आनन्दधर्म अप्रत्यक्ष रूप में ही रहता है। इसे प्रत्यक्ष मान लेने पर जीव स्वयं ब्रह्म हो जाएगा। जीव द्वारा आनन्दाश के आविर्भाव के उपरान्त उसे निजस्वरूपता प्राप्त होती है। इस स्थिति में जीव और ब्रह्म दो नहीं रह जाते।^१

^१ ब्र० मू० २।३-३०, यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥

● जीव-स्वरूप-परम्परा : बिहंगमावलोकन

परमसत्ता और जीव के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो एवं धर्म-मतों की मान्यताएँ एक जैसी नहीं हैं। अतः परमात्मा और जीव सम्बन्धी धारणाओं में भी दार्शनिकों में मतभेद का अभाव है। लेकिन जीव के स्वरूप आदि के बारे में विचार करते हुए सर्वोच्च मत-सम्प्रदाय अन्ततः यह मान लेते हैं कि जीव अपने वास्तविक रूप को भूल कर इन्द्रियों के धर्मों का अपने ऊपर आरोप कर लेता है और यही उसके आवागमन का प्रधान कारण है। यद्यपि इस मूल धारणा की व्याख्याएँ एक जैसी नहीं हैं तथापि आवागमन में विश्वास करने वाले धर्म-मतों की प्रधान मान्यता यही है कि जिस साध्य का जीव प्राप्त करना चाहता है, वह उसकी अनारम्भभावस्था भी है और उसे प्राप्त करने से पूर्व की स्थिति वाला उसका स्वरूप ही उसकी बढ़ता है। उसके बन्धन को मनोधर्मी होना ही स्वीकार किया गया है। प्रत्येक भक्ति-सम्प्रदाय जीव की कर्तृत्व-भावना को उसका अहम् मानता है और परमात्मा के अनुग्रह के अभाव में कृत-कर्मों के अनुसार ही उसके भोक्तृत्व को भी स्वीकार करता है। तदनुसार जीव अपने साध्य को उस समय तक प्राप्त नहीं कर सकता, जब तक वह स्वातन्त्र्य के मिथ्याभिमान से प्रेरित होकर अपने आपको कर्ता एवं भोक्ता समझने की भ्रान्त धारणा का परित्याग नहीं कर लेता। तत्त्व-चिन्तकों की स्थिति इससे भिन्न एवं स्वतन्त्र है। वे जीव द्वारा मलावरणों के परित्याग को तो मानते हैं परन्तु अनुग्रह की मान्यता को स्वीकार नहीं करते। साह्य तो पुरुष और प्रकृति को ही मूल एवं अनादि मानकर, पुरुष के द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान लेना ही उसका कैवल्य स्वीकार कर लेते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में किसी अतिरिक्त सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान सत्ता के अस्तित्व एवं उसके द्वारा जगत और जीव के नियमन का प्रश्न ही नहीं है।

अद्वैतवेदान्तियों के मत में जीव का स्वतन्त्र एवं वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है। जीव को वे आभास सत्ता मानते हैं और इस प्रतीति का कारण अविद्या को स्वीकार करते हैं। बौद्धों का दृष्टिकोण न साह्यो से मिलता है और न ही

अद्वैत वेदान्तियों के जीव एवं ब्रह्म की विचारधारा से। उनके आलयविज्ञान के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्ति-चैतन्य की प्रतीति होती है, जिसे उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद-सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट किया है। वे आवागमन को मानते हैं और संस्कार या वासना-प्रवाह को भी स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि में जीव अपने से ऊँची किसी परम सत्ता के अधीन एवं उसके अनुग्रह पर आश्रित नहीं है। परब्रह्म की उपासना का सिद्धान्त उपनिषदों में ही खोजा गया है और अनुग्रह के विश्वास की मान्यता के संकेत भी वही से ग्रहण किये गये हैं। उपनिषदिक धारणा के अनुसार परमसत्ता की प्राप्ति केवल ज्ञान से ही नहीं होती। इसे बंष्णव आचार्यों ने परमात्मा के अनुग्रह की धारणा का आधार बनाया है। गीता में क्षर और अक्षर से अतीत की सर्वोपरि सत्ता मानकर पुरुषोत्तम के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया और अवतार की मान्यता की स्थापना हुई है। वही पर यह भी कहा गया कि जो जीव इन्द्रियो को सभी विषयों से हटाकर परमात्मा की ओर मयोजित कर देता है, भगवान् उसकी रक्षा का भार अपने ऊपर ले लेते हैं। इसके साथ ही 'मामेकंशरण ब्रज' के द्वारा प्रपत्ति का संकेत भी हमें गीता में मिल जाता है।^१

भारतीय धर्म-मतों में हमें तीन प्रमुख साधनाओं के उल्लेख मिलते हैं। ये साधनाएँ कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग हैं। वैदिक युग में यज्ञ-याग आदि का प्राबल्य रहा, जिनके कारण कर्म-काण्डात्मक साधना का प्राधान्य हुआ। उस समय तक जन्मान्तर का सिद्धान्त अभी निर्माण की स्थिति में था। अतः ऐहिक सुखों की प्राप्ति एवं दुःखों से निवृत्ति ही उस युग के मानव-समाज की कामना थी। इस कारण धार्मिक अनुष्ठानों में यही भावना प्रेरणा का हेतु बनी। तदनन्तर चिन्तन के क्षेत्र में नये सूत्र जुड़े एवं भिन्न-भिन्न देवताओं की सर्वोपरि शक्ति के रूप में देवाधि-देव अथवा परब्रह्म की मान्यता प्राप्त हुई। यही से चिन्तन की धारा ने नयी दिशा ग्रहण की और अन्त में उपनिषदों के रूप में उसे मूर्तरूप प्राप्त हुआ। याज्ञवल्क्य और गार्गी के सवाद में जीव के परम लक्ष्य का प्रतिपादन करते हुए यह बतलाया गया है कि जीव का लक्ष्य अपने स्वरूप को पहचानना अथवा परब्रह्म को प्राप्त करना है। यही ज्ञान का मार्ग है। तदनन्तर जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रवर्तकों ने भी जीव की परमोपलब्धि के सम्बन्ध में विचार किया है और उनकी मान्यताएँ वैदिक धर्म के विश्वासों से भिन्न एवं स्वतन्त्र हैं।

वैदिक ऋचाओं में ही, कर्मकाण्ड के साथ-साथ, ज्ञान एवं भक्ति के विचार-सूत्र भी विद्यमान थे। उपनिषदों को वेदान्त कहकर उस समय के विचारकों ने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। तब, देववाद के अनुसार यज्ञों के द्वारा देवताओं को केवल बलि से ही नहीं बल्कि प्रार्थनाओं द्वारा भी प्रसन्न किया जाना था। देवता

^१ गीता, सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकशरण ब्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्ष-पिप्प्यामि मा शुचः ॥

के प्रति प्रार्थना का अर्थ यही है कि उसे ऐसी शक्ति माना गया है, जो हमें सुख भी दे सकती है और दुःख भी। इसे भक्त का आत्म-निवेदन भी कह सकते हैं। आत्म-निवेदन का प्रधान प्रेरक भाव उपास्य की तुलना में उपासक की परवशता है। परवशता की भावना में ही वे सभी अन्य भाव भी समाहित हैं, जिनके अनुसार जीव अपने आपको उपास्य शक्ति की तुलना में छोटा एवं उसकी कृपा पर निर्भर मानता है। अतः भक्ति की साधना के सूत्र वैदिक युगीन प्रार्थनाओं में भी विद्यमान थे। धार्मिक कर्मकाण्ड एवं तत्सम्बन्धी इतर विश्वासों का निर्माण युगोप समाज की परिस्थितियों की परिणति हुआ करता है। युग की परिस्थितियाँ जैसे-जैसे परिवर्तित होती रहती हैं, वैसे ही धार्मिक विधि-विधानों में भी परिवर्तन आता रहता है। कर्मकाण्ड और ज्ञान-काण्ड के उपरान्त भक्ति की साधना की ओर प्रवृत्त होने में भी युगीन परिस्थितियों का ही योगदान है। कर्म की साधना और ज्ञान की स्थिति में भक्ति सर्वाधिक प्रिय एवं ग्राह्य साधना सिद्ध होने के दो भिन्न एवं स्वतन्त्र कारण हो सकते हैं। जो उपासना-विधि मानव के हृदय से अधिक सम्बन्धित होती है, उसे व्यापक मान्यता प्राप्त होना स्वाभाविक है, क्योंकि आम लोगों के भावों एवं विचारों के साथ उसका निकट का सम्बन्ध होता है। भक्ति-साधना के व्यापक प्रचार का यही प्रधान कारण है। हमारे विचार में दूसरा कारण यह है कि जिस समय सामन्तीय समाज एवं साम्राज्य का विकास होता है, उसी समय अवतार का सिद्धान्त पनपता है और अवतार में ही भक्ति के लिए दृढ़ आधार प्रस्तुत रहता है। साम्राज्य की एक बार स्थापना हो जाने पर वह व्यवस्था जल्दी समाप्त नहीं होती। अतः मानव की मनो-वैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होने एवं साम्राज्यवाद में सम्राट को परमात्मा का अवतार मानने के कारण अवतार की धारणा को बल मिलता है और भक्ति की साधना के लिए दृढ़ आधार प्रस्तुत होता है। ऐसे युग में साधना भक्ति प्रधान बन जाती है। गुप्त साम्राज्य में अवतारवाद की प्रतिष्ठा हुई, जिसमें राम कृष्णादि को ईश्वरत्व प्राप्त हुआ एवं अशोक के राज्यकाल में बुद्ध को भगवान का रूप।

आदिग्रन्थ भक्त-हृदयों की भावनाओं का काव्य है और उसमें जीव की भावनाओं, उनकी दिये गये उपदेशों एवं उसके भिन्न-भिन्न आचरणों का उल्लेख व्यापक है। मित्र गुरु यद्यपि निर्गुण सन्तो की ही परम्परा में आते हैं फिर भी उनके काव्य में भक्ति का स्वर अपेक्षाकृत अधिक भाव-पूर्ण एवं आत्म-निवेदन की प्रेरणा से आपूर्ण है। तदनुसार सगुण भक्तों के अवतारवादी दृष्टिकोण के प्रति आम्वा न रखते हुए भी परमसत्ता की भक्ति पर ही बल अधिक है। अतः गुरुओं द्वारा वर्णित जीव के स्वरूप की मान्यताओं से सम्बन्धित दार्शनिक चिन्तन में पर्याप्त अन्तर होने पर भी भक्ति-साधना के क्षेत्र में वैष्णव भक्तों की विचारधारा का ही अधिक प्रभाव है। वे बाह्यगुरु की भाँति जीव को भी अनादि सत्ता नहीं मानते। इसलिये उनकी विचार-धारा द्वैतवादियों से भिन्न प्रकार की है। विशिष्टाद्वैत में जिस रीति से ब्रह्म और जीव

के सम्बन्ध का उल्लेख हुआ है, उसके प्रेरक दार्शनिक चिन्तन से भी उनकी जीव-सम्बन्धी मान्यताएँ भिन्न हैं। इस प्रकार भक्ति की दृष्टि से एक होते हुए सगुण भक्त एवं निर्गुणोपासक दोनों भिन्न हो गये हैं। आगामी पृष्ठों में आदिग्रन्थ के अनुसार जीव के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में विचार किया गया है। जिससे हम यह जान पायेंगे कि गुरुओं की मान्यताएँ भारतीय परम्परा में स्वीकृत जीव के स्वरूप से किस सीमा तक समान एवं भिन्न हैं।

● आदर्शवाद और आत्म-स्वातन्त्र्य

आदर्शवादियों (अध्यात्मवादियों) के अनुसार जीव और ब्रह्म में तत्त्वतः अभेद है। वे जगत को भी ब्रह्ममय मानते हैं एवं उनकी दृष्टि में जगत और मसार दो भिन्न-भिन्न अवधारणाएँ हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड को उन्होंने नित्य और अनित्य के रूप में द्विरूपात्मक माना है। लेकिन नामरूपात्मक ससार की मूलाधार सत्ता (ब्रह्म) को उन्होंने नित्य अविनाशी परमशक्ति स्वीकार कर लिया है। कहीं-कहीं नित्य तत्त्व को 'ब्रह्ममृष्टि' और अनित्य तत्त्व को 'मायामृष्टि' भी कहा गया है। आत्मा को ब्रह्म से भिन्न एवं स्वतन्त्रसत्ता स्वीकार न करने पर भी वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि आत्मचैतन्य देहेन्द्रियों में समुक्त होकर ब्रह्म में भिन्न हो जाना या भिन्न प्रतीत होने लगना है। अध्यात्मवादियों की दृष्टि में आत्म तत्त्व के ऊपर माया या अविद्या के आवरण के कारण सभी जागतिक पदार्थ दो प्रकार के हो जाते हैं या भासित होने लगते हैं। कोशों की चर्चा उन्होंने इसी प्रसंग में की है। तदनुसार जिन किसी को कोषों ने जितनी मात्रा और गहराई में आवृत कर लिया है, उसका चैतन्य (चेतन तत्त्व) उतना ही अस्पष्ट एवं आवरण-युक्त हो जाता है। इस मान्यता के आधार पर ही चेतन और अचेतन—दो भिन्न अवधारणाएँ मान ली गयी हैं। तदनुसार स्थूल देह को अन्नमय कोश के अन्तर्गत रखा गया है एवं शरीर में परितः व्याप्त प्राणतत्त्व (वायु) को प्राणमय कोश स्वीकार किया गया है। इसी तरह मनोमय कोश मनोराज्यान्तर्गत आता है तथा आनन्दमय कोश को आत्मचैतन्य की अवस्था का नाम दिया गया है। कुल मिलाकर ये कोश या कचुक सख्या में पांच हैं।

उपनिषदों के अनुसार उक्त प्रथम चारों कोशों से अतीतना प्राप्त कर आनन्दमय कोश को अवस्था की प्राप्ति ही आत्मस्वरूप की पहचान है। इससे यह स्पष्ट है कि जिस आत्मचैतन्य को लोकायत विचारधारा पदार्थ-समवाय-जन्य चेतना मानती है, उसे आदर्शवादी विचारक अनादि एवं स्वतन्त्र चैतन्य के रूप में स्वीकार करते हैं। तदनुसार उक्त स्थिति को फिर से प्राप्त करना ही आत्मसाक्षात्कार है।^१ इस प्रकार की अवधारणाओं से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'निग शरीर' की अवधारणा की चर्चा भी कोशों की मान्यता के ही अन्तर्गत आती है। लिङ्गशरीर की

^१ नैति० उप० २।१-५, ३।२-६।

धारणा कर्म-सिद्धान्त से जुड़ी हुई है। तदनुसार कर्म ही लिंग शरीर को आवागमन के चक्कर में भटकाता रहता है। अतः आत्मस्वातन्त्र्य की चर्चा लिंग शरीर के प्रसंग में ही की जा सकती थी और गीता में इसी पद्धति का अनुसरण हुआ है।

अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार मायाशक्ति के कारण ब्रह्मसत्ता नाम और रूपमय जगत के रूप में परिणमित नहीं होती, बल्कि ऐसी भासित होती प्रतीत होने लगती है। क्योंकि वे ईश्वर और जीव के यथार्थ एवं भिन्न अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उनकी माया की सामान्य अवधारणा के अनुसार ब्रह्म ही देश, काल एवं नाम में रूपात्मक, सगुण शक्ति के रूप में व्यक्त या प्रतीत होने लगता है।^१ तदनुसार कर्म ही माया है क्योंकि इन वेदान्तियों ने अनेक प्रसंगों में इच्छा को ही कर्म के रूप में स्वीकार किया है। गीता में कर्म की चर्चा के प्रसंग में कहा गया है कि अक्षरब्रह्म की नामरूपात्मक सृष्टि-क्रिया ही कर्म है। इसी धारणा को एक दूसरे ढंग से प्रतिपादित करते हुए यह माना गया है कि ब्रह्म ही अपनी माया से प्रकृति में उत्पन्न होता है। कर्म को अत्यन्त व्यापक अर्थ में ग्रहण कर मूल सृष्टि को भी क्रिया या कर्म के अन्तर्गत ले लिया गया है। तदनुसार नामरूप 'माया' है। माया के अन्तर्गत नाम और रूप एवं कर्म आदि सभी का समाहार हो जाता है। सांख्यों की प्रकृति और वेदान्तियों की माया की अवधारणाओं में यही प्रधान भेद है। सांख्यों की प्रकृति त्रिगुणात्मक है, लेकिन ब्रह्मवादियों के अनुसार सांख्यों का न तो 'पुरुष' ही अनादि तत्त्व है और न ही प्रकृति। वे केवल ब्रह्म को ही नित्य और अविकारी सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार नित्य परिवर्तनशील प्रकृति एवं देहेन्द्रियों के आवरण से युक्त आत्मतत्त्व का ऊपरी आवरण ही अनित्य एवं अविकारी है। आदर्शवादी विचारक मायात्मक कर्मों को भी अनादि स्वीकार करते हैं।^२ तदनुसार इन्द्रियों के अज्ञान के कारण मूलब्रह्म के नामरूप कल्पित होते हैं, जिसे उन्होंने सर्वज्ञ ईश्वर की 'माया', या 'शक्ति' कहा है। माया को अध्यात्मवादियों ने भी माना है लेकिन वे इसे स्वयम्भू, स्वतन्त्र एवं अनादि शक्ति के रूप में स्वीकार नहीं करते।^३ माया के आरम्भ के विषय में वे कुछ नहीं कहते, उसे वे केवल अनिवर्त्तनीय मानकर ही मौन धारण कर लेते हैं।

आदर्शवादी विचारकों की जीव (मानवात्मा) की चर्चा के प्रसंग में माया

^१ गीता, अध्या० ७, श्लो० २४-२५, अव्यक्तं शक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः। मा भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ नाहं प्रकाश सर्वस्य योगमायासमावृतः। मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ वृ० उप० १-६-१।

^२ ब्रह्मसूत्र २।३५-३७, गीता, ७।१४, वे० सू० शा० भा० २।१।१४, सर्वज्ञेश्वर-स्याऽत्मभूते इवाऽविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्च-बीजभूते सर्वज्ञेश्वरस्य 'माया' 'शक्ति' प्रकृतिरिति च अतिस्मृत्योरभिलभ्येते॥

^३ गीता, अध्या० ३ श्लो० १५।

एवं कर्म सम्बन्धी उक्त धारणा यह महत्त्व रखती है कि उनके अनुसार माया या कर्म का अनादित्व दुर्विज्ञेय हो गया है 'आत्मा देहेन्द्रियों के आवरण में कब और कैसे आती है, इसके सम्बन्ध में इनका केवल यही उत्तर है कि आत्मा एक बार देहेन्द्रियों के बन्धन में आ जाने के बाद उस समय तक आवागमन से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती जब तक उसे आत्मसाक्षात्कार प्राप्त नहीं होता। आत्मसाक्षात्कार से उनका आशय आनन्दमय कोश की अवस्था को प्राप्त कर लेना है।

ईश्वरवादी कर्म-बन्धन (जीवात्मा का) और कर्मबन्धन से मुक्ति के उपायों के सम्बन्ध में एक मत नहीं रखते। परन्तु वे इस धारणा के सम्बन्ध में सहमत हैं कि नामरूपात्मक जगत का आधार ब्रह्म (आत्मतत्त्व) ही है। उसे वे अविनाशी एवं स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार जीव (आत्मा नहीं) विश्वव्यापी परमेश्वर का अंश है। देहेन्द्रियों से युक्त होकर वह देही कहलाता है। जीवात्मा (मानव-देह-चेतना) को परब्रह्म का अंश होने के कारण मूलरूप में कर्मात्मक प्रकृति से पूर्णतया मुक्त माना गया है। गीता इसे देहेन्द्रियों में असीम चैतन्य के रूप में स्वीकार करती है। आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा वस्तुतः इच्छाओं से अतीत एवं अकर्ता है।^१ फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से उसे नामरूप की सीमा में बद्ध भी स्वीकार कर लिया गया है। भक्ति के हेतु जिन्हें अद्वैत के स्थान पर द्वैत मान्य है, वे जीवात्मा के शक्ति-स्वातन्त्र्य को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जीवात्मा का कर्म-स्वातन्त्र्य सीमित है और वह भी उसे ईश्वर के अनुग्रह से ही प्राप्त होता है। अध्यात्मवादी आत्माओं की अनेकता को मात्र प्रतीति भी स्वीकार करते हैं और उनकी यथार्थ सत्ता भी। कुछ विचारक भेद का हेतु अहंकार को स्वीकार करते हैं और एक बार अह-ग्रस्त हो जाने पर उसके आवागमन को स्वीकार कर लेते हैं।^२ गीता में यह विचार भी प्रतिपादित हुआ है कि जीव पुरुषोत्तम का अंश है।^३ सभी ईश्वरवादी जीव, जगत और ब्रह्म के सम्बन्धों की अवधारणाओं के विषय में एक मत नहीं। यही कारण है कि वेदान्त-विचार, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैत आदि भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के माध्यम से व्यक्त हुआ है।

● आदिग्रन्थ में जीव : जीव के भेद

आदिग्रन्थ में वर्णित बाह्यगुरु-स्वरूप से यह स्पष्ट है कि मिश्र गुरु पूर्णाद्वैतवादी या पराद्वैतवादी विचारक हैं। उनके अनुसार विश्वव्यापी सत्ता केवल बाह्यगुरु है और जगत एवं जीव उससे भिन्न स्वतन्त्र अनादि सत्ताएँ नहीं हैं। अनादि सत्ता की चर्चा करते हुए वाग्भट्टाचार्य इस विश्वास को दुहराया गया है कि अनादि सत्ता केवल ब्रह्म

^१ वे० सू० शा० भा० २।३।४०,

^२ महाभारत, शा० पर्व, १८७।२४,

^३ गीता, अध्या० १४-३, वही, अध्या० १५-७,

(बाह्यगुरु) की है और वह प्रकाश-विमर्श-सम्पन्न चैतन्य है। जीव की उत्पत्ति के प्रसंग में आदिग्रन्थ में कई बार इस मत की चर्चा की गयी है कि उसका अस्तित्व बाह्यगुरु की इच्छा पर निर्भर है। सिक्ख गुरु 'अहङ्गह्यास्मि' वाले शाकर सिद्धान्त को स्वीकार करते दिखलायी नहीं देते—वे इसे जीव का हृदयभाव (अहभाव) मानते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें आत्म-स्वातन्त्र्य उसी रूप में स्वीकार्य है, जब देहेन्द्रियों से युक्त जीव स्वयं को सम्पूर्ण मलों, कचुको एव कोशों से अतीत बना लेता है। उनका यह विचार गीता के लिंग शरीर देहेन्द्रिय-युक्त जीव-सिद्धान्त एव कार्यरूपा माया की अवधारणा का अनुसरण है। वे जन्मान्तर को स्वीकार करते हैं और जीव द्वारा भक्ति का आश्रय ग्रहण कर अपने शुद्ध स्वरूप को पुनः प्राप्त कर लेने की धारणा का समर्थन करते हैं। आदिग्रन्थ में दार्शनिक की भाँति जीव के स्वरूप पर अलग से विचार नहीं किया गया। लेकिन जीव के भेदों एव जीव की स्थिति तथा उसके परमार्थ के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उनके आधार पर यह मूल्य प्राप्त किया जा सकता है कि जीव-स्वरूप के बारे में गुरुमत की धारणाएँ क्या हैं ?

जीव को आदिग्रन्थ में अर्थार्थ या मिथ्या नहीं माना गया है। वह बाह्यगुरु के द्वारा धारण किया हुआ उसी का सीमित चैतन्य है जो उसकी इच्छा से देह और इन्द्रियों को प्राप्त कर शरीरी चैतन्य का रूप प्राप्त कर लेता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने ही जाना, जान और ज्ञेय का द्वैत बन जाता है और जीव जागतिक व्यापारों में स्वयं को लिप्त बना लेता है। यही वह अवस्था है, जब जीव को बाह्यगुरु की तुलना में स्वयं को छोटा समझने की अनुभूति होने लगती है। वह स्वयं को पति-परमात्मा से अलग अनुभव करने लगता है और उसमें पुनः अपने प्रिय से मेल की भावना जागृत हो उठती है और वह बाह्यगुरु की अनुकम्पा-याचना के लिए व्याकुल हो जाता है। गुरुबानी के अनुसार ब्रह्म और जीव में तात्त्विक भेद मान्य नहीं, जैसे

धातु मिले फुनि धातु कड लिव लिवे कड धावे ।

गुरु परसावि जाणीये तउ अनुभव पावे ... ॥ (ग्र० पृ० ७२४)

केवल जीव ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण सच्चराचर सृष्टि की बाह्यगुरु में मूलतः अभिन्न स्वीकार किया गया है। अद्वैतवेदान्ती माया के कारण ब्रह्म में ईश्वर और ईश्वर में जीव का मिथ्यारोपण मानते हैं और इसके निराकरण के उपरान्त जीव को ही ब्रह्म मान लेते हैं। गुरुबानी में इस अभेद को उसी रूप में स्वीकार न कर यह माना गया है कि तारग (सागर) में तरंग की सत्ता की भाँति ही ब्रह्म से जीव का अस्तित्व है। गुरुओं का यह विश्वास विशिष्टाद्वैत के अशांति-भाव से भी भिन्न प्रकार का है। गुरुनानक के अनुसार जीवों की उत्पत्ति बाह्यगुरु के हुक्म से होती है। अतः तदनुसार जीव बाह्यगुरु के स्फुरण, स्पन्द, हुक्म या इच्छा के द्वारा धारण किया हुआ उसी का अपना सीमित चैतन्य है। जगत की भाँति जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व गुरुओं को मान्य नहीं है, जैसे .

तू दारआउ दाना बीना में मछली कैसे अंतु लहा ॥ (ग्र० पृ० २५)

वही—आपे नेडे दूरि आपे आपे ही आपे—

मंजि मिआनो—॥ वही० पृ० २५-२६, अच्छल छलाई न छलै न
घाउ कटारा करि सकं—इहु तेहु बीबा इहु जलै ॥

उक्त धारणाओं से स्पष्ट है कि गुरुओं को साख्यों का पुरुष-सिद्धान्त स्वीकार्य नहीं है। किसी सम्प्रदाय से बँधकर चलना गुरुओं का मार्ग नहीं था। उनके पास भारतीय दर्शन एवं प्रचलित उपासना-मार्गों की परम्परा थी तो सही, लेकिन वे किसी भी परम्परागत विचार को तद्वत् स्वीकार कर लेने की पद्धति का अनुसरण नहीं करते। वे बाह्यगुरु और जीव में भेद उसी स्थिति में स्वीकार करते हैं, जिस समय देहेन्द्रियों के अभिमान के कारण जीव हउमै-भाव में लिप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे अपना स्वरूप विस्मृत हो जाता है और वह इन्द्रियों के धर्मों का अपने ऊपर आरोप कर लेता है, जैसे

बिछु बोहिआ लादिआ बीआ समुंद मसहारि ॥

कथो बिसि न आवई न उरवार न पार ॥

बंसी हाथि न खेवटु जलु सागर असरालु ॥

बाबा जगु फाथा महाजालि— ॥

(आ० प्र० पृ० १००६)

राधास्वामी मनावलम्बी जीव का ब्रह्म में घँसना मानते हैं। परन्तु गुरबानी में इस प्रकार के विश्वास का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। आदिग्रन्थ में माया या अविद्या के कारण अपने स्वरूप के भूल जाने और उसमें इस अवस्था में जाना, जान और ज्ञेय की भेदबुद्धि की उत्पत्ति की चर्चा मिलती है। गुरु अर्जुन देव लिखते हैं कि परमात्मा और जीव में अभेद है, लेकिन बाह्यगुरु की इच्छा—जिसे वे उसकी माया कहते हैं—के कारण यह अभेद क्रमशः भेदाभेदावस्था से ऊपर उठ कर भेदावस्था की ओर उन्मुख हो जाता है। यही जीव का जीवत्व है। इसी अवस्था में वह बाह्यगुरु-इच्छा के विलास के माधात्कार की अनुभव-स्थिति से नीचे उतर कर अपने आपको कर्मों का कर्ता और फल का भोक्ता मानने लगता है। उसका यह 'आपाभाव' सद्गुरु की शरण में ही दूर होना है

कोटि अघा सभि नास होहि सिमरत हरि नाउ ॥

मनचिदे फल पाई अहि हरि के गुण गाउ ॥

जनम मरण भै कटी अहि निहचल सचु थाउ ॥ (प्र० पृ० ७०७)

बाह्यगुरु की ज्योति में ज्योति के मिल जाने से गुरुओं का आशय वही है जिसकी चर्चा उनमें पहले कबीर 'कुम्भ कुम्भहि समाना' के द्वारा कर चुके थे, लेकिन ज्योति में ज्योति का समाना यही है कि आत्म-चैतन्य कोशो-कचुको से अतीत होकर स्व-स्वरूप का लाभ कर लेता है, जिसके लिए गुरबानी में सद्गुरु की शरण और नाम-सिमरन के उपाय पर बल दिया गया है, जैसे .

गुरि मुखि लंघे से पारि पए सचे सिउलिव लाइ ॥

आबागउणु निबारिआ जोती जोति मिलाइ ॥

गुरमती सहसु ऊपजै मचे रहै समाइ ॥

(आ० ग्र० पृ० १००६)

जीव की अमरता का सिद्धान्त भी सिक्ख गुरुओं को मान्य है लेकिन यह अमरत्व-विचार भी अपने ढंग का है। कारण यह है कि वे जीव को बाह्यगुरु की इच्छा से उसके द्वारा धारण किया हुआ रूप मानते हैं। क्योंकि बाह्यगुरु अविनाशी और अजरामरसत्ता है, इसलिए उसी के प्रसंग में जीव को भी गीता की भाँति अजरामर मान लिया गया है।

न ओहु मरता ना हम डरिआ ॥ न ओहु बिनसै न हम कड़िआ ॥

न ओहु निरधनु न हम भूखे न ओसु दुख ना हम कउ बूखे ...॥

आ० ग्र० पृ० २६१ ॥ जोती जोति मिलाई ऐ सुरती सूरति संजोगु ॥

हिंसा हउमै गतु गए नाही सहसा सोगु ॥ ग्र० पृ० २१-२२ ॥

जोती जोति मिलि प्रभु पाइआ मिलि सतिगुर मनूआ मान जोउ ॥

ग्र० पृ० ४४६ ॥ आपि गइआ ता आपहि भए ॥ ग्र० पृ० २०१ ॥

● गुरमुख जीव

आदिग्रन्थ में बाह्यगुरु (परमसत्ता) की भक्ति को जीव का परम साध्य बनलाया गया है। इसीलिए आदिग्रन्थ के प्रतिपाद्य को हम भक्ति-योग कह सकते हैं। इस सन्दर्भ में ही जीवों के मनमुख और गुरमुख भेद माने गये हैं। प्रभु की भक्ति में नल्मीनता गुरमुख जीव का प्रधान लक्षण है। उसे गुणवन्ती नारी के रूपक के द्वारा परमात्मा रूपी प्रेमी की प्यास बनलाया गया है :

गुणवन्ती गुण बीधरै अउगुणवन्ती झूरि ॥

जे लोडहि बर कामणी न मिलीअं पिर कूरि ॥

(आ० ग्र० पृ० १७)

जीव की परमोपलब्धि परमात्म के साक्षात्कार में है और इसी विश्वास एवं उद्देश्य का आदिग्रन्थ में बार-बार प्रतिपादन हुआ है। वे सन्त मुहागिन नारियाँ बनलाये गये हैं, जिन्होंने परमात्मा का साक्षात्कार किया है। इसी को गुरुओं ने 'उनके द्वारा प्रभु से रमण करना' कहा है। वे जीव द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने के प्रसंग में लिखते हैं कि मीठा बोलने, सन्तोष का शृंगार करने तथा सहज भाव और अन्य सद्गुणों को धारण करने के उपरान्त ही रसीले प्रियतम में मिलन सम्भव हो सकता है।^१ प्रकारान्तर से यही गुरमुख की पहचान बतायी गयी है। क्योंकि गुरमुख गुरु

^१ आ० ग्र० पृ० १७-१८, जाइ पुछहु सोहागणी तुसी राबिआ किनी गुणी ॥ सहजि सतोखि सिगारीआ मिठा बोलणी ॥ पिर रसालु ता मिलै जा गुर का सबहु सुणी ॥

के 'शब्द' का अनुयायी होता है और गुरु के 'शब्द' के अनुसार चलकर ही जीव परमात्मा के अनुग्रह का पात्र बनता है और उसके दर्शन कर सकता है।

गुरुमुख जीव का दूसरा प्रधान गुण अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखना बतलाया गया है। जिसने अपनी इन्द्रियों को विषयो की ओर से विमुख बनाकर बाह्यगुरु की ओर मोड़ लिया है, वह उसके अनुकम्पा-भाव को प्राप्त कर लेता है। परमात्मानुग्रह की अगली सीढ़ी उससे मिल जाना, अथवा उसका साक्षात्कार करना है। गुरुओं के अनुसार जीव का बहिर्मुखता में प्रत्यावर्तन कर अन्तर्मुखी होना ही भक्ति है। यह साधक की स्थितप्रज्ञता है। वे इसे जगत की ओर से निरासक्ति एवं प्रभु के प्रति अनन्यासक्ति कहते हैं। परमात्म-रति से 'अहं' का विगलन होता है और अहं के विगलन को ही गुरुमत में आत्म साक्षात्कार एवं परमात्म-साक्षात्कार की संज्ञा दी गयी है। इस अवस्था में मायिक आकर्षणों के प्रति मोह नहीं रहता। साधक नाम-सिम्बल की साधना पर चल कर सत्यस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। उसके आवागमन के बन्धन टूट जाते हैं। गुरुओं के अनुसार उसे हमेशा के लिए परमात्मा की 'हेजुरी' (सतत दर्शन) प्राप्त हो जाती है।

मुई प्रीति पिआरु गइआ मुआ वेरु विरोधु ॥

धंधा थका हउ मुई ममता माया क्रोधु ॥

करमि मिलं सचु पाईअं गुरुमुखि सदा निरोधु ॥

सचि कारं सचु मिलं गुरुमति पलं पाइ ॥

(आ० ग्र० पृ० १६)

गुरुमुख जीव का तीसरा प्रधान गुण अपने दोषों को स्वीकार करना है। आदिग्रन्थ में जीव की परवशता की चर्चा के प्रसंग में इसी आज्ञा का प्रतिपादन है कि भक्त जीव प्रभु के आगे अपने अवगुणों को छुपाते नहीं। उनका यह विश्वास है कि परमात्मा सर्वज्ञ एवं अन्तर्यामी है। अतः जो कुछ जीव करता है, वह परमात्मा से छुपा नहीं रह सकता। मसारी होने के कारण जीव में सद्गुणों के साथ ऋटियाँ और कमियाँ भी हैं। अतः उसे चाहिए कि वह बिनम्र भाव से अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार करे। मनमुख जीव ही अहंकारी और हठी होते हैं। वे परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता एवं सर्वज्ञता को मान कर अपने आचरण को परिवर्तित नहीं करते। गुरुमुख अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार कर परमात्मा में उनके निराकरण की याचना करता है। गुरुनानक बाह्यगुरु से विनय करते हुए कहते हैं, कि 'मै घुमक्कड (साँस) के रूप में रहता हूँ। मेरे साथ लोभरूपी कुत्ता है। आशाओं और तृष्णाओं की कुतिया मैंने पाल रखी है। झूठ की छुरी मेरे हाथों में रहती है। मैं पराए हक को छीन रहा हूँ। न मैं तेरी आज्ञा के अनुसार आचरण करता हूँ और न ही मेरे कर्म ही अच्छे हैं। इतना अवगुणी होते हुए यदि मुझे किसी पर भरोसा है तो वह

तेरे नाम के सिमरन का।^१ गुरु नानक ने अपने आपको घाणक (मुरदार खाने वाले) के समान बतलाया है। यही गुरुमुख जीव की विशेषता है कि वह अपने अहम् को मिटाकर पूर्णरूप से प्रभु के आगे समर्पण कर देता है।

उक्त आशय का गुरुओं ने भिन्न-भिन्न शैलियों में उल्लेख किया है। गुरुनानक गुरुमुख का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि उसे हरि के नाम में प्यार होता है। वह जपी, तपी और सयमी है। दिन-रात बाह्यगुरु की भक्ति में लीन रहता है। हउम को मार कर निश्चिन्त होता है।^२ उसके लिए परमात्मा के घर का मार्ग 'दुहेला' (कठिन) नहीं। वह हरि के नाम का स्तवन करना हुआ, नाम की मणि को धारण किये हुए नाम में ही 'लिव' लगाये रहता है।^३ वैसे तो हर एक जीव-नारी को वापिस अपनी समुगल में जाना होना है, परन्तु गुरुओं के मन में उसी मुहागिन का समुगल में जाना सार्थक है, जिसे अपने पति में प्यार है।^४ इससे यह स्पष्ट है कि परमात्म-रति को ही गुरुओं ने गुरुमुख जीव का सर्वाधिक प्रशसनीय गुण माना है। अद्यत्र एक प्रसंग में शरीर के वृक्ष में रहने वाले इस जीव रूपी पंखी के बारे में कहा गया है कि जो मर्त्य स्वरूप बाह्यगुरु के नाम का चोगा खाता है, वही उसके नाम-रस का पान करता है। वही जन्म और मरण के चक्कर से बचा रहता है।^५

गुरुमुख जीव-रूपी स्त्री दहेज मांगती है, और वह वस्त्रादि की भी इच्छा रखती है, लेकिन उसके दहेज और वस्त्राभूषण हरि के नाम के सिवा और कुछ नहीं होते

हरि प्रभु मेरे बाबुला हरि देवहु दानु मैं दाजो ॥

हरि कपड़ो हरि सोभा देवहु जितु सरवरं मेरा काजो ॥

(आ० ग्र०)

गुरुमुख नारी (साधक) यह जानती है कि जिसके हृदय रूपी घर में प्रभु का

^१ आ० ग्र० पृ० २४, एकु सुआनु दुइ सुआनी नालि ॥ भलकं भीकहि सदा बइ आलि ॥ कूडु छुरा मुठा मुरदार ॥ घाण रूपि रहा करतार ॥ मे पति की पदि न करणी की कार ॥ हउ बिगडै रूपि रहा बिकराल ॥ तेरा एकु नाम तारे ससार ॥ मे एहा आस एही आधार ॥

^२ आ० ग्र० २६-२०, गुरुमुख जपतप सजमी हरि के नामि पिआर ॥ अहिनिस्ति भगति करे दिनुराती ॥ हउमै मारि निचंडु ॥

^३ वही० पृ० ४१, गुरुमुख नो पयु परगटा दरि ठाक न कोई पाइ ॥ हरिनामु सलाहनि नामु मनि नामि रहनि लिब लाइ ॥

^४ वही० पृ० ५०, सभना साहुरै वज्रणा सभि मुकलावण हार ॥ नानक घनु सोहागणी जिन सह नालि पिआर ॥

^५ आ० ग्र० पृ० ६६, पंखी बिरख सुहावडा सबु चुगै गुरभाइ ॥ हरि रसु पीवै सहजि रहै उड़ै न आवै जाइ ॥ जिन घरि वासा पाइआ हरि(हरि नामि समाइ ॥

निवास है, वही उसके गुणों का ज्ञान प्राप्त कर सकती है। जिसे कन्त सौभाग्य प्रदान करता है, वही सुख प्राप्त करती है। बिना कन्त का प्यार पाये वह भाग्यवती नहीं कहला सकती। उसी का आचरण ऊँचा माना जाता है, जिसका प्रिय से गहरा प्यार है।^१ इसलिए बाबुल से दहेज के रूप में कन्त को मांगना ही गुरुमुख की शोभा देता है। मायके में ही प्यारे कन्त से नह लगाये रखना गुरुमुख की विशेषता है। इसके लिए उसे हृदय से 'हउमै' को दूर करना चाहिए तथा गुरु के 'शब्द' से एकमेक होकर प्रियतम को पहचानना चाहिए। यही एक उपाय है, जिसे अपनाकर ससुराल में उसे अपने कन्त की सेज मिल सकती है।^२

आदिग्रन्थ के अनुसार बाहगुरु सती के बन्धन स्वयं काटता है। तब उन्हें माया अपने प्रभाव के भीतर नहीं ले पाती। ऐसा जीव मायिक बन्धनों से ऊपर उठकर ब्रह्म-दृष्टि-सम्पन्न बन जाता है और उसे सर्वत्र सत्य स्वरूप परमात्मा के दर्शन होने लगते हैं। गुरुओं ने उसे 'सहज में तद्रूप' जीव कहा है। गीता में जो स्थिति स्थितप्रज्ञ की बतलायी गयी है, वही सहज में स्थित जीव की भी है। क्योंकि सहज की अवस्था में पहुँचकर ही जीव को निरासक्त भगवान से ऐक्य का अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार के जीव के बारे में कहा गया है कि

सहजे भोजन सहजे भाउ ॥ सहजे मिटिओ सगल दुराउ ॥ सहजे
होआ साधू संगु सहजि मिलिओ पारब्रह्म निसंगु ॥ आ० प्र०
पृ० २३७ ॥

गुरुमुख जीव-नारी ही प्रभु की प्यारी होती है, क्योंकि उसका नित नया स्नेह-बन्धन 'शब्द' से बना रहता है।^३ जीव-नारी प्रिय से बिछुड़ी हुई है। वह दोबारा अपने प्रियतम से तभी मिल सकती है, जब उसके हृदय में प्रेम जाग उठे तथा वह गुरु के 'शब्द' के अनुसार अपना आचरण बनाले। सतमत के अनुसार गुरु ही जीव का ईश्वर से मेल करवाने वाला माध्यम (बिचोला) है। गुरु के बतलाए मार्ग पर चलने से ही वह प्रिय को अच्छी लगती है और प्रिय के मन पर चढ़ कर ही वह धन (पत्नी) कहलाने का अधिकार प्राप्त करती है।^४ परमात्मा के द्वारा उसको

^१ आ० प्र० पृ० ६७-६८, मा गुणवती सा बडभागिनि ॥ पुत्रवती भीलवती सोहागिनि ॥ रूपवति सा मुघडि बिचरवणि जो धन कत पिजारी जीउ ॥

^२ आ० प्र० पृ० ११०-१११, पेईअई सुखदाता जाता ॥ हउमै मारि गुरसबदि पछाना ॥ सेज सुहावी सदा पिरु राबै सचु सीगारु बणावणिआ ॥

^३ आ० प्र० पृ० २४२, साव की मति सदा नउतन सबदि नेहु नवेलओ ॥ नानक नदरि सहजि साचा मिलहु सखी सहेलिओ ॥

^४ वही० पृ० २४३, पिरि विछिडि अडो जीउ कवणु मिलावै ॥ रसि प्रेमि मिली जीउ सबदि सुहावै ॥ सबदे सुहावे ता पति पावै दीपक देह उजारै ॥ मुणि सखी सहेली साचि सुहेली साचि के गुण सारै ॥ सतिगुरि मेलि ता पिरि रावी बिगसी अम्रित वाणी ॥ नानक साधन ता पिरु रावै जा तिस कै मनि भाणी ॥

अपना लेना ही प्रिय-मिलन है। इसे गुरुओं ने अत्यन्त भावमयी वाणी में चित्रित किया है। यह जीव की वह अवस्था है, जब उसे अनिर्वचनीय आनन्द की सुखद अनुभूति प्राप्त होती है। ऐसे ही एक प्रसंग में जीव-नारी के द्वारा अपनी सखी (सत्संगी जीव) के आगे मिलन के अनुभवों का वर्णन करती हुई कहती है, 'हे सखी, मैं सदैव अपने स्वामी के साथ रहती हूँ। मेरे तन और मन दोनों ही प्रिय के तन-मन के साथ एकमेक हो गये हैं। जिस दिन से मैंने अपने प्रियतम को पा लिया है, उसी दिन से मैं मीठी नीद सोने लगी हूँ। मेरा 'हृदय-कवच' विकसित हो गया है। सारे भ्रम दूर हो गए हैं और चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश दिखलायी देने लगा। मैंने अटल मुहाग पा लिया है। अन्तर्यामी प्रभु ही मेरा वर है

सखी नासि बसा अपुने नाह पिआरे मेरा मनु तनु हरि संगि
हलिया ॥ सुणि सखीए मेरी नीद भली मैं आपनड़ा पिर मिलिआ ॥
भ्रमु खोइओ सांति सहजि सुआमी परगामु भइआ कउलु खिलिआ ॥
वर पाइआ प्रभु अन्तरजामी नानक सोहागु न टलिआ ॥ आ०
प्र० पृ० २५० ॥

गुरुमुख जीव परमात्मा को हर दृष्टि में महान भक्तवत्सल और कृपालु मानने लगते हैं। उन्हें वह अनाथों का नाथ, सभी जीवों का पालन-पोषण करने वाला और भक्तों का प्राणाधार लगने लगता है। स्वयं को वे निर्गुणी, नीच और अज्ञानी समझते हुए, उसी की शरण चाहते हैं।^१

कवीर ने 'दुलहनि गावहु मगलाचार' कह कर जीव और परमात्मा के विवाह का वर्णन किया है। ठीक उसी तरह का वर्णन हमें 'गुरु नानक-बानी' में भी मिलता है। यह विवाह-गीत गुरुमुख से ही सम्बन्धित है। तदनुसार हरि ने जीव-नारी पर कृपा की, और उसे ब्याहने के हेतु स्वयं दुलहा बन कर उसके घर आया है। वर की बारात देखकर आनन्द में विभोर जीवात्मा कहती है कि सखियों, तुम विवेक-विचार के गीत गाओ। आज मेरे घर भरतार आया है। इस प्रकार गुरु के द्वार पर विवाह के सम्पन्न होने की बात कह कर वह उन्हें बतलाती है कि मुझे प्रिय (वाहगुरु-वर) के स्वरूप आदि का तब पता चला है, जब मेरा उमसे मेल हुआ है। मेरा 'आपा-भाव' दूर हो गया है और मन के जागतिक सकल्प-विकल्प मिट गये हैं। अन्त में वह यह भी कहती है कि 'सभना का पिर एको सोइ'। परन्तु उसके कथनानुसार वह मिलता उसी को है, जिस पर उमकी अनुकम्पा होती है और तभी वह 'सोहागिन' बनती है।^२ गुरुमुख वह साधक जीव है, जिसे सहज समाधि की प्राप्ति

^१ आ० प्र० पृ० २६०, प्रभ बखसंद दीन दइआल ॥ भगति बखल सदा किरपाल ॥
हम निरगुनीआर नीच अजान ॥ नानक तुमरी सरनि पुरख भगवान ॥

^२ आ० प्र० करि किरपा अपनै घरि आइआ ॥.....॥ भनति नानकु सभना का पिर
एको सोइ ॥ जिसनो नदरि करे सा सोहागणि होइ ॥

हो गयी है और जिसका चित्त पूर्णरूप से सत्यस्वरूप बाह्यगुरु में लीन हो गया है। गुरुमुख का मन अन्य सभी आसक्तियों से निलिप्त होकर प्रभु के नाम में ही रंगा रहता है। उसका अज्ञान का अन्वकार दूर हो जाता है और उसे सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश ही दिखायी देने लगता है। परन्तु उसके स्वभाव की यह निराली विशेषता है कि वह इन गुणों को अपने प्रयत्नों का परिणाम न मानकर बाह्यगुरु का 'करम' (कृपा) समझता है। वह सदा यही कहता है कि गुरु की कृपा से ही जीव बाह्यगुरु की भक्ति कर सकते हैं।^१

गुरुमुख चातक की भाँति अनन्यासक्त जीव है। उसका हृदय केवल बाह्यगुरु की कृपा की वर्षा की बूंदों के लिए ही प्यासा रहता है। वह चकवी की भाँति प्रभु-दर्शन के सूर्य से ही आनन्दित होता है और मछली की तरह उसकी कामना केवल प्रभु-प्यार के पानी में ही नृप्ति प्राप्त करती है।^२ उसकी यह साधना कभी व्यर्थ नहीं जाती और वह गुरु की शरण के प्रताप में अपने प्रभु को प्राप्त कर लेता है।^३ गुरुमुख जीवात्मा का मन प्रिय-प्रभु में ही लीन रहता है और यही उसका श्रद्धा-भाव है। वह एक क्षण के लिए भी अपने प्रिय का वियोग नहीं सह सकता। उसके इस अनन्य प्रेम से करुणाद्र होकर बाह्यगुरु उसे अपना लेता है

सरथा लागी संगि प्रीतमें इकु तिलु रहणु न जाइ ॥
मन तन अंतरि रखि रहे नानक सहजि सुभाइ ॥
कर गहि लोनी साजनहि जनम जनम के मीत ॥
चरनह बासी करि लई नानक प्रभ हित चीत ॥

(आ० ग्रं०)

मनमुख जीव-नारियाँ प्रभु को भूलकर जागतिक आकर्षणों में उलझी रहती हैं, अस्तु गुरुमुख जीव-नारी का आचरण उनसे बिल्कुल अलग ढंग का होता है। वे ऐसी जीवात्माएँ हैं, जिन्हें यह समझ है कि प्रिय किस प्रकार के शृंगार को पसन्द करता है। वे अपने आपको नाम के शृंगार से ही मजानी है। ऐसी प्रियतमाएँ ही प्रियतम के सामने खड़ी होने पर सौभाग्यवती बनती है--

पिर खुसीए धन राखीए धन उरि नामु सीगार ॥
नानक धन आगै लड़ी सोभाबंती नारि ॥

(आ० ग्रं० पृ० १०८८)

^१ आ० ग्रं० पृ० ५१२, गुरुमुखि धिआन सहज धुनि उाजै साचि नामि चितु लाइआ ॥ "जिसनो करमु होवै धुरि पूरा तनि गुरुमुखि हरि नामु धिआइआ ॥

^२ वही पृ० ७०२, चातक चिरवत बरसत मेह ॥ "अनिक मूल चकवी नहीं चाहत अनद पूरन पेखि देह ॥ आन उभाव न जीवत मीना बिनु जल मरना तेह ॥

^३ आ० ग्रं० पृ० ७०२, मनि तनि बसि रहे मेरे प्रान ॥ करि किरपा साधू सगि भेदे पूरन पुरख सुजान ॥

परमात्मा के प्रेमी के मन में और कोई आशा-आकांक्षा नहीं रहती। वह केवल प्रभु को ही चाहता है तथा अन्य सभी प्रकार की आशाओं और निराशाओं से अतीत होकर विचरण करता है।^१ मीन तथा चातक के उदाहरणों के द्वारा गुरुनानक गुरुमुख की अनन्यासक्ति की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि जिस प्रकार मीन जल के बिना और चातक वर्षा की बूद के बिना तड़पते रहते हैं, उसी तरह गुरुमुख की 'लिव' बाहुगुरु के नाम से होती है। यदि उसे नाम रूपी जल की प्राप्ति न हो तो वह दर्शन की प्यास के दुःख से पीड़ित रहती है।^२

गुरुमुख आपा-भाव (हउमै) को अपने भीतर रहने ही नहीं देते और हृदय में सदा प्रियतम को बसाए रहते हैं। ऐसी जीवात्माएँ 'शब्द' से अपना शृंगार करती हैं और सौभाग्यवती कहलाती हैं। इन्हीं प्रभु-भक्तों के आचरण को दृष्टि में रखकर आदिग्रन्थ में मनमुख जीवों को उपदेश दिया गया है कि वे सर्वव्यापक भगवान के पास रहते हुए भी उसे पहचान नहीं पाते। प्रभु जल, धरती और आकाश सभी में समाया हुआ है परन्तु मनमुख का ध्यान इस ओर न जाकर जागतिक नामरूप में ही भटकता रहता है। वे उस पपीहे के समान हैं, जिसका निवास जल में होता है, परन्तु वह जल की पहचान न होने के कारण प्यास-प्यास की रट लगाए रहता है। सामने अथाह जल के रहते हुए भी वह प्यासा ही रहता है। जीवात्माएँ सभी एक हैं लेकिन अपने कर्मों और उन कर्मों के संस्कारों एवं वासनाओं के भेद के कारण वे भिन्न स्वभाव एवं आचरण वाली बन जाती हैं। आदिग्रन्थ में पपीहे की दो भिन्न स्थितियों का वर्णन हुआ है। पहली स्थिति पपीहे के उस स्वरूप की है जिसमें वह चारों ओर जल के रहते हुए भी, प्यास बुझाने वाले उसके गुण से अनभिज्ञ होने के कारण प्यासे का प्यासा ही रह जाता है। दूसरी स्थिति वह है जब उस पर मेघ करुणाद्र होकर वर्षा करता है और चारों ओर पानी ही पानी दिखाई देता है तथा उसकी प्यास बुझ जाती है।^३ पहला रूप मनमुख का है और दूसरा गुरुमुख का। गुरुमुख हुक्म को पहचानने के कारण ही तृष्णाओं की प्यास से मुक्त होता है।

^१ आ० ग्रं० ११००, आसकु आसा बाहरा, मू मनि बड़ी आस ॥ आस निरासा इकु तू हउ बलि बलि बलि गईआसु ॥

^२ वही० पृ० १२२२, जिउ मीना जल सिउ उरझानो राम नाम संगि लीवनि ॥ नानक सत चात्रिक की निआई हरि बूद पान मुख थीवनि ॥

^३ आ० ग्रं० पृ० १२२२, बाबीहा जलमहि तेरा बासु है जल ही माहि फिराहि ॥ जल की सार न जाणही ता तू कूकण पाहि ॥ × × × नानक गुरुमुखि तिन सोझी पई जिन वसिआ मन माहि ॥

वही० १२२४, बाबीहै हुक्मु पछाणिआ गुर के सज्जि सुभाइ ॥ मेघु बरसै दइआ करि गूडी छहवर लाइ ॥ × × × नानक सो सालाईअै जि देंदा सभना जीआ रिजकु समाइ ॥

गुरुमुख जीवात्मा की परासक्ति एवं अग्निम इच्छा को आदिग्रन्थ में इस प्रकार वर्णित किया गया है—

‘हे सखि, मुझे महल एवं रेशमी वस्त्रों एवं मुहावनी सेज की कोई आवश्यकता नहीं। पतिव्रता नारी की भाँति मैं तो प्रिय के साथ सुहाग की रात का मुख चाहती हूँ’।^१ गुरुमुख जीवात्मा का यह आदर्श सस्कृत के किसी कवि द्वारा वर्णित प्रेमिका की उस भावना से मिलता है, जिसमें यह कहा गया है कि प्रिय की भुजाओं में कुशा का बिछावन भी मलमल की भाँति कोमल लगना है। यह भाव ‘नरक की धरक’ वाली बिहारी की नायिका की उक्ति से कम मनोहारी नहीं है। अन्तर केवल यह है कि एक सुख शारीरिक एवं मानसिक परितृप्ति का दाता है और दूसरा सुख आत्म-साक्षात्कार की आनन्दमयी विस्मादावस्था का।

● मनमुख (मायाबद्ध) जीव

अभी-अभी हम यह बतला आए हैं कि आदिग्रन्थ के अनुसार जीवों के ‘गुरु-मुख’ और ‘मनमुख’ दो मुख्य भेद माने गये हैं। वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों में पुष्टि जीव एवं प्रवाह जीव आदि के रूप में जीवों की मुख्य चार कोटियों के उल्लेख मिलते हैं परन्तु जीवों की कोटियों की ये मान्यता विशेष प्रकार के दार्शनिक विश्वासों और नवधा भक्ति में लीन भक्तों के दृष्टि-भेद के अनुसार ही स्वीकार की गयी है। आदिग्रन्थ में मन की प्रेरणा के अनुसार चलने वाले जीवों को मनमुख अर्थात् मनोन्मुखी जीव बतलाया गया है और गुरु के उपदेश (शब्द) का अनुसरण कर प्रभु की भक्ति करने वालों को ‘गुरुमुख जीव’ कहा गया है। मनमुख जीव माया-बद्ध है क्योंकि ऐसे जीवों के कर्म मायिक कर्म कहलाते हैं। मायिक कर्मों के बारे में भी गुरुओं की मान्यता भिन्न प्रकार की है। उनके मत में गुरु की सेवा, बाह्यगुरु के नाम का ‘मिमरन’ तथा ‘गुरुशब्द’ के अनुसार आचरण ही सत्कर्म है। वैधी भक्ति (वैष्णवी) में स्वीकृत विभिन्न पूजोपासनाओं एवं विधि-विधानों को भी गुरुओं ने कर्म-काण्ड ही बतलाया है और उन्हें भक्ति की साधना में बाधक स्वीकार किया है। जबकि वैष्णव भक्ति में भावरूपा भक्ति को सर्वोपरि मानते हुए भक्त के अधिकारी भेद से अन्य भक्ति प्रकारों को भी मान्यता प्राप्त है। उनकी भक्ति सगुण भक्ति है, जिसमें प्रतीक के रूप में मूर्ति को ही प्रभु का विग्रह माना जाता है। मन्दिर में भगवान की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कर, उसे भगवान का शरीरी एवं जीवन्त रूप स्वीकार किया जाता है और इस कारण अष्टयाम-पूजा के विधान को भी भक्ति के ही अन्तर्गत माना गया है।

^१ आ० ग्र० पृ० १३०६, वारि वारउ अनिक डारउ ॥ सुख प्रिय सोहाग पलक रान ॥ कनिक मन्दिर पाट सेज सखी मोहि नाहि इन सिउ तात ॥ भुक्त लाल अनिक भोग बिनु नाम नानक हात ॥ रूखो भोजन भूमि सैन सखी प्रिय सगि सुखि बिहाति ॥

सगुण भक्ति में मन्दिर-निर्माण और मूर्ति को भगवान का विग्रह मानने के कारण विधि-विधानों में इतना अधिक विस्तार हो गया कि समूचा भक्ति-व्यापार मात्र आचार प्रधान हो गया। भावरूपा भक्ति केवल चर्चा की वस्तु बन गयी, जबकि वैधी भक्ति में ही भक्त भक्ति की इति मानने लगे। इस प्रकार की भक्ति में सम्प्रदाय-भावना को प्रश्रय मिला, जिसके कारण भक्तों में अपने सम्प्रदाय से इतर सम्प्रदाय वालों के प्रति भ्रातृत्व के भाव का लोप हो गया। निर्गुण सन्तों ने वैधी भक्ति को अस्वीकार कर भक्ति के उम स्वरूप को महत्त्व दिया, जिसमें भक्त के हृदय-समर्पण को ही सच्ची भक्ति माना जाता है। जीव की बहिर्मुखता को उसका मनोन्मुखी होना माना गया और उसकी अन्तर्मुखता को गुरुमुखता। शास्त्रीय विवेचन की जटिलताओं से ऊपर उठकर जीवों के 'गुरुमुख जीव' और 'मनमुख जीव' ये दो भेद इसी विश्वास पर आधारित हैं। आदिग्रन्थ में बाह्यगुरु के स्वरूप का प्रतिपादन कर, उसकी भक्ति करने के लिए जीव को इस प्रकार से प्रेरित किया गया है कि वह मन के अनुसार जीवन-यापन का परित्याग कर अपनी इन्द्रियों को सर्वतोभावेन भगवदुन्मुखी बना ले।

गुरुओं ने मनमुख की पहचान अर्थात् उसके आचरण से परिचित करवाते हुए उसे सभी प्रकार के पापों और अमत्कर्मों का पात्र बतलाया है और उसे प्राप्त होने वाले कष्टों आदि का उल्लेख कर 'गुरुमुख' बनने का उपदेश दिया है। गुरुमुख और मनमुख के आचरण के सम्बन्ध में यह बतलाया गया है कि मनमुख शाक्त (मायोपामक) है क्योंकि उस हरि की भक्ति के रस का पता ही नहीं है। उसका हृदय-हृउर्म' (अहभाव) के काँटे में विधा रहता है। जीवन में वह जिस प्रकार से आचरण करता है, उस में उसे दुःख ही दुःख मिलता है। इस शरीर को त्यागने के बाद भी उसे यम की पीड़ाएँ ही सहनी पड़ती हैं। हरि का भक्त होने के कारण गुरुमुख जीव-नारी की वृत्तियाँ सदा हरि के नाम में ही लीन रहती हैं। उसे बार-बार इस भव के मागर में जन्म और मरण के कष्ट नहीं सहने पड़ते। अन्त में वह अविनाशी पुरुष को प्राप्त कर लेता है और जगत में रहते हुए भी उसे उत्तरोत्तर यश की प्राप्ति ही होती रहती है। गुरुमुख जीव को आदिग्रन्थ में 'सुहागण' (सौभाग्यवती) और मनमुख को 'दुहागण' (रडानारी) बतलाया गया है। गुरुओं के अनुसार गुरुमुख जीव-नारी आत्मिक स्थिरता (स्थितप्रज्ञता) सन्तोष और शीलवाली होती है और यही उसका श्रृंगार है। ऐसी जीव-नारियाँ गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण करती हैं और अन्त में पति-परमात्मा को प्राप्त कर लेती हैं।

जाइ पुछहु सोहागणी तुसी राखिआ किनी गुणी ॥

सहजि संतोखि सिगारीआ मिठा बोलणी ॥

पिरु रसासु ता मिले जा गुर का सबहु सुणी ॥ ग्र० पृ० १७ ॥

लेकिन भाग्य-हीन मनमुख स्त्री बाह्यगुरु की भक्ति से बिहूनी रहती है। उसका मन सांसारिक आसक्तियों में लीन रहता है। उसका जीवन कल्लर मिट्टी

वाली दीवार के समान है, जो धीरे-धीरे स्वतः टूटती और गिरती हुई अन्त में नष्ट हो जाती है। जिस जीव-नारी का पति-परमात्मा से प्यार नहीं होता, वह आजीवन दुःख उठाती रहती है। जिसने कर्म-काण्ड को अपना शृंगार बनाया है, वह किसी भी स्थिति में अपने प्रिय के दर्शन नहीं कर सकती। मनमुख के आचरण के बारे में कहा गया है कि ऐसे जीव गुरु से विमुख रहते हैं। वे भगवान के नाम का 'सिमरन' नहीं करते। उनका आचरण उन्हें चारों ओर से अन्धकार में भटकता रहता है। उनके आवागमन के बन्धन नहीं टूटते क्योंकि जागतिक बन्धन उन्हें सदा बाँधे रहते हैं। एक दूसरे प्रसंग में मनमुख की मलावरणों में लिप्त, हउम, तृष्णा और विकारों से आहत बतलाया गया है।

मनमुख मेलु न उतरें ॥ आ० प्र० पृ० ३७ ॥

अउगुणवंती गुण को नहीं बहणि न मिल हवूरि ॥

॥ आ० प्र० पृ० ३७ ॥

उक्त वर्णन के द्वारा मनमुख का निरूपण मन के दास के रूप में किया गया है। सगुणोपासकों की भाँति निर्गुण सन्त भी अहंभाव के विगलन के उपरान्त ही भक्ति के प्रकाश को सम्भव मानते हैं। वे रहस्यानुभूतियों के प्रसंग में जीवात्मा को प्रेयसी के रूपको एव प्रतीकों के द्वारा और परमात्मा को प्रेमी के रूप में वर्णित करते हैं। गुरुनानक के अनुसार जिस जीव का आपाभाव तद्वत् बना रहता है, वह अहं में लिपटी और झूठी 'बनजारन' है। उनका मत है कि ऐसी जीव-नारी को माया ने लुट लिया है, लेकिन फिर भी वह गुमराह ही बनी बैठी है। यही कारण है कि वह सदा दुःखी रहती है। क्योंकि जब तक वह अपने आप को परमात्मोन्मुख नहीं बना लेती, उसे प्रभु-प्रियतम के दर्शनो से वंचित ही रहना पड़ता है। उनके अनुसार मनमुख उस मक्खी के समान है जो माया के गुड़ के लोभ से अभिभूत होकर, उसी में फँस चुका है और छूटने के लिए छूटपटा कर भी माया से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता :

गुड़ मिठा माइआ पसरिआ मनमुख लागि माखी पचै पचाइ।

॥ आ० प्र० पृ० ४१ ॥

आदिग्रन्थ में वे जीव भी मनमुख या ससारी जीव ही माने गये हैं जो परिवार के मोह में डूबे रहते हैं और जिन्हें अधिकार की मस्ती विनम्र नहीं होने देती। ऐसे जीव जागतिक ऐश्वर्य में लीन रहते हैं। उन्हें उपदेश देते हुए इस प्रकार समझाया गया है—'तू पुत्र और कलत्र के शृंगार को देखकर इसी में क्यों मस्त हो गया है। तू अनेक प्रकार से रंगरलियाँ मना रहा है और बाहगुरु (कर्ता) तेरे ध्यान में ही नहीं आता।' जीव को सचेत करने के लिए गुरुनानक उसकी आयु को चार प्रहरों के रूपक के द्वारा समझाते हैं, 'तेरा पहला पहर तो सासारिक बंधों में बीत गया। दूसरे पहर में तू खूब जी भर कर सोया और तेरे जीवन का तीसरा पहर भी इन मायिक आकर्षणों में बीत गया। अब भोर का समय (जीवन का अन्त) निकट आ पहुँचा है। हे जीव तुझे चारों पहरों में शरीर और प्राण देने वाले बाहगुरु की स्मृति ही

नहीं हुई है। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न उपदेशों के द्वारा मनमुख को समझाना प्रकारान्तर से उसके आचरण पर प्रकाश डालना ही है। माया के कार्यों के उल्लेखों के द्वारा मनमुखों को उनके आचरण की ओर ध्यान दिलाने के संकेत भी आदिग्रन्थ में मिलते हैं। ऐसे प्रसंगों में यह कहा गया है कि माया ने संसार में चारों ओर अपना जाल बिछा रखा है। वह जीवों के सम्मुख विभिन्न आकर्षणों का चोगा (प्रलोभन) बिखेरती रहती है। जो सन्तजन हैं, वे तो उसकी इस चालाकी को पहचान जाते हैं, परन्तु मनमुख रूपी कपोत माया के इस जाल में फँस जाते हैं।

माइआ जालु पसारिआ भीतरि चोग बणाइ ॥ तुसना पंखी

कासिआ निकसु न पाये भाइ ॥ जा० ग्रं० पृ० ५० ५० ॥

आदिग्रन्थ में मनमुख माया के चरे बतलाये गये हैं। माया के स्वरूप-लक्षण के सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यातव्य है कि गुरुओं के अनुसार सभी जागतिक आकर्षण माया ही है। वहाँ पर माया के उल्लेख पुत्र, सगे सम्बन्धी, घर, स्त्री, धन, यौवन, लोभ और अहंकार आदि प्रतीकों के द्वारा किये गये हैं। गुरुओं की दृष्टि में मनमुख जीव शाक्त है। सम्भवन शाक्तों के द्वारा पञ्चमकारों के सेवन को देख कर ही गुरुओं ने उन्हे मायासक्त समझा है। क्योंकि कबीर आदि सभी निर्गुण सन्तों की भाँति सिक्ख गुरु भी शाक्तों की सर्वत्र निन्दा ही करते देख पड़ते हैं। गुरुओं का शक्ति से तात्पर्य प्रभु की माया भी हो सकता है; अन्यथा शाक्तों से उनका आशय शक्तिरूपा उस देवी की उपामना से है, जिसे उनके उपासक पञ्चमकार-सेवन में परम सन्तुष्ट स्वीकार करते हैं।

माया का वर्णन जैसा आदिग्रन्थ में मिलता है, उसके अनुसार वह सासारिक आसक्तियों का ही रूप है बाह्यगुरु की सर्जन-शक्ति का प्रतीक नहीं। शाक्तों की निन्दा का कारण भी यही है। इसीलिए गुरु उन्हे माया-लिप्त जीव (मनमुख) कहते हैं। गुरुमन के अनुसार वे जीव ही मनमुख जीव हैं, जो अपने मन को वशवर्ती नहीं बनाते और न ही उमे परमात्मान्मुखी बनाने का यत्न करते हैं। आदिग्रन्थ में उन्हें उन पशुियों के समान बतलाया गया है जो लोभ के कारण भटकते रहते हैं और दुःखी होते हैं

पंखि बिरल सुहावड़े ऊडहि चहुदिसि जाहि ॥

जेता ऊडहि बुल घणे नित दासहि सँ बिललाहि ॥ आ० ग्रं० पृ० ६६ ॥

गुरुओं का यह कहना है कि मनमुख जीव-नारी कितना भी शृंगार क्यों न करे वह प्रिय को कदापि अच्छी नहीं लग सकती। गुणों के सौन्दर्य के आभाव के कारण वह कुरूप कही गयी है। वह अपने आप को सभी कुछ मानती है और प्रभु का हुक्म मानने के स्थान पर सभी पर अपना हुक्म चलाती है। उसमें अच्छे कर्मों का सौन्दर्य नहीं है, इसलिए प्रभु उसे नहीं चाहता। शाक्त मनमुख है, अतः वे सत्य को प्राप्त ही नहीं कर सकते। दुविधा के बन्धन में पड़ कर वे आवागमन के चक्कर में भटकते रहते हैं। आदिग्रन्थ में गुरुमुख का प्रधान गुण गुरु की सेवा माना गया है। लेकिन

मनमुख गुरु की सेवा के स्थान पर अपने मन की प्रेरणा के अनुसार आचरण करते हैं। यही कारण है कि वे मोक्ष के द्वार को कभी प्राप्त ही नहीं कर सकते। इसीलिए वे आवागमन के चक्कर से मुक्त नहीं हो पाते। उन्हें बारम्बार यमराज की यातनाएँ सहनी पड़ती हैं

सतिगुरु न सेवाहि मूरख अंध गबारा ॥ फिरि आइ किचहु पाइनि
मोक्ष दुआरा ॥ मरि-मरि जमहि फिरि फिर आवहि जम दरि
चोटा छावनिआ ॥ आ० प्र० पृ० ११५ ॥

आदिग्रन्थ में मनमुख को निन्दक के रूप में वर्णित कर अन्धा और आत्मघाती कहा गया है, जो बिना मजदूरी के भार उठाने वाला मूर्ख है। सिक्ख गुरु द्वैत के दो अर्थ स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार परमात्मा (निरकार बाह्यगुरु) को छोड़कर देवी-देवताओं की पूजा करने वाले और मन के कहे के अनुसार चलने वाले भी द्वैत के पीछे भटक रहे हैं। ऐसे जीव मनमुख हैं। मनमुख जीवों के कर्मों की मायिक कर्म मानकर ही यह कहा गया है कि उनका चित्त सदैव कामासक्त रहता है। वे पर की स्त्री में मातृत्व की दृष्टि न अपना कर उसके सग की कामना के लोलुप बने रहते हैं।

मुन्वर नारी अनिक परकारी परग्रिह बिकारी ॥ बुरा भला नहीं
सुभी रे ॥ आ० प्र० पृ० २१३ ॥

मनमुख जीव भक्ति से वंचित माने गये हैं। अतः वे अपने जीवन की बाजी उसी प्रकार हार जाते हैं, जिस प्रकार जुआ खेलने वाले। जुआरी जुए में हार कर अत्यन्त निराश होता है परन्तु उसकी निराशा उसके कर्मों का ही परिणाम है।^१ इसी तरह मनमुख की इन्द्रियों सदैव किसी न किसी तृष्णा के जाल में उलझी, भटकती रहती हैं। वह विषयो के रस का भोग करते समय, उसे अत्यन्त मीठा मानता है, परन्तु वह यह भूल जाता है कि उसे इसका कड़वा फल ही भोगना पड़ेगा। आवागमन के जाल से वह कदापि मुक्त नहीं होगा और उसे यमपुरी की अनेक यातनाएँ सहनी पड़ेंगी।

आसा बन्धी मूरख देह ॥ काम क्रोध लपटिओ असनेह ॥
सिर ऊपरि ठाढो धरमराइ मोठी करि-करि बलिआ लाइ ॥

(आ० प्र० पृ० १७८)

आदिग्रन्थ के अनुसार मनमुख के कर्म ही उसे भव के बन्धन की जेबड़ी में बाँधने के हेतु बनाते हैं, जिसके फलस्वरूप वह बार-बार भिन्न-भिन्न योनियों में भटकाया जाता है।^२

^१ आ० प्र० पृ० २२०, रतनु जनमु अपुनो तैं हारिओ गोबिन्द गति नहीं जानी ॥ निमख न लीन भइओ चरनन सिउ बिरथा अउध सिरानी ॥

^२ वही० पृ० २०७, अनिक जनम बहु जोनी भ्रमिआ बहुनि-बहुनि दुखु पाइआ ॥ तुमरी क्रिया ते मानुख देह पाई है, देहु दरसन हरि राइआ ॥

गुरुओं ने भक्ति के हेतु जीवों को परमात्मा के सम्मुख बिनम्र रहने का उपदेश दिया है। तत्कालीन सामाजिक मान्यता के अनुसार अपने पति की आज्ञा में रहना ही पतिव्रत धर्म का सच्चा लक्षण माना जाता था। साध्वी स्त्री वही नारी कहलाती थी, जिसकी दृष्टि में पति ही उसका सर्वस्व होता था। आदिग्रन्थ में इस सामाजिक दृष्टिकोण का जीव और परमात्मा के सम्बन्धों के माध्यम से प्रतिपादन एवं परमात्मा के प्रति जीव की अनन्यानुरक्ति का बार-बार उल्लेख हुआ है। अन्य देवी-देवताओं की भक्ति की ओर ध्यान न देकर केवल बाह्यगुरु में अनन्यानुरक्त स्त्री रूपी जीव ही 'गुरुमुख जीव' माना गया है। नाम-सिमान रूपा भक्ति के स्थान पर वैधी भक्ति के बाह्य विधानों एवं यज्ञादि दूसरे कर्म-काण्डों में विश्वास करने वाले जीवों को सिक्ख गुरु, मनमुख जीव ही मानते हैं। उनका मत है कि जीव में अनन्यानुरक्ति के भाव की स्थिति केवल नाम-सिमान से ही उत्पन्न हो सकती है। नाम-सिमान की तुलना में कर्म-काण्ड अहं के भाव के विगलन के स्थान पर जीव के हउमै-भाव की वृद्धि करते हैं। 'हउमै' का भाव जीव और परमात्मा के बीच पर्दे का काम करता है, जिससे जीव परमात्म से साक्षात्कार प्राप्त नहीं कर सकता। कर्म-काण्डात्मक उपायों को मन रूपी हाथी की मस्ती का हेतु मानकर उन्हें मायिक कर्म कहने का आधार भी यही है। नाम का सिमरन जीव में इस भाव का संचार करता है कि वह सर्वथा परमात्माधीन है। बाह्यगुरु की दृष्टि में अपने छोटेपन की स्वीकृति ही जीव की बिनम्रता कहलाती है। इससे जीव में 'मै कर्ता हूँ' का भाव दूर होता है और परमात्मा के प्रति अनन्यानुरक्ति बढ़ती है। गुरुमुख जीव का लक्षण बताया गया है

खवनि न सुरति नैन सुन्दर नही ॥ आरत बुआरि रट पिगुरीआ ॥
दोनानाथ अनाथ करुनामै साजन मोत पिता महतरा ॥ आ०
प्र० पृ० २०३ ॥

जबकि मनमुख जीव सच्चे गुरु की शरण के अभाव में अन्यान्य 'भरमों' में भटकने वाले माने गये हैं। उन्हें अन्धा, विष को खाने वाला एवं यमराज की यातना का पाय समझा गया है।^१ ऐसे जीव ही माया-बद्ध जीव होते हैं जो जन्म-मरण के चक्कर में भटकने और दुख उठाते हैं।^२ गुरुमुख जीवों को सर्वत्र बाह्यगुरु दिखाई देता है और वे उसके दर्शनो में ही अपने जीवन की सिद्धि समझते हैं।^३ लेकिन मन-

^१ आ० प्र० २३१, बिनु गुरु माचे भरमि भुलाए ॥ मनमुख अधे सदा बिखु खाए ॥ जम डडु सहहि सदा दुखु पाए ॥

^२ आ० प्र० २०७, अनिक जनम बहु जोनी भ्रमिआ बहुरि बहुरि दुखु पाइआ ॥ तुमरी त्रिगा ते मानुख देह पाई है देहु दरमन हरि राइआ ॥

^३ वही० पृ० २०४, जह जह देखउ तह तह साचा ॥ बिनु ब्रह्म अगगत जनु काचा ॥

मुख वह पति-परित्यक्ता स्त्री है, जिसे रातों कष्टदायक लगती हैं और वह नींद के सुख से सदा वंचित रहती है। उसे प्रिय का वियोग मताता है, जिससे उसकी देह दुर्बल हो जाती है। उसका श्रृंगार व्यर्थ है और सभी सुखदायक साधन उसके लिए दुःख के कारण बन जाते हैं। परन्तु उसकी यह स्थिति इस कारण है कि वह अपने यौवन के गर्व में चूर, पति के आगे समर्पण नहीं कर पाती। इसके लिए 'दुधा धणी न आवए' का प्रयोग कर गुरबानी में मनमुखता के कारण प्राप्त होने वाले कष्टों को अत्यन्त सुन्दर काव्य बिम्ब द्वारा स्पष्ट किया गया है—

मुंघ रेणि दुहेलड़ीआ जीउ नीव न आवे ॥ सा धन दुबलीआ जीउ
पिर के हावें ॥ धन धीई दुबली कंत हावें केव नंणी देखए ॥ सीगार
मिठ रस भोग भोजन सधु झूठ किते न लेखए ॥ मे मत जीबनि
गरबि गाली दुधा धणी न आवए ॥ नानक साधन मिले मिलाई
बिनु पिर नीव न आवए ॥ आ० ग्रं० पृ० २४२ ॥

मनमुख गुरु के 'शब्द' को मन का विषय नहीं बनाता। वह मोह-ग्रस्त रहता है और माया के भ्रम इसे भटकाते रहते हैं। वह अपने आपको कर्ता मानता है और सद्गुरु की शरण के अभाव में उसका सन्मार्ग की ओर बढ़ना सम्भव नहीं हो पाता।^१ तीन गुणों के संसार में आसक्ति के कारण जीव का आना-जाना समाप्त नहीं होता। परन्तु गुरुओं का इस सम्बन्ध में यह मत है कि जीव का सन्मार्ग की ओर झुकाव भी बाह्यगुरु के अनुग्रह से ही होता है। अनुग्रह के अभाव में जीव को आवागमन में भटकना पड़ता है।^२

त्रिगुणात्मिका माया के पाश में भटकते हुए मनमुख जीव के बारे में यह माना गया है कि इस जगत के बहुमूल्यक जीव तो तीन गुणों के प्रसार में ही भटकते रहते हैं। इनमें वे विरले ही तुरीयावस्था को प्राप्त करते हैं। तीन गुणों की माया के कारण ही वे कभी उच्च और कभी निम्न स्थिति को प्राप्त करते हैं। मनमुख जीवों को हर्ष और शोक के द्वन्दों में फँस कर जीवन बिताना पड़ता है। वे मृष्टि की रचना करने वाले बाह्यगुरु को जानने का यत्न नहीं करते बल्कि दूसरे अनेक उपायों में उलझे रहते हैं। जागतिक आसक्तियों में रस लेने वाले वे तीनों प्रकार के कष्ट-तापो को सहते हैं। वे बाह्यगुरु (पूर्ण ब्रह्म) के प्रताप को नहीं समझ पाते। वे माया के मोह-सागर में गोते खाते हुए नरक के भागी बनते हैं।^३ आदिग्रन्थ के अनुसार जीव यद्यपि

^१ आ० ग्रं० २४७, मनमुख मुग्ध गवार पिरा जीउ, सबदु मनि न वमाए ॥ माइआ का भ्रमु अधु पिरा जीउ, हरि मारगु किउ पाए ॥ किउ मारगु पाए बिनु सतिगुर भाए मनमुखि आपु गणाए ॥

^२ आ० ग्रं० पृ० २८४, तिहु गुण महि जा कउ भरमाए ॥ जनमि मरै फिरि आवै जाए ॥ × × × जैसा जनावै तैसा नानक जान ॥

^३ आ० ग्रं० पृ० २९७, तीनि बिआपहि जगत कउ तुरीआ पावै कोइ ॥ तथा आगे.....॥

परतन्त्र है, परन्तु उसका यह पारतन्त्र्य बाह्यगुरु के स्वातन्त्र्य की दृष्टि से ही माना गया है।^१ अन्यथा कृत-कर्मों के फल का भोगी होने के कारण वह अकर्मों या सुकर्मों के करने में स्वतन्त्र है। परमात्मा को सर्वव्यापक अन्तर्यामी और सर्वज्ञ एवं सर्व-शक्तिमान मान कर किये गये कर्म सुकर्म माने गये हैं। और उन कर्मों को असत्कर्म बतलाया गया है जो माया के साथ झूठे प्यार से प्रेरित होकर किये जाते हैं। ऐसे कर्मों में दूसरों की निन्दा करना भी असत्कर्म ही है। निन्दक के बारे में कबीर ने भी बहुत कुछ कहा है। निन्दक भी मनमुख ही होता है। वह मनोगामी होने के कारण समदर्शी नहीं हो सकता। अतः अहंकारी होने के कारण दूसरों की निन्दा करते रहने में ही आत्म-नुष्टि का अनुभव करता है।

मिथिआ दूजा भाउ धड़े बहि पावैं ॥ पराइआ छिद्र अट-
कल आपणा अहंकार बधावैं जैसा बीजै तैसा पावैं

॥ आ० ग्रं० पृ० ३६६ ॥

‘जैसा बीजा वैसा ही काटना’ के अनुसार मनमुख को अपने बुरे कर्मों का फल भोगना पड़ता है। नाम-मिमर्श से दूरी गुरुओं के मत में द्वैत-भाव का कारण भी है और भ्रमों में भटकने के कारण भी जीव नाम के सिमरन से वंचित हो जाता है। उनके विचार में जिस तरह मूल का परित्याग कर केवल डालियों को सींचते रहने से छाया की आशा करना भ्रमता है, इसी तरह बाह्यगुरु के सिमरन को भूल कर अन्य देवी-देवताओं की पूजा से निराश हो होना पड़ता है।^१ गुरु के अनुग्रह से हीन मनमुख जीव रूपी स्त्रियाँ पति-परित्यक्ताएँ हैं। वे ‘दोहागण’ (विधवाएँ-छुट्टड) कही गयी हैं। उनके श्रृंगार को व्यर्थ बतलाया गया है। क्योंकि उन्हें प्रिय (बाह्यगुरु) से प्रेम नहीं है, अतः वे उसके रहस्य से वंचित रहती हैं। उनकी सेज का रमण प्रभु नहीं करता। यही कारण है कि वे रात-दिन विरह और वियोग की पीड़ा में जलती ही रहती हैं। उनका यह जलना अभिज्ञाप है।^२ जबकि कत की प्यारी का वियोग भी उसके लिए वरदान के समान माना गया है। गुरुओं ने प्रभु के प्रेम में लीन परन्तु उसे प्राप्त न करने की पीड़ा को प्रभु-आसक्ता का श्रृंगार माना है। वह प्रभु से नित्य विनय करती हुई कहती रहती है ‘मुझ (प्रेमासक्ता जीव-स्त्री) में कोई गुण नहीं है। मैं अवगुणों से भरपूर हूँ। हे कत ! मेरे गुणों एवं अवगुणों की ओर ध्यान न दो।’^३ ऐसी अनन्यानुरक्त जीव-नारी को पति-परमेश्वर प्रभु गहरे प्यार से अपना लेता है।

^१ आ० ग्रं० पृ० ४२०, जिनी नामु बिसारिआ दूजें भरमि भुलाई ॥ मूल छाडि डाली लगे किआ पावइ छाया ॥

^२ आ० ग्रं० पृ० ४३०, दोहागणी पिर की सार न जाणही किआ करि करहि सीगार ॥ अनदिन सदा जलदीआ फिरहि सेजै रवै न भतार ॥

^३ वही० पृ० ३७२, गुनु अवगनु मेरा कछु न बीचारो ॥ न देखिआ रूप रंग सीगारो ॥

उसका जीवन सार्थक हो जाता है। वह अपनी सहेलियों (सत्संगियों) से कह उठती है कि प्रिय ने उमे अपना लिया है। उसने उसके गुणों और अवगुणों की कोई परवाह नहीं की।

**चञ्च अचर किछ बिधि नही जानी ॥ बाह पकरि प्रिय सेजे
आनी ॥ (आ० प्र० पृ० ३७२)**

वह सखियों-सहेलियों से प्रिय के मिलन-सुख का वर्णन करती हुई कहती है कि हे सखि, सुन ! मेरे कत ने मुझे स्वयं को पति कहने का अधिकार दे दिया है। मेरे आगम में चाँद की शोभा बिखर रही है। मैं दिन-रात प्रिय का सग-सुख भोगती हूँ। मेरे वस्त्र 'चलूल' के रंग में रंगे गये हैं। मेरे आभरण मेरी शोभा बढ़ा रहे हैं। प्रिय को अपनी आँखों से मैंने देख लिया है। अब यमराज के दूत मेरी ओर आँख उठा कर भी नहीं देखते। मेरे घर नित्य उत्सव छाया रहता है। मैं हर प्रकार के सुखों का भोग कर रही हूँ। नाम की नव निधियाँ मुझे प्राप्त हो गयी हैं। परन्तु यह सब कुछ नभी हुआ है जब स्वयं प्रिय ने मेरा शृंगार किया है। मेरा सोहाग स्थिर हो गया है क्योंकि मेरे भर्ता ने मुझे अपने अंग-संग कर लिया है।^१ गुरुनानक की यह रहस्यानुभूति अत्यन्त सुन्दर काव्योक्ति भी है और मनमुख की तुलना में गुरुमुख होने के लाभ का उद्घाटन भी करती है।

मनमुख जीव-नागी का यह भाग्य ही नहीं कि वह प्रभु-कत को अपना प्रिय कह सके। उसे अपना बनाने के लिए जो गुण चाहिए, वे गुण उसमें हैं ही नहीं। यही कारण है कि उसका जीवन व्यर्थ में ही बीत जाता है। उसे आदिग्रन्थ में मुग्धा (अज्ञानी) एवं अवगुणिआरी (अउगुणवती) कहा गया है। वह आजीवन पश्चान्ताप की आग में जलती रहती है

**बूजई कामनि भरमि भुली हरि वरुन पाये राम ॥ कामनि
गुणु गाही बिरथा जनमु गवाए राम ॥ बिरथा जनमु गवाए,
मनमुखि इआणी अउगुणवंती भूरे ॥ (आ० प्र० पृ० ४३६)**

मनमुक्ता का अर्थ है 'मायाकर्षणों में लिप्तता का आचरण करने वाला।' मनमुखी जीव का आदिग्रन्थ में उस हिरन जैसा बतलाया गया है, जो शिकारी द्वारा पँनाई गयी रोजनी को चन्द्रमा का प्रकाश समझ कर उसके जाल में फँस जाता है। मनमुख यह नहीं जानता कि माया के सभी आकर्षण मृग मरीचिका हैं। वह इतना मूढ़ है कि विषयासक्तियों में लिप्तता के कारण प्रतीत सुख को दुखों में बदलते देख कर भी होश में नहीं आता। वह हमेशा कल्पना (आकाश) की नगरी को सत्य समझता है। माया के छलावे में लिप्त हो जाता है। माया की सेज घोखे की होती

^१ आ० प्र० पृ० ३७२—मुनि को सखी कति हमारो कीअसो खसमाना ॥ कह मसतकि धारि सखिओ कणि अपुना किया जानै इहु लोक अजाना ॥

है, लेकिन उसे इसका पता ही नहीं चलता । इसी कारण गुरुओं ने ऐसे जीवों को जिह्वा के आस्वादो, माया के लोभ एवं अहंकार में मत्त तथा सदा 'हउमैभाव' में लीन रहने वाला कहा है

लबि लोभि अहंकारि माता, गरबि भइआ समाइणु ॥ तानक
भिग अगिआनी बितसे न मिटं आवणु जावणु ॥
(आ० प्र० पृ० ४६०)

गुरुमुख अपने आपको सन्त लोगो के चरणों की धूलि मानते हैं । मनमुखो का भाव एवं आचरण इससे बिल्कुल विपरीत होता है । उन्हें ईश्वर भक्तो की चर्चा अच्छी नहीं लगती । वे दुविधा की कुमति के घेरे में भटकते रहते हैं । उनका अन्त-करण मोह के अन्धकार से आवृत रहता है । अतः वे अपने साथ अपने परिवार को भी पतन के गर्त में धकेल देते हैं

मनमुख दुविधा दुरमति बिआपे जिन अंतरि मोह गुबारी ॥
संत जना की कथा न भावं ओइ हूबे सणु परबारी ॥
आ० प्र० पृ० ५०७ ॥

मनमुख का अन्नम् कपट के कपाटो से बन्द रहता है । वे अज्ञानी हैं और उनकी जिह्वा झूठी बातें कहती है । उनके भ्रम कभी समाप्त नहीं होते और वे विषयो की गन्दगी में भटकते और दुःखी होते रहते हैं । ऐसे ही जीवो को धिक्कारते हुए गुरुओं ने कहा है कि वे प्रभु के प्यार और उसके नाम-सिंमरन का परित्याग कर, दूसरे अर्थात् अधार्मिक कर्मों में लीन रहते हैं । उनकी हालत उन मूढ़ व्यक्तियों जैसी है जो अमृत (प्रभु-नाम) का परित्याग कर विष (मायिक आसक्तियाँ-कर्म) खा रहे हैं । मायिक कर्म ही उनकी पूँजी है और यही उनकी कमाई भी । इस जगत में कष्ट सहकर ऐसे जीव अन्त में नरक में जाते हैं । उनके मन मलिन है, इसलिए उनके आचरण भी अपवित्र ही होते हैं । अतः वे गुरु के शब्द को पहचानते ही नहीं । काम क्रोधादि विषयो में लीन रहने के कारण वे अध्यात्म के मार्ग से वंचित रह जाते हैं । यम के द्वार पर जब वे दण्डित किये जाते हैं, तब कोई भी उनकी पुकार नहीं सुनता ।^१ वे इतना भी नहीं पहचानते कि जिनसे वे मोह लगाये बैठे हैं, उनसे से एक भी अन्त समय उनका साथ नहीं देगा

मनमुखु मुगधु नह कोरा होइ ॥ जे सउ लोचं रंगु न
होवं कोइ ॥ (आ० प्र० पृ० ७३२)

ऐसे जीवो का आना-जाना कभी नहीं छूटता । वे माया की ममता से प्रेरित जो संस्कार लेकर जन्म लेते हैं, पुनः माया में लिप्त रहकर उन्हीं सस्कागो के साथ

^१ आ० प्र० पृ० ५८६ होर बिडाणी चाकरी धिगु जीवणु धिगु वासु ॥ अभित छोडि बिषु लगे बिषु खटणा बिख रासि.....

वापिस लौट जाते हैं। इस प्रकार माया-जनित संस्कारों के रहते हुए उनका आवा-गमन का बन्धन टूट ही नहीं सकता। चौरासी लाख योनियों का पूरा चक्कर उन्हें भोगना पड़ता है।^१ मनमुख जीव उस मुग्धा (अज्ञानी-अयाणी) की भाँति बतलाये गये हैं, जो अपने पति का आँचल छोड़कर किसी दूसरे से प्यार करने लगती है और आजीवन भटकती रहती है। यही हालत मनमुख जीव-नारी की भी है। वह विद्युक्ता की भाँति कभी भी मन की शान्ति अनुभव नहीं कर सकती :

दूजी दुरमति अंधी बोली ॥ काम क्रोध की कधी बोली ॥

घरि बह सहस्रु न जाणँ छोहरि बिनु पिर नोब न पायो हे ॥

अंतरि अगनि जलं भड़कारं ॥ मनमुखु तके बुँडा चारे ॥

(आ० ग्रं० पृ० १०२२)

वह श्रु गार करती तो है परन्तु सदाचरण वाली न कहला कर दुर्ग चारिणी ही समझी जाती है।^२ इस प्रकार आदिग्रन्थ में मनमुख के स्वभाव, उसके आवरण और उसे प्राप्त होने वाले दुष्परिणामों का उल्लेख कर जीव को गुरुमुख होने का उपदेश दिया गया है।

जीव की परवशता

आदिग्रन्थ के अनुसार जीव बाह्यगुरु के इच्छा-स्वातन्त्र्य के अधीन सीमित चैतन्य है। गुरुओं की भक्ति ज्ञानात्मिका होने पर भी, उसमें 'अहं ब्रह्मास्मि' वाली बात नहीं है। वास्तव में ज्ञानी भी जब भक्त के रूप में प्रभु से अनुकम्पा की याचना करता है, तब वह अपने आपको उपास्य की तुलना में बहुत छोटा और उसके अनुग्रह पर आश्रित ही मान लेता है। सिक्ख गुरु तो ज्ञान को केवल कर्म-काण्ड की तुलना में ही महत्त्व देते हैं, अन्यथा उनकी 'बानी' का स्वर भक्त का स्वर है और जीव सम्बन्धी मान्यताओं के प्रस्तुतीकरण में उन्होंने इसी स्वर को मुखरित किया है। गुरु नानक बाह्यगुरु के सम्मुख जीव को परवश बतलाते हुए लिखते हैं कि जीव का कोई भी कर्म उसकी स्वतन्त्र इच्छा से सम्पन्न नहीं हो सकता, यहाँ तक कि उसका बोलना अथवा चुप रहना भी परमात्मा पर ही निर्भर है। जीव न किसी को कुछ दे सकता है और न ही अपनी इच्छा से किसी से कुछ छीन ही सकता है। जो कुछ होना है, वह प्रभु की इच्छा से ही। जीव तो निमित्त मात्र है। यह उसका निध्याभिमान या 'अहं' है कि वह अपने आपको कर्ता मानता है। उनके अनुसार जीव के वश में तो यह भी नहीं कि वह अपनी इच्छा से शरीर धारण कर ले या जब चाहे

^१ आ० ग्रं० ६३६ जो आवहि ते जाहि फुनि, आइ गए पछुताहि ॥ लख चौरासीह भेदनी घटं न बधे उताहि ॥ बधा मुआ बिगूती माइआ ॥ जो दीसँ सो चालसी, किम कउ भीतु करेउ ॥

^२ आ० ग्रं० १२७७ बिनु पिर कामणि करै सीगार ॥ दुहचारिणी कहीअं नित होइ लुआर ॥

उसका समापन कर दे। जन्म और मरण के बन्धन से मुक्त होना भी उसके प्रयत्न से सम्भव नहीं होता। जिस समय बाहगुरु के अनुग्रह का पात होता है, उसी समय उसके आवागमन के बन्धन छिन्न होते हैं। अतः अध्यात्म की साधना द्वारा आत्म-साक्षात्कार करना भी परमात्मा का ही अनुग्रह है। जीव की परवशता का इस प्रकार उल्लेख कर गुरुनानक अन्त में इस मान्यता का प्रतिपादन करते हैं कि सब कुछ ब्रह्माण्ड की रचना करने वाले बाहगुरु के ही अधीन है और जीव का सदाचारी अथवा दुराचारी बनना भी मात्र बाहगुरु ही की इच्छा पर निर्भर है।^१

आदिग्रन्थ में बाहगुरु की 'रजा' पर इतना अधिक बल दिया गया है कि हम उसे गुरुओं द्वारा प्रतिपादित 'रजा-सिद्धान्त' कह सकते हैं। बाहगुरु के लिए गुरु नानक द्वारा प्रयुक्त 'सच्चे पातशाह' में इसी मान्यता की स्वीकृति है। वे उसे राजाओं का राजा बतला कर जीव को उसकी रजा के अधीन रहने का उपदेश देते हैं। यद्यपि राजाओं को निरंकुश माना गया है परन्तु बाहगुरु के सम्बन्ध में यह निरंकुशता उसके इच्छा-स्वातन्त्र्य के रूप में ही ग्रहण की गयी है। भक्ति की साधना की दृष्टि से 'परम सत्ता की इच्छा के पूर्ण स्वातन्त्र्य की धारणा' अनुकम्पा-सिद्धान्त का मूल आधार है। अतः गुरुनानक ने बार-बार इस मान्यता को दुहराया है कि बाहगुरु को जो अच्छा लगता है, वह वही करता है, अतः जीव को अपने आपको उसकी इच्छा के अधीन मानकर आचरण करना चाहिए।^२ जीव का कल्याण प्रभु के नाम-सिमरन में है और वह यह तभी कर सकता है, जब परमात्मा ने अनुकम्पा से द्रवित होकर उसके भाग्य में ऐसा लिख दिया हो।^३ जीव को सन्मार्ग और कुमार्ग पर चलाने वाला भी बाहगुरु ही है।^४ वे ही जीव मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं जो बाहगुरु की रजा में रहते हैं। उनका भव-जाल में भटकना भी उसी की इच्छा का परिणाम है।^५ आदिग्रन्थ में जीव और बाहगुरु के सम्बन्धों के प्रसंग में प्रायः इसी धारणा का प्रतिपादन हुआ है। अतः गुरुओं के अनुसार जीव बाहगुरु के अधीन एवं परवश है

सोई करणा जि आपि कराए ॥

(आ० ग्र० पृ० १०८)

^१ आ० ग्र० पृ० ७, आखणि जोरु, चुपै न जोरु ॥ जोरु न मगणि, देणि न जोरु ॥ जोरु न जीवणि, मरणि न जोरु ॥ जोरु न राजि मालि मनि सोरु ॥ जोरु न सुरती गिआनि बीचारि ॥ जोरु न जुगती छूटै संसारु ॥ जिसि हथि जोरु, करि वेखै सोइ ॥ नानक उतमु नीचु न कोइ ॥

^२ वही० पृ० ६, जो तिसु भावै सोई करसी फिरि हुकमु न करणा जाई ॥ सो पातिसाहु साहापति साहिबु नानक रहणु रजाई ॥ ३—वही० पृ० २५, नानक आणै आवै रासि ॥ ४—वही० पृ० ८०, घुरि मसतकि हरि प्रभ लिखिआ जन नानक नाम धिआइ ॥ ५—वही० पृ० ६७, तू आपे गुरमुखि मुकति कराइहि ॥ तू आपे मनमुखि जनमि भवाइहि ॥

गुरुमत के अनुसार जीव परमात्म-साक्षात्कार में भी स्वतन्त्र नहीं है। इस धारणा का प्रतिपादन करते हुए गुरु नानक ने कहा है कि बाह्यगुरु का दर्शन उसे प्राप्त होता है, जिसे वह स्वयं अपना दर्शन करवाना चाहता है।^१ जीव-नारी को पति-परमेश्वर की प्राप्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा प्रभु की इच्छा से ही प्राप्त होती है।^२ अन्तर्यामी बाह्यगुरु के अनुसार ही सभी कुछ होता है, जीव बेचारा तो उसकी इच्छा का मात्र दास है। बाह्यगुरु ने जगत को अपना खेल बनाया हुआ है, वह उसमें लिप्त नहीं होता और जीवों का उद्भव, उनका पालन और संहार, सभी कुछ उसी की इच्छा के क्रीडा-विलास हैं। जीव की परवशता पर गुरुओं ने इतना अधिक बल दिया है कि वे उसे हर प्रकार से परमात्म-निर्भर मान कर, प्रभु-सिंमरन के अनुग्रह की याचना के लिए प्रेरित करते रहते हैं—

महलि राखें तैंस रहिना किया इहु करे बीचारा ॥

(आ० ग्र० पृ० २०६)

तथा

आपे करि बेखें मारगि लाए भाई तिसु बिनु अवह न कोई ॥

जो धुरि लिखिआ सु कोइ न मेटे भाई करता करे सु होई ॥

(आ० ग्र० पृ० ६०१)

गुरु नानक के मत में बाह्यगुरु जीवों का सूत्रधार है और वही जगत को चौर बना कर जीवों को अपने-अपने खेलों में लगाए रहता है। कुछ जीव उमने विविध प्रकार के 'भरमों' में भटका रहे हैं और कइयों को अपनी भक्ति की ओर लगाया हुआ है। जीव दोनों दृष्टियों से उसकी इच्छा के अधीन है और वह जिसे जिस ओर नियोजित करता है वह वैसे ही आचरण करने लग जाता है।^४ इस आशय का स्पष्टीकरण आदिग्रन्थ में बाह्यगुरु के 'हुकम-सिद्धान्त' और जीव की परवशता के सिद्धान्त द्वारा किया गया है, जिसे हम भारतीय एवं इस्लामी दृष्टिकोण का समन्वय

^१ आ० ग्र० पृ० १२५, जिसु आपि बेखाले सु बेखें कोई ॥

^२ वही० पृ० १२६, आपे करता दे बडिआई ॥

^३ वही पृ० १७६-६८, सभु कीता तेरा वरतदा तू अन्तरजामी ॥

हम जत विचारे किया करह सभु खेलु तुम मुआमी ॥

जन नानक हाटि बिहाक्षिआ हरि गुलम गुलामी ॥

वही पृ० १६७, जनमु जरा मिरतु जिसु वासि ॥ सो सभरथ सिमरि सासि गिरासि ॥

^४ आ० ग्र० पृ० ६३५ इकि भरमि भुलाए इकि भगति राते तेरा खेलु अपारा ॥ जितु तुषु लाए तेहा फलु पाइआ तू हुकमि चवावणहारा ॥

वही० आ० ग्र० पृ० ६८२-२००० हरि हरि रूप रंग सभि तेरे मेरे लालन लाल गुनारे ॥ जैसा रगु देहि सो होई किया नानक जत विचारे ॥

भी मान सकते हैं। गुरुमुख और मनमुख जीवों के भेद का आधार भी यही है क्योंकि मनमुख जीवों का लक्षण देते समय उन्हें ईश्वर के हुक्म और इच्छा को भुला कर, मन के अनुसार चलने वाला बतलाया गया है। वे जीव ही गुरुमुख कहलाते हैं जो प्रभु के अनुग्रह और इच्छा को ही अपने जीवन का सर्वस्व मानते हैं—

सासु मासु सभु जीअ तुमारा तू मैं खरा पिआरा ॥

(आ० ग्र० पृ० ६६०-६१)

एवं

मति सुमति तेरें बसि सुआमी हम जंत तू पुरखु जंतनी ॥

जन नानक के प्रभ करते सुआमी जिअ भावें तिवें बुलैनी ॥

(आ० ग्र० पृ० ८००)

गुरुमन के अनुसार जीव का यह भाव, कि वह पूर्णतया परमात्माधीन है, उसे परमात्मा के निकट लाता है और उसकी यही दृष्टि सर्वत्र परमात्मा के रंग और रूप को ही देखती है। वह हर स्थिति में प्रसन्न रहता है, क्योंकि उसके अनुसार सम्पूर्ण जागतिक व्यापार प्रभु की इच्छा का विलास है। अपने आपको पूर्ण अस्वतन्त्र एवं प्रभु की इच्छा के अधीन मानना एवं तदनुकूल आचरण करना ही जीव की परवशता का अर्थ है।

गुरुओं के विचार में जीव अनादि अस्तित्व नहीं है। वह बाह्यगुरु का धारण किया हुआ रूप है, क्योंकि पंचभूतों का पुतला बनाकर चैतन्य (प्राण) के रूप में स्वयं परमात्मा ने ही अपनी ज्योति (नूर) को उसमें रखा हुआ है—

पंच धातु करि पुतला कीआ ॥

साहै कं कुरमाइअइं जी देही बिचि जीअ आइ पइआ ॥

(आ० ग्र० पृ० १००७)

और

न कोई करे न करणं जोगा ॥

आपे करहि रु रावहि सु होगा ॥

(आ० ग्र० पृ० १०४८-४९)

जीव कर्म करता है और उसका मन कर्म-संस्कार में लिप्त हो जाता है। ये संस्कार ही उसकी वासना बनते हैं और जब तक उसका आवागमन दूर नहीं होता, वासनाएँ उसका पीछा नहीं छोड़ती। वह अपनी वासनाओं के अनुसार ही भिन्न-भिन्न जन्म धारण करता है। इस दृष्टि से भी उसका कर्तृत्व स्वतन्त्र नहीं है। इसी मान्यता के आधार पर गुरुओं ने यह कहा है कि बाह्यगुरु जिस जीव के मस्तक में जो लिख देता है, उसे वही प्राप्त होता है।^१ आदिग्रन्थ के अनुसार जीवों को बाह्यगुरु ने

^१ आ० ग्र० पृ० १०८५-८६, मिरतु दूख सुख लिखि पाए ॥ तिल नहीं बघहि घटहि न घटाए ॥ सोई होइ जि करते भावै, कहि कै आपु वजाणा ॥

उत्पन्न किया है और प्रत्येक जीव को एक दूसरे से भिन्नरूपता भी उसी की दी हुई है—

आपि उपाए नानका आपे राखे बेक ॥

बंदा किसनो आखीरें जा सभनां साहिबु एक ॥

(आ० ग्र० पृ० १२३७)

गुरबानी में जीव की जीवन-यात्रा का विभिन्न रूपों में प्रतिपादन हुआ है । तदनुसार वह स्वतन्त्र होकर अपने जीवन का यापन नहीं कर सकता । जिस प्रकार कठुतली का सूत्रधार उसे जिस प्रकार नचाता है, वह उसी तरह नाचती है; जीव की जीवन-चर्या भी उसी प्रकार बाह्यगुरु रूपी सूत्रधार के अधीन है । चींटी से लेकर हाथी तक सभी जीवों का पालक बतलाकर गुरुओं ने बाह्यगुरु की पूर्ण शक्ति के स्वातन्त्र्य का ही प्रतिपादन किया है । परवशता निराशावादी दृष्टि नहीं बल्कि सतो ने इसे जीव का आत्म-बल माना है । इससे उमका अहं जाता रहता है, उसे समत्व-बुद्धि प्राप्त होती है और वह सत्कर्म के मार्ग पर बिना उद्धेलित हुए उत्तरोत्तर आगे की ओर बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करता है ।^१ इसके विपरीत मनमुख जीव मन की प्रेरणा में चलते हैं, अपने कर्मों में लिप्त एवं आसक्त होते हैं और अन्त में विफल होने पर निराश एवं दुःखी होते हैं । उन्हें इस तथ्य के प्रति सावधान करते हुए कहा गया है—

सभु की लेखे बिचि है, मनमुख अहंकारी ॥

(आ० ग्र० पृ० १२४७)

● जीव और आवागमन

आदिग्रन्थ के अनुसार बद्ध जीव (मनमुख) आवागमन में भटकते रहते हैं और गुरुमुख (भक्त) बाह्यगुरु की ज्योति में मिलकर उसकी 'हजुरी' प्राप्त कर लेते हैं । जब तक जीव का भ्रम दूर नहीं होता तब तक उसके मायिक कर्मों के सत्कार वासना बनकर उसका पीछा नहीं छोड़ते । यहाँ यह विचारणीय है कि गुरुओं के मत में मात्र ज्ञान से ही जीव की वासनाओं का अन्त नहीं होता । कर्मकाण्ड को तो उन्होंने 'हउमै-जनित-कर्म' अथवा 'हउमै' के भाव को जन्म देने एवं उसकी वृद्धि करने वाला ही माना है । अतः कर्मनिष्ठान से मलावरणों से मुक्ति की धारणा को उन्होंने आरम्भ में ही अस्वीकार कर दिया है । उनके विचार में ज्ञानात्मिका भक्ति ही जीव का सत्कर्म है और कर्म का विरोध न करते हुए भी उनका कर्म-सिद्धान्त न तो पूर्वमीमांसात्मक कर्मों की कोटि का है और न ही वैष्णव भक्ति में स्वीकृत वैधी रूपा भक्ति जैसा ही । मनमुख को उपदेश देते हुए कहा गया है कि उनकी प्रीति हरि से नहीं

^१ आ० ग्र० पृ० १२३६, जिना चीरी चलणा तन्हा हथि किछु नाहि ॥ साहिब का फरमाणु होइ उठि कर लै पाहि ॥

वही० पृ० १२४२, जा न सिआ किया चाकरी जां जंमे किया कार ॥

होती।^१ अतः स्पष्ट है कि बाह्यगुरु में अनन्य आसक्ति, सद्गुरु की सेवा और 'नाम-सिंमरण' ही उनकी शक्ति है और इसके सन्दर्भ में किये जाने वाले कर्मों को ही उन्होंने सत्कर्म माना है। जिन जीवों के कर्म उनके कर्म-सिद्धान्त से भिन्न हैं, उन्हीं को वे आवागमन में भटकने वाला जीव मानते हैं।^२

गुरुओं ने द्वैत-भाव की नई व्याख्या की है। बाह्यगुरु के नाम का विस्मरण ही उनके अनुसार द्वैत-भाव है। वे देवी-देवताओं को आराध्य मानने एवं उनके हेतु किये गये सम्पूर्ण कर्मानुष्ठान को भी द्वैत ही कहते हैं। उनका मत है कि द्वैत की आसक्तियों में भटकता हुआ जीव बाह्यगुरु के नाम को भूल जाता है। उसके मन की वृत्तियाँ ससारी हो जाती हैं और वह परमात्मा के अनुग्रह से वंचित हो जाता है। द्वैत में विचरण करने वाले जीव के कर्म अशुभ कर्म हैं। अशुभ कर्मों के भाग्य की 'गठरिया' उठाये वह इस ससार से चला जाता है। यही उसका वासना-संस्कार है, जिसके कारण वह भिन्न-भिन्न योनियों में जन्मता और मरता हुआ अन्त में अपने आपको सदा के लिए भव सागर में डुबो देता है।^३ मनोघर्मी जीव ही गुरुओं के अनुसार मनमुख जीव है। वे मन के संकल्प एवं विकल्प से प्रेरित होकर विविध कर्म करते हैं और अन्त में यम की रस्सी में बँध जाते हैं। जिस समय तक जीव की 'लिब' गुरु के 'सबद' से अनन्य भाव से नहीं जुड़ पाती, उसकी आवागमन की 'जेवडी' नहीं कटती। परन्तु जिन्होंने 'सबद' के साथ मुरति जोड़ दी है, उनका जीवन सहजमय हो जाता है और वे आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।^४ आदिग्रन्थ में बार-बार इसी मुक्ति एवं आवागमन के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है, जिससे उनके कर्म-सिद्धान्त में विश्वास एवं असत्कर्मों के कारण जीव के आवागमन की मान्यता का पता चलता है।

आदिग्रन्थ के अनुसार जीव दिगन्त व्यापी परमसत्ता के नूर ही का अंश है। बद्ध जीव की आरम्भावस्था के बारे में स्पष्ट रूप में किसी निश्चित मान्यता का प्रतिपादन न करते हुए भी बार-बार यही कहा गया है कि जीवों का बार-बार आवागमन में भटकना और मोक्ष का लाभ करना, बाह्यगुरु की इच्छा का स्वातंत्र्य

^१ आ० ग्र० पृ० १६६, जिन कउ प्रीति नाही हरि सेती ॥

^२ वही० १७६, मनमुख भूए जिन दूजी पिआसा ॥ बहु जोनी भवहि धुरि किरत लिखिआसा ॥ वही० १७६, जैसा बीजहि तैसा खासा ॥ वही० पृ० १८-१९, अन्धुलै नामु बिसारिआ मनमुखि अंधु गुबारु ॥ आवणु जाणू न चूकई मरि जनमै होइ खुआरु ॥

^३ आ० ग्र० पृ० १९-२०, दुबिधा लागे पचि भूए अतरि तृसना अगि.....॥ बिनु सबदै भरमाईए दुबिधा डोबे पुरु.....॥

^४ वही० पृ० १५२, सहजे आवै सहजे जाइ ॥ मन ते उपजै मन माहि समाइ ॥ गुरुमुखि मुक्तो बहु न पाइ ॥ सबदु बीचारि छुटै हरि नाइ ॥

है। अतः इससे यही ध्वनित होता है कि गुरुमत के अन्तर्गत जीव में अनादि वासना की धारणा को मान्यता प्राप्त है। अनादि वासना वाली मान्यता की व्याख्या केवल यही की जा सकती है कि अपनी इच्छा से बाह्यगुरु ही जब जीव का रूप प्राप्त करता है और स्वयं को पञ्चभूतात्मक शरीर में ले आता है, तब वह अपने विशुद्ध स्वरूप का विस्मरण कर देता है। मन और बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की स्थिति में जीव आत्मसाक्षात्कार वाले स्वरूप को भूल कर इन्द्रियों में ही आत्म बुद्धि बना लेता है। यही उसका द्वैत-भाव है और यही बन्धन। इस स्थिति से ऊपर उठकर जब तक वह पुनः आत्मसाक्षात्कार की अवस्था प्राप्त नहीं करता, वह बद्ध जीव कहलाता है और उसके मायिक कर्म ही उसके लिए आवागमन के हेतु बनते रहते हैं।

जीव के आवागमन के मिद्वान्त को गुरुओं ने कर्म के सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित किया है। उनके मत में समार जीव का मायका है और पति-परमेश्वर के पास पहुँचना उनके देह-धारण करने का उद्देश्य। वे भक्ति को व्यापक अर्थ में लेते हैं और सन्यास-मार्ग के प्रति विशेष आस्था न रखने के कारण जीवन के प्रत्येक सदाचरण को भक्ति का ही अंग मान लेते हैं। उनके अनुसार मानव-जीवन का आदर्श जल में कमल के समान निरासक्त एवं निलिप्त रहना है। वे स्वयं गृहस्थ रहकर ही इस आदर्श का प्रचार करते रहे हैं। इसी कारण उनकी भक्ति में निःसङ्गता की ही स्वीकार किया गया है, ससार के त्याग को नहीं। इस दृष्टि से उनकी भक्ति का आदर्श तुलसीदास के भक्त्यादर्श से मिलता है, परन्तु साथ ही उसके परानुरक्ति के स्वरूप में माधुर्योपामना की प्रधानता होने के कारण वह मुक्तियों के 'इश्क-ए-हकीकी' से भी मिलती है और कृष्ण-भक्तों की मधुमती भूमिका वाली भक्ति से भी। अन्तर केवल इतना है कि उसमें न मुक्तियों के 'इश्क-ए-मजाजी' के माध्यम को स्वीकार किया गया है और न ही कृष्ण-भक्तों के रास-लीला आदि विश्वासों को ही मान्यता प्राप्त है। इस दृष्टि में वे दूसरे निर्गुण सन्तों से भी कुछ भिन्न हैं।

आदिग्रन्थ में सुहागिन (सौभाग्यवती) और दुहागन (अभागी) जीव-नारी की मन स्थितियों का जितना अधिक उल्लेख हुआ है, उतना हमें दूसरे निर्गुण सन्तों की वानियों में नहीं मिलता। तुलसीदास की भक्ति का प्रधान स्वर दास्य-भाव का है जबकि गुरुबानी में दास्य एवं कान्ता-भाव-दोनों पर समान बल दिया गया है। 'नाम-सिमरन', 'गुरु के सबद', 'बाह्यगुरु की इच्छा' के उपायों को निर्गुण सन्तों और सगुणोपासकों ने भी कम महत्त्व नहीं दिया है, लेकिन गुरुओं ने इन्हीं को भक्ति का सर्वस्व स्वीकार किया है। वे न तो योग की विशेष चर्चा करते हैं और न ही कर्म-काष्ठात्मक भक्ति के उपकरणों का ही प्रतिपादन करते हैं। उनकी दृष्टि में सच्चा भक्त वह है जो अनन्य-भाव से अपनी इन्द्रियों की सम्पूर्ण आसक्तियों को अपने उपास्य में केन्द्रित कर देता है। इस प्रकार उनकी भक्ति सगुणोपासकों की भक्ति से भिन्न होते हुए भी भावना के स्तर पर उस जैसी ही हो जाती है, और अन्तः साधक होने पर भी उनका भक्ति-योग हठयोग की साधना की कृच्छ्रना से ऊपर उठ जाता

है। मतमुख के कर्मों को बन्धक कर्म एवं भक्त के कर्मों को सत्कर्म मान कर ही उन्होंने कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या की है और इसी आधार पर जीव की मुक्ति एवं उसके आवागमन को स्वीकार किया है।

आदिग्रन्थ में जीव के सत्कर्मों एवं असत्कर्मों का स्पष्टीकरण भक्ति और ज्ञान के प्रसंग में किया गया है। अतः 'जैसा बीजहि तैसा खासा-आ० प्र० पृ० १७६—की व्याख्या उन्हीं के कर्म-सिद्धान्त के अनुरूप की जा सकती है। तदनुसार जीव के मस्तक में बाह्यगुरु जो लिख देता है, उसी के अनुसार वह जगत में रहता हुआ आचरण करता है।^१ यद्यपि प्रस्तुत विचार जीव की परव्यवस्था से सम्बन्धित है, लेकिन इसमें इस मान्यता की भी स्वीकृति है कि अपने पूर्व जन्म के कर्म-मंस्कारों के द्वारा ही जीव के इस जन्म में आचरण निर्धारित होते हैं।

^१ आ० प्र० पृ० २२२, सो कमावै धुरि लिखिआ होइ ॥

प्रस्तुत अध्ययन में आदिग्रन्थ में वर्णित जीव सम्बन्धी विश्वासों एवं मान्यताओं का उल्लेख हुआ है। उससे पहले समूची भारतीय चिन्तन एवं दर्शन-परम्परा में जीव के स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली अवधारणाओं एवं विभिन्न दर्शन-प्रणालियों के माध्यम से जीव के स्वरूप आदि विभिन्न पक्षों पर विस्तार से विचार कर यह बतलाया गया है कि भारतीय चिन्तन-धारा मुख्यतः दो दिशाओं में प्रवाहित रही है। एक के अनुसार जीव को जगत का निर्माण करने वाली उपादान सामग्री से भिन्न स्वतन्त्र चेतना के रूप में स्वीकार किया गया है एवं दूसरी चिन्तन-धारा में चेतना (जीव) का स्वतन्त्र अस्तित्व न मान कर उसे मूल पदार्थों के समवाय से उत्पन्न माना गया है। इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि जीव की चेतना न अमर है और न ही वह एक शरीर का परिहारा कर दूसरा शरीर धारण करती है। प्रथम कोटि के विचारक आदर्शवादी चिन्तक कहलाते हैं। जबकि दूसरी कोटि के चिन्तकों को आदर्शवादी विचारकों की संज्ञा दी गयी है। आदिग्रन्थ में वर्णित जीव के स्वरूप के वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में आलोचनात्मक विवेचना करने से पहले हम यह बतला देना चाहते हैं कि सिक्ख गुरु यद्यपि प्रमाण के हेतु न तो वेदों को ही साक्ष्य के रूप में स्वीकार करते हैं और न ही प्रस्थानत्रयी को ही। वे शंभो, शाक्तों और वैष्णवों के धार्मिक एवं आर्ष ग्रन्थों को भी अपने विश्वासों एवं मान्यताओं की पुष्टि के हेतु उद्धृत नहीं करते। वे ज्ञानी भक्त हैं, अतः उन्हें कोरे शून्यवादी या वैधी भक्ति में आस्था रखने वाले केवल भक्त नहीं कहा जा सकता। वैष्णव भक्ति में स्वीकृत अवतारवाद उन्हें स्वीकार्य नहीं है। भगवान् कृष्ण एवं मर्यादापुरुषोत्तम राम को उन्होंने महान् पुरुष ही माना है; परमात्मा या परमात्मा का अवतार नहीं। आदिग्रन्थ में हमें इस प्रकार के अनेक उद्धरण प्राप्त हो जाते हैं, जिनमें नारदी भक्ति (प्रेमाभक्ति) की तो सराहना की गयी है, लेकिन राम और कृष्ण को भगवान् या अवतार मान कर उन्हें परब्रह्म (बाह्यगुरु) मानने का विरोध किया गया है। वे इस रूप से अध्यात्मवादी हैं, क्योंकि आत्मसाक्षात्कार को ही उन्होंने जीव की मुक्ति माना है परन्तु उनकी मुक्ति की अवधारणा 'मैं ही ब्रह्म हूँ' जैसी नहीं है। अतः उन्हें शांकर

अद्वैतवादी नहीं माना जा सकता और न ही विशिष्टाद्वैतवादी एवं शुद्धाद्वैतवादी ही स्वीकार किया जा सकता है।

आदिग्रन्थ की विचारधारा निर्गुण सन्त-परम्परा के अन्तर्गत है, लेकिन यह स्वीकार कर लेना भी उचित प्रतीत नहीं होता कि उसमें निर्गुण सन्तों की विचारधारा को अक्षरशः तद्वत् स्वीकार कर लिया गया है। आदिग्रन्थ में वर्णित ब्रह्म, जीव और जगत एवं माया की अवधारणाएँ पर्याप्त सीमा तक मौलिक एवं स्वतन्त्र हैं। आदिग्रन्थ की विचारधारा आदर्शवादी विचारधारा के अन्तर्गत है क्योंकि उसमें बाह्यगुरु को तुरीयातीत परमचैतन्य माना गया है। जगत को बाह्यगुरु की लीला या रचना माना गया है और सम्पूर्ण मलावरणों से अतीत जीव को ही उसका आत्मसाक्षात्कार स्वीकार कर बाह्यगुरु एवं आत्मतत्त्व में अभेद स्वरूपता या अभेद-सम्बन्ध का प्रतिपादन हुआ है। परलोक की अवधारणा एवं जन्मान्तर-सिद्धान्त भी आदिग्रन्थ की विचारधारा में पूर्णतया मान्य है। सिक्ख गुरु, गुरु एवं नाम-सिमरन की साधना पर अत्यधिक बल देते हैं। उनके अनुसार इच्छा-स्वातन्त्र्य बाह्यगुरु का है—जीव का नहीं। जीव के उन्होंने गुरुमुख और मनमुख दो मुख्य भेद किये हैं और मनमुख जीव को मायाबद्ध या माया के प्रभाव के अन्तर्गत माना है। अनुभव या गुरु के 'शब्द' को वे साध्य मानते हैं एवं भारतीय चिन्तन-परम्परा में स्वीकृत जीव के स्वरूप की प्रचलित सभी अवधारणाओं या किसी एक अवधारणा को यथातथ्य तद्वत् स्वीकार कर लेने के स्थान पर स्वतन्त्र चिन्तन-पद्धति का आश्रय लेते हैं।

जीव के सम्बन्ध में मुख्य-मुख्य आदर्शवादी भाग्यीय दर्शन-प्रणालियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें परमतत्त्व को असीम परमचैतन्य, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। जो दर्शन-प्रणालियाँ अद्वैतवादी हैं, उनमें इसके सम्बन्ध में विशेष कर चर्चा की गयी है कि जीव का स्वरूप क्या है? क्या जीव भी परमात्मा की भाँति ही स्वतन्त्र एवं अनादि सत्ता है या वह परमात्मा की रचना है? यदि वह परमात्मा की रचना है तो किस प्रकार एवं किस रूप में? इन सभी जीव सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर विभिन्न दार्शनिकों के द्वारा स्वतन्त्र धारणाओं एवं मान्यताओं के अनुसार दिये गये हैं। संहिताओं में प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व का आरोपण कर उन देवताओं से इस लोक में अभ्युदय एवं परलोक में निःश्रेयस एवं स्वर्ग की प्राप्ति की कामना की गयी है। इसके लिए साधन के रूप में यज्ञयागादि कर्मकाण्ड का आदेशात्मक विधान है। अथर्ववेद में आर्यतर विश्वासों का उल्लेख है, जिन्हें कालान्तर में आर्यों ने भी स्वीकार कर लिया था। धीरे-धीरे वर्ण-व्यवस्था में सर्वोपरि मान्यता प्राप्त हो जाने के उपरान्त एक समय ऐसा भी आया है, जब वेद, उपनिषदें, गीता, बादरायण के ब्रह्मसूत्र एवं पुराण अर्थात् निगमागम विभिन्न दर्शन-प्रणालियों के आधार ग्रन्थ मान लिए गये और धर्म-मतों के आर्षग्रन्थों को भी दार्शनिक चिन्तन का आधार स्वीकार कर लिया गया। बौद्ध एवं जैन दर्शन यद्यपि ब्राह्मण धर्म की परम्परा के अन्तर्गत नहीं आते लेकिन जन्मान्तर

के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के कारण उन्हे भी आदर्शवादी दर्शन-प्रणालियों में ही शामिल कर लिया जाता है। बौद्धों एवं जैनो से पूर्ववर्ती एवं उपनिषदों की जीव-स्वरूप सम्बन्धी मान्यताओं के सम्बन्ध में इस खण्ड के आरम्भ में पहले ही उल्लेख कर दिया गया है। इसके सम्बन्ध में बहुत सी सामग्री की चर्चा परवर्ती दर्शन-प्रणालियों में भी हो जाने के कारण हम यहाँ पर बौद्धों एवं जैनो की जीव सम्बन्धी मान्यताओं से ही विषय को आरम्भ कर रहे हैं।

बौद्धों के अनुसार चित्त एवं विज्ञान के अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान चेतन सत्ता नहीं है। उनके मत में जीवों के केवल दो ही भेद स्वीकार किये जा सकते हैं। पहले जीव वे हैं, जिन्होंने निर्वाण-पद प्राप्त कर लिया है। दूसरे जीव वे हैं, जो अभी तक आवागमन के चक्कर में भटक रहे हैं। जैनो के मत में जीवों की तीन कोटियाँ हैं—बुद्ध जीव, आलोकाकाशोन्मुख जीव, एवं सिद्धशील जीव। तदनुसार जीवों को अनादि मान कर यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि सभी जीव अपने-अपने सत्प्रयत्न के द्वारा सिद्धशील जीवों की अवस्था में पहुँच सकते हैं। आदिग्रन्थ में जैनो और बौद्धों के जीव-सिद्धान्त का हमें कहीं भी अनुसरण प्राप्त नहीं होता। आदिग्रन्थ की विचारधारा आदर्शवादी (ईश्वरवादी) विचारधारा है। तदनुसार जीव का स्वातन्त्र्य वैसा नहीं जैसा कि बौद्ध एवं जैन दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। न ही इस मत का कहीं प्रतिपादन हुआ है कि जीव अनादि एवं स्वतन्त्र चेतन सत्ता है। सिक्ख गुरुओं के मत में अनादित्व केवल वाहगुरु (ब्रह्म) का है और उसी को स्वतन्त्र चेतनसत्ता स्वीकार किया गया है।

आदिग्रन्थ की दार्शनिक मान्यता अद्वैत या पराद्वैत जैसी है, लेकिन उसमें स्वीकृत जीव के स्वरूप तथा अद्वैतवेदान्त की इस मान्यता में पर्याप्त अन्तर है, जिसके अनुसार जीव के रूप में ईश्वर की प्रतीति के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। अद्वैत-वेदान्ती जीव का यथार्थ अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार ईश्वर ही माया (अविद्या) के प्रभाव के कारण जीव के रूप में भासित या प्रतीत होता है। आदिग्रन्थ में वर्णित जीव के स्वरूप की चर्चा के प्रसंग में हम यह देख आये हैं कि तदनुसार जीव परमात्मा (वाहगुरु) के द्वारा धारण किया हुआ रूप होने के कारण न मिथ्या या आभास है और न ही उसकी सत्ता मात्र व्यावहारिक ही है। वह यथार्थ है क्योंकि जिस सत्ता ने वह रूप धारण किया हुआ है, वह स्वयं पूर्ण यथार्थ सत्ता है। सिक्ख गुरु भक्त हैं, अतः उन्होंने 'अहं ब्रह्मास्मि' को जीव के स्वरूप का मूलसूत्र मानने के स्थान पर इस प्रकार के भाव को 'हउमै' की वृद्धि का कारण माना है। तदनुसार वाहगुरु की इच्छा ही उसकी शक्ति है और उसने इस शक्ति के द्वारा ही जीव का रूप धारण किया हुआ है अथवा वह जब चाहता है स्वयं जीव का रूप धारण कर लेता है। आदिग्रन्थ के अनुसार जीव का पारतन्त्र्य भी वाहगुरु ही की इच्छा से है।

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन मूलतः भौतिकवादी दर्शन हैं, जिनमें बाद में ईश्वर की सत्ता की मान्यता का प्रवेश हुआ है। ये दोनों दर्शन ईश्वरवादी प्रभाव के अन्तर्गत हैं, लेकिन फिर भी इनमें ईश्वर की भाँति ही जीव की भी अनादि सत्ता स्वीकार की गई है। उक्त दोनों दर्शनों की यह धारणा आदिग्रन्थ की विचारधारा से साम्य नहीं रखती। इन दर्शनों में पदार्थ या परमाणु को भी अनादि तत्त्व स्वीकार किया गया है, जो आदिग्रन्थ की विचारधारा से बिल्कुल भिन्न प्रकार का दृष्टिकोण है। ये दोनों ही दर्शन अपने परवर्ती रूप में द्वैतवादी दर्शन हैं, जिसे आदिग्रन्थ के अद्वैत सिद्धान्त के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। आदिग्रन्थ का अद्वैत-सिद्धान्त इस्लामी एकेश्वरवाद से भी पर्याप्त भिन्न है, अतः कुरान में जिम गीन से बदे को खुदा की सृष्टि कहा गया है, वह आदिग्रन्थ की विचारधारा से भिन्न प्रकार का दृष्टिकोण है। जिस प्रकार न्याय और वैशेषिक की जीव सम्बन्धी मान्यताएँ आदिग्रन्थ की एतद्विषयक विचारधारा से मेल नहीं खाती, उसी प्रकार साख्य और योग दर्शनों की जीवपरक अवधारणाएँ भी आदिग्रन्थ में वर्णित जीव-स्वरूप सम्बन्धी मान्यताओं से भिन्न प्रकार की हैं।

साख्य दर्शन आरम्भ में ईश्वरवादी दर्शन नहीं था। अतः जिस समय यह ईश्वरवादी प्रभाव के अन्तर्गत आया, उस समय भी इसमें प्रकृति को ही महत्ता प्राप्त रही। इस दर्शन के अनुसार जीव निष्क्रिय चैन्य है और मूलतः अकर्ता होते हुए भी वह अपने ऊपर कर्तृत्व का आरोप कर लेता है। प्रकृति और पुरुष को अनादि मानने के कारण यह भी द्वैतवादी दर्शनों के ही अन्तर्गत माना जाता है। इससे बिल्कुल भिन्न आदिग्रन्थ में पूर्णाद्वैत की विचारधारा का प्रतिपादन है। सिक्ख गुरु विश्व की रचना को प्रकृति का स्वतः परिणाम नहीं मानते। जबकि साख्यों के अनुसार जड़ प्रकृति अपने अन्तर्निहित स्वभाव के कारण स्वयमेव जगत के रूप में प्रकृति-विकृतियों की प्रक्रिया के रूप में परिणमित होती रहती है। आदिग्रन्थ में बाह्यगुरु (ब्रह्म) के हुक्म के बिना विश्व की छोटी से छोटी क्रिया भी सम्पन्न नहीं होती। सिक्ख गुरु जीव की निष्क्रियता के सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं करते। योग की दार्शनिक अवधारणाएँ प्रायः वे ही हैं जो साख्य दर्शन की। भक्ति के लिए न साख्य में स्थान है और न ही योग में ही। अतः उक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि जीव-सिद्धान्त के सम्बन्ध में आदिग्रन्थ की विचारधारा एवं साख्य और योग की अवधारणाएँ परस्पर भिन्न एवं स्वतन्त्र प्रकार की हैं।

आदिग्रन्थ में अन्य निर्गुण सत्ता की भाँति शाक्तों का घोर विरोध हुआ है। सत-नरम्परा के अनुसार शाक्त माया-लिप्त जीव हैं, जिन्हें बाह्यगुरु के दरबार में प्रवेश का अधिकार नहीं है। लेकिन हमारे मत में शाक्तों के दार्शनिक चिन्तन का क्षेत्र भिन्न प्रकार का है जबकि उसके साधनात्मक रूप को देखकर संतों ने वैष्णव प्रभाव के कारण उसे गृहीत मान लिया है। अन्यथा शैवों और शाक्तों का दार्शनिक चिन्तन

निर्गुण संत-परम्परा की विचारधारा का विशेष विरोधी नहीं है। निर्गुण संतों पर गोरखनाथ के कौलमार्ग के विरोध का अधिक प्रभाव दिखाई देता है। गोरख के गुरु भक्त्येन्द्रनाथ कौल मार्ग के अनुयायी थे, जिनके साधना-मार्ग में नारी का विशेष स्थान था और जिसके कारण यह साधना अत्यन्त दूषित रूप धारण कर चुकी थी। अस्तुतः शैवों और शाक्तों में मुख्य अन्तर केवल इतना है कि एक परमतत्त्व को शिव का अभिधान देता है और दूसरा शक्ति का। फिर भी हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि सिक्ख गुरु शाक्तों के दर्शनो में स्वीकृत जीव-चैतन्य की मान्यताओं से कदापि सहमत नहीं है। संत ज्ञानेश्वर ने 'अमृतानुभव' नामक रचना में परमसत्ता एव शक्ति और शक्तिमान की जैसी सैद्धान्तिक चर्चा की है, वही प्रकार-न्तर से गोरखनाथ के नाम से प्रचलित 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में मिलती है एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी प्रायः उसी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ है। आदिग्रन्थ में वर्णित जीव के स्वरूप एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार जीव के स्वरूप में अधिक अन्तर दिखाई नहीं देता।

प्रत्यभिज्ञावादियों ने परमशिव के स्वरूप का जिस रीति से वर्णन किया है, उसी तरह का वर्णन आदिग्रन्थ में बाह्यगुरु का भी हुआ है। काश्मीर शैव (प्रत्यभिज्ञा-वादी) परमशिव के शिव और शक्ति दो रूप मानते हैं और सिक्ख गुरुओं के अनुसार भी बाह्यगुरु और उसकी इच्छा या हुक्म का जिस ढंग से उल्लेख हुआ है, उसे शक्ति-मान और उसकी शक्ति की अवधारणा के अन्तर्गत लिया जा सकता है। ठीक इसी तरह की दार्शनिक मान्यता का उल्लेख 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में भी हुआ है। अन्तर केवल यह है कि काश्मीर शैव दर्शन में आगे चलकर देवतावाद को भी स्वीकार कर लिया गया है, जबकि आदिग्रन्थ में इस प्रकार के देवतावाद के लिए कोई स्थान ही नहीं है। शैवों, शाक्तों एवं गोरखनाथ के योगसम्प्रदाय के दार्शनिक चिन्तन एवं आदिग्रन्थ में वर्णित जीव के स्वरूप के तुलनात्मक अध्ययन से इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि आदिग्रन्थ में वर्णित जीव-सिद्धान्त शाक्तों के जीव-सिद्धान्त से पर्याप्त भिन्न है और गोरखनाथ तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन की जीव सम्बन्धी अवधारणाओं में विशेष समानताएँ लिए हुए हैं।

निर्गुण मतों के समय एक ओर अल्लाह का स्थान केवल मस्जिद और मक्का-मदीना था एवं दूसरी ओर भगवान का अवतारी शरीर मन्दिरों में सिमिट गया था। वैधी भक्ति-पूजा में केवल हिन्दुओं में प्रचलित थी अपितु उसी में एकेश्वरवादी मुस्लिम समाज ने शरण ले ली थी। सभी प्रकार के धर्म के इस विकृत रूप के प्रति विद्रोह की भावना निर्गुण भक्ति-आन्दोलन में रूपायित हुई थी। हिन्दू समाज में उस समय तक विभिन्न बंशज आन्दोलन व्यापक क्षेत्र में अपनी-अपनी विचारधारा का प्रचार कर रहे थे। इनमें मुख्य स्थान रामानुज के विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य के द्वैत एवं बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत का था। दार्शनिक स्तर पर एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी भक्ति की साधना के रूप में सभी समान थे। आदिग्रन्थ में यद्यपि ज्ञान और योग की

निन्दा तो नहीं, लेकिन भक्ति की तुलना में इन दोनों को भक्ति के साधन के रूप में ही स्वीकार किया गया है।

आचार्य मध्व द्वैतवादी विचारक हैं, लेकिन आदिग्रन्थ में बाह्यगुरु से भिन्न किसी की भी अनादि सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया। मध्व के अनुसार जीव परमात्मा का मात्र चिदंश नहीं अपितु उनके मत में जिस प्रकार परमात्मा से अलग जगत की सत्ता है इसी तरह जीव की भी। आदिग्रन्थ में जिस रूप में जीव की परवशता का उल्लेख हुआ है, वह भी मध्व के द्वारा प्रतिपादित जीव की परमात्माधीनता से भिन्न है। मध्व जीवों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। ये विचार आदिग्रन्थ के एतत्सम्बन्धी चिन्तन के बिल्कुल विपरीत हैं। आदिग्रन्थ की अद्वैतवादी विचारधारा के अनुसार परमात्मा से भिन्न जीव के अनादि अस्तित्व को स्वीकार किया ही नहीं जा सकता। भक्ति के क्षेत्र में भी सिक्ख गुरु संत ज्ञानेश्वर की भक्ति के ही अधिक निकट हैं। संत ज्ञानेश्वर ने 'अमृतानुभव' एवं ज्ञानेश्वरी में जिस रीति से निर्गुण भक्ति की चर्चा की है तदनुसार तरंग और तारंग की भाँति जीव और ईश्वर में उपासक एवं उपास्य-भाव स्थापित हो सकता है। भक्ति के अन्य कई पक्ष जिस प्रकार सगुणोपासक आचार्य मध्व को मान्य हैं, उसी प्रकार जीव के द्वारा भक्ति की साधना के प्रसंग में आदिग्रन्थ एवं द्वैतवादी मध्व की भक्ति-साधना में विशेष अन्तर नहीं है।

पञ्चरात्र दर्शन में जीव के स्वरूप की चर्चा करते हुए प्रकृति को वासुदेव की इच्छा की अधीनस्थ सत्ता बतलाया गया है। उक्त दर्शन में स्वीकृत व्यूह-सिद्धान्त ही उसका जीव-सिद्धान्त है। व्यूहों की चर्चा के प्रसंग में ही अहिर्बुध्न्य एवं पञ्चरात्र संहिताओं में जीवों की कोटियों का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार की जीव सम्बन्धी धारणाएँ हमें आदिग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हैं। व्यूह-सिद्धान्त में वासुदेव को ब्रह्म माना गया है, जो आदिग्रन्थ की विचारधारा के बिल्कुल उल्ट है। वासुदेव के निकट के सम्बन्धियों में व्यूहावतार का आरोपण भी सिक्ख गुरुओं का मान्य मत नहीं हो सकता। पञ्चरात्र सम्प्रदाय पौराणिक देवतावाद पर आधारित है, जिसका आदिग्रन्थ में बारम्बार विरोध हुआ है। तांत्रिकों के सम्बन्ध में सामान्य चर्चा कर ही दी गई है। तत्र दर्शन शरीरी जीव और विश्वात्मा में तात्त्विक भेद स्वीकार नहीं करते। तदनुसार आत्मा भी चित्सवित् सत्ता है। वे शिव की शक्ति को विश्वात्मा या महामाया मानते हैं एवं यह स्वीकार करते हैं कि कुण्डलिनी के रूप में वही जीव या प्राण-शक्ति का स्रोत है। वही मूलाधार चक्र में शरीर में अधोमुखी अवस्था में स्थित रहती है। उनका मत यह भी है कि माया शक्ति के कारण ही आत्मशक्ति, जीव (Embodied Soul) का रूप धारण करती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें जीव का यथार्थ अस्तित्व मान्य है। जीव के स्वरूप को परिभाषित करते हुए तंत्रग्रन्थों में कहा गया है कि चित्त आदि इन्द्रियों एवं पंचमहाभूतों में सीमित चैतन्य ही 'जीव' है। परादेवी (महामाया) ही तदनुसार परासवित् है और वही विषय-

विषयी के भेद से ब्रह्माण्ड का कनिष्ठ रूप धारण कर 'जीव' कहलाती है। 'शारदा तिलकसार तत्र' के अनुसार सच्चिदानन्द स्वरूप शिव में ही शक्ति सत्त्व का उदय होता है। जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में तांत्रिक ग्रन्थों में नाद और बिन्दु के रूप में भी चर्चा की गई है।

शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार जीव और जगत (जड-चेतन सृष्टि) दोनों ब्रह्ममय हैं। आपाततः उक्त अवधारणा आदिग्रन्थ की जीव सम्बन्धी अवधारणा से पर्याप्त सीमा तक मिलती दिखायी देती है। आचार्य वल्लभ का यह मत भी आदिग्रन्थ में वर्णित जीव और जगत की धारणा से मिलता दिखायी देता है कि जीव और जगत मिथ्या नहीं बल्कि सत् सत्ताएँ हैं। जीव स्वयं को परमात्मा से भिन्न इसलिए मानने लगता है, क्योंकि वह बुद्धि के विकल्प के प्रभाव के अन्तर्गत आ जाता है। आचार्य शंकर का मत है कि अविद्या के कारण ईश्वर की जीव के रूप में प्रतीति होती है। लेकिन इसके विपरीत वल्लभ यह मानते हैं कि ब्रह्म ही रमण करने की इच्छा के हेतु जीवों के रूप में अपने अनेक रूप बना लेता है। अपने आनन्दाश का निरोधान करने के बाद ब्रह्म स्वयं जीव रूप हो जाता है। इसी को परमात्मा की नीला कहा गया है और इसी आधार पर जीव की सत्यता सिद्ध की गयी है। शुद्धाद्वैतवादी जीव को ब्रह्म का असंख्य अंश मानते हैं। उक्त विचार आदिग्रन्थ की जीव सम्बन्धी विचारधारा से पर्याप्त साम्य रखते हैं। शुद्धाद्वैत की जीव की अवधारणा आदिग्रन्थ की जीवावधारणा के साथ प्रत्यभिज्ञावादी शैवों की पशु सम्बन्धी अवधारणा से कहीं अधिक मिलती-जुलती अनुभव होती है। यदि ध्यान में देखा जाय तो आदिग्रन्थ में वर्णित जीव-विचार शुद्धाद्वैत एवं प्रत्यभिज्ञावाद के दार्शनिक चिन्तन से पर्याप्त साम्य रखता है। लेकिन जब देवतावाद एवं अन्य अवधारणाओं के साथ तुलना करते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निर्गुण विचारधारा के सन्दर्भ में यह स्वीकार करना कठिन है कि जो कुछ शुद्धाद्वैत या प्रत्यभिज्ञावाद मानता है, जीव के सम्बन्ध में वैसे ही आदिग्रन्थ में वीकार कर लिया गया है। आदिग्रन्थ की विचारधारा अनुभव एवं समन्वयवादी दृष्टिकोण का मिश्रित रूप है। उसमें समय और परिस्थिति एवं मौलिक चेतना के जो अनुरूप लगा, उसे स्वीकार कर लिया गया है और जो-जो बातें मूल सिद्धान्त या मूलभूत अवधारणाओं के अनुरूप प्रतीत नहीं हुई, उन्हें त्याग दिया गया है।

आदिग्रन्थ के अनुसार नाम-सिम्जन और गुरु की सेवा, अहं का त्याग एवं परमात्मानुरक्ति ही भक्ति का लक्षण है। बाह्यगुरु को निराकार स्वयम्भू सत्ता एवं जीव को उसके द्वारा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से धारण किया हुआ रूप बतलाया गया है। इनमें से भक्ति की बहुधा बातें सिक्ख गुरुओं ने वैष्णवों की ही स्वीकार कर ली हैं। परन्तु जहाँ तक उनके दार्शनिक विचारों का सम्बन्ध है, वे अवतारवादी वैष्णव-विचारधारा से भिन्न एवं स्वतन्त्र प्रकार के हैं। उनका जीव-सिद्धान्त भी उक्त वैष्णव दर्शन-प्रणालियों से पूर्णतः भिन्न है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार परमात्मा (नारायण) चिदचिद्विशिष्ट सत्ता है। उसमें वाडिम के बीजों की भाँति जीवों की सख्या की अनन्तता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए इस अभेद में भेद को अनादि बतलाया गया है। तदनुसार परमतत्त्व में ही जड़-चेतन सृष्टि बीज के रूप में समाहित रहती है। इस प्रकार परमात्मा के द्वारा स्वयं जीव और जगत का रूप धारण करना विशिष्टाद्वैतवाद की मान्यता नहीं है। आचार्य रामानुज का विचार है कि जीव बुद्धि, प्राण, मन आदि इन्द्रियो का स्वामी एवं उनसे स्वतन्त्र सत्ता है, जिसे उन्होंने नारायण का अंश माना है। इसके विपरीत आदिग्रन्थ के अनुसार जीव का स्वरूप रामानुज के द्वारा स्वीकृत जीव के स्वरूप से पर्याप्त भिन्न हो गया है। लेकिन जहाँ तक जीव की परवशता आदि का सम्बन्ध है, सिक्ख गुरु भी परमात्मा की अनुकम्पा एवं जीव के द्वारा परमात्म-भक्ति की साधना पर उतना ही बल देते हैं जितना आचार्य रामानुज ने दिया है।

तृतीय खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा में माया

● समाज में पुरुष और स्त्री की स्थिति

समाजशास्त्र के पण्डितों ने आरम्भिक मानव-समाज एवं अद्यतन पिछड़ी जातियों में प्रचलित धार्मिक विश्वासों के निर्मायक कारणों के अध्ययन के उपरान्त यह विश्वास प्रकट किया है कि समाज में पुरुष या स्त्री की स्थिति का प्रधान आधार अर्थोपार्जन में उसका अधिक या कम योगदान है। जिस युग की जैसी सामाजिक अवस्था होती है, उसके धार्मिक विश्वास और दार्शनिक मान्यताएँ तदनु रूप ही बनती एवं बदलती रहती हैं। अतः जिस किसी युग में स्त्री की स्थिति उक्त दृष्टि से पुरुष की अपेक्षा अधिक महत्त्व की रही है, उस युग का धार्मिक कर्मकाण्ड प्रधानतः स्त्री की गौरवपूर्ण स्थिति की सूचना देता है। एवं जिस समय अर्थोपार्जन का प्रधान उत्तरादायित्व पुरुष के कंधों पर रहा तब स्त्री का स्थान समाज में गौण हो गया है और पुरुष की स्थिति ऊपर उठ गयी है। मोहेजोदडो और हडप्पा के अवशेषों के साक्ष्य पर अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि आर्य-पूर्व भारतीय समाज की जीविका के निर्वाह का मुख्य साधन कृषि-कार्य था। यह वह अवस्था थी, जिस समय मानव प्रकृति की शक्तियों पर विजय पाने के उपाय नहीं खोज पाया था। प्राकृतिक शक्तियों के रहस्य से अनवगत होने के कारण ही उसने अधिक उपज के लिए जादू-टोना आदि विश्वासों का आश्रय लिया। इसके सम्बन्ध में श्रीफाल्ट महोदय लिखते हैं कि आरम्भिक स्थिति के मानव का यह विश्वास था कि अधिक अन्न प्राप्त करने के लिए उसकी निपुणता एवं परिश्रम इतना काम नहीं देता, जितना जादू-टोना की शक्ति फलवती हो सकती है।^१

अब तक भी विभिन्न भारतीय उत्सव एवं धार्मिक कर्मकाण्ड अधिकांशतः कृषि से ही सम्बन्धित हैं, क्योंकि यह देश अब भी कृषि प्रधान देश है। यद्यपि एक

^१ The Mothers (2nd Edo) London, 1952, iii, पृ० २-३, "The art of Cultivation is regarded by all uncivilized people as depending in an even high degree than other operations, upon magical power and procedures rather on skill and manual labour."

बार पुरुष के प्रभुत्व की स्थापना के उपरान्त नारी जाति का छीना हुआ गौरव उसे वापिस नहीं मिल पाया तथापि ऐसे उत्सवों में उसकी प्रधानता अब भी पूर्ववत् विद्यमान है। अथर्ववेद के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि उसमें अन्तर्भुक्ति के उपरान्त स्वीकृत आर्यतर विश्वासों का प्राचुर्य है। केवल इतना ही नहीं, परवर्ती ऋग्वेदिक ऋचाओं में भी हमें उक्त कर्मकाण्ड एवं विश्वासों की चर्चा मिल जाती है, जो परिवर्तित परिस्थितियों एवं उनके कारण स्वीकृत नये विश्वासों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। कृषि प्रधान समाज में प्रचलित विश्वासों के संकेत हमें उपनिषदों एवं गृह्यसूत्रों में भी इधर-उधर बिखरे रूप में प्राप्त हो जाते हैं। गृह्यसूत्रों में विभिन्न स्थानों पर कृषि-कार्य आरम्भ करने से पूर्व क्षेत्र के देवता की पूजा का विधान किया गया है। तदनुसार 'सीता' हल देवी है एवं इसी तरह के अन्य उल्लेख संकेत करते हैं कि प्रत्येक कृषि-सम्बन्धी कार्य के समय विभिन्न देवियों की पूजा का प्रचलन उस समय अवश्य विद्यमान था।^१

तान्त्रिकों ने परमसत्ता को देवी के रूप में पूज्य माना है और तान्त्रिक विश्वास एवं मान्यताएँ कृषि प्रधान समाज में ही विशेष प्रचलित रही हैं और ये ही बाद में भारतीय धर्म-साधना के विशेष अंग बनी है। चाणक्य के अर्थशास्त्र में कृषि का कार्य आरम्भ करने से पहले विशेष प्रकार के कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने का विधान है। राजनीति की इस रचना में इस प्रकार का आज्ञापरक संकेत यह सूचित करता है कि अधिक अन्न की प्राप्ति के हेतु उस समय के समाज में ऐसी धारणा अवश्य प्रचलित रही होगी। आरम्भ से ही स्त्री का सम्बन्ध इस प्रकार के कर्मकाण्डों से रहा है, जो तान्त्रिकों की शक्ति-पूजा का प्रधान आधार स्वीकार किया जा सकता है। कृषि को नारी-वर्ग के द्वारा किया गया आविष्कार भी माना जाता है, जिसके कारण कृषि सम्बन्धी कर्मकाण्ड में उसे गौरव का स्थान प्राप्त था। तान्त्रिकों की साधनाओं में गृह्य साधना या वामाचार भी इसी तथ्य की ओर संकेत है। परमसत्ता की स्त्री के रूप में स्वीकृति परवर्ती समय की दार्शनिक मान्यता का रूप धारण करती प्रतीत होती है। इसी तरह पञ्चमकार की साधनाओं के अन्तर्गत दार्शनिक विश्वासों से तनिक मुक्त होकर यदि देखा जाय तो पता चलेगा कि इस प्रकार के दार्शनिक आरोपण परवर्ती है। मूलतः यह एक प्रकार की कर्मकाण्डात्मक साधना है, जिसे जादू-टोना के ही अन्तर्गत रखा जा सकता है।

तान्त्रिक साधक 'वामोभूत्वा' अर्थात् स्वयं को स्त्री मानकर साधना करते हैं। वामाचार का सीधा अर्थ यही हो सकता है कि यह वह आचार है, जिसका सम्पादन स्त्री के हाथों से होता है। इस मान्यता का ही परवर्ती काल में आदर्शिकरण कर

^१ ऋ० वे० ४।५।७।६, आश्वलायन गृह्य सूत्र, २-१०-४, सांख्यायन गृह्यसूत्र, ५-१३-५, भारद्वाज गृह्यसूत्र, २-१०, पारस्कर गृह्यसूत्र, २-१७-६, गोमिल गृह्यसूत्र, ४-४-२७,

दिया गया प्रतीक होता है। परवर्ती योग-साधनाएँ भी अपने भीतर स्त्री तत्त्व की अनुभूति की बात करती हैं, जो यह सूचित करता है कि योग की साधना जादू-टोना का ही आदर्शोक्त रूप है। स्त्री को ही कृषि-कार्यों में अधिक महत्त्व क्यों दिया गया, इस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में विद्वानों ने इनमें प्रजनन-शक्ति की समानता के आधार की खोज की है। कुण्डलिनी को सहस्रार में ले जाने की मान्यता भी इस ओर संकेत करती है कि व्यक्ति (साधक) को अपना सम्पूर्ण पुरुषत्व परिचरित कर नारी रूप हो जाना चाहिए। कहा जाता है कि प्रत्येक पुरुष में सम्पूर्ण स्त्री-शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। तान्त्रिकों के द्वारा नारी को विशेष सम्मान देने का मुख्य कारण नारी जाति का कृषि-कार्य में विशेष महत्त्व ही हो सकता है।

तान्त्रिक साधनाओं में योनि-साधना का स्थान सर्वोपरि है। योनि प्रजनन-शक्ति का प्रतीक है। आरम्भिक विश्वास के अनुसार यह प्रजनन-शक्ति स्त्री में ही मानी गयी थी। गर्भवती स्त्री द्वारा खेत में बीज-वपन करवाने में अधिक अन्न को उत्पत्ति होती है—यह विश्वास भी स्त्री के महत्त्व का सूचक है। यही आदिम विश्वास आगे चल कर देवी-पूजा का आधार बना। कामारूपा देवी को योनि के रूप में प्रस्तुत करना इसी मान्यता का परिचायक है। योनि के साथ लिंग की पूजा सम्पूर्ण विश्व की अत्यधिक प्राचीन मान्यता है। मोहेजोदडो और हड़प्पा में प्राप्त योनि और लिंग की मूर्तियों में यह विश्वास और अधिक दृढ़ हो गया है कि नारी को देवी का स्थान क्यों और कैसे प्राप्त हुआ। अब तक भी यह विश्वास प्रचलित है कि धरती ऋतुमती होती है और अगर उस समय उसमें बीज-वपन किया जाय तो उमंगे अधिक अन्न प्राप्त हो सकता है। तान्त्रिकों में 'ख-पुण्य' की मान्यता भी ऋतु धर्म की ओर संकेत है। सामूहिक यौन-सम्बन्ध का प्रचलन भी यही बतलाता है कि तान्त्रिक विचारधारा कृषि प्रधान सामाजिक परिस्थितियों की परिणति या उपलब्धि थी। कृषि में प्रयुक्त 'हल' लिंग का प्रतीक है और धरती के अन्तस् को योनि के रूप में स्वीकार किया गया है। धीरे-धीरे जिस समय समाज पुरुष प्रधान बना, तब इस प्रकार के समूचे कर्मकाण्ड की आदर्शत्मक व्याख्याएँ कर ली गयीं। यह समूची परम्परा मुख्यतः अवैदिक अथवा आर्योत्तर है, जो कालान्तर में हिन्दू धर्म के मुख्य अंग के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत हुई है।

● परिस्थिति-परिवर्तन

उक्त आरम्भिक परिस्थितियों एवं उनमें नारी का सामाजिक महत्त्व कालान्तर में बँधे-का-बँसा बना न रह सका। सिन्धु सभ्यता वाले समाज की पराजय और नवागत आर्यों की विजय के प्रभाव के कारण मातृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन हुआ और समाज में पुरुष का प्राधान्य स्वीकार कर लिया गया। गणराज्य-व्यवस्था भंग हुई और उसके स्थान पर राज्य-व्यवस्था का प्रसार हुआ। लेकिन पूर्ववर्ती विश्वासों को एकदम समाप्त कर देना सम्भव नहीं था। यह आवश्यक

नहीं कि मातृसत्तात्मक व्यवस्था केवल कृषि प्रधान समाज में ही उभरती और पनपती है। अन्य ऐसे अनेक कारण भी हैं, जो नारी जाति की सामाजिक स्थिति को पुरुष जाति की स्थिति से बेहतर बनाते हैं। यह आज के युग में भी देखा जा सकता है। कुछ भी हो संहिताओं में पुरुष देवताओं का प्राधान्य है और उसका कारण वैदिक युगीन आर्य जाति में पितृसत्तात्मक सामाजिक प्रभाव ही स्वीकार किया जा सकता है। यह अनुमान लगाना असंगत नहीं होगा कि विरल सख्या वाले नवागत आर्यों को यहाँ के लोगों से हर प्रकार का समझौता करना पड़ा होगा और अन्तर्भुक्ति की प्रक्रिया अवश्य सक्रिय रही होगी। आर्यों ने अपने पूर्वजों के पेशे का परित्याग कर कृषि के कार्य को अवश्य स्वीकार किया होगा और यहाँ के मूल निवासियों से विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित किये होंगे। इसी का यह परिणाम है कि परवर्ती काल में प्रत्येक प्रधान देवता की पत्नी के रूप में हमें देवी की उपासना के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।

आरम्भ में देवताओं के साथ उनकी पत्नियों की मात्र चर्चा ही पर्याप्त समझी गयी। लेकिन समय बीतने के साथ-साथ देवी की उपासना का प्रचार बढ़ता गया है। 'माया' शब्द का प्रथम उल्लेख हमें ऋग्वेद में मिलता तो है, लेकिन विद्वानों के मत में इन्द्र का माया के द्वारा कुछ कार्य करना उसके चातुर्य, शक्ति, छल एवं नैपुण्य का ही सूचक है—किन्हीं ऐसी शक्ति विशेष का परिचायक नहीं, जैसा कि कालान्तर में देखने को मिलता है। यज्ञयागादि कर्मकाण्ड और वर्णव्यवस्था की मान्यता प्राप्ति के साथ ही आर्योत्तर विश्वास भी बने रहे। धीरे-धीरे देवतावाद से देवाधिदेव की धारणा बनी, लेकिन साथ ही बहुदेववाद के प्रति विश्वास के बने रहने पर उपासकों के द्वारा विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा का प्रचलन भी जारी रहा। वैचारिक स्तर पर देवाधिदेव की निराकार परमसत्ता को स्वीकार कर लिया गया, परन्तु इससे देवी-देवताओं के उपासकों के विश्वासों में कोई अन्तर नहीं आया। जगत् की रचना, जीव के जन्मान्तर एवं उसे प्राप्त होने वाले कर्म-फल के साथ ही यह विश्वास भी जुड़ गया कि प्रसन्न होकर देवता अपने उपासकों की मनोकामना पूरी करता है। ऐसी मान्यता की स्थिति में अपने-अपने उपास्य की स्तुतियों में उसे परमसत्ता ही स्वीकार किया गया और प्रत्येक उपासक ने अपने उपास्य को मृष्टि का कृता, पालक एवं दुःख निवारक मान लिया। धीरे-धीरे देवी ने भी स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्राप्त कर लिया और वह मात्र किसी देवता विशेष की पत्नी न होकर सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ सत्ता बन गयी। समूचे भारत में देवी-पूजा का प्रचार फैला और किसी एक देवी को मुख्य मानकर अन्य देवियों को उसकी शक्तियाँ स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार देवी और देवता में प्रधान एवं गौण का भेद समाप्त हो गया। यह भी मान लिया गया कि देवी और देवता में परस्पर किसी प्रकार का तात्त्विक भेद है ही नहीं। यह उपासक की रुचि पर निर्भर करता है कि वह परमसत्ता को नारी के रूप में उपास्य माने या पुरुष के रूप में।

शाक्तों, शैवों, हिन्दुओं एवं बौद्ध तांत्रिकों के विभिन्न सम्प्रदायों एवं उनमें प्रचलित उपासना-विधियों के अध्ययन से पता चलता है कि देवी के रूप में परमसत्ता की उपासना को विशेष प्रचार प्राप्त हुआ है। उसी प्रसंग में पौराणिक युग की चर्चा करना भी असंगत नहीं होगा। हिन्दू धर्म बहुदेवतावाद प्रधान धर्म रहा है क्योंकि उस विशाल देश में एकेश्वरवादी धारणा का पूर्णाधिपत्य सम्भव नहीं था। हिन्दू धर्म में शिव और विष्णु को परमसत्ता के रूप में स्वीकार कर लेने के उपरान्त उनके द्वारा सृष्टि की रचना के प्रसंग में उनकी शक्तियों की कल्पना की गयी है। उनकी पत्नियाँ स्वतन्त्र शक्ति के रूप में भी उपास्या बनी हैं। उनके साथ ऐसी कथाओं के सूत्र पिरो दिये गये हैं, जिससे दार्शनिक चिन्तन के लिए यह अवकाश निकल आया है कि परमसत्ता अपने सक्रिय या शक्ति-पक्ष के द्वारा सृष्टि की रचना करती है। विभिन्न विचारकों ने इन अवधारणाओं की विभिन्न पक्षों एवं दृष्टियों से व्याख्या भी की है। किसी ने यह माना है कि परमसत्ता स्वयं पराङ्गत ही बनी रहती है और उसका शक्ति रूप ही जगत के रूप में परिणत होता है। अथवा यह स्वीकार किया गया है कि परमसत्ता निमित्त कारण शक्ति है, जो अनादिकाल से विद्यमान उपादान सामग्री को लेकर ब्रह्माण्ड की रचना करती है। उसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान माना गया है।

● नारी रूप में विश्वमाया की स्वीकृति

कालान्तर में हिन्दू धर्म के वैदिक कर्मकाण्डात्मक स्वरूप के विरोध में बौद्ध-धर्म का प्रचार भारतीय चिन्तन-धारा की मुख्य विशेषता बनी है। बुद्ध स्वयं परमात्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में मौन रहे हैं, लेकिन उनका मौन यह ध्वनित करता है कि जीव के कर्मों एवं उन कर्मों का अनुकूल या प्रतिकूल फल देने वाली किसी अतिमानवी सत्ता का अस्तित्व उन्हें मान्य नहीं था। बुद्ध के बाद बौद्ध-धर्म का स्वरूप पर्याप्त बदल गया और उसमें भक्ति का प्रवेश हुआ या हिन्दू-धर्म के समानान्तर अपने धर्म के व्यापक प्रचार के लिए बौद्ध विचारकों ने ऐसा परिवर्तन स्वयं कर लिया। आरम्भ में उसी व्यक्ति को इस धर्म में दीक्षित किया जाता था, जिसकी पात्रता पहले पृथक् ली जाती थी। बाद में सभी स्तर के लोगों को दीक्षित किया जाने लगा। नवदीक्षित लोगों ने धीरे-धीरे अपने विश्वासों के अनुरूप बौद्ध-धर्म को परिवर्तित कर दिया। सारांश यह है कि हिन्दू एवं बौद्ध—दोनों ही धर्म काल-गति के प्रभाव के कारण तंत्र प्रधान धर्म बन गये। बौद्धों में प्रज्ञोपाय एवं करुणा तथा शून्यता की अवधारणा एवं शैवों में शिव और शक्ति तथा हर और गौरी का स्वीकृत दार्शनिक रूप इस ओर संकेत करता है कि तांत्रिक काल में देवी की पूजा का अधिक प्राबल्य रहा है। एतत्सम्बन्धी मान्यताएँ बहुधा प्राचीन यौन सम्बन्धों का ही आदर्शिकरण हैं। इसके सम्बन्ध में दास गुप्ता के निम्न विचार ध्यातव्य हैं। वे लिखते हैं कि यौनात्मक यौगिक क्रियाएँ अत्यन्त प्राचीन विश्वास हैं और ये प्रायः सभी भारतीय आध्यात्मिक

धारणाएँ एवं धार्मिक कमकाण्ड में उपलब्ध होती हैं। धीरे धीरे इन्हें शैवों और शक्तों के द्वारा अपना लिया गया। बौद्धों ने भी इन्हें अपनाया जिसके फलस्वरूप बौद्ध तंत्र मतों का आरम्भ हुआ। यह परम्परा ब्रह्मण्ड एवं बौद्ध सहजिया सम्प्रदायों तक अपनी निरंतरता बनाये हुए है।^१ इसके सम्बन्ध में लोकायतकार का विचार है कि तंत्र मूलतः न बौद्ध है और न हिन्दू बल्कि उसका मूल उस कृषि है। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है

We have as a matter of fact tried to follow this procedure and were led to the view that Tantrism is neither Buddhist nor Hindu but simply agricultural in origin.^२

तांत्रिकों की मूर्ति रचना सम्बन्धी धारणा वस्तुतः काम अर्थात् स्त्री एवं पुरुष के यौन सम्बन्ध की अनुवर्तिनी है क्योंकि वे विश्व को वामा उदभूत मानते हैं। उपासा के प्रसिद्ध मंत्रों एवं तन्त्रग्रन्थों में टंकित मूर्तियाँ के पीछे इसी विश्वास को उद्घाटन किया गया है। इसी तरह बौद्धों का वज्रयान आन्तर्गत एवं कामवज्रयान भी विश्वाप्तति का स्त्रीय की अभिव्यक्ति मानता है। चान्कीय तन्त्र परम्परा में तांत्रिकों का जवधारणा भी इसी मायना को पुष्ट करती है। ताजामन के अन्तर्गत भी स्त्री का प्राधान्य है जिसमें विषय का वामा में उद्भूत माना गया है। इस प्रकार की सभी मायनाएँ अपने मूलरूप में तांत्रिक ही प्रजात माना जाते हैं जिनका धार्मिक विश्वासा के अन्तर्गत आन्तर्कीकरण कर लिया गया है। याग का सभी साधनाओं में भी प्रायः यथा अग्रधारणा परिवर्तित रूप धारण कर साकार हुए प्रजात होती है।

हम तांत्रिक पुनः उमा आरम्भ सिद्ध पर आते हैं कि प्रत्येक युग के धार्मिक विश्वास एवं दार्शनिक मायनाएँ मुख्यतः तन्त्रयुग में सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित होती हैं। भारतीय दर्शन-परम्परा में माया देवी या ईश्वर की शक्ति की स्वीकृति का परम्परा भी इसी सिद्धांत के अन्तर्गत आती है। उपलब्ध सामग्री का ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखकर विवेचन विश्लेषण करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आरम्भिक युग में स्त्री का प्राप्त सामाजिक महत्त्व ही देवी या शक्ति एवं माया का अवधारणा का आधार रहा है जो परिवर्तित परिस्थितियों में विभिन्न रूप धारण करता हुआ निर्गुण सत्ता और निष्कल गुरुओं की विचारधारा तक अपना स्थान बनाये हुए है।

● विश्व की रचना करने वाली शक्ति (माया) : परम्परा

नामरूपात्मक ब्रह्माण्ड भारतीय दर्शनों की विचारणा का प्रधान विषय रहा है। ऋग्वेद के 'नामदीय सूक्त' में लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों और गीता में हमें जगत् की रचना के बारे में विचारकों के भिन्न-भिन्न विचार उपलब्ध होते हैं। जैन एवं बौद्ध तथा सांख्य-योग और न्याय-वैशेषिक दर्शनों में जगत् की रचना के प्रसंग को उठाकर अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुरूप उत्तर दिये गये हैं। इसी तरह आदर्शवादियों और यथार्थवादियों की मान्यताओं में भी पर्याप्त मत-भेद दिखायी देता है। आदर्शवादियों द्वारा परमात्मा (परममत्ता) के अस्तित्व की स्वीकृति के उपरान्त जगत् के निर्माता का प्रश्न सामने आया, जिसके साथ यह विचार सूत्र भी सम्बन्धित हो गया कि ईश्वर (परममत्ता) सृष्टि की रचना बिना किसी उपादान सामग्री की सहायता के करना है अथवा उसे अपने में भिन्न किसी अतिरिक्त अनादि उपादान की भी आवश्यकता है। इसके उत्तर में सांख्य दर्शन ने जगत् की रचना को प्रकृति का परिणाम माना, लेकिन जिन्होंने जगत् को ब्रह्म की रचना स्वीकार किया, उन्हें यह मानना पड़ा कि जगत् का रूप धारण करने पर भी परमसत्ता स्वयं अपरिणामी ही बनी रहती है। सृष्टि की रचना को लेकर जो दर्शन ईश्वर के साथ परमाणुओं के अनादि अस्तित्व को मानते हैं, उनके लिए ईश्वर के द्वारा जगत् का रूप धारण करने एवं स्वयं अपरिणामी बने रहने का प्रश्न ही नहीं। जिन दर्शनों में परममत्ता की अद्वैतता पर बल दिया गया है, उनमें आरम्भ में ही परमतत्त्व (परमात्मा) के दो पक्ष—शक्ति और शक्तिमान—स्वीकार कर लिये गये हैं। उनके अनुसार परमतत्त्व का एक स्वरूप शक्तिमान का है और दूसरा उसकी शक्ति का। इस प्रकार उनमें शक्तिमान और उसकी शक्ति परममत्ता के दो जुड़वे रूप स्वीकार किये गये हैं।

माया या ब्रह्म की शक्ति का सैद्धान्तिक निरूपण विशेष रूप में नव आरम्भ हुआ, जिस समय शंकराचार्य ने मायावाद की प्रतिष्ठा कर जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध किया। इससे पहले माया-सिद्धान्त दर्शन का प्रधान प्रस्ताव नहीं रहा। आचार्य शंकर ने बौद्धों के शून्यवाद का खण्डन करने के हेतु जगत् की आभास सत्ता मानी है।

शून्यवाद के खण्डन के प्रसंग में उन्होंने ब्रह्म को परमसत्य सिद्ध किया है तथा माया और अविद्या नामक दो अनिवर्चनीय एवं अवास्तविक शक्तियों के द्वारा ब्रह्म की ईश्वर के रूप में और ईश्वर की जीव के रूप में प्रतीति के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया है। काश्मीर शैवों ने शिव और शक्ति के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा एवं शांकर मायावाद का खण्डन कर यह सिद्ध किया है कि जगत मिथ्या न होकर परमशिव का स्पर्श है। तान्त्रिकों (शाक्तों) ने शक्ति के बिना शिव को शव मानकर शक्ति को ही परमसत्ता का रूप दे दिया है। उनके अनुसार जगत मिथ्या न होकर शक्ति का रूप या उसका क्रीड़ा-विलास है। शांकर मायावाद के विरोध में वैष्णव आचार्यों ने जगत और जीव सम्बन्धी अद्वैतवेदान्तियों की मान्यताओं का खण्डन करते हुए, परमसत्ता और उसकी शक्ति के सिद्धान्तों द्वारा जीव और जगत के सम्बन्ध में अपनी-अपनी धारणाएँ स्पष्ट की हैं। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत, द्वैत और शुद्धाद्वैत आदि नये दार्शनिक सिद्धान्तों के माध्यम से माया या परमसत्ता (ब्रह्म) की शक्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाये जाते रहे हैं।

आदिग्रन्थ में दार्शनिक रीति का अनुसरण न करते हुए, भी वाहगुरु की 'कुदरत' उसके 'हुकम' एवं 'इच्छा' के रूप में वाहगुरु द्वारा जगत की रचना की मान्यता को भिन्न-भिन्न शैलियों से प्रतिपादित किया गया है। नदनुसार वाहगुरु सत्य स्वरूप सत्ता है और जगत उसका धारण किया हुआ अपना ही रूप होने के कारण सत्य है— मिथ्या नहीं। माया के उल्लेख भी आदिग्रन्थ में हुए हैं, लेकिन माया से गुरुनानक का आशय मुख्यतः अविद्या से है। वे उसे वाहगुरु की रचना मानते हैं— उसकी 'कुदरत', 'हुकम', 'इच्छा' या 'स्वभाव' नहीं। माया का उल्लेख उन्होंने जीव के अज्ञान के प्रसंग में ही किया है। गुरुनानक के अनुसार माया वाहगुरु के सकेत पर ही जीवों को ससार के सागर में भटकाती रहती है। अभी तक हम और विद्वानों का ध्यान ही नहीं गया है कि वे गुरुमत के अनुसार जगत को वाहगुरु की रचना किस प्रकार से सिद्ध करें, जिससे जगत और ससार दो भिन्न मान्यताएँ स्वीकार की जा सकें। यदि गुरुनानक जगत को मिथ्या मानते तब तो यह कहा जा सकता था कि वे अद्वैत-वेदान्तियों की भाँति ही माया का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं, लेकिन ऐसा है नहीं। प्रस्तुत अध्याय में इसी समस्या पर विशेष विचार किया गया है। सर्वप्रथम भारतीय दर्शन-परम्परा में माया के स्वरूप के बारे में विचार हुआ है ताकि इस सम्बन्ध में समूची पारम्परिक विचारधारा से अवगत हुआ जा सके। नदन्तर दो अलग-अलग शीर्षकों में वाहगुरु की 'कुदरत' एवं उसकी 'माया' की चर्चा कर इस ओर ध्यान दिलाया गया है कि 'कुदरत' और माया गुरुनानक की दृष्टि में दो भिन्न एवं स्वतन्त्र मान्यताएँ हैं। एक का सम्बन्ध जगत की रचना से है और दूसरी (माया) जीव को व्यामोह में डालने वाली वाहगुरु की रची हुई उसकी कुदरत (शक्ति) की ही एक सामर्थ्य विशेष है।

● वेदोपनिषद् एव गीता मे माया का स्वरूप

भारतीय दशन परम्परा मे माया का प्रधान सम्बन्ध आदशवादी जगत की रचना मे रहा है। ब्रह्म को ब्रह्माण्ड का कर्ता मान कर उसके कर्तृत्व के प्रसंग मे उमी की शक्ति के रूप मे ही प्रायः माया की स्वरूप चर्चा की गई है। माया की विशेष ढंग मे चर्चा करते हुए शंकराचार्य ने ऋग्वेद के एक मन्त्र^१ के आधार पर यह कहा है कि जीव और जगत् के रूप मे ब्रह्म (इन्द्र) की प्रतीति होनी है—उनकी यथाथ सत्ता का ज्ञान नहीं। इस प्रतीति का कारण उन्होंने अविद्या (माया) को माना है और यह भी स्वीकार किया है कि माया ब्रह्म के यथाथ स्वरूप को सचनित कर लेती है जिसके कारण वरु ईश्वर के रूप मे भासित होने लगता है। लेकिन वैष्णव आचार्यों को शंकर का जगन्मिथ्या सिद्धान्त प्रस्थानत्रयी के अनुरूप स्वीकार करने मे आपत्ति है अतः उन्होंने जगत की चर्चा के प्रसंग मे शंकर मायावाद का भिन्न भिन्न दृष्टियाँ स खण्डन किया है। शंकराचार्य एवं वैष्णव आचार्य माया सम्बन्धी मायताओं के क्षेत्र मे भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए भी इस विषय मे एकमत है कि वेदो मे हा माया सम्बन्धी दार्शनिक मान्यताओं की मूल धारणाएँ विद्यमान है। अन्तर केवल यह है कि ये आचार्य प्रस्थानत्रयी एवं संहिता मन्त्रों के अर्थों के बारे मे एकमत नहीं है।

सिन्धु घाटी की सभ्यता की खोज स पूर्व भारतीय दशन का आरम्भ विन्दु सञ्ज्ञिताएँ ही मानी जाती रही है लेकिन उसके बाद उपलब्ध नयी सामग्री के आधार पर यह स्वीकार किया जाने लगा है कि आय विचारधारा मे उनके पूर्ववर्ती समाज की विभिन्न धारणाओं का मिश्रण ऋग्वेद के समय मे ही आरम्भ हो गया था। उपनिषत्काल मे याज्ञिक ब्रह्मकाण्ड के स्थान पर अस्यात्म विद्या का विशेष महत्त्व प्राप्त होने की घटना परवर्ती है। प्राचीन दशन साहित्य के आदशवादी व्याख्याकार डा० राधाकृष्णन का मत भी यही है कि नारायण आय पूर्ववर्ती समाज को पराम्त करने के उपरान्त स्वयं उनकी नागरिक सभ्यता मे प्रभावित हुए और कालान्तर मे उन्होंने उनकी बहुतेरी मान्यताओं का अपना भी लिया। इसी तरह के विचार अभिव्यक्त करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भाटम तथ्य का स्वीकार कर लिया है कि परवर्ती ब्राह्मण धर्म आय एवं आर्येतर विचारधारा का मिश्रण है। इस कारण माया सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं पर भी इस मिश्रण का पर्याप्त प्रभाव पडा।

इस विषय मे किसी को भी आपत्ति नहीं कि भारतीय सस्कृति एवं दशन का आधुनिक ढंग पर मुखवस्थित अध्ययन पश्चिमी विद्वानों द्वारा अठारहवीं शताब्दी के

^१ रूप प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूप प्रति चक्षणाय इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरय शतादश ।

^२ ईस्टन रिलिजन एण्ड वेस्टन थॉट ए विजन आफ इण्डियाज हिस्ट्री पृ० ३४,

अन्तिम दशक में आरम्भ हुआ था। उनके द्वारा इस ओर ध्यान दिये जाने के प्रेरणा-स्रोत कुछ भी रहे हों, लेकिन हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है कि ए० ई० १८००, मेक्समूलर, ड्यूसन और जैकोबी आदि विद्वानों ने सर विलियम जोन्स, कोलबुक एवं विलसन के इस दिशा में किये गये कार्य को आगे बढ़ाया और दास गुप्ता राधाकृष्णन, बेलवलकर, हिरियन्ना और विद्याभूषण आदि ने भी इन उपलब्धियों से लाभ उठाते हुए, भारत के अतीत गौरव के पुनर्मूल्यांकन एवं राष्ट्रीय चेतना के जागरण के हेतु एतत्सम्बन्धी अध्ययन प्रस्तुत किये। अतः किसी युग-विशेष की दार्शनिक विचारधारा का अध्ययन, उसके सामाजिक तथा आर्थिक आधार पर ही किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार विचार करने वालों की मान्यता है कि दर्शन अपने आप में पूर्ण नहीं होता। वह मानव-चिन्तन के अन्य पक्षों की भाँति युगीन जीवन की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करता है। इस सम्बन्ध में मार्क्स का विचार है कि अस्तित्व के भौतिक माधनों की मानव की चेतना निर्धारित नहीं करती, बल्कि स्वयं उनका सामाजिक अस्तित्व मानव-चेतना के निर्धारण का कारण बनता करता है। इसके विपरीत आदर्शवादी विचारक वेदों को ईश्वरीय ज्ञान एवं उपनिषदों को वेदान्त मानते हैं। उनका मत है कि उपनिषदों में वैदिक मान्यताएँ ही परिवर्तित ढंग में प्रतिपादित हुई हैं। वे माया की मान्यता का आरम्भ 'इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते' में मानते हैं तथा उपनिषदों में इस विश्वाम की व्याप्ति स्वीकार करते हैं। आचार्य शंकर ने इन्द्र को ब्रह्म मानकर जीव और जगत के रूप में उसका भासित होना स्वीकार किया है। वे अविद्या या माया को ही इस प्रतीति का कारण बताते हैं। लेकिन अन्य ग्रन्थों को दृष्टि में रखकर विचार करने पर ऐसा लगता है कि भौतिकवादी चिन्तकों एवं आदर्शवादी विचारकों की मान्यताओं को सामने रखकर ही वेदोपनिषद् एवं गीता में स्वीकृत माया के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए।

आदर्शवादी विचारकों की यह मान्यता कि माया का उल्लेख वेदों में हुआ है, ठीक है, लेकिन जगत की रचना करने वाली शक्ति के रूप में नहीं। तदनुसार वह इन्द्र का चतुर्थ अथवा शत्रुओं को परास्त करने में प्रयुक्त उसकी योग्यता एवं सामर्थ्य है। इन्द्र वैदिक देवता है, जिसे ब्रह्म का पर्याय स्वीकार करना सम्भव नहीं। तब तक देवाधिदेव की जो धारणा बन रही थी, वह उपनिषदों के ब्रह्म-सिद्धान्त में विलकुल भिन्न प्रकार की थी। जीव और जगत के सम्बन्ध में उपनिषदों की मान्यताएँ उसी रूप में सहित-साहित्य में उपलब्ध नहीं होती। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी सृष्टि की रचना के प्रसंग में ब्रह्म और उसकी शक्ति (माया) के उल्लेख प्राप्त नहीं होते। यज्ञ स्वर्ग की कामना के हेतु किये जाते थे, अतः स्वर्ग की अवधारणा (Concept) आत्म-सिद्धान्त एवं मोक्ष से भिन्न प्रकार की थी। वेदों में माया का वही स्वरूप नहीं है, जैसा कि उसे परवर्ती काल में प्राप्त हुआ है। उस समय के आर्यों के समूचे जीवन-दर्शन में मोक्ष को महत्त्व ही प्राप्त नहीं हुआ था। ब्राह्मण ग्रन्थों में जगत की रचना के

प्रसंग में इसी तथ्य की पुष्टि हुई है कि तब तक ब्रह्म और माया एवं उनके सम्बन्धों के विषय में विचार नहीं गया था। माया में वैदिक चिन्तकों का आशय उनके द्वारा स्वीकृत देवताओं की शक्ति एवं चातुर्य से था—ब्रह्म की सर्जन-शक्ति या उसे आवृत करने वाली अनिवर्त्तनीय मत्ता से नहीं।

माया-सिद्धान्त के लिए शाकर अद्वैतवेदान्तियों एवं वैष्णवाचार्यों ने प्रस्थानत्रयी को ही प्रधान आधार बनाया है। उनका विचार है कि उनके द्वारा प्रतिपादित माया-सिद्धान्त उपनिषदों का ही माया-विचार है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपनिषदों में ब्रह्म के साथ-साथ जगत और जीव के प्रसंग में माया का उल्लेख भी हुआ है, लेकिन तब तक इस सम्बन्ध में किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सका था।

ब्रह्मसूत्रों में भी माया का स्वरूप इतना अधिक लचीला है कि उसमें कोई भी असीम अर्थ निकाला जा सकता है। यदि उपनिषदों में माया के सम्बन्ध में कोई निश्चित अवधारणा बन गयी होती तो ब्रह्मसूत्रों में उसे और अधिक निश्चितता एवं स्पष्टता सहित निबद्ध कर दिया जाता। ब्रह्मसूत्रों के माया सम्बन्धी विचारों के बारे में भी विद्वानों में मतभेद नहीं है। यही कारण है कि आचार्य शंकर एवं वैष्णव आचार्य यह कहते हैं कि ब्रह्मसूत्रों के मूल माया-सिद्धान्त को ही उन्होंने प्रस्तुत किया है। उपनिषदों में माया के स्वरूप के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाये गये हैं, जिसमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि माया का अन्तिम स्वरूप अभी निर्माण की स्थिति में था।

उपनिषदों में सृष्टि की रचना के उल्लेख ब्रह्म-स्वरूप-वर्णन के प्रसंग में ही हुए हैं—स्वतन्त्र रूप में नहीं। तैत्तिरीय एवं छान्दोग्य उपनिषदों के अनुसार 'सत्' को परममत्ता की निराकार अवस्था माना गया है और 'असत्' का प्रयोग नामरूपात्मक ब्रह्माण्ड की अनभिव्यक्त अवस्था के अर्थ में हुआ है। मैत्रायण्युपनिषद् के अनुसार सृष्टि की रचना से पहले की अवस्था अन्धकार की स्थिति है।^१ मुण्डकोपनिषद् के अनुसार परमात्मा (ब्रह्म) ऊर्णनाभ की भाँति अपने भीतर से ही सृष्टि करता है और इच्छा करने पर उसे पुनः स्वयं अपने भीतर समेट भी लेता है।^२ यही मान्यता तैत्तिरीयोपनिषद् में 'मत् सत्ता' द्वारा स्वयं अपने आपको जगत के रूप में साकार करने के रूप में दुहरायी गयी है।

उपनिषदों में ब्रह्म को अनादि चैतन्य मानकर पुनः उसी से देव एवं देवैतर सृष्टि के साकार होने की चर्चा भी मिल जाती है।^३ उपनिषदों के विचार प्रायः 'नामदीय सूक्त' के सृष्टि-सिद्धान्त का ही उपबृंहण है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में

^१ तैत्ति० उप० १-७-१, छान्दो० उप० ६-३-१, ब्रह्म० १-८-१, मैत्रायण्यु० प्रपाठक ४, ५,

^२ छा० उप० ७-२४-१, मुण्ड० उप० खड १, मत्र ७,

^३ श्वे० उप० ५-१८, तैत्ति० उप० २-७, छा० उप० ६-२, वृ० उप० ४-१०-१,

मायिन् (ब्रह्म) की माया के द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना स्वीकार कर ली गयी है। इसने हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म द्वारा अपनी शक्ति के माध्यम से जगत् की रचना करने के रूप में माया को सिद्धान्तिक रूप प्राप्त करने में पर्याप्त समय की प्रतीक्षा करनी पड़ी है। भगवद्गीता में जगत्-विचार के प्रसंग में महद्योनि के रूप में माया के उल्लेख हुए हैं। उपनिषदों में यदि माया को साध्यों की प्रकृति में स्वतन्त्र ब्रह्म की शक्ति के रूप में अन्तिम मान्यता प्राप्त हो गयी होती तो गीता का जगत्-सिद्धान्त प्रस्तुत रूप में न होकर किसी दूसरे रूप में होना। गीता में क्षर और अक्षर से अतीत पुरुषोत्तम की सत्ता को स्वीकार कर लेने के बाद उसकी शक्ति के द्वारा जगत् की रचना के सिद्धान्त का निरूपण हुआ है। तदनुसार पुरुष और प्रकृति को क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र के रूप में वर्णित किया गया है।^१ गीता की उक्त विचारणा को दृष्टि में रखकर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वेदों के इन्द्र की शक्ति या उसके चानुर्य ने ही कालान्तर में उपनिषदों और गीता में ब्रह्म की शक्ति का रूप प्राप्त किया है। शंकराचार्य एवं वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के साक्ष्य पर अपने-अपने माया-सिद्धान्त की प्रस्थापना की है।

^१ गीता, अध्या० १५-१६ से १८, १३-२७, ६-१०.

अद्वैतवेदांत काश्मीर शैव एवं तंत्रदर्शनों में स्वीकृत माया का स्वरूप

● अद्वैतवेदान्त में माया का स्वरूप

अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार माया के प्रभाव या आवरण के कारण ब्रह्म पहले ईश्वर, उसके बाद जीव तथा अन्त में जगत के रूप में भासित होता है। यही कारण है कि वे 'ईश्वर' 'जीव' और 'जगत'—तीनों के यथार्थ अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। वे इन्हे केवल उपाधि, आभास अथवा प्रतीति-अस्तित्व मात्र मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि माया और अविद्या के कारण होने वाली प्रतीति भ्रम है, और वास्तविकता की जानकारी के उपरान्त यह भ्रम दूर हो जाता है। शांकर अद्वैत सिद्धान्त का संक्षेप में यही स्वरूप है।

ऋग्वेद में ऐसे कई मंत्र पाये जाते हैं, जिनमें इन्द्र को अपनी माया के द्वारा अनेक रूप धारण करना हुआ बतलाया गया है।^१ संहिताओं के अन्तिम भाग होने के कारण ही उपनिषदों को वेदान्त कहा गया है। शंकराचार्य का मत है कि उपनिषदों की विचारधारा पूर्वमीमांसा के नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों में सम्बन्धित सिद्धान्तों का विरोध करती है। उनके अनुसार पराविद्या ही उपनिषत्साहित्य का प्रधान प्रतिपाद्य है। वे यह भी मानते हैं कि उपनिषदों में केवल परब्रह्म अथवा निर्गुण ब्रह्म को ही शाश्वत सत्ता स्वीकार किया गया है। शंकराचार्य ने इसी आधार पर शून्यवादी साध्यमिकों के शून्य-सिद्धान्त का खण्डन कर, 'ब्रह्म' की सच्चिदानन्द सत्ता सिद्ध की है।

शंकराचार्य केवल ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता मानते हैं और जीव तथा जगत के आभास या प्रतीति को अन्तःकरण तथा इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत मिथ्याज्ञान का नाम देते हैं। उनका कहना है कि उपर्युक्त कोटि के मिथ्याज्ञान के कारण होने वाली प्रतीति (मायावरण) के हटते ही पुनः सत्य तत्त्व अपने वास्तविक रूप में प्रकाशित

^१ ऋ० वे० ४।७।३३।३, रूप रूप प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूप प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायामि. पुरुष रूप ईयते ह्यस्य हरय शतावश ... ॥

होने लगता है। श्री एम० के० बैकट राय आव्यर ने प्रो० एडिंगटन की चित्त-सम्बन्धी धारणा और शंकराचार्य के इन्द्रिय-मिथ्याज्ञान में पर्याप्त साम्य स्वीकार किया है।^१ दार्शनिक काण्ट के विचार में भी प्रागम्भिक अनुभूतियाँ निर्विशेष एवं स्वतःसंज्ञा ही होती हैं। उन्हें जाति, क्रिया एवं गुणों से सम्बद्ध कर उपस्थित करना चित्त का धर्म है। काण्ट की यह धारणा शंकराचार्य के मिथ्याज्ञान की धारणा से पर्याप्त साम्य रखती है।

शंकराचार्य के अनुसार माया ही ज्ञाता और ज्ञेय को अवास्तविक या विकृत रूप में उपस्थित करती है।^२ वह माया की आवरण और विक्षेप दो शक्तियाँ मानते हैं। उनके अनुसार माया इन्हीं शक्तियों द्वारा अपना कार्य सम्पन्न करती है। अतः बुद्धि अथवा अन्तःकरण के द्वारा सत्य तत्त्व की प्रतीति हमें जिन रूपों में होती है, उसका शुद्ध स्वरूप वही नहीं होना, जैसा हम मान लेते हैं। शंकराचार्य ने इस सिद्धान्त का स्पष्ट तीर पर उल्लेख किया है कि अद्वैत सत्ता (ब्रह्म) इन्द्रियों के सीमित ज्ञान के कारण ही ईश्वर, जीव और जगत् के रूप में प्रतीत होती है। उन के मत में इन्द्रियों की सीमा ही उपाधि है और यह कार्य माया और अविद्या की आवरण-शक्तियों द्वारा सम्पन्न होता है।^३ वे उपाधि को सत्य स्वीकार नहीं करते। तदनुसार उपाधि ही अपने व्यापक रूप में 'सगुण ब्रह्म' की प्रतीति का कारण है और उसी का सीमित रूप जीव और जगत् के रूप में भासित होता है।^४ जगत् के सन्दर्भ में ज्ञाता का सीमा रूप अर्थात् अज्ञान या अविद्या ही माया है। माया ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप का निरोधान करती है। ब्रह्म की ईश्वर के रूप में प्रतीति के उपरान्त जीव के रूप में

^१ अद्वैतवेदान्त, पृ० ६७ (१९६४) पर उद्धृत—“The mind weaves an impression out of stimuli travelling along the nerves to the brain. The notion of the substance possessing the attributes of colour and sound is a pure mental concept”

^२ उपदण सहस्री (शंकराचार्य की रचनार्ण, मैमोरियल मस्करण) (Vol X VI, p 128) —अविद्याकृत एतद् यदिद दृश्यते ध्रुयते वा साधन साधकश्चेति परमार्थतत्त्वेक एवात्मा अविद्या दृष्ट अनेकवत् आभासते।

^३ बही० बाल्य० १६, पृ० २०६ (माया पञ्चगत्तम्) १, निरुपमनित्ये निरशकेऽप्य-काण्डे मयि चित्ति सर्वविकल्पनादिशम्यं घटयति जगदीश जीव-भेदम् त्वघटित घटना प्रतीयन्ती माया ॥

^४ बही० बाल्य० ५, २२८-२९, —“तद् एतत् प्रत्यस्मिन् सत् सर्वोपाधि विशेष सत् निरजन निर्मल निश्चिन्त्य शात एक अद्वयम् —तदत्यन्त विशुद्ध प्रज्ञोपाधि सम्बन्धेन सर्वज्ञ ईश्वरगे भवति ॥ बही० बाल्य० १, पृ० ८९, —“बुद्धिआदि उपाधि कृत विशेष आस्थित्य ब्रह्मैव सन् जीव कर्ताभोक्तृनाञ्जत्युच्यते ॥ बही० बाल्य० १, पृ० १०१, —पर एव आत्मा देहेन्द्रियमनोबुद्धिउपाधिभि परिच्छिद्यमानो बाले. शारीर्युपचर्यते... ॥”

प्रतीति का हेतु अविद्या माना गया है। परन्तु उपाधियों का पूर्णरूपेण तिरोभाव हो जाने के उपरान्त सभी कुछ ब्रह्ममय है।^१

● काश्मीर शैव दर्शन में शक्ति का स्वरूप

भारत के आस्तिक दर्शनों के अन्तर्गत ब्रह्म, जीव और जगत को अनादि एवं स्वतन्त्र मानने वाले दर्शनों की विचारधारा उन दर्शनों की विचारधारा से भिन्न है, जिनमें ब्रह्म को स्वतन्त्र एवं जीव और जगत को ब्रह्म के अधीन माना गया है। शाक्त एवं शैव दर्शनों में परमतत्त्व के अभिधान के अन्तर को छोड़कर और कोई विशेष अन्तर नहीं है। शक्तियों ने शक्ति को परमतत्त्व माना है और शैवों ने शिव को। शाक्तों के सिद्धान्त की आगे चर्चा होगी। यहाँ पर काश्मीर शैव दर्शन के शक्ति-सिद्धान्त का परिचय दिया जा रहा है।

काश्मीर शैव दर्शन 'शक्तिदर्शन' भी कहलाता है और इसे शिवाद्वैत भी कहा गया है। काश्मीर शैव दर्शन के विचारकों में अभिनवगुप्ताचार्य का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने काश्मीर शैव दर्शन की अन्तरात्मा को भली-भाँति स्पष्ट किया है। काश्मीर शैवार्थों के मतानुसार शिव और शक्ति परमशिव या अनुत्तर के कूटस्थ और गति-शील रूप माने गये हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार समूचा ब्रह्माण्ड परमशिव का ही शक्ति रूप है।^२

'शिवदृष्टि' में शिव और शक्ति के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा गया है कि 'परमशिव' असीम, शुद्धमविन् एवं प्रकाश-विमर्श स्वरूप सत्ता है। उसके प्रकाश पक्ष को शिव और विमर्श पक्ष को शक्ति का नाम दिया जाता है।^३ परमशिव के प्रकाश-पक्ष के उपासक उसे 'शिव' कहते हैं और विमर्श पक्ष के उपासकों द्वारा उसे शक्ति का अभिधान दिया गया है।^४ इस प्रकार शाक्त, शिव को शक्ति की अवस्था विशेष मानते हैं। परमशिव के दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष को उपास्य मान लेना उपासक की इच्छा और उसकी रुचि पर निर्भर करता है। आचार्य सोमानन्द ने भी शिव और शक्ति में कोई भेद या अन्तर नहीं माना है। परन्तु स्वयं उन्होंने उसे शिव रूप में ही स्वीकार किया है।

^१ वही वाल्यू० १६, पृ० ८६, अद्वैत पंचरत्नम्, २, — रज्ज्वज्ज्ञानाद् भाति रज्जौ यथा हि स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः ॥ वही० वाल्यू० १२, पृ० ३६८, — "अविद्या परिकल्पितदोषेण तद्विषयवस्तुपारमाधिकं न दुष्यति ॥ वही० वाल्यू० १६, पृ० ६७, आरोपित नाश्रय दूषित भवेत्कदापि मुर्वैर्मति-दोष-दूषितं ॥"

^२ स० मंग० शा० शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमास्तु महेश्वर ॥

^३ शिवदृष्टि, ७।१२ से १४,

^४ शिवदृष्टि, ७।१२ से १४ तक, शिवदृष्टि, ७।१४-१६, — सा शक्ति परमेशस्य सत्स्थिता द्रव्यकर्मवत् । न द्रव्यव्यतिङ्कितास्ति क्रिया न च न विद्यते ॥ न तयापि विना कार्य किञ्चनापि हि जायते । न चापि केवलाद् द्रव्यात् किञ्चनापि प्रवर्तते । तस्मादित्यमिह ज्ञेयं शाक्त रूपभेदवत् ॥

काश्मीर शैवों ने परमशिव की शक्ति को 'शक्ति' न कहकर 'महाशक्ति' कहा है। उनके अनुसार सारा जगत ही शिव-शक्ति रूप है। वे दोनों की समरसता में ही परमशिव की परिपूर्णता को स्वीकार करते हैं।^१ परमशिव का अपरिवर्तित रूप या पक्ष 'शिव' है। उसके ब्रह्माण्ड रूप को शैवों ने 'शक्ति' माना है। इस प्रकार शिव और शक्ति परमशिव के प्रकाश और विमर्श पक्ष हैं। परन्तु स्पन्द इन दोनों में विद्यमान रहता है। स्पन्द के भी दो प्रकार माने गये हैं। तदनुसार आन्तरिक स्पन्द शिव है तथा बाह्य स्पन्द शक्ति। शिव तत्त्व ही परमतत्त्व है जो उत्तरोत्तर अवरोहण कर अकल-वशा से सकल-अवस्था में अवतरित होता है। इसलिए शैव दर्शन में शिव को शक्ति की आत्मा और शक्ति को शिव का स्वभाव माना गया है।

सृष्टि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि उन्मेष और निमेष दोनों ही परमशिव की शक्ति के कार्य हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार परमशिव की शक्ति ही ब्रह्माण्ड-रचना की लीला करती है। शक्ति के द्वारा सृष्टि की रचना करते समय परमशिव 'अकल' से 'सकल' रूप धारण कर लेता है। शैवमतानुसार 'शक्ति' परमशिव द्वारा ब्रह्माण्ड रूप धारण करने का मार्ग अथवा उपकरण है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड की रचना, पालन और सहार शिव की इच्छा रूपी पूर्ण स्वान्त्यशक्ति के ही विभिन्न रूप हैं। 'विज्ञान भैरव' में शक्ति का वर्णन शिव के रूप में करना माना इसी आशय की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।^२

अद्वैत शिव तत्त्व की शक्ति भी असीम एवं अद्वैत मत्ता है। उसकी अनेक-रूपता स्पन्द के कारण मानी गयी है। स्पन्द की प्रथमावस्था को परमशिव की महा-शक्ति कहा जाता है। महाशक्ति के चित् और अचित् दो पक्ष मान लिए गये हैं। चित् पक्ष शाश्वत स्पन्द रूप अथाह सागर है। आनन्द को उसकी तरंग माना गया है।^३ महाशक्ति की अनुसरता ही परमशिवता है। महाशक्ति रूप स्पन्द के कारण परमशिव सतत स्पन्दायित रहते हैं। इस प्रकार परमशिव का अद्वैत और द्वैत के रूप में निर्मोहन-उन्मोहन होता रहता है। चित् और आनन्द का आन्तरिक निस्तरंग-भाव ही 'अनुत्' है एवं उसकी बाह्य निस्तरंगता, बाद में जिमका रूपायन होता है, 'इच्छा

^१ बही० ३१३; शक्ति शक्तिमतीर्भेद शैवे जातु न गण्यते ॥ बही० ३१७; न हिमस्य पृथक् शैव्य नामनरीण्य पृथग् भवेत्... ॥

^२ विज्ञानभैरव, २०-२२; शक्तिअवस्था प्रतिष्ठस्य निर्विभागेन भावना। तदासी शिवरूपी स्यात् शैवो मुखमिहोच्यते ॥ यथालोकेन दीपस्य किरणभंस्करस्यच। ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिव प्रिये... ॥

^३ त० सा० पृ० ६; स्वतन्त्र एक प्रकाश। स्वतन्त्रादेव च देशकालाकारावच्छेद-विरहाद् व्यापको नित्य सर्वाकारनिराकारस्वभाव. तस्य च स्वातन्त्र्यमानन्द-शक्ति, तत्त्वमकार इच्छाशक्ति, प्रकाशरूपता चिच्छाक्ति, आमशक्तिता ज्ञानशक्ति, सर्वाकारयोगिरव क्रियाशक्ति. ॥

शक्ति' कहलाती है। इसे ही शक्तितत्त्व का पूर्ण विकसित रूप माना गया है।^१ शैव दर्शन में परमशिव की इच्छा को परमशिव की कामना न मानकर उसका अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करना स्वीकार किया गया है, जो उसका स्वभाव है। प्रत्याभिज्ञावादियों के अनुसार परमशिव की इच्छा-शक्ति ही अपने स्पन्द स्वभाव से उत्तरोत्तर उच्छलन की प्रक्रिया में ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति का रूप धारण करती है। शैव दर्शन में इसे क्रमशः 'सदाशिव तत्त्व' और 'ईश्वर तत्त्व' कहा गया है।^२

● तंत्र दर्शन में शक्ति का स्वरूप

तांत्रिक माया को शक्ति मानते हैं। समाजशास्त्रियों का विचार है कि समाज में आर्थिक दृष्टि से जिस मेक्स की प्रधानता होती है, उसी लिंग के देवताओं की पूजा का अधिक प्रचलन हो जाता है। दुर्खेम ने धार्मिक विश्वासों के आरम्भिक स्वरूप के निर्माण में इस तथ्य को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है।^३ देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने भी गणेश-चतुर्थी व्रत में स्त्री के महत्व का उल्लेख करते हुए इसी धारणा की पुष्टि की है।^४ वैदिक समाज 'पितृसत्तात्मक समाज' माना जाता है। सम्भवतः इसीलिए मैत्रायणी संहिता में स्त्री को असत्य का पर्याय माना गया है।^५ तैत्तिरीय संहिता में भी सच्चरित्र स्त्री की अपेक्षा असच्चरित्र पुरुष को सम्मानित घोषित किया गया है।^६ कठ संहिता में कहा गया है कि स्त्रियाँ पुरुषों को यौन-लोभ दिखला कर उनसे अभिलषित पदार्थ प्राप्त करती हैं।^७ इन उद्धरणों से यही सिद्ध होता है कि वैदिक समाज में स्त्री की अपेक्षा पुरुष का महत्व अधिक था। इसीलिए उसमें हमें पुरुष देवता की प्रमुखता मिलती है। ऊपर समाजशास्त्रियों की जिस मान्यता का उल्लेख किया गया है, उनकी दृष्टि में समाज की ऐसी स्थिति पुरुष अथवा स्त्री द्वारा धनोपार्जन करने से सम्बन्धित है। समाजशास्त्रियों का अनुमान है कि देवी और देवताओं की पूजा समाज द्वारा अतिमानवी शक्तियों में विश्वास का परिणाम है। वे यह भी मानते हैं कि युग विशेष का समाज अपने में से ही किसी स्त्री या पुरुष

^१ शिवदृष्टि, १-१६, २०, तदेवं प्रसूतो देव कदाचिच्छक्तिमात्रके। विभर्ति रूपमिच्छात ॥

^२ प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, १-१ से ३, ज्ञानक्रियाशक्ती एव स्वभाविकभावप्ररूढ भेदोन्मेषे सदाशिवेश्वरो..... ॥ शिवदृष्टि, २-१, ज्ञानशक्तिमान् सदाशिवः उद्विक्तक्रियाशक्तिरीश्वर ... ॥

^३ धार्मिक विश्वासों के प्रारूप, (अगरेजी)

^४ लोकायत, पृ० २२२, (१६५६) वही० पृ० २४२,

^५ मैत्रायणी संहिता, १।१०।६।८, वही० २।६।३,

^६ तैत्तिरीय संहिता, ६।५।८।२,

^७ कठ संहिता, ३।११,

को अतिमानवी शक्ति के स्वरूप में कल्पित कर लिया करता है। समाज में स्त्री जाति की प्रधानता होने पर स्त्री देवता की कल्पना की जाती है और पुरुष की प्रधानता की स्थिति में पुरुष देवता की।

तांत्रिक दर्शनों में प्रायः परमसत्ता को शक्ति के रूप में ही स्वीकार किया गया है। उनके यहाँ शक्ति परमत्व है और वही ब्रह्माण्ड के कार्य-व्यापार की प्रेरिका शक्ति है। तांत्रिकों ने सांख्य की 'मूल प्रकृति' (गुणों की साम्यवस्था) की स्थिति को ही एक प्रकार से कर्तृत्व शक्ति के रूप में स्वीकार कर लिया है। उपनिषदों तथा अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में ब्रह्म का जो स्वरूप है, प्रायः वही तांत्रिकों की शक्ति का भी है। तत्रों में मूलप्रकृति अर्थात् शक्ति और शिव के अलग-अलग उल्लेख तो मिलते हैं, परन्तु दोनों में परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध पर ही अधिक बल दिया गया है। वस्तुतः 'शिव और शक्ति' उनके यहाँ एक ही परमतत्त्व की दो स्थितियाँ हैं। वे शिव को 'अकुल' और शक्ति को 'कुल' मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि शक्ति शिव के बिना और शिव शक्ति के बिना ससार की रचना करने में असमर्थ है। सांख्य दर्शनानुसार तीनों गुणों की साम्यवस्था ही प्रकृति है। वेदान्तियों ने इसे ब्रह्म की शक्ति (माया) मान लिया है। ब्रह्म की निष्कल दशा में भी उसकी कलाएँ अव्यक्त रूप में उसमें समाहित रहती हैं। ऐसी स्थिति में उसे गुणातीत या निर्गुण माना गया है और जब वह अपनी कलाओं को व्यक्त कर सकल-दशा में हो जाता है, तब उसे सगुण मान लिया जाता है। ठीक इसी प्रकार तांत्रिक विचारधारानुसार शिव निर्गुण भी है और सगुण भी। अपनी निष्कल स्थिति में वह 'परमतत्त्व शिव' होता है और सकल-दशा (मगुणावस्था) में वही शक्ति का अभिधान प्राप्त कर लेता है।

'पटुचक्रनिरूपण' में जीव को ही परमात्मा बतलाया गया है। अर्थात् जब दशम द्वार में कुण्डलिनी रूप प्राणशक्ति (जीव) ब्रह्म से सामरस्य प्राप्त करती है, तब जीव और ब्रह्म दो अलग-अलग चैतन्य नहीं रह जाते। कुण्डलिनी के रूप में शक्ति के भी सगुण और निर्गुण दो पक्ष माने गये हैं। शक्ति के इन दो पक्षों में से एक को निमित्त कारण (चिच्छक्ति) एवं दूसरे को निमित्तोपादान कारण (सगुण शक्ति) कहा गया है। वही कार्य-विभावितो अर्थात् सृष्टि की रचनहार सत्ता है। 'महानिर्वाणतत्र' के अनुसार वह परमात्मा की 'पराप्रकृति' है।^१ तांत्रिकों की यह विचारधारा माया को मूल प्रकृति के रूप में स्वीकार करती प्रतीत होती है। उनके अनुसार माया अथवा मूलप्रकृति अथार्थ या अवास्तविक सत्ता नहीं है। वह तो ब्रह्म का ही सक्रिय पक्ष है। 'महानिर्वाण तत्र' के टीकाकार भारती ने यह स्वीकार किया है कि महानिर्वाण तत्र का दार्शनिक चिन्तन ब्रह्म के स्वगत भेद के सिद्धान्त को भी स्वीकार करता है।^२

^१ महानिर्वाण तत्र, अध्या० ४।५।१०,

^२ वही० अध्या० २।५।२४,

तान्त्रिक माया को अनादि एवं सत्य तत्त्व मानते हैं। इस सम्बन्ध में महा-निर्वाणतन्त्रकार का मत है कि अवस्तु या अयथार्थ केवल नाम और रूप है।^१ परिवर्तन धर्मा होने के कारण ही उसे असत् मान लिया जाता है। नामरूपाकार में हम जिस ब्रह्माण्ड को देखते हैं, वह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। केवल इसीलिए उसे असत् कह दिया जाता है। तान्त्रिकों के अनुसार माया ईश्वर का अनादि शरीर है। इसलिए वे ब्रह्माण्ड को भी शिव की भाँति ही सत्य मानते हैं। 'कुलार्णवतन्त्र' में यथार्थ और मिथ्या के विवाद को ही व्यर्थ का झगड़ा बतला कर ब्रह्म को द्वैत और अद्वैत से परे माना गया है। तदनुसार दोनों ही शिव के इस द्वैताद्वैतविवर्जित स्वरूप को पहचानते ही नहीं हैं।^२

अभिनवगुप्त के गुरु लक्ष्मण सेन की रचना 'शारदातिलक' में सृष्टि-सिद्धान्त का उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से हुआ है :

सृष्टि की रचना महामाया की लीला है। सृष्टि की उत्पत्ति के लिए जीवों के कर्म ही उत्तरदायी हैं। कर्म और सस्कार परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। दोनों एक दूसरे के परिणाम हैं। सृष्टि, स्थिति और प्रलय महामाया की प्रकृति-लीला है। 'ललित सहस्रनाम' में महामाया के नेत्रों का उन्मीलन और निमीलन ब्रह्माण्ड की सृष्टि और लय का प्रतीक माना गया है। तदनुसार कर्मों का आरम्भ या उदय महामाया की इच्छा से होता है। महामाया के रूप में ब्रह्मा, जीवों के प्रति अनुकम्पा के भाव में ही विश्व का रूप धारण करता है। ईक्षणा, काम, विचिकीर्या आदि महामाया की इच्छा के कई नाम हैं।

तान्त्रिकों के उपर्युक्त सृष्टि-सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म का स्पन्द ही उसकी इच्छा के आकार में 'सदृश परिणाम-दशा' है। वही से शक्ति द्वारा विश्व के निर्माण का कार्य आरम्भ होता है। सांख्यो के प्रकृति-परिणाम के सिद्धान्त को तान्त्रिकों ने सदृश परिणाम-सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया है। 'सदृश परिणाम' के

^१ महानिर्वाणतन्त्र अध्या० ३।५।७,

^२ कुलार्णवतन्त्र, अध्या० १/११०; उडरफ एवेलॉ, Creation As Explained in the Tantras; pp. 11-12;—"The tantra, it has been said, takes into its arms as if they were two children, both Dualism and Monism offering by its practical method—Sadhana and the spiritual knowledge generated there, by the means by which there antimonies are resolved and harmonized. Its' purpose is to give liberation to the Jiva by the method according to which monistic truth is reached through the dualistic world; immersing its Sadhakas in the current of divine Bliss by changing duality into unity and then evolving from the latter a dualistic play, thus proclaiming the wonderful glory of the spouse of Paramshiva in the love embrace of matter (जड़) and spirit (चेतन्य)।"

अन्तर्गत मूलतत्त्व अर्थात् शक्ति अथवा शिव में किसी भी अवस्था में, किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव ही नहीं है। अतः वे ब्रह्म के साथ ही माया में भी किसी प्रकार के परिणाम या परिवर्तन को नहीं मानते। क्योंकि उनकी दृष्टि में माया ईश्वर का शरीर है। 'शारदातिलक' में यह भी कहा गया है कि सच्चिदानन्द, सकल परमेश्वर से शक्ति का उद्भव होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि परमेश्वर ही शक्ति के रूप में सृष्टि का रूप धारण करता है। किन्तु शक्ति का रूप धारण कर लेने पर भी परमेश्वर के ऐश्वर्य में किसी प्रकार की कोई न्यूनता नहीं आती।

शाक्तों ने शक्ति द्वारा सृष्टि की रचना की एक और प्रक्रिया का भी उल्लेख किया है। तदनुसार शक्ति से 'नाद' की, और नाद से 'बिन्दु' की उत्पत्ति मानी गयी है। कुछ तन्त्रों में शक्ति के छः प्रधान पक्ष स्वीकार किये गये हैं। शैवतन्त्र परमशिव की पाँच शक्तियों को सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते हैं। शारदातिलककार ने शक्तियों की इस सख्या को बढ़ा कर सात कर दिया है। शक्ति द्वारा सृष्टि के क्रम का वर्णन 'प्रपञ्चतन्त्रसार' का मुख्य प्रतिपाद्य है। उडरफ एवेला ने उसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—“शक्ति सर्वप्रथम तत्त्व है। वह चित् के प्रभाव के कारण क्रियाशील होती है और धीरे-धीरे स्थूल शरीरिणी बन जाती है। उसकी यह अवस्था बिन्दु रूप है। यही उसका धनीभूत रूप अथवा उसकी प्रथम स्थूल अवस्था है।”^१

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि बिन्दु रूप शिव ने ही ब्रह्माण्ड-रूप (सगुण रूप) धारण किया हुआ है। अतः 'अव्यक्त बिन्दु' ही विश्व का बीज है और शक्ति 'कार्य बिन्दु' है। इस प्रकार शिव और शक्ति का बिन्दु रूप ही विश्व-सर्जना का प्रथमोन्मेष है। इसे 'ब्रह्माण्ड' 'प्राण की अपूर्ण कामना' 'विश्व का परिणाम, या 'प्रकटीकृत रूप' आदि विभिन्न अभिधान दिये गये हैं।

तान्त्रिकों के शक्ति-सिद्धान्त के अनुसार 'जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में' है। उनके विचार में माया शक्ति का रूप है। तदनुसार जीव का साध्य यही है कि वह कुण्डलिनी रूप माया को शिव के साथ एकाकार करे। इस साधना में सफलता प्राप्त करना ही जीव की मुक्ति है। कालिदास द्वारा 'वागार्याविव सम्पृक्तौ' का उल्लेख शिव के गतिशील पक्ष अर्थात् उसकी शक्ति की ओर संकेत करता है। शक्ति और जगत के सम्बन्ध में तान्त्रिकों की धारणा के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे जगत को मिथ्या अथवा भ्रम नहीं मानते।

^१ Creation As Explained in the Tantras, P. 17,—“She who is in the first place tattva (Mere thatness) quickens under the influence of 'Cit' which she reflects, then she longs to create and become massive and appears as Bindu. Ganibhuta means that which was not dense or GHAN but which has become sothis is the first gross condition. The Brahman associates with Maya in the form of Karama assures the aspect in which it is regarded as the primal cause of the subtle and gross bodies ”

शक्तों ने शक्ति की स्तुतियाँ विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से की हैं। देवी की प्रतीकात्मक स्तुति के स्पष्टीकरण के लिए निम्न उदाहरण पर्याप्त होगा :

“कृष्णा देवी के खुले केश जलप्लावित मेघ हैं। वह मुण्डों की माला पहनती है। उसके हाथों में तलवारें हैं। उसके एक हाथ में राक्षस-मुण्ड है तथा वह चारों ओर से भूत-प्रेतों से घिरी हुई है। उसके मुख से रुधिर की धारा प्रवाहित हो रही है। अपने एक हाथ को उठाकर वह विश्व को अभय-दान दे रही है। उसके चरणों में महाकाल धराशायी हुआ पड़ा है।”

शक्ति का उपर्युक्त रूप ब्रह्म की शक्तियों का प्रतीक है, जिसमें काला रंग ब्रह्म के विस्तार का, केश-जाल मेघों की व्यापकता का और तलवार संहार का सूचक है। काली का अधोमुखी हाथ विश्व को अभयदान दे रहा है। महाकाल यहाँ समय का प्रतीक है। मुण्डों की माला पापियों का संहार करने की शक्ति अथवा प्रलयकर सामर्थ्य का सूचक है। तीसरा नेत्र ज्ञान का नेत्र है। शंकरचार्य ने भी ‘सौन्दर्य लहरी’ में देवी की स्तुति की है। गीता में भगवान के विराट रूप का वर्णन और तान्त्रिकों द्वारा की गयी शक्ति की प्रतीकात्मक स्तुतियाँ एक ही सिद्धान्त की विभिन्न व्याख्याएँ प्रतीत होती हैं। इन सभी उदाहरणों तथा उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यही परिणाम निकाला जा सकता है कि तान्त्रिक, शक्ति के अर्थ में ही माया के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। उनके विचार में वह परमसत्ता की शक्ति है तथा परमसत्ता के रूप में ही उपासक द्वारा उपासना का विषय भी। इसलिए शक्ति, शक्ति को ही उपासना मानते हैं। उनकी दृष्टि में शक्ति और शक्तिमान में परस्पर अभेद है। शिव का सक्रिय पक्ष होने के कारण उनके लिए शक्ति की ही उपासना अधिक स्वाभाविक है।

● विशिष्टाद्वैत में माया का स्वरूप

शंकराचार्य के मायावाद के प्रभाव के कारण वैष्णव भक्ति के मार्ग में बाधा अनुभव करते हुए वैष्णवाचार्यों को उसका खण्डन करना पड़ा। रामानुजाचार्य ने शांकर अद्वैतवाद के विरोध में जिस सिद्धान्त का निर्माण किया, वह विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। उनके सम्प्रदाय को 'श्री वैष्णवमत' कहा जाता है। विशिष्टाद्वैत की व्याख्या करते हुए उन्होंने बतलाया है कि परमतत्त्व सत्ता चिदचिद्विशिष्ट है। वे परमतत्त्व को विष्णु, वासुदेव या नारायण किसी भी नाम से सम्बोधित करने में सकोच नहीं करते।^१ रामानुजाचार्य का कहना है कि जीव माया-सवलित बुद्धि—'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है'—के कारण शरीर के धर्मों और व्यापारों में अहंभाव का अनुभव करने लगता है। इसलिए वह मिथ्या वन्धनों में फँस जाता है। वही जीव जब इस प्रकार की भ्रात धाराओं से ऊपर उठकर प्रभु की शरण में अपने आप को समर्पित कर देता है तो भव-सागर का सतरण कर जाता है।

भगवान् कृष्ण ने गीता में प्रकृति को अपनी योनि बतलाया है। तदनुसार प्रकृति और भगवान् का संयोग ही ब्रह्माण्ड की रचना का प्रधान कारण है। प्रकृति परमात्मा की अधीनता में कर्मों के अनुरूप सचराचर जगत् की रचना करती है। उसके मतानुसार परमात्मा स्वयं प्रकृति में प्रवेश किए हुए है।^२ परमात्मा की 'प्रकृति' उसकी शक्ति है अथवा परमात्मा प्रकृति में प्रवेश करता है—गीता के अनुसार ये दोनों बातें एक हैं। क्योंकि दोनों विचार परमात्मा द्वारा विश्व की रचना के सिद्धान्त

^१ यतीन्द्रमत दीपिका; "वस्तुतस्तु वेदान्तानां चिदचिद्विशिष्टाद्वैतं एकमेव ब्रह्म इति तात्पर्यम्। अत एव चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म एकमेवेति मत्वा भगवान् बादरायणः" अथातो ब्रह्म जिज्ञासा इति उपक्रम्य तदेव सप्रकारं निरूपितवान्। अतः चिदचिद्विशिष्टः ब्रह्मशब्दवाच्यः विष्णुवाच्यः परवासुदेवो नारायण एवैकम् इति विशिष्टाद्वैतवादिना दर्शनमिति प्रसिद्धम् ॥

^२ भगवद्गीता, रा० भाष्य अध्या० ६।१०; भयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कीर्तये जगद्विपरिवर्तते ॥ वही० अध्या० १४।६; ममयोनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

से सम्बन्धित है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि सृष्टि की रचना करते समय परमात्मा अपने चित् और अचित् अंशों को ही विश्व का रूप प्रदान करता है।

भागवत पुराण में समूचे सृष्टि विधान को ही भगवान् वासुदेव की माया बतलाया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य दर्शन का प्रकृति-सिद्धान्त भागवत पुराण में मान्य नहीं है। रामानुजाचार्य भागवत पुराण को अपने सिद्धान्त के लिए प्रमाण ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि उन्होंने भी प्रकृति को स्वतन्त्र नहीं माना है। उन्होंने पुरुषोत्तम की प्रकृति के 'परा' और 'अपरा' रूप में दो पक्ष माने हैं। यह भी कहा गया है कि अपरा प्रकृति 'परा प्रकृति' में एकीभूत रहती है।^१ प्रकृति अथवा माया के सम्बन्ध में 'वैष्णव मताब्जभास्कर' में व्यक्त विचार भी इसी धारणा का अनुमोदन करते हैं। तदनुसार माया या भगवान् की शक्ति के स्वरूप की चर्चा इस प्रकार की गयी है।

“प्रकृति तत्त्वविद्, विकार रहित, सकल विश्व का कारण, एक होकर भी अनेक प्रकार से शोभित, शुक्लादि अनेक वर्णों से युक्त, सत्य, रज एवं तम आदि गुणों की आश्रय, अव्यक्त एव प्रधान स्वरूपा, सदा ईश्वराधीन एवं महत्त्व और अहंकारादि की भी कारण सत्ता है।”^२

‘वैष्णवमताब्ज भास्कर’ में दिये गये प्रकृति के उक्त स्वरूप तथा सांख्य दर्शन के अनुसार स्वीकृत प्रकृति के स्वरूप में मुख्य अन्तर यही है कि वैष्णवाचार्य रामानुज के विचारानुसार प्रकृति, परमेश्वर की अधीनस्थ माया है। परन्तु सांख्यो ने प्रकृति के स्वरूप और उसके कार्यों का जिस रीति से वर्णन किया है, वह केवल पुरुष के सामीप्य की ही आवश्यकता अनुभव करती है। अन्यथा वह जड़ होते हुए भी सृष्टि का विकास करने में पूर्ण सक्षम मानी गयी है।

विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में लक्ष्मी, सीता और राधा आदि के रूप में हमें माया-शक्ति के वर्णन प्राप्त होते हैं। ‘आदि ग्रन्थ’ में भी ये नाम कहीं-कहीं आये हैं, परन्तु उनके पीछे दूसरे प्रकार की चिन्तन-धारा है। पौराणिक धर्म-मतों में इन नामों को वास्तविक एवं वासुदेव नारायण आदि की शक्तियों के रूप में ही स्वीकार किया गया है। पञ्चरात्र साहित्य में भगवान् की माया-शक्ति द्वारा तीन प्रकार की सृष्टि का उल्लेख मिलता है—शुद्ध, अशुद्ध और निम्न सृष्टि। पहले प्रकार की सृष्टि शुद्ध सृष्टि है। शुद्ध सृष्टि करने वाले स्वयं वासुदेव हैं। वैष्णव ग्रन्थों में नारायण के कोस्तुम आदि आभूषणों और शस्त्रों आदि के भी वर्णन मिलते हैं। ये आभूषण और

^१ भागवत पुराण, ११-३-३, वही० ११-३-८, गीता, अध्या० ८।७-८, वही० अध्या० १५।७ से ९, वही० अध्या० ७।४ से ७, छान्दोग्य० ६-३-२, यथोक्त-नाभिः सृजते गुरुते च।

^२ वैष्णवमताब्ज भास्कर, दास, पृ० २,

शस्त्र भगवान् नारायण की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। इस प्रकार माया-शक्ति के रूप में भगवान् नारायण को ब्रह्माण्ड का निमित्तोपादानकारण मान लिया गया है।

अशुद्ध सृष्टि को 'कूटस्थ पुरुष' और 'माया शक्ति' का सम्मिलित रूप माना जाता है। इसकी व्याख्या करते हुए 'लक्ष्मी तन्त्र' में कूटस्थ पुरुष को बद्ध जीवों का उत्स और अग्निम शरण—दोनों ही माना गया है। तदनुसार सभी बद्धजीव कूटस्थ पुरुष से उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसी में लौट जाते हैं।^१ वहीं पर यह भी बतलाया गया है कि कूटस्थ पुरुष और जीवों का जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध सम्पूर्ण तत्त्वों और माया शक्ति का भी है। गीता में भी इस प्रकार के संकेत मिल जाते हैं।^२

निम्न सृष्टि के लिए कहा जाता है कि वह तीनों गुणों के क्षोभ का परिणाम है। तदनुसार तीनों गुण जिस समय तक अक्षोभावस्था में रहते हैं, निम्न सृष्टि की रचना नहीं होती। परन्तु जब उनमें क्षोभ होता है, निम्न सृष्टि साकार होने लगती है। यह भी स्वीकार किया गया है कि आदि पुरुष की इच्छा से सभी तत्त्व एकत्रित होकर पद्मनाभ की नाभि से एक अणु का आकार ग्रहण कर प्रकट होते हैं। यही ब्रह्म की सृष्टि है। प्रकृति या माया द्वारा सृष्टि की रचना की यही सक्षिप्त प्रक्रिया है। वैष्णव दर्शनों के अनुसार जगत सत्य है क्योंकि ब्रह्माण्ड का सारा प्रसार परमात्मा से भिन्न नहीं है। वह उसी की शक्तियों द्वारा धारण किये हुए भिन्न रूप है।^३ परमात्मा सत्य सत्ता है। इसलिए उससे उद्भूत होने वाला जगत अमृत नहीं हो सकता। उपादान सामग्री यदि सत् होगी तो उससे बनी हुई वस्तु भी नाम-रूप को छोड़कर सत्य ही मानी जायगी। यह भगवान् का गुणेश्वर्य है कि जगत का रूप धारण करने पर भी वह पूर्ण ही बना रहता है। उनके अनुसार माया मिथ्या या आभास नहीं है। उनका विचार है कि कण-कण में ब्रह्म समाया हुआ है। इसलिए जगत को असत्य मानना उचित नहीं।^४ जगत परमसत्ता की शक्ति की रचना है।

● द्वैत एवं द्वैताद्वैत में माया का स्वरूप

मध्वाचार्य की दार्शनिक प्रणाली (द्वैत) के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा के बीच यथार्थ भेद है। मध्य जगत को भी जीवात्मा और ब्रह्म की भाँति शाश्वत यथार्थ ही स्वीकार करते हैं। अतः द्वैत-सिद्धान्त के अनुसार उक्त तीनों का अलग-

^१ लक्ष्मीतन्त्र, ७।१ से २,

^२ गीता, अध्या० १०-६, महर्षय सप्त पूर्वो चत्वारो मनवस्तथा। मद्भावा मानसा जाता येषा लोक इमाः प्रजा।

^३ लक्ष्मीतन्त्र १६-२ से ४, पद्मतंत्र, १-५-१६ से २१,

^४ श्रीनिवासाचारी, पृ० ८२-८३, वही० पृ० ४६, वही० पृ० २८४,

अलग स्वतन्त्र अस्तित्व है। मध्व ज्ञान के हेतु ज्ञाता और ज्ञेय का स्वतन्त्र एवं अलग होना आवश्यक मानते हैं तथा परिमित, अपूर्ण एवं अज्ञानमय जीवात्मा की तुलना में परमात्मा को अपरिमित, पूर्ण एवं सर्वज्ञ स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उन्होंने जीवात्मा को पूर्ण स्वतन्त्र परमात्मा के अधीन एवं उस पर निर्भर ही स्वीकार किया है। तत्त्वोद्योत में मानव-मस्तिष्क के बाहर जगत का अस्तित्व स्वीकार कर माया के कारण जगत की मात्र प्रतीति सत्ता का खण्डन किया गया है। जाकर मायावाद के विरुद्ध मध्व इसी प्रधान युक्ति का सहारा लेते हैं। उनका मत है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्षण के द्वारा प्राप्त साक्ष्य को आद्योपान्त अस्वीकार नहीं किया जा सकता।^१

मध्वाचार्य ने जगत के सभी पदार्थों को प्रकृति में होने वाले उत्तरोत्तर परिणाम एवं परिवर्तन स्वीकार किया है। वे प्रकृति को सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों का आधार एवं मूल स्रोत मानते तो हैं, लेकिन सांख्यो की भाँति उमें पूर्ण स्वतन्त्र स्वीकार नहीं करते। अतः उनके अनुसार जगत का प्रथम कारण प्रकृति न होकर परमात्मा (विष्णु) है। विष्णु (ब्रह्म) को उन्होंने सर्वशक्तिमान, दोषो एवं सीमाओं से अतीत माना है। विष्णु की कृपा से प्राप्त मुक्ति ही उनके अनुसार जीव का ब्रह्म-साक्षात्कार है, जिसे वे पूर्ण आनन्द की अवस्था मानते हैं। अतः द्वैतवाद के अनुसार माया प्रभु की शक्ति है, जिसने जगत के मूल कारण की आज्ञा से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जन्म देकर उसे आधार प्रदान किया हुआ है।

द्वैताद्वैत में आचार्य निम्बार्क ने ब्रह्म की अवधारणा राधा के शाश्वत प्रेमी भगवान् कृष्ण के रूप में की है। इसके अनुसार ब्रह्म, चित् और अचित् तीनों शाश्वत सत्ताएँ हैं। निम्बार्क का मत है कि ब्रह्माण्ड का उद्भव त्रिगुणात्मिका प्रकृति से हुआ है। तदनुसार प्रकृति ब्रह्म पर निर्भर है—सांख्यो की भाँति स्वनिर्भर नहीं। मानव-आत्मा का आधार उन्होंने 'चेतना' माना है, जिसे वे अ-भौतिक एवं शरीर से भिन्न मानते हैं। आत्माओं को वे शाश्वत एवं अनन्त स्वीकार करते हैं। जीव और जगत में ईश्वर से भेद और अभेद, दोनों स्वीकार करते हुए निम्बार्क ने दोनों (जीव-जगत) की विशिष्ट यथार्थता भी मानी है। यह विशिष्टता जीव और जगत के अलग-अलग अस्तित्व परन्तु उनके द्वारा परमात्माश्रित होने में है। द्वैताद्वैत में भेदाभेद की समस्या शकर की भाँति व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दृष्टि से नहीं सुलझायी गयी। निम्बार्क सूर्य एवं सूर्य की किरण का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जीव और जगत का भेद उसी प्रकार यथार्थ है जिस प्रकार सूर्य के साथ ही सूर्य-किरण का। जिस प्रकार सूर्य-किरण सूर्य पर निर्भर है, उसी प्रकार जीव और जगत ब्रह्म-निर्भर है। प्रकृति या ब्रह्म की आल्हादिनी शक्ति के द्वारा जगत की रचना करना ब्रह्म-वीला माना गया है। अतः यह कहा जा सकता है कि द्वैताद्वैत के अनुसार ब्रह्माण्ड का

^१ एन० आर० शर्मा द्वारा अनूदित-मध्वाज टीचिंग्स इन हिज ओन वर्ड्स, पृ० ५७।

उद्भव करने वाली प्रकृति है, जो ब्रह्म पर निर्भर होने के कारण उसकी इच्छा के अधीन है और वही जगत् की रचना करती है।

● शुद्धाद्वैत में माया का स्वरूप

‘माया’ शब्द ऋग्वेद में भी मिलता है लेकिन उसका प्रयोग देवताओं के चातुर्य एवं उनकी बुद्धि के अर्थ में ही हुआ है। तदनन्तर माया के अर्थ में परिवर्तन के कारण उपनिषदों में उसे ब्रह्म की शक्ति मान लिया गया है। शंकराचार्य ने ब्रह्म के स्वरूप की निर्विशेषता की सिद्धि के लिए माया-सिद्धान्त का निरूपण किया, जो कालान्तर में शांकर मायावाद कहलाया। वैष्णव आचार्यों ने शंकराचार्य के जगन्मिथ्या की धारणा का खण्डन एवं जीव की प्रतीति सत्ता की मान्यता के निरसन के हेतु ब्रह्म के स्वरूप को फिर से व्याख्यात किया और उसे माया-पति सिद्ध कर माया द्वारा उसे अपने आवरण में लेने की शांकर मान्यता का विरोध किया। इसी प्रसंग में उन्होंने जीव-सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है। वल्लभाचार्य ने जीव को ब्रह्म का ही चिद्वश माना और आनन्दान्न के तिरोभाव की स्थिति में ब्रह्म को ही जीव स्वीकार किया है। उनके अनुसार ब्रह्म स्वयं जीव और जगत् का रूप धारण करता है ताकि वह अपनी इच्छा के अनुसार रमण कर सके। माया ब्रह्म की शक्ति मानी गयी है। उसी के द्वारा वह (ब्रह्म) जीव और जगत् का रूप धारण करता है। उपनिषदों में आता है कि परमसत्ता अकेले रमण नहीं कर सकती थी। इसलिए उसने एक से अनेक होने की कामना की और अपनी शक्ति द्वारा जीव और जगत् का रूप धारण किया। परब्रह्म की शक्ति के उल्लेख ब्रह्मसूत्रों एवं गीता में भी प्राप्त होते हैं। भागवत पुराण के दसवें स्कन्ध के जन्म-प्रकाश प्रकरण की टीका में महाप्रभु वल्लभाचार्य भगवान की बारह शक्तियों का उल्लेख कर, माया को उसकी प्रधान शक्ति मानते हैं। गीता के साक्ष्य पर उन्होंने माया के विद्या और अविद्या—दो भेद भी स्वीकार किए हैं।^१

भागवत पुराण के अनुसार शक्ति, विद्या और अविद्या के रूप में भगवान की माया क्रमशः जीव को भगवत्साक्षात्कार करवाने एवं उसे बन्धन में डालने का कार्य करती है। सुबोधिनी की व्याख्या में आचार्य बल्लभ ने भगवान की शक्ति विद्या माया को जगत् का कारण माना है। इसे उन्होंने भगवान की योगमाया भी कहा है। माया के दूसरे अर्थात् अविद्या रूप को वे व्यामोहिका बतलाते हैं, जो जीव को आवागमन के बन्धन-भँवर में भटकती रहती है।^२ भागवतपुराण में जीव की ब्रह्म-भावरूपा बुद्धि को आच्छादित करने वाली शक्ति के रूप में अविद्या माया का वर्णन

^१ गीता, अध्या० ७-१४,

^२ गीता, ७-१४, वैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाभेतांतरन्ति ते ॥

किया गया है।^१ अतः जो जीव व्यामोह के वशीभूत हो जाते हैं, वे असत्य को सत्य और सत्य को असत्य मानने लगते हैं। लेकिन जो व्यामोहिका अविद्यामाया से पीछा छुड़ा कर भगवान की योगमाया की शरण ग्रहण करते हैं, वे सर्वात्मभाव के बोध को प्राप्त कर लेते हैं। योगमाया भगवान की लीलोपयोगिनी बतलायी गयी है, जिसकी शरण से जीव को भगवान के साक्षात्कार की प्राप्ति होती है। गीता में बतलाया गया है कि भगवान स्वयं अविद्यामाया के द्वारा जीवों को आसुरीभाव की ओर नियोजित करता है। अर्जुन को सम्बोधित कर भगवान ने कहा है कि यह अविद्या माया ही जीवों की विवेक बुद्धि का अपहरण करती है।^२ भागवतपुराण में एक कथा आती है, जिसमें वृत्रासुर भगवान से प्रार्थना करता है कि वे उसे उन ससारी जीवों की संगति से बचा लें जिन्हें उनकी अविद्यामाया ने उन (भगवान) से विमुख बनाकर सांसारिक आसक्तियों में भटका रखा है।^३ शुद्धाद्वैत के अनुसार अविद्यामाया से बचने का एकमात्र उपाय भगवत-शरण है। माया भगवान की अधीनस्थ शक्ति है। अतः जो भगवान की शरण ग्रहण करता है, वह उसकी दासी अविद्यामाया के अधीन नहीं हो सकता। शुद्धाद्वैत का माया-सिद्धान्त मक्षेप में यही है कि भगवान (परब्रह्म) की योगमाया शक्ति के दो रूप हैं—एक विद्यामाया और दूसरी अविद्यामाया। विद्या-माया जगत की रचना का कारण है और अविद्यामाया जीव को समारी बनाकर उसे व्यामोहित करती है। अविद्यामाया की व्यामोहिका शक्ति के कारण जीव भगवान से विमुख हो जाते हैं और जागतिक आसक्तियों में भटककर आवागमन के जाल में उलझे रहते हैं। इसके विपरीत जिन्होंने भगवान की विद्यारूपा योगमाया की शरण ग्रहण की है वे भगवत-शरण प्राप्ति और उसके अनुग्रह से पुनः अपने आनंदाश का लाभ कर लेते हैं।

^१ भा० पुरा० २-६-३३, ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयते च न प्रतीयते चात्मनि। अविद्यादात्मनो मार्या यथाऽऽभासो यथा तमः ॥

^२ गीता, माययापहृतज्ञानाः आसुरं भावमाश्रिताः ॥

^३ भा० पु० ६-११-५७, ममोत्तमं श्लोकं जनेषु सत्यम्। संसार-चक्रे भ्रमतः स्वकर्म-मिस्त्वन्माययात्मजदारोग्येऽप्यासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥

● 'कुदरति', 'माया'

आदिग्रन्थ के अनुसार माया की रचना भी बाह्यगुरु ने ही की है। वह उससे भिन्न एवं स्वतन्त्र नहीं और न ही वह अनिवर्चनीय सत्ता के रूप में ब्रह्म की ईश्वर के रूप में प्रतीति करवाती है। उसे बाह्यगुरु की रचित शक्ति मानकर ही जीव को मनमुखता की ओर ले जाने वाली कहा गया है। भक्तों की वह दासी है, और केवल मनमुखों को ही अपने आकर्षण के जाल में बाँधती है। जो जीव गुरु की शरण प्राप्त कर अपनी इन्द्रियों को बाह्यगुरु-उन्मुख नहीं बनाते, वे ही माया की 'ठगमूरि' का शिकार बनते हैं। ऐसे मनमुख जीव मन के धर्मों को ही अपना सर्वस्व मान लेते हैं और माया उन्हें इस प्रकार भटकती है, जिस प्रकार ला जाने से पूर्व बिल्ली चूहे को। जीवों को मासांगिक आसक्तियों में भटकाने वाली शक्ति को गुरुओं ने माया बतलाया है और ब्रह्माण्ड की रचना करने वाली शक्ति को बाह्यगुरु की कुदरत। कुदरत में उनका आशय बाह्यगुरु के विमर्श पक्ष से है, जैसा कि काश्मीर शैवदर्शन में शक्ति की शिव का सक्रिय अथवा विमर्श पक्ष स्वीकार किया गया है। बाह्यगुरु को ब्रह्माण्ड का रचयिता मानने से गुरुओं का आशय यही है कि भेदाभेद की स्थिति के उपरान्त बाह्यगुरु शक्ति और शक्तिमान के रूप में अपने प्रकाश और विमर्श रूपों को अलग-अलग अनुभव करने लगता है। स्वयं वह त्रिगुणातीत सत्ता ही बना रहता है जबकि उसका विमर्श-रूप ब्रह्माण्ड की रचना का कार्य सम्पन्न करता है। जगत की रचना के सम्बन्ध में भी गुरुओं की स्वतन्त्र मान्यताएँ हैं। तदनुसार बाह्यगुरु का विमर्श स्वरूप (कुदरति) स्वयं नामरूपात्मक सृष्टि के रूप में परिणत हो जाता है। यही उनका 'हुकम-सिद्धान्त' है।

गुरुओं के अनुसार माया जीव का जागतिक व्यामोह है। जब वे यह कहते हैं कि बाह्यगुरु की इच्छा से माया जीव को बन्धन में डालती है, तब उनका आशय जीव की मासांगिक आसक्तियों वाली प्रवृत्ति होता है। गुरुओं की धारणा है कि यह बाह्य-गुरु की इच्छा का स्वातन्त्र्य है कि उसने किसी को गुरु-भक्ति एवं नाम-सिमरन की

और लगाया हुआ है और किसी को घन-दोलत, घर-बाहर, पुत्र-कलत्र एवं उसी प्रकार की अन्य जागतिक एषणाओं में भटका रखा है। जीव की यह मनोवृत्ति ही माया है। देवी-देवताओं, सिद्ध-योगियों, काजी-मुस्लाओं को प्रभु से विमुक्त बनाने वाली माया भी बाह्यगुरु ने ही रची हुई है। दार्शनिक दृष्टि से माया नामक कोई ऐसी ईश्वरीय सत्ता नहीं है। गुरुमत के अनुसार बाह्यगुरु की 'कुदरत' उसकी इच्छा या 'हुकूम' के सिवाय कोई ऐसी दूसरी अनादि एवं स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, जो सृष्टि करती हो या जगत् के पालन एवं संहार में जिसका हाथ हो। तदनुसार त्रिगुणातीत सत्ता केवल बाह्यगुरु है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देवताओं को वे प्रधानात्मिका सृष्टि के ही भीतर शामिल करते हैं। इन्द्र, राम और कृष्ण को भी वे केवल महा-पुरुष ही मानते हैं। उन्हें वे माया के प्रभाव से अतीत सत्ताएँ स्वीकार नहीं करते।

आदिग्रन्थ के रचना-काल में भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताएँ एवं साधना-विधियाँ प्रचलित थीं। देवी-देवताओं की पूजा का अत्यधिक प्रचलन था और सम्प्रदायों के अनुयायी अपने-अपने उपास्यों को परमसत्ता (परब्रह्म) मान कर इतर देवी-देवताओं को या तो अपने उपास्य की विभिन्न शक्तियों के रूप में स्वीकार करते थे अथवा उनके प्रति उपेक्षा का भाव रखते थे। निर्गुण सन्तो ने हिन्दुओं के बहुदेववाद एवं मुसलमानों के पैगम्बरवाद—दोनों का खण्डन किया। अतः वे सृष्टि की रचना, पालन एवं उसके संहार के लिए प्रचलित विश्वासों को मान्यता नहीं देते। इस धारणा के कारण ही उन्होंने बाह्यगुरु को ही चेतन एवं जड़ सृष्टि की उत्पत्ति, पालन एवं संहार करने वाला मान लिया है। अपने इस मूल उद्देश्य के प्रति वे सदैव सावधान रहे हैं और जहाँ कहीं अवसर मिला है, इतर सम्प्रदायों की गूढ़ मान्यताओं का खण्डन कर केवल बाह्यगुरु पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है। यही कारण है कि जगत् की रचना के बारे में उन्होंने उस ढंग से विचार ही नहीं किया है, जिस ढंग से उस युग के अन्य दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदाय इस समस्या का समाधान प्रस्तुत कर रहे थे। उनका अधिकाधिक बल बाह्यगुरु को सर्वोपरि सत्ता सिद्ध करना ही रहा है और गुरु की शरण एवं बाह्यगुरु के नाम-सिंघारन की साधना ही इनकी धार्मिक मान्यताओं का केन्द्र रही है।

अद्वैत विचारकों के सामने यह समस्या रही है कि वे यह किस प्रकार सिद्ध करें कि अनादि, अनन्त एवं परमसत्ता केवल एक ही है। जीव एवं जगत् (जड़ सृष्टि) के प्रत्यक्ष ज्ञान ने उनकी इस समस्या को और अधिक पेचीदा बनाया है। इसके समाधान में उन्होंने प्रायः एक ही उत्तर दिया है। वह उत्तर यह है कि शक्तिमान और उसकी शक्ति में मूलतः अद्वैत है। परन्तु इस अद्वैत में भी परमसत्ता को अस्मिता का ज्ञान बना रहता है। इस अनुभव-वाक्यता को भिन्न-भिन्न दर्शनों में निजी साम्प्रदायिक विश्वासों के अनुरूप शब्दावली में अभिव्यक्ति दी गयी है। कोई इसे नारायण और लक्ष्मी के द्वारा प्रतिपादित करता है, कोई शिव और शक्ति द्वारा तथा कोई वासुदेव एवं उसकी अ-होदिनी शक्ति राधा द्वारा। देववाद के सन्दर्भ में ये युगल रूप

में प्रस्तुत किये गये हैं। निर्गुण सन्त इस प्रकार से शक्तिमान और उसकी शक्ति का उल्लेख नहीं करते। उनके द्वारा स्वीकृत परमसत्ता का स्वरूप नारायण एवं वासुदेव जैसा नहीं है। अतः वे लक्ष्मी, महामाया, सीता एवं राधा आदि के रूप में सृष्टि करने वाली शक्ति की मान्यता का समर्थन नहीं करते। आदिग्रन्थ में बाह्यगुरु द्वारा जगत की रचना सम्बन्धी स्वतन्त्र धारणा का यही कारण है। बाह्यगुरु का स्वरूप उपनिषद् की उस मान्यता जैसा है, जिसमें पूर्ण में पूर्ण को लेकर भी उसकी पूर्णता बनी रहती है। अतः यह स्पष्ट है कि अद्वैत विचार के अनुसार परमसत्ता में ही ऐसी शक्ति विद्यमान है जो उसकी इच्छारूपा है और वही अपने आप को सूक्ष्म से स्थूल रूप में ले आती है। नामरूपात्मक सृष्टि वास्तव में उसी की सूक्ष्मरूपता का स्थूल आकार है। इस प्रकार परमसत्ता के इस क्रियाशील पक्ष को कोई न कोई अभिधान भी दिया गया है। केवल शाकर अद्वैत वेदान्त में ही माया को अनिवर्चनीय सत्ता बतला कर उसके द्वारा ब्रह्म की ईश्वर के रूप में प्रतीति करवाने की मान्यता को स्वीकार किया गया है। शाकर मायावाद का खण्डन करने वाले, परन्तु परमसत्ता को अद्वैत मानने वाले, प्रायः सभी दर्शनों में किसी न किसी रूप में परमतत्त्व के क्रियाशील (विमर्श) स्वरूप को ही जगत की रचनहार शक्ति माना गया है। आदिग्रन्थ में वह बाह्यगुरु की कुदरत, उसकी इच्छा, एवं उसके 'हुकम' के रूप में वर्णित की गयी है। इसी मान्यता के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि जगत बाह्यगुरु का शरीर है अथवा जगत के आकार में उसने अपने आप को प्रगट किया हुआ है। वस्तुतः यही उसका मगुण रूप है।

माया को इस अर्थ में बाह्यगुरु की शक्ति (कुदरत) स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वह उसी के स्वरूप का विमर्श (सक्रिय) पक्ष है। यदि ऐसा माना जाय तो बाह्यगुरु को भी ब्रह्म, विष्णु, शिव, नारायण एवं वासुदेव जैसा ही स्वीकार करना पड़ता। आदिग्रन्थ में इन सभी को माया के अधीन बतला कर केवल बाह्यगुरु को ही मायातीत माना गया है। अतः गुरुओं के मत में माया जीव की वह प्रवृत्ति है, जिसे मन द्वारा पोषण मिलता है। वे किसी जीव का गुरुमुख या मनमुख होना उसकी अपनी इच्छा या प्रयत्न का फल नहीं मानते। उनकी मान्यता के अनुसार बाह्यगुरु के अनुग्रह से ही किसी को गुरु की शरण प्राप्त होती है। उसकी शरण में रहकर बाह्यगुरु के नाम का सिमरन करने वाला ही गुरुमुख है। भक्ति की साधना के अन्तर्गत जीव को निरुपाय एवं परमसत्ता की इच्छा के अधीन माना जाता है। अतः इस प्रसंग में ही यह माना गया है कि माया परमसत्ता की रचना है। माया को ठगिनी, सर्पिणी, कमला, ठगमूरि, विष, ठगनीरा और कुमुम्भी रंग आदि अभिधान देकर इस आशय का प्रतिपादन हुआ है कि जीव को परमात्मा में विमुक्त बनाने वाले सभी मन्त्रग्रन्थ एवं पदार्थ माया हैं। गुरुओं ने तो वैदिक कर्मकाण्ड एवं अन्य बाह्यरी-पूजा-विधान की गणना भी माया के अन्तर्गत ही की है। अतः उनकी दृष्टि में माया और कुदरत (परमसत्ता का विमर्श स्वरूप) दोनों एक दूसरे से विभक्त हैं। यहाँ इसी अर्थ

में माया का वर्णन किया गया है। गुरु नानक के अनुसार माया बाह्यगुरु की इच्छा या कुदरत (क्रियाशील पक्ष) न होकर जीव की मनोवृत्ति विशेष है। यह त्रिगुणात्मिका शक्ति है जो जीवों को आवागमन में भटकाये रखती है। बाह्यगुरु की कुदरत (क्रियाशील पक्ष) एवं उसकी माया (जीव की वह प्रवृत्ति, जिसे मन द्वारा पोषण मिलता है) के अन्तर को जान लेने के उपरान्त ही गुरुनानक के माया-सिद्धान्त को समझा जा सकता है।

● 'कुदरति'—बाह्यगुरु की सृजन-शक्ति

आदिग्रन्थ के अनुसार माया और बाह्यगुरु की सृजन-शक्ति (कुदरति) एक ही नहीं हैं। बाह्यगुरु की 'कुदरत' उसकी 'इच्छा' एवं 'हुकम' के द्वारा उन्होंने परमात्मा की सृजन-शक्ति का उल्लेख किया है और माया द्वारा उस शक्ति का, जो जीवों को आवागमन के बन्धन में भटकाती रहती है। माया का वर्णन करते हुए उन सभी सम्बन्धों और पदार्थों का उल्लेख भी कर दिया गया है, जो जीव को अपने आकर्षण के चुम्बक द्वारा अपनी ओर खींच कर बाह्यगुरु की ओर से विमुख बनाते हैं। गुरुनानक के अनुसार जगत की रचना माया का कार्य नहीं। उन्होंने बाह्यगुरु को ही जगत का स्रष्टा बतलाया है। तदनुसार बाह्यगुरु सत्य स्वरूप महाचैतन्य है और उसकी रचना होने के कारण जगत भी सत्य ही है—मिथ्या नहीं। मिथ्यात्व संसार का है, क्योंकि संसार से गुरुओं का आशय नाम-रूप से है, उसकी आधार-सत्ता से नहीं। जगत की आधार-सत्ता बाह्यगुरु है। जगत की सृष्टि, अतिरिक्त उपादान कारण से न मान कर यह स्वीकार किया गया है कि बाह्यगुरु ने स्वयं ही जगत का रूप धारण किया हुआ है। यदि जगत परमात्मा का शरीर है तो यह भी सिद्ध है कि ब्रह्माण्ड के रूप में प्रभु की सगुणता के तत्त्व उसी में सूक्ष्म रूप में पहले ही विद्यमान रहते हैं। गुरुनानक के विचार में बाह्यगुरु प्रकाश एवं विमर्श स्वरूप सत्ता है। उसकी प्रकाशस्वरूपता उसकी निराकारता, निर्गुण एवं त्रिगुणतीतता और विमर्श स्वरूपता उसका क्रिया-पक्ष है। वही पूर्ण भेद की स्थिति से भेदाभेद एवं उसके उपरान्त पूर्ण भेद की अवस्था प्राप्त करता है। इसे शब्द ब्रह्म या परमसत्ता का शक्ति-पक्ष कह सकते हैं। आदिग्रन्थ में इसे 'कुदरत' 'हुकम' और 'इच्छा' का अभिधान देकर बाह्यगुरु द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना की मान्यता का प्रतिपादन किया गया है। आदिग्रन्थ में हमें यत्र-तत्र इसी धारणा के उल्लेख मिलते हैं। इनके आधार पर बाह्यगुरु की सर्जन-शक्ति की मान्यताओं का भली भाँति निर्धारण किया जा सकता है।

'गुरुनानक जगत को परमात्ममय मानते हैं। वे बाह्यगुरु द्वारा 'कुदरति' का रूप धारण करने की धारणा का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि वही निकट, दूर एवं मध्यवर्ती सत्ता है। वही देख एवं सुन रहा है और 'कुदरत' की रचना उसी ने की है। उसकी जैसी इच्छा होती है, वही होता है। अतः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उसी का 'हुकम' लागू हो रहा है।

आपे नेहूँ दूरि आपे ही आपे भँसि निबानो ॥
आपे वेखँ सुणँ आपे ही कुवरति करे जहानो ॥
ओ तिसु भावं मानका हुकमु सोई परवानो ॥

(आ० ग्रं० पृ० २५)

गुरुनानक के मत में परमात्मा की कुदरत शशक-शृंग की भाँति अनिर्वचनीय असत्य सत्ता न होकर सत्य है। उस द्वारा ब्रह्माण्ड का रूप धारण करना मिथ्या या आभास नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि 'कुदरति' सत्ता का रूप सत्य है। और उस द्वारा जगत का रूप धारण करना भी मिथ्या या आभास नहीं है।^१ ब्रह्माण्ड की हर वस्तु बाह्यगुरु के 'हुकम' से उपजती है और जीव का प्रत्येक आचरण भी उसी से निर्धारित एवं नियन्त्रित होता है।

हुकमी सभे ऊपजहि हुकमि कार कमाहि ॥

(आ० ग्रं० पृ० ५५)

गुरुनानक के मत में बाह्यगुरु ने 'कुदरत' के द्वारा इस जगत की रचना की है और वह स्वयं ही उसमें बस भी गया है। अतः उसकी कुदरत (सृजनशक्ति) का स्वरूप भी उसी तरह अनिर्वचनीय है, जिस तरह स्वयं वह।^२ अपनी कुदरत (विमर्श स्वरूप) द्वारा उस (बाह्यगुरु) ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को एक धागे में पिरो कर नियम-नियमन के भीतर रखा हुआ है।

सभ परोई इकतु धागँ ॥ (आ० ग्रं० पृ० १०८)

गुरुनानक ने कुदरत को शब्द ब्रह्म भी कहा है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि गुरुओं के अनुसार शब्द ब्रह्म एवं कुदरत के रूप में बाह्यगुरु ही जगत का रूप धारण करता है।

उतपति परतु सबदे होवँ ॥ सबदे ही फिरि ओपति होवँ ॥

(आ० ग्रं० पृ० ११७)

उक्त मान्यता के अनुसार परमात्मा स्वयं कुदरत के रूप में जगत का रचयिता है और स्वयं ही उसके बारे में हर प्रकार से सोचता एवं स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के अनुसार सभी कार्य करता रहता है।^३ हुकमी सगल करे आकार ॥ (ग्रं० पृ० १५०) कहकर भी गुरुनानक ने इसी मान्यता को दुहराया है। तदनुसार सारे ब्रह्माण्ड में एक एवं एक (अद्वैत परमात्मा) का ही हुकम चल रहा है एवं उसी से जगत की रचना का समूचा कार्य सम्पन्न होता है :

^१ ग्रं० पृ० ४८, सची कुदरति धारीअनु सचि सिरजिओनु जहानु।

^२ आ० ग्रं० पृ० ८३, कुदरति करि कै बसिआ सोइ। वस्तु वीचारे सुबंदा होइ। कुदरति कै कीमति नही पाइ। जा कीमति पाइ त कही न जाइ ॥ वही० पृ० १०७, कुदरति करमु न कहुणा जाई ॥

^३ ग्रं० पृ० १४२, आपे कुदरति साजि कै आपे करे वीचार।

एकु हुकमु बरतै सभ खोई ॥ एकसु ते सभ ओषति होई ॥

(आ० ग्रं० पृ० २२३)

आदिग्रन्थ में 'कुदरति' का उल्लेख भिन्न-भिन्न शब्द-प्रतीकों द्वारा हुआ है। एक प्रसंग में 'कुदरति' के लिए 'अखर' का प्रयोग कर इस मान्यता का उल्लेख किया गया है कि अखर से ही परमात्मा ने तीनों भुवनो की रचना की है। वेदों की रचना भी उसके अखर (हुकम) से हुई है एवं सभी शास्त्र एवं पुराण आदि प्रभु के हुकम के साकार रूप हैं।

अखर महि त्रिसवन प्रभि धारे ॥ अखर करि-करि बेद बीचारे ॥

अखर सासत्र सिन्निति पुराना ॥ × × × (आ० ग्रं० पृ० २६१)

प्रभु की इच्छा-न्तरंग को गुरुओं ने उसकी 'मीज' कहा है। मीज ही कुदरत अथवा वाहगुरु की सर्जन-शक्ति है। आदिग्रन्थ के अनुसार परमात्मा ने ब्रह्माण्ड की रचना अपनी मीज के रूप में की है। उसे जीवों में एवं उनसे अतीत दोनों ही माना गया है। वह एक भी है एवं अनेक भी। फिर भी वह अजर, अमर एवं अजन्मा है। उसकी सत्ता अपनी ही सत्ता से है।^१ स्वयंभु (वाहगुरु) ने ही कुदरत (ब्रह्माण्ड) की रचना की है एवं रचना के उपरान्त उसी ने उसमें अपना आसन जमाया हुआ है। जीवों का रचयिता और दाता वही है। कुदरत में समाया हुआ वही ब्रह्माण्ड का खेल देखता और प्रसन्न होता रहता है।

आपीन्है आपु साजिओ आपीन्है रचिओ नाउ ॥

बूजो कुदरति साजोअं करि आसणु डिटो चाउ ॥

(आ० ग्रं० पृ० ४६३)

गुरुनानक के अनुसार परमात्मा अद्वैत है। वह स्वयं सत्य स्वरूप है। जगत की रचना भी उसी ने की है, जो सत्य है। वाहगुरु (ब्रह्मा) स्वयं अपरिणामी (अडोल) सत्ता है जो कुदरत (सगुण) के रूप में विकसित एवं प्रफुल्लित हो रहा है। अपनी रचना में चैतन्य बनकर वही बैठा हुआ है। परमात्मा द्वारा स्वयं ही सृजन-शक्ति का रूप धारण करने की मान्यता के समर्थन में वे लिखते हैं।

आपे साजे करे आपि जाई भि रखें आपि ॥

तिसु बिचि जंत उपाइ कं देखें आपि उषायि ॥

किसनो कहीअे नानका सभु किछु आपे आपि ॥

(आ० ग्रं० पृ० ४७५)

संयोग एवं वियोग द्वारा जगत की रचना के कार्य एवं हुकम के द्वारा सृष्टि की रचना की धारणा का उल्लेख कर गुरुओं ने इस ओर संकेत किया है कि परम

^१ आ० ग्रं० पृ० २७६, जो किछु कीनो सु अपने रगि। सभ ते दूरि सभहू कं संगि। बूझै देखै करै बिबेक। आपहि एक आपहि अनेक। मरै न बिनसै आवै न जाइ। नानक सद ही रहिआ समाइ।

सत्ता जब सर्जन-शक्ति के साथ भेदातीत अवस्था में होती है, वह उसकी संयोगावस्था है। जिस समय वह सृष्टि रूप होना चाहती है, तब उसकी सर्जन-शक्ति उससे अलग हो जाती है। यही उसकी वियोग रूपता है। ब्रह्माण्ड भर का चैतन्य उसी के चैतन्य की ज्योति है। उसी ने ब्रह्मा, विष्णु और शिव की रचना कर, उन्हें तीन गुणों के बन्ध में लगाया हुआ है।^१

वाहगुरु की त्रिगुणातीतावस्था एवं सर्जन-शक्ति से पूर्ण-अभेद की स्थिति का वर्णन करते हुए गुरु नानक लिखते हैं कि परमात्मा सभी शरीरों में स्वयं समाया हुआ भी है और सभी से अलग भी। अलख प्रभु ही नामरूप में दृष्ट होकर सर्वत्र व्याप्त है। युग-युगान्तर तक वही सुन अवस्था (शून्य स्वरूपता) में था। गुरु नानक के अनुसार यह उसकी 'अफुर अवस्था' थी। उस स्थिति में भी जीवों का स्वामी वही था। जीव रूप धारण करने की योग्यता उस समय भी उसमें थी। वाहगुरु की यह स्थिति 'शब्द ब्रह्म' के पहले की है। अतः सर्जन-शक्ति के रूप में ब्रह्माण्ड की रचना कर वह सभी से अलग भी है। वह अगाध सागर है, जिसकी गहराई केवल वही जानता है।^२ गुरु नानक ने सर्वत्र परमतत्त्व के द्वारा ही ब्रह्माण्ड का रूप धारण करने का उल्लेख किया है। इस धारणा के अनुसार ब्रह्म अपने शुद्ध स्वरूप में 'अफुर' अर्थात् भेदातीत होता है। तदनन्तर 'एकोऽहं बहुस्याम' के अनुसार उसके द्वारा एक से अनेक होने का आशय उसके अपनी सर्जन-शक्ति के ज्ञान से है। इस स्थिति में अफुर ब्रह्म और उसकी सर्जन-शक्ति भेदाभेद-अवस्था में ही होते हैं। धीरे-धीरे भेदाभेद की यह स्थिति पूर्णभेदता प्राप्त कर लेती है, जिसके फलस्वरूप जड-चेतन सृष्टि नाम-रूप में साकार हो जाती है। ऐसे ही प्रसंगों में गुरु नानक ने वाहगुरु की शक्ति—हुकम-इच्छा-कुदरति—के उल्लेख किये हैं।

गुरुमत के अनुसार वाहगुरु जगत का रचनहार है और ब्रह्माण्ड की रचना उसके क्रिया-मक्ष (विमर्श स्वरूप) का कार्य। वह इसलिए अद्वैत है क्योंकि परम स्थिति में केवल उसी की सत्ता है। उस समय तक वह अकाम होता है। इसीलिए वह 'अफुर' है। आदिग्रन्थ में 'जगत का बसीला' कह कर परमात्मा की सर्जन-शक्ति तथा उस शक्ति द्वारा जगत का रूप धारण करने की ओर संकेत किया गया है।

^१ आ० ग्र० पृ० ४।१००, सजोगु बिजोगु उपाइओनु त्रिसटि का मूलु रचाइआ ॥ हुकमी त्रिसटि साजोबनु जोती जोति मिलाइआ । जोती हूँ सभु चानणा सति गुरि सबदु सुणाइ आ । ब्रह्मा बिसनु महेसु त्रैगुण सिरि घषे लाइआ । माइआ का मूलु रचाइओनु तुरोआ सुखु पाइआ ।

^२ आ० ग्र० पृ० ५५५, आपे सभ घट अंदरे आपे ही बाहरि ॥ आपे गुपतु आपे ही जाहरि ॥ जुग छत्तीह गुबारु करि बरतिआ सुना हरि ॥ ओयै वेद पुरान न सासता, आपे हरि नर हरि ॥ बैठा ताड़ी लाइ आपि सबदु ही बाहरि ॥ आपणी मिति आपि जानवा आपे ही गउहर ॥

‘वह स्वयं ही जगत है’ के कथन से उसकी शक्ति का जगत रूप होना ही सिद्ध होता है :

तू अचरखु कुदरति तेरी बिसमा ॥

तुष्टु आपे कारणु आपे करणा ॥^१

(आ० ग्रं० पृ० ५६४)

उपर्युक्त आशय को एक और ढंग से अभिव्यक्ति देते हुए कहा गया है कि हरि ही करण-कारण एवं सर्वशक्तिमान सत्ता है। उसी ने सृष्टि बनायी है और वही उसे अपने भीतर समेट भी लेता है। वह योगी और योग की युक्ति दोनों है। भुवनो एवं द्वीपों का रूप उसी ने धारण किया हुआ है। द्वीपों और भुवनों का प्रकाश भी वही है। वह गुरु भी है और गुरु का शब्द भी। वाणी रूपी सागर एवं उसका मंथन करने वाला स्वयं वही है। वाणी के सागर का मथन कर विचार का नवनीत भी वही निकालता है।^१ प्रस्तुत वर्णन में बाह्यगुरु को ज्ञाता एवं ज्ञेय बतला कर उसकी कुदरत (सृजन-शक्ति) की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है।

गुरु नानक के अनुसार जिस प्रकार बाह्यगुरु अनिर्वचनीय सत्ता है, उसी प्रकार उसकी सृजन-शक्ति भी। जीव केवल उसकी बन्दगी कर सकता है। शेष रहस्य उसे गुरु की शरण एवं बाह्यगुरु की कृपा से ही प्राप्त होते हैं।^२ उसकी कुदरत द्वारा माया का रूप धारण करने के प्रसंग में कहा गया है कि माया को सरूपता बाह्यगुरु से ही प्राप्त होती है—

माइआ का रूपु सभु तिस ते होइ ॥

(ग्रं० पृ० ७६७)

वह जब चाहता है तभी अपने स्वरूप को अदृश्य बना लेता है एवं इच्छा करते ही जगत के रूप में साकार भी हो जाता है। सृष्टि में वही व्याप्त है और जगत का नाम-रूप (कौतुक) भी वही है।^३ काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार अनुत्तर (परमशिव) ही शिव और शक्ति है। इस दर्शन के अनुसार उत्पन्न होना न कहकर अपने आपको शिव और शक्ति के रूप में अभिव्यक्त करना माना गया है। आदिग्रन्थ में भी बाह-

^१ आ० ग्रं० पृ० ६६६, आपे जोगी जुगति जुगाहा ॥ आपे निरमउ ताड़ी लाहा ॥ आपे ही आपि आपि बरतै आपे नामि उमाहा राम ॥ आपे दीप लोअ दीपाहा ॥ आपे सतिगुर समुंडु मषाहा ॥ आपे मधि मधि ततु कडाए जपि नामु रतनु उमाहा राम ॥

^२ आ० ग्रं० ७२४, कुदरति कीम न जाणीअ बडा बेपरवाहु ॥ करि बदे तू बंदगी जिचरु घट महि साहु ॥

^३ ग्रं० पृ० ८०३, आप ही गुप्त आपि परगटना ॥ आप ही घटि घटि आपि अलिपना ॥ आपे अबिगतु आप संगि रचना ॥ कहु नानक प्रभ के समि जचना ॥

गुरु द्वारा शिव और शक्ति की रचना का उल्लेख हुआ है, जिसके अनुसार जीव एवं जड़ सृष्टि शिव और शक्ति के माध्यम से बाह्यगुरु के द्वारा धारण किये हुए रूप माने जा सकते हैं।^१

गुरुनानक ने एक स्थान पर इस धारणा का उल्लेख भी किया है कि बाह्यगुरु ने अपने भीतर से शक्ति (कला) को पैदा कर उसके द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना की है। धरती और आकाश बाह्यगुरु के हुक्म से ही उसकी शक्ति द्वारा ब्रह्माण्ड के दो 'पुंड' (मूलाधार) बनाये गये हैं। उसी ने अग्नि को बनाया है और उसी ने उसे मूले काष्ठ के अन्दर बन्द भी कर दिया है। वह सृष्टि का मूल है।^२ इस प्रकार के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि गुरु नानक को बाह्यगुरु की सर्जन-शक्ति की मान्यता स्वीकार है।

^१ ग्रं० पृ० ६२०, शिव सकति आपि उपाइ कै, करता आपे हुक्मु बरताए ॥ हुक्मु बरताए आपि बेलै, गुरुमुखि किसे बुझाए ॥

^२ ग्रं० पृ० ८०२, कला उपाइ धरी जिनि धरणा ॥ गपनु रहाइआ हुक्मे धरणा ॥ अग्नि उपाइ ईधन महि बाघी सो प्रभु रालै भाई हे ॥ वही० पृ० १०१२, सुंन कला अपरंपरि धारी ॥ आपि निरालम् अपर अपारी ॥

आदिग्रन्थ में माधउ (माधव) शब्द का प्रयोग बाह्यगुरु के लिए हुआ है लेकिन उसका तात्पर्य माया-पति से है। तदनुसार ससार तृष्णा की अग्नि का सागर है और उसमें सर्वत्र माया का प्रसार है। माया ने प्रायः सभी जीवों पर अपना प्रभाव डाल रखा है।^१ भव-तृष्णा की अग्नि से वे जीव ही बच सके हैं, जिन्हें सद्गुरु की शरण प्राप्त हुई है। गुरु की शरण का अर्थ है बाह्यगुरु के बरद हाथ की शीतल छाया। इस मान्यता का प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट रूप से कहा गया है कि

जा कउ तुम भए समरख अंगा ॥ ता कउ कछु नाही कालंगा ॥

माधउ जा कउ है आस तुमारी ॥ ता कउ कछु नाही संसारी ॥

(आ० ग्र० पृ० १८८)

माया गुरुमत के अनुसार मत्त्व, रज एव तमोमयी सत्ता है। बाह्यगुरु द्वारा निर्मित होने के कारण ही वह जीव के लिए दुस्तर है। माया-सागर बैर से निकलना अत्यन्त कठिन है। केवल गुरु का शब्द ही एक सहारा है, जिसको पाकर इसे पार किया जा सकता है

त्रंगुण माइआ बह्य की कीन्हीं कहहु कवन बिधि तरीअं रे ॥

धूमन घोर अगाह गालरी गुर सबदि पार उतरीअं रे ॥

(आ० ग्र० पृ० ४०३-४)

बाह्यगुरु को माया का कर्ता बतलाकर उसे माया के प्रभाव से अतीत कहा गया है। दोष सारी सृष्टि माया के अधीन है। चारों वेद माया की शक्ति की ही चर्चा करते हैं। केवल वे लोग ही माया से बचे हुए हैं, जिन्होंने परमात्मा को अपने हृदय में बसा लिया है। वे माया के आक्रमण के प्रति सदा सावधान रहते हैं, अतः माया उन्हें अपने प्रभाव के भीतर समेटने में असमर्थ है। गुरुओं के मत में शरीर की इस नगरी में पाँच चोरों (मनोकिरो) ने अपना निवास-स्थान बनाया हुआ है। वे प्रत्येक

^१ आ० ग्र० पृ० १८८, अग्नि सागर महा विआर्ष माइआ ॥ से सीतल ; जिन सतिगुर पाइआ ॥

जीव की धन-सम्पत्ति लूटते रहते हैं। इन पाँच चोरों, माया के तीन गुणों एवं दस इन्द्रियों से वही अपने धन को बचा सकता है जिसकी वृत्ति परमात्मा-त्मीन है।^१ इस प्रकार से गुरुओं ने माया को बाह्यगुरु की रचना बतला कर उसके स्वरूप एवं शक्तियों के उल्लेख द्वारा जीव के भव-सागर-सतरण का वास्तविक उपाय संकेतित किया है। अन्यत्र कहा गया है कि वह स्वयं माया का सागर एवं उससे पार करवाने वाला पोत (बोहिय) दोनों है :

आपे सागर बोहिया पिआरा गुरु छेबट आपि चलाहु ॥

आपे ही चडि लंबदा पिआरा करि चोज वेंछे पातिसाहु ॥

आपे आपि बड्ढाहु है पिआरा जन नानक बलसि मिलाहु ॥

(आ० ग्र० पृ० ६०४-५)

महामाया को ब्रह्म की छाया बतलाकर^२ गुरुओं ने उन मान्यताओं से असह-मति प्रगट की है, जिनके अनुसार माया ब्रह्म की किसी दूसरे रूप में प्रतीत करवाने वाली अनिर्वचनीय शक्ति है। गुरुमत के अनुसार बाह्यगुरु की दासी माया का इतना अधिक प्रभाव है कि उसने सभी को मोह में डाल रखा है। जिसे परमात्मा से प्रेम है, वही इसके प्रभाव से मुक्त हो सकता है, परन्तु यह होता उसी समय है जब उसे बाह्यगुरु की इच्छा एवं उसका अनुग्रह प्राप्त होता है।^३ ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कार्य बाह्यगुरु के संकेत से ही चल रहा है। यहाँ तक कि तीन गुणों का 'पसारा' (माया) भी बाह्यगुरु का ही फैलाया हुआ है। नरक एवं स्वर्ग का खेल भी उसी का है। माया का फैलाया हुआ अन्धकार गुरु के बिना दूर नहीं होता, उसकी शरण से ही जीव इस अन्धेरे से मुक्ति प्राप्त कर सकता है—

अंगुण कीआ पसारा ॥ नरक सुरंग अबतारा ॥

हउमै आयं जाई ॥ मनु दिकणु न पावै राई ॥

बाझु गुरु गुबारा ॥ मिलि सति गुरु निसतारा ॥

(आ० ग्र० पृ० १००३)

माया के जाल में प्रायः सभी जीव रूपी पक्षी फँसे हुए हैं। तृष्णा या लोभ उन्हें उस जाल से निकलने नहीं देता। सासारिक आकर्षण एवं आसक्तियों का चोरा

^१ आ० ग्र० पृ० ५०३, एक नगरी पंचचोर बसीअले बरजत चोरी बाबै ॥ त्रिह दस माल रखै जो नानक मोख मुक्ति सो पावै ॥ वही०, उरध मूल जिमु साख तलाहा चारि बेद जितु लागै ॥ सहज भाइ जाइ ते नानक पारब्रह्म लिब जाये ॥ पारजातु धरि अग्नि मेरै पुह्य पत्र ततु डाला ॥ सरब जोति निरजन संभु छोड़हु बहुतु अंजाला ॥

^२ श्रं० पृ० ८६८, महा माइआ ताकी छाइआ ।

^३ आ० ग्र० इक दासी चारी सबल पसारी जीअ जंतलै मोहनिआ ॥ × × × कहू नानक जो प्रभु कउ भाणा तिस ही कउ प्रभु पिआरा ॥

छाँलकर ही माया सभी को अपने जाल में फँसाती रहती है।^१ गुरुओं का यह विचार अत्यन्त सटीक है कि माया बाह्यगुरु की छाया है।^२ गुरुओं ने माया के स्वरूप एवं उसके कार्यों का उल्लेख इसलिए किया है कि जीव यथार्थ स्थिति से अवगत होकर अपने लिए कल्याणकारी मार्ग का चुनाव कर सके। माया से मुक्ति के उपायों का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि जीव को चाहिए कि वह काम-क्रोध और निन्दा का परित्याग कर दे। माया के प्रलोभन से दूर रहकर अहं-भाव का विसर्जन करे। पर-स्त्री के गमन से दूर रहने वाला व्यक्ति माया की कालिमा में रहता हुआ भी मायातीत बाह्यगुरु को प्राप्त कर सकता है। अहंकार को दूर कर जो जीव पुत्र-कलत्र की ममता से रहित है, आशा-तृष्णाओं से अतीत एवं परमात्मानुरक्त है, वह गुरु के 'सबद' द्वारा परमात्मा के नाम में लीन हो जाता है।^३

परहरि कामु क्रोधु मूढु निदा, तजि माइआ अहंकार चुकावै ॥
तजि कामु कामिनी मोहु तजै, ता अंजन माहि निरंजन पावै ॥
तजि मानु अभिमानु प्रीति सुत दारा, तजि पिआस आस लिख लावै ॥
नानक साचा मनि वसै, साच सबदि हरि नामि समावै ॥

(आ० ग्रं० पृ० १४१)

आदिग्रन्थ में वर्णित माया के स्वरूप सम्बन्धी निम्नलिखित धारणा भी द्रष्टव्य है

एका माई जुगति बिआई तिनि चले परबाणु ॥
इकु सवारी इकु मंजारी इकु लाए दीबाणु ॥

(आ० ग्रं० पृ० ७)

● त्रिगुणात्मक माया के विविध रूप

माया को इस दृष्टि से बाह्यगुरु की रचना माना गया है कि वह उसकी सृजन-शक्ति, हुकम या 'शब्द-ब्रह्म' का ही विकास है। जिस समय परमसत्ता एक से अनेक होने की इच्छा करती है, उस समय उसका विमर्श रूप अलग हो जाता है। इसे दार्शनिक शब्दावली में बाह्यगुरु की भेदाभेद-अवस्था एवं अन्त में पूर्ण भेद की स्थिति कह सकते हैं। सांख्यो के अनुसार यह प्रकृति की क्षोभावस्था है। इस स्थिति में उसका त्रिगुणात्मक रूप अलग-अलग पुरुष को अपने प्रभाव-जाल में घेर लेता है। अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार यह जीव की भ्रमावस्था है, जिसका कारण अविद्या

^१ आ० ग्रं० पृ० ५०, माइआ जालु पसारिआ भीतरि चोग बणाइ ॥ नृसना पंखी फासिआ निकसु न पाए माइ ॥

^२ आ० ग्रं० पृ० १२५, आपे माइआ आपे छाइआ ॥

^३ ग्रं० पृ० २३, काहे गरबसि मूड़े माइआ ॥ पित सुतो सगल कानत्र माता तेरे होहि न अंति सखाइआ ॥

बतलाया गया है। वैष्णव विचारको के मत में यह जीव का अनादि संस्कार एवं वासुदेव या नारायण की लीला है। माया द्वारा जीव को आबद्ध 'करने की धारणा को प्रायः सभी आस्तिक दर्शन अपनी-अपनी दार्शनिक एवं धार्मिक मान्यताओं के अनुसार स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन निर्गुण सन्तो ने जीव की माया में लिप्तता एवं माया द्वारा जीव को भटकाने की बात पर ही अधिक बल दिया है। आदिग्रन्थ में भी इसी धारणा को स्वीकार किया गया है। तदनुसार बाह्यगुरु एवं सन्त ही माया के प्रभाव से मुक्त हैं; अन्यथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव तक को माया के अधीन बतलाया गया है। गुरुमुख और भनमुख जीवों के बारे में जो इतनी विषद चर्चा हुई है उसका उद्देश्य भी यही है। गुरुओं के अनुसार जो जीव गुरु की शरण प्राप्त कर बाह्यगुरु के नाम का सिमरन एवं उसके गुणों का कीर्तन करते हैं, वे ही स्थितप्रज्ञ एवं प्रभु के प्यारे बनते हैं। जिन जीवों की वृत्तियाँ मन के घर्मों से प्रेरित हैं, वे गुरु के अनुग्रह एवं बाह्यगुरु की कृपा से वंचित रह कर आवागमन में भटकते रहते हैं। ऐसे ही जीवों को माया-ठगिनी छलती और भटकाती रहती है। इस प्रवचना से बचने के लिए ही गुरुओं ने माया के स्वभाव और प्रभाव से परिचित करवाते हुए जीवों को उनके वास्तविक उद्देश्य की जानकारी दी है और उन्हें माया के आकर्षणों में लिप्त होने से रोका है। आदिग्रन्थ में माया के अनेक रूपों की चर्चा हुई है।

माया-ठगिनी—आदिग्रन्थ के अनुसार माया रूपी ठगिनी ने सारे जगत को 'भरमो' में भटका रखा है। जीव के भीतर मोह की ठगमूरि डालने वाली यह माया ही है। जिन जीवों ने गुरु की शरण प्राप्त कर ली है केवल उन्हीं के निकट वह नहीं आती, अन्यथा सारा ससार ही उसने अपने वश में किया हुआ है।

इहु जगु भरमि भुलाइआ मोह ठगउली पाइ ॥

जिना सतिगुर भेटिआ तिन नेड़ि न चिटि माइ ॥

(आ० प्र० पृ० २३३-३४)

माया ने एक ओर जीव को 'ठगमूरि' के भ्रमो में भटकाया हुआ है, दूसरी ओर वह आकर्षणों का जाल फैला कर उसमें मोह-ममता के दाने (चोगा) डालती रहती है। जीव उसकी इस चालाकी को पहचान नहीं पाता और लोभो पछियों की भाँति ममता-मोह के चोगे के लालच में उसके फैलाए हुए जाल में उलझ जाता है :

माइआ जासु पसारिआ भीतरि चोग बणाइ ॥

तूसना पंखी कासिआ निकसु न पाए माइ ॥

पुत्र, स्त्री, सगे-सम्बन्धी, घर-बार, धन-वीचन एवं लोभ ये माया के प्रतीक हैं और जीव को वह इन्हीं में भरमाए रखती है। तूष्णा माया का सूक्ष्म शरीर है जिसका आकर्षण जीव-नारी को गुरु की शरण पाकर पति-परमेश्वर के पास जाने ही नहीं देता।

भिसना माइआ मोहणी सुत बंधव घर नारि ॥
 बनि ओबनि जगु ठगिआ लखि लोभि अहंकारि ॥
 मोह ठगउली हउ मुई सा बरतें संसारि ॥

(आ० ग्र० पृ० ६०)

माया के मोह के अन्धेरे में भटका हुआ जीव भव-सागर में पार उतरने का अवसर कभी प्राप्त ही नहीं कर पाता। यह ऐसा अन्धेरा है जिसका कोई आदि एवं अन्त ही नहीं है।^१ माया को गुरुओं ने राम द्वारा उत्पन्न की हुई विविध प्रकार की नारी के रूप में वर्णित किया है। इस मोहिनी के विषय में सारा ब्रह्माण्ड सन्नत है।

अंसी इसत्री इक राम उपाई ॥
 तिनी सभु जगु लाइआ हम गुरि राखे मेरे भाई ॥
 पाइ ठगउली सभु जगु ओहिआ ॥
 ब्रह्मा, बिसनु महादेउ मोहिआ ॥

(ग्र० पृ० ३६४)

गुरुओं का विचार है अगर माया ठगिनी न होती तो जिस ससार में वह जीव को लिप्त रखती है, वह उसके लिए दुःख का कारण न होकर सुख का हेतु बनता। परन्तु यथार्थ में ऐसा नहीं है। जीव का यह भ्रम उस समय दूर होता है, जब वह इस दुनिया को छोड़ कर चलने लगता है और देखता है कि उसके सभी अपने सगे सम्बन्धी साथ छोड़ देते हैं। उसे उस समय इस तथ्य का पता चलता है कि वह आजीवन ठगमूरि का ही विष खाता रहा है, क्योंकि उसे धन-दौलत एवं घर-बार सभी कुछ यही छोड़ कर जाना पड़ रहा है।^२ गुरुमत के अनुसार माया ने अण्डज, जेरज, सेनज एवं उद्भिजात्मक सृष्टि का खेल रचा रखा है। काम एवं क्रोध आदि पाँचों इसी की सन्तानें हैं। सभी जीव इसी के तीनों गुणों के विभिन्न रसों में लीन हैं। माया को सारी सृष्टि ही जीव को धोखे में डालने वाली है।

पंच पूत जने इक माइ ॥ उतभुज खेनु करि जगत बिआइ ॥
 लोनि गुणा कं संगि रचि रसे ॥ इनको छोडि ऊपरिजन बसे ॥

(आ० ग्र० पृ० ८६५)

यही कारण है कि माया को नीचकुला बतला कर जीव को उसका परित्याग कर देने का उपदेश दिया गया है और धरणीधर (वाहगुरु) की शरण में जाने के लिए प्रेरित किया गया है।^३

^१ आ० ग्र० पृ० ८६, माइआ मोह गुबार है तिसका न दिसे उरवान न पाह ॥ मनमुख अगिआनी महादुखु पाइदे डुबे हरिनामु विसारि ॥

^२ आ० ग्र० पृ० ६००, पूतु कलत्र लखिमी दीसै इन महि किछु न सगि लीआ ॥ बिलै ठगउरी लाइ भुलाना माइआ मदरु तिआगि गइआ ॥

^३ ग्र० पृ० १००१ धरणीधरु तिआगि नीच कुन सेवहि हउ हउ करत बिहावथ ॥ फोकट करम करहि अगिआनी मनमुख अतु कहावथ ॥

माया की सबसे बुरी करतूत गुरुओं के अनुसार बाह्यगुरु और जीव के बीच दीवार का काम करना है। इसके पदों के कारण ही जीव परमात्म-साक्षात्कार से वंचित हो जाता है। अन्य कई पदार्थ भी नशीले होते हैं, परन्तु जितनी तीव्रता से माया की मदिरा का असर जीव पर होता है उतना और किसी का नहीं। यह ऐसा नशा है जो उसके समूचे जीवन को ही सन्मार्ग की ओर से भटका देता है। संसार के व्यापक एवं घने जंगल में जीव को सच्ची राह नहीं मिल पाती। उसके शरीर में बैठता हुआ मन रूपी चोर उसे छूटता रहता है। समय के सूर्य की गति रुकती नहीं और मनमुख की जीवन-यात्रा व्यर्थ में ही समाप्त हो जाती है। वह बाह्यगुरु की ओर अपनी वृत्तियाँ नियोजित कर ही नहीं पाता और यह सभी कुछ कमला (माया) के ही प्रभाव का फल है

कमला भ्रम भीति कमला भ्रम भीति हे तोखण भव
बिपरीति हे अवच अकारण जात ॥

गहबर बन घोर घहबर बन घोर हे ग्रिह भूसत
मन चोर हे—बिन करो अनबिनु जात ॥

बिन जात जात बिहात प्रभ बिन कछु न गते ॥

कुल रूप धूप गिआन होनी तुझ बिना भोहि कवन मात ॥

कर जोड़ि नानकु सरणि आइओ प्रिय नर हर करहु गात ॥

(आ० ग्र० पृ० ४६१-६२)

माया-सर्पिणी—आदिग्रन्थ में माया को जिन विनाशकारी एवं भयावह प्रतीकों के द्वारा वर्णित किया गया है, उनमें उसका सर्पिणी रूप अत्यधिक सटीक एवं सार्थक है। तदनुसार वह नागिन का रूप धारण कर सारे मसार को अपने कुण्डल-बल में घेरे हुए है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जो इसकी पूरी लगन के साथ सेवा करता है, यह उसी को डस लेती है। संसारी जीव इसमें डसे जाकर अन्त में हाय-हाय करते हैं और कोई विरला संत गुरुजी ही इसे दल-मल कर पाँवों में गिरने वाली बनाता है। इसी कारण नानक द्वारा जीव को सचेत किया गया है कि जिनकी प्रीति सत्यस्वरूप बाह्यगुरु से है, वे ही भव-सागर से पार उतर सकते हैं।^१

माया-चुड़ैल—माया को चुड़ैल के प्रतीक के रूप में वर्णित कर उसके भयावह रूप द्वारा जीव को सम्बोधित किया गया है कि वह सावधान रहे और इस चुड़ैल के चंगुल में न फँसे। इसके साथ ही गुरु के 'सबद' से उसे जला डालने का उल्लेख भी हुआ है। माया-चुड़ैल को बही भस्म कर सकता है जिसका तन एवं मन दोनों ही

^१ आ० ग्र० पृ० ५०६, माइआ होइ नागनी जगति रही लपटाइ। इसकी सेवा ओ करे तिस ही कउ फिरि लाइ। गुरुमुखि कोई गारइ तिनि मलि दलि लाइ पाइ। नानक सोई उबरे जि सचि रहे लिब लाइ।

पवित्र हैं। माया-बुझल को समाप्त करने का मात्र उपाय हरि का नाम है, जो गुरु की शरण में जाकर ही पाया जा सकता है।

हउमं मनता मोहणी मनमुखा नो गई लाइ ॥
जो मोहि बूझै चितु लाइ वे तिन्हा बिआपि रही लपटाइ ॥
गुरु कं सबदि परजालीअं ता एह बिचहु आइ ॥
तनु मनु होवै ऊजला नामु वसै मनि आइ ॥ नानक माइआ
का मारणु हरि नामु है गुरुमुखि पाइआ आइ ॥

(आ० प्र० पृ० ५०६)

माया-विष—माया को सिक्ख गुरु विष मानते हैं। इसलिए उन्होंने इसका वर्णन विष-रूप में भी किया है। तदनुसार गुरुमुख जीव आनन्द मानते हैं और मनमुख माया-विष खाकर आवागमन में भटकते रहते हैं। मनमुखों को बाह्यगुरु का स्तवन अच्छा नहीं लगता। अतः उनका सम्पूर्ण जीवन दुःख उठाते हुए ही व्यतीत हो जाता है।

बाहु-बाहु मुख सवा करहि मनमुख मरहि बिछु लाइ ॥
ओना बाहु-बाहु न भावई दुखे दुखि बिहाइ ॥

प्र० पृ० वही०

माया-सागर—भक्त जीव अपने आप को निर्बल एवं भगवदाश्रित मानता है। इसलिए अपनी शक्ति एवं गुणों के सहारे का उसका अह विगलित हो जाता है। अह का पर्दा हटते ही उसकी विनम्रता द्विगुणित हो जाती है और वह भगवान से विनय करता हुआ कहता है कि उसमें न कोई गुण है और न कोई साधन। अतः वह माया के सागर को स्वयं पार करने में असमर्थ है। वह प्रभु के चरणों की शरण का सहारा लेकर विनय करता है कि उसको माया के विष से वही मुक्त कर सकता है।^१

^१ आ० प्र० पृ० ४३३, जुगति न जाना गुन नही कोई महा दुतर माइ आछै ।
आइ पइओ नानक गुर चरनी तउ उतरी सगल दराछै ।

आदिग्रन्थ में वर्णित माया के स्वरूप का वैशिष्ट्य

आदर्शवादी विचारको के अनुसार जड़ तत्त्व में कर्तृत्व-शक्ति का अभाव है।^१ उनके मन में वे जगत की रचना के हेतु केवल उपादान सामग्री ही बन सकते हैं। इस मान्यता के कारण उनके द्वारा परमसत्ता की स्वीकृति के उपरान्त यह स्वीकार कर लिया गया है कि सम्पूर्ण चिदचिद् जगत साकाररूपता प्राप्त करने से पूर्व परमसत्ता में ही अनभिषिक्त अवस्था में विद्यमान रहता है। कई विचारको ने इसे इस प्रकार भी व्याख्यात किया है कि परमसत्ता पराद्वैत है, इसलिए जगत की रचना स्थिति एवं सहार उसके उन्मीलन एवं निमीलन के स्वभाव से भिन्न एवं स्वतन्त्र नहीं है। इस प्रकार वे परमसत्ता को ही जगत के रूप में मूर्तिमान (Manifested) मानते हैं। आग्नेय दर्शन-परम्परा में कुछ चिन्तक ऐसे भी हैं, जो जीव और जगत (जड़ तत्त्व) का अनादि अस्तित्व तो स्वीकार करते हैं, लेकिन उनका पूर्ण स्वातन्त्र्य न मानकर उन्हें परमात्म-निर्भर बतलाते हैं। द्वैत वेदान्ती मध्वाचार्य का मत इसी कोटि का है। विशिष्टाद्वैतवादी चित् और अचित् के रूप में जीव और जड़ तत्त्व को परम तत्त्व (ब्रह्म) का ही सजातीय भेद स्वीकार करते हैं। शुद्धाद्वैत वेदान्तियों की मान्यता इससे भिन्न है। उनके अनुसार परमात्मा शुद्ध अद्वैत सत्ता है और उसकी योगमाया माया और अविद्या के रूप में जगत की रचना करती है। अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार जीव और जगत का वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है। उन्हें वे माया एवं अविद्या के कारण मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न प्रतीति सत्ताएँ मानते हैं। इसके विपरीत भारतीय दर्शन-परम्परा में कुछ एक ऐसे दर्शन भी हैं, जो प्रकृति और परमाणुओं द्वारा जगत की रचना की समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार अनादि सत्ता परमाणुओं की है, जिनमें स्वयं गति और क्रिया विद्यमान रहती है, जिसके फलस्वरूप जगत का निर्माण होता है। सांख्य-योग, न्याय और वैशेषिक इसी कोटि के दर्शन हैं। यह ईश्वरवाद का परवर्ती प्रभाव है कि इनमें भी कालान्तर में ईश्वर के कर्तृत्व का समावेश हो गया है। गुरु नानक परमसत्ता के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं। उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी है। अतः भारतीय दर्शन-परम्परा और गुरु नानक से हमारा आशय ऐसी मान्यताओं से है, जिनमें जगत की रचना परमात्मा (ब्रह्म) द्वारा

स्वीकार की गयी है। ईश्वरवादियों के माया सम्बन्धी विचारों की परम्परा को गुरु नानक ने किन-किन रूपों में स्वीकार किया है और कहाँ पर वे स्वतन्त्र विचारक का रूप धारण कर लेते हैं, निष्कर्ष के तौर पर इसी विषय पर विचार किया जा रहा है।

मृष्टि की रचना का प्रश्न सर्वप्रथम सम्भवतः 'नासदीय सूक्त' में ही उठाया गया है। तदनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों और आरण्यको में भी जगत की रचना पर विचार प्रकट किये गये हैं। वैदिक ऋचाओं में इन्द्र, वरुण एवं अन्य देवताओं द्वारा जगत की रचना के जो उल्लेख प्राप्त होते हैं, उनमें इन देवताओं की शक्ति या रचना-चातुर्य के रूप में ब्रह्म की शक्ति के संकेत प्राप्त हो जाते हैं।^१ ब्राह्मण ग्रन्थों में मृष्टि की रचना के प्रसंग को पहले भिन्न-भिन्न दृष्टियों से प्रस्तुत कर तदनन्तर उसके उत्तर भी दिये गये हैं। इनके अनुसार प्रजापति की मात्र इच्छा से ब्रह्माण्ड साकार होता है।^२

तैत्तिरीयोपनिषद् में मृष्टि की रचना से पहले सत् और असत् तत्त्वों की विद्यमानता स्वीकार की गयी है और छान्दोग्योपनिषद् में एक स्थल पर यह कहा गया है कि नामरूपात्मक मृष्टि से पहले सभी कुछ शून्य तत्त्व से आच्छादित था।^३ उपनिषदों के उपरान्त सांख्य दर्शन में प्रकृति के परिणमन के द्वारा जगत की रचना का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। न्याय वैशेषिक दर्शनों में परमाणुवाद को मृष्टि का मूलाधार स्वीकार किया गया है। भगवद्गीता में पूर्ववर्ती विचारधारा के समन्वय एवं मृष्टि की रचना के प्रसंग में क्षर और अक्षर से अतीत पुरुषोत्तम की सर्वोपरि सत्ता मानकर प्रकृति को उसकी योनि बतलाया गया है। तदनुसार मृष्टि की रचना की सम्पूर्ण प्रक्रिया ब्रह्म की महद्योनि से ही सम्पन्न होती है। अन्तर यह कर दिया गया है कि वह यह कार्य स्वतन्त्र कर्तृत्व के रूप में न कर परब्रह्म या पुरुषोत्तम की इच्छा से करती है। तदनुसार माया मायापति की अधीनस्थ शक्ति या भगवान की माया है।^४ वैष्णव आचार्यों का ब्रह्म की माया का सिद्धान्त गीता की उक्त मान्यता का ही अनुसरण है। शैवों की शक्तिमान की शक्ति द्वारा जगत की रचना सम्बन्धी मान्यताएँ भी आशिक रूप में गीता की माया सम्बन्धी उक्त धारणाओं में किसी न किसी रूप में प्रभावित प्रतीत होती हैं।

शंकराचार्य ने शून्यवादी एवं विज्ञानवादी बौद्धों के शून्य तथा विज्ञान-सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए ब्रह्म को सच्चिदानन्द परात्परसत्ता माना और इसी

^१ ऋ० वे० १०-७५-६, वही० १०-१६०-१ से ३,

^२ तैत्ति० ब्रा० १-१-३-५, तैत्ति० संहिता, ७-१-५,

^३ तैत्ति० उप० २-७-१, छान्दो० उप० १-८-१,

^४ गीता, आध्या० १५।१६-१८, वही० १३।२७, वही० ६।१०,

सन्दर्भ में अपने मायावाद का निरूपण भी किया। उनके अनुसार जीव और जगत का यथार्थ अस्तित्व नहीं है। यह माया का ही प्रभाव है कि हमें यथार्थ भी यथार्थ की भाँति प्रतीत होने लगता है। काश्मीर शैवों ने शांकर मायावाद का खण्डन करते हुए जगत की रचना का कार्य परमशिव के विमर्श पक्ष अर्थात् शक्ति का स्वीकार किया। उनका शक्ति-सिद्धान्त अद्वैतवेदान्तियों एवं वैष्णव आचार्यों के माया-सिद्धान्त से पर्याप्त भिन्न प्रकार का हो गया है। वैष्णव आचार्यों ने शांकर मायावाद का खण्डन कर माया के स्वरूप एवं उसके कार्यों आदि की भिन्न-भिन्न रीति से व्याख्याएँ की हैं और ब्रह्म की शक्ति के रूप में माया-सिद्धान्त का फिर से निरूपण किया है। थोड़े बहुत अन्तर के साथ सभी वैष्णव आचार्य सांख्य के प्रकृति-सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी ब्रह्म की शक्ति को ही जगत की रचना का कारण मानते हैं। अहिर्बुध्न्य और जयाख्य संहिताओं (पंचरात्र) विष्णुपुराण एवं भागवत पुराण के आधार पर आचार्य रामानुज ने यह स्वीकार किया है कि चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म (नारायण) अपनी शक्ति द्वारा जगत की रचना करते हैं। गरुड पुराण, पद्मपुराण एवं ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी सृष्टि की रचना के उल्लेख परमतत्त्व की शक्ति के कार्य के रूप में प्राप्त होते हैं।^१ इससे यह सिद्ध होता है कि कालान्तर में माया या शक्ति के रूप में जगत की रचना करने वाली सत्ता को प्रायः सभी ने स्वीकार कर लिया है, लेकिन साथ ही इस धारणा का प्रतिपादन भी हुआ है कि माया या शक्ति परमसत्ता के अधीन है और उसका सकेत पाकर ही वह जगत की रचना में प्रवृत्त होती है।

गुरुनानक द्वारा ब्रह्म (वाहगुरु) की 'कुदरति' उसके हुक्म या इच्छा से जगत की रचना के प्रसंग में शून्यपुराण में वर्णित सृष्टि की रचना का उल्लेख भी आवश्यक है। तदनुसार आरम्भ में मात्र शून्य ही शून्य था। नामरूपात्मक सृष्टि उस समय नहीं थी। अतः शून्य के आधार पर स्थित परमसत्ता ने शून्य में ही सृष्टि की रचना का संकल्प किया और अपरब्रह्म की प्राणशक्ति से पहली बार श्वास-प्रश्वास का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार अपरब्रह्म द्वारा निरंजन की सृष्टि और तदनन्तर वासुकि एवं मिट्टी तक की साकारता की धारणाओं का प्रतिपादन भी शून्यपुराण में हुआ है। शून्यपुराणकार के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और शिव आद्याशक्ति की सन्तान हैं। तदनुसार सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कार्य इन उक्त तीनों देवताओं के द्वारा सम्पन्न माना गया है।^२ पुराणों में तान्त्रिक

^१ ग० पु० पूर्वखण्ड, अध्या० ४, पद्मपुराण, सृष्टि-खण्ड, अध्या० २, ब्र० पं० पु० अध्या० ३,

^२ शून्य पुराण, सृष्टि पट्टन, पृ० १ मे ४२,

विशेषों का पर्याप्त प्रभाव होने के कारण तांत्रिकों की सृष्टि सम्बन्धी मान्यताएँ भी तनिक अन्तर के साथ स्वीकार कर ली गयी है।^१

हिन्दू तांत्रिक एवं बौद्ध तांत्रिक सम्प्रदायों में कालान्तर में पर्याप्त साम्य आ गया। हीनयानी बौद्ध धर्म के द्वारा महायानी रूप प्राप्त कर लेने के उपरान्त उसमें भी देवतावाद का प्रवेश हो गया, जिसके फलस्वरूप सृष्टि की रचना से सम्बन्धित मान्यताओं का आदान-प्रदान होता रहा। करण्डव्यूह के अनुसार यह स्वीकार किया गया है कि विश्व के सृजन से प्रेरित होकर आदिबुद्ध की इच्छा से अबिलोकितेश्वर ही महेश्वर को सृष्टि की रचना का आदेश देते हैं।^२ शिव और शक्ति का स्थान बौद्ध तन्त्रों में प्रज्ञा एवं उपाय को मिला है। उनमें शून्यता और करुणा की मान्यताओं द्वारा भी सृष्टि की समस्या पर विचार किया गया है।

गुरुनानक जिस मध्यकालीन निर्गुण आन्दोलन की प्रधान कड़ी है, उसमें भी जगत की रचना करने वाली शक्ति के बारे में पर्याप्त विचार हुआ है। कबीर के अनुसार (बीजक के आधार पर) शुद्धस्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब चेतनाश्रित माया में पड़ते ही, उसमें क्षोभ होता है। यही क्षोभ हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति का कारण बनता है। हिरण्य गर्भ निरजन है, जिसका माया के साथ संयोग होते ही ब्रह्माण्ड के तीन देवता ब्रह्मा, विष्णु और शिव उत्पन्न हो जाते हैं तथा सृष्टि का कार्य आरम्भ हो जाता है। बीजक के ये विचार अद्वैतवेदान्तियों की मान्यताओं का ही स्वतन्त्र मुहावरा प्रतीत होते हैं।^३ बिहार वाले सत दरिया ने जगत की रचना से पहले पूर्ण शून्य की स्थिति स्वीकार की है। उन्होंने भी ईश्वर से निरजन की उत्पत्ति एवं निरजन के लिए माया नारी की सर्जना का उल्लेख किया है। सुन्दरदास और भीखा जगत की रचना को परमात्मा का कार्य स्वीकार करते हैं।^४ कबीर ने 'नूर' से जगत की उत्पत्ति का भी उल्लेख किया है।^५ निर्गुण सन्तों के उक्त विश्वासों से पता चलता है कि इन्हें देवतावाद स्वीकार्य नहीं है तथा नाथपंथियों के प्रभाव के कारण वे शब्दब्रह्म के सिद्धान्त के प्रति ही अधिक आकृष्ट हुए हैं। निर्गुण आन्दोलन सारग्राही भावना से प्रेरित है, अतः सभी निर्गुण सन्तों की दार्शनिक मान्यताओं में पर्याप्त मेल-जोल दिखायी देता है।

^१ भाग० पु० ३-५-१३ से १८, गरुड़ पुराण, पूर्वखण्ड, अध्या० ४, पद्म पुराण, सृष्टि-खण्ड, अध्या० २, ब्रह्म वैवर्तपुराण, अध्या० ३, वायवी संहिता, अध्या० ८, लिंग हरिवंशपुराण, अध्या० १, श्लो० २२ से आगे ॥

^२ करण्ड व्यूह, पृ० - १४-१५, (जैन ग्रन्थ माला-संस्करण १८७३)

^३ बीजक, रमणी संख्या, ७४, वही० संख्या २,

^४ ज्ञानरत्न, ७।१, ज्ञानदीप, ६०, वही० २६।१०, संतसुधार, पृ० ६१६ भीखाबानी, पृ० ५५,

^५ क० ग्रं० (श्या०) पृ० २६८,

गुरुनानक जगत की रचना-शक्ति (माया) के सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट विलाई देते हैं। उन्होंने कबीर आदि दूसरे निर्गुण सन्तों की भाँति इधर-उधर भटकने के स्थान पर अपनी दृष्टि को निश्चित मान्यताओं के लक्ष्य पर ही स्थिर रखा है। गुरुनानक की बानी भक्त की बानी है, जिसका प्रधान स्वर प्रभु-स्तवन है। उन्होंने दर्शन की सरणि का अनुसरण न कर केवल यही माना है कि बाह्यगुरु (ब्रह्म) अद्वैत सत्ता है। उसे अपने स्वरूप का ज्ञान है। वही अपनी 'कुदरत' या 'इच्छा' या 'हुकम' के रूप में जगत का रूप धारण किये हुए है। सत्यस्वरूप परम सत्य होने के कारण उसकी रचना (जगत) भी सत्य ही है—मिथ्या नहीं। गुरुनानक ने जीव के प्रसंग में माया का और जगत की रचना के सन्दर्भ में बाह्यगुरु की 'कुदरत' 'हुकम' अथवा इच्छा का उल्लेख किया है।

माया को गुरुओं ने बाह्यगुरु की रचना माना है। अद्वैतवेदान्तियों की भाँति वे ब्रह्म की ईश्वर के रूप में और ईश्वर की जीव के रूप में प्रतीति को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार माया जीव का जागतिक व्यामोह है। जब वे यह कहते हैं कि बाह्यगुरु की इच्छा से माया जीव को बन्धन में डालती है, तब उनका आशय जीव की मासारिक आमक्तियों वाली प्रवृत्ति में होता है। गुरुनानक की धारणा है कि यह बाह्यगुरु की इच्छा का स्वातन्त्र्य है कि उसने किसी को गुप्त-भक्ति एवं नाम-मिमरन की ओर लगाया हुआ है और किसी को धन-दौलत, घर-वाह्य, पुत्र-कलत्र एवं इसी प्रकार की अन्य जागतिक एषणाओं में भटका रखा है। जीव की अज्ञानमयी मनोवृत्ति ही माया है। अतः गुरुनानक के मत में माया जगत की रचना करने वाली बाह्यगुरु की शक्ति (उसका क्रियाशील पक्ष) नहीं। उनके अनुसार बाह्यगुरु की 'कुदरत' उसकी 'इच्छा' या 'हुकम' के सिवाय कोई ऐसी दूसरी सत्ता नहीं है, जो मृष्टि करती हो या जगत के पालन एवं सहार में जिसका हाथ हो। अतः माया और जगत की रचना करने वाली 'कुदरत' दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

गुरुनानक के युग में भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताएँ प्रचलित थी, जिनमें जगत की रचना करने वाली शक्ति (माया) का स्वरूप एवं कार्य भी भिन्न ढंग से ही निरूपित हुआ था। इस प्रकार के माया-जाल से मुक्ति के हेतु उन्होंने बाह्यगुरु को ही चेतन एवं जड़ सृष्टि की उत्पत्ति, पालन एवं सहार करने वाला मान लिया। यही कारण है कि जगत की रचना के बारे में उन्होंने इस ढंग से विचार ही नहीं किया है, जिस ढंग से उस युग के अन्य दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदाय इस समस्या का समाधान प्रस्तुत कर रहे थे। गुरुनानक पूर्ववर्ती धर्म-मतों की भाँति शक्तिमान और उसकी शक्ति का उल्लेख नहीं करना चाहते थे, क्योंकि इससे बहुदेववाद को ही पोषण मिल सकता था। इसलिए उनके द्वारा स्वीकृत परमसत्ता का स्वरूप शिव, नारायण और वासुदेव जैसा नहीं है। उन्होंने लक्ष्मी, महामाया, सीता और राधा आदि की तरह बाह्यगुरु की शक्ति को किसी स्वरूप की सीमा में भी नहीं बाँधा है। जगत की रचना के सम्बन्ध में उन्होंने बाह्यगुरु के स्वरूप की चर्चा उसी ढंग से की है, जिस

तरह उपनिषदों में यह कहा गया है कि पूर्ण से पूर्ण को लेकर भी उसकी पूर्णता बनी रहती है। यही से हम इस मान्यता को प्राप्त करते हैं कि गुरुनानक के अनुसार बाह्यगुरु में ऐसी शक्ति है (अथवा वह बाह्यगुरु का शक्ति-पक्ष है) जो उसी की इच्छा रूपा है। वही अपने आपको सूक्ष्म रूप से स्थूल जगत के रूप में ले आती है। परम-सत्ता को अद्वैत मानने वाले प्रायः सभी दर्शनो में किसी-न-किसी रूप में परमतत्त्व के क्रियाशील (विमर्श) स्वरूप को जगत की रचनहार शक्ति माना गया है। आदिग्रन्थ में वही बाह्यगुरु की कुदरत (इच्छा या हुकम) है। इसी मान्यता के आधार पर ही यह सिद्ध किया जा सकता है कि गुरुनानक के अनुसार जगत् बाह्यगुरु का शरीर है।

गुरुनानक द्वारा स्वीकृत माया का स्वरूप उन द्वारा मान्य बाह्यगुरु की शक्ति (कुदरत) जैसा नहीं है। वह तो जीव की वह प्रवृत्ति विशेष है, जिसका पोषण जीव के मन में होना है। माया को बाह्यगुरु की रचना के रूप में केवल ऐसे प्रसंगों में ही वर्णित किया गया है, जहाँ सभी जीवों को उससे प्रभावित बतलाया गया है। इस अर्थ में उन्हें उसे ठगिनी, सपिणी, कमला, ठगनीरा, ठगमूरि एवं कुसुम्भी रंग आदि अभिधानों द्वारा जीव को भटकाने वाली शक्ति बतलाना ही अभीष्ट था। गुरुनानक के अनुसार वैदिक कर्मकाण्ड एवं अन्य बाह्य सभी पूजा-विधान माया के अन्तर्गत हैं। इससे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में माया और 'कुदरति' (परमसत्ता का विमर्श स्वरूप) दोनों एक-दूसरे से भिन्न धारणाएँ हैं। उनके विचार में माया त्रिगुणात्मिका शक्ति है, जो जीवों को आवागमन के बन्धन में भटकाए रखती है। उन द्वारा वर्णित बाह्यगुरु की कुदरत (क्रियाशील पक्ष) एवं उसकी माया (जीव की वह प्रवृत्ति, जिसे मन द्वारा पोषण मिलता है) में पर्याप्त भिन्नता है। परमात्मा की कुदरत ही गुरुनानक का माया-सिद्धान्त है, जिसे कुदरति-सिद्धान्त का स्वतन्त्र अभिधान भी दिया जा सकता है। उनके इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि वह (कुदरति) बाह्यगुरु का अभिन्न अंग है। शब्दब्रह्म (ओंकार) की स्थिति ब्रह्म (बाह्यगुरु) की भेदाभेद अवस्था है, जिसके उपरान्त उसकी इच्छा (कुदरति) से जगत की लीला आरम्भ हो जाती है।

गुरुनानक साख्य-योग और न्याय-वैशेषिक के प्रकृति एवं परमाणु-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। वे शकराचार्य की भाँति माया द्वारा ब्रह्म (बाह्यगुरु) के संवलित हो जाने के उपरान्त उसकी ईश्वर और जीव के रूप में प्रतीति भी नहीं मानते। विशिष्टाद्वैत और द्वैतवाद की भाँति भी उन्होंने जगत की रचना करने वाली शक्ति के स्वरूप की मान्यता को स्वीकार नहीं किया है। तान्त्रिकों की शक्ति की मान्यता उनकी कुदरति-सिद्धान्त से बिल्कुल भिन्न है। शाक्तों को शक्ति के उपासक कह कर आदिग्रन्थ में उनके आचारशास्त्र का घोर विरोध किया गया है। उनका कुदरति-सिद्धान्त काश्मीर शैवों के शक्ति एवं शुद्धाद्वैतवादियों के माया और अविद्या-सिद्धान्त से ही पर्याप्त साम्य रखता तो है, लेकिन इनके कुदरति-सिद्धान्त को उनका सीधा

अनुसरण नहीं माना जा सकता। इन्होंने उनकी शक्ति को उसी रूप में स्वीकार नहीं किया है। उनकी देवतावाद सम्बन्धी धारणाएँ भी इनकी तत्सम्बन्धी मान्यताओं से बिल्कुल भिन्न एवं अद्वैत-सिद्धान्त के प्रतिद्वन्द्व हैं। परमसत्ता के सक्रिय पक्ष को इन्होंने देवत्व के आरोपण से पूर्णतया मुक्त रखा है, जबकि शैवों और शुद्धाद्वैतवादियों ने परमशिव और वासुदेव की सर्जनशील शक्ति का अवतारी रूप स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार गुरुनानक द्वारा स्वीकृत माया (बाह्यगुरु की सर्वव्यापी शक्ति) का रूप स्वतन्त्र एवं भिन्न प्रकार का है। वे जगत की रचना के रूप में बाह्यगुरु की 'कुबरत' उसकी इच्छा या हुकम को शक्ति मानते हैं और जीव को व्यामोह में डालने वाली शक्ति की चर्चा में माया का उल्लेख करते हैं।

चतुर्थ खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा और जगत

● जगत सम्बन्धी आरम्भिक धारणाएँ

भारतीय चिन्तन-परम्परा में जगत की रचना के सम्बन्ध में दो दृष्टियों से सोचा-विचार गया है। एक दृष्टि के अनुसार जगत परम चैतन्य अलौकिक सत्ता की रचना है। इसे आत्मवादी, अध्यात्मवादी या आदर्शवादी दृष्टि कह सकते हैं। दूसरा दृष्टिकोण पदार्थ को जगत का मूल कारण मानता है और पदार्थ में ही उत्तरोत्तर विकास की स्वाभाविक शक्ति स्वीकार करता है। यह चिन्तन-पद्धति स्वभाव, यदृच्छा अथवा भौतिकवादी दृष्टि है। उपनिषदों में जगत की रचना के सम्बन्ध में आत्मवादी (आदर्शवादी) दृष्टिकोण अपनाया गया है एवं पूर्ववर्ती संहिता-ऋचाओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में भी उपनिषदों की विचारधारा के प्रारूप प्राप्त होते हैं। लेकिन इसके साथ-साथ इन रचनाओं में उस विचारधारा के सकेत भी उपलब्ध हैं, जो परवर्ती समय में जगत की रचना के सम्बन्ध में भौतिकवादी चिन्तकों की धारणाओं के आधार बने हैं। उदाहरण के तौर पर ऋग्वेदकालीन चिन्तक बृहस्पति ने यह मत व्यक्त किया है कि परम सत्य केवल पदार्थ है। उन्हीं के शिष्य धिषण का यह विचार है कि पदार्थ से भिन्न कोई दूसरी सत्ता जगत का मूल कारण स्वीकार नहीं की जा सकती। विद्वानों का यह भी मत है कि वैदिक विचारक परमेष्ठिन् भी पदार्थ को ही मूल सत्य स्वीकार करते थे। भृगु ने जगत के मूल कारण की चर्चा करते हुए पदार्थ की ही शाश्वत सत्ता स्वीकार की है। उपर्युक्त तथ्यों से संकेतित होता है कि आदर्शवादी एवं भौतिकवादी विचारधाराओं का आधार पहले से ही विद्यमान था तथा अनुकूल परिस्थितियों एवं वातावरण में भौतिकवादी चिन्तकों ने उन्हें आधार बना कर अपने-अपने मतों का प्रतिपादन किया।

जगत सम्बन्धी आरम्भिक धारणाओं के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसकी (जगत की) रचना के मूल कारण के सम्बन्ध में कोई सर्वसम्मत विचार आरम्भ में नहीं बन पाया था। जहाँ हमें ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में पार्श्वनाथ जैसे भौतिकवादी विचारकों का उल्लेख मिलता है, वहीं वैदिक ऋचाओं, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में आदर्शवादी विचारधारा की बलवती स्थापना के चिन्ह भी देखने

को मिलते हैं। अतः तथ्य यही है कि आरम्भ से ही जगत की रचना के बारे में भौतिकवादी एवं आदर्शवादी—दोनों ही दृष्टियाँ प्राप्त होने लगी थी। ये भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ भी परिस्थितिजन्य रही हैं एवं इनमें पाया जाने वाला विरोध भी उन परिस्थितियों का ही फल है। एम० एन० राय और एम० हिरियन्ना ने 'श्वसनवेद उपनिषद्' तथा निरुक्तकार 'यास्क' के द्वारा उल्लिखित ऋषि कौत्स का हवाला देते हुए यह स्वीकार किया है कि वैदिक कर्मकाण्ड के प्रभावकाल में ही उसका विरोधी स्वर भी मुखर था।^१ बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में भौतिकवादी विचारकों के नामोल्लेख भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि आरम्भ से ही भौतिकवादी एवं आदर्शवादी विचार-धाराएँ वर्तमान रही हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब तक जगत की रचना के सम्बन्ध में दार्शनिक चिन्तन आरम्भ नहीं हुआ था, तब तक मानव-चिन्तन किसी एक दिशा में प्रवाहित न होकर उक्त दोनों ही धाराओं में प्रवाहित होता रहा है। एक ने अनुकूल परिस्थितियों में आदर्शवाद का रूप प्राप्त किया और दूसरी ऐहिक चिन्तन प्रधान धारा ने कालान्तर में भौतिकवादी चिन्तन प्रणाली के रूप में आदर्शवादी चिन्तन-विधि के प्रति असन्तोष प्रकट किया। प्रस्तुत रचना के प्रथम खण्ड में जगत के मूलकारण ब्रह्म या पदार्थ के विषय में विचार करते समय बहुत कुछ विस्तार के साथ लिख दिया गया है। अतः यहाँ इसके पुनर्विवेचन की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि जगत सम्बन्धी आरम्भिक धारणाएँ मात्र जिज्ञासा थी। व्यक्ति भिन्न-भिन्न दृष्टियों से मानव-जीवन की समस्याओं पर विचार कर रहा था। उसके ज्ञान का क्षितिज सीमित था, जिसके कारण वह एक ओर सीमित रूप में ही जगत के सम्बन्ध में विचार कर सकता था और दूसरी ओर वह त्रिस प्रकार के धार्मिक विश्वास बना पाया था, उन्हीं के अनुरूप उसकी जगत सम्बन्धी धारणाएँ बन सकती थी। धीरे-धीरे आधिक परिवर्तन हुए। इस आधिक ढाँचे में परिवर्तन के कारण सामाजिक व्यवस्था बदली और आधिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण जो दर्शन-प्रणालियाँ अथवा दार्शनिक चिन्तन की पद्धतियाँ बनीं; उनमें भी अन्तर आ गया। आदर्शवादी मान्यताओं के प्रति विरोधी दृष्टि रखने वाले चिन्तकों ने पदार्थ को ही जगत का मूल कारण माना और प्रकृति द्वारा स्वयमेव (यदृच्छया) जगत के रूप में परिणमित होना स्वीकार किया। आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार जगत की रचना-शक्ति ब्रह्म को स्वीकार किया गया।

संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों का सृष्टि-सिद्धान्त—वेदों एवं ब्राह्मण ग्रन्थों से ही रूपात्मक सृष्टि के सम्बन्ध में सहज जिज्ञासा एवं उसके समाधान के प्रयास हमें उपलब्ध होने लगते हैं। परवर्ती भारतीय चिन्तन इन आरम्भिक विचारधाराओं से

^१ मंटिरियलिज्म, (कलकत्ता) १९५१, पृ० ७७-७८, आउट लाइन्स ऑव इण्डियन फिलॉसफी, पृ० ४३-४४,

पर्याप्त रूप में प्रभावित हुआ है। 'नासदीय सूक्त' में जगत की रचना के विषय में विचार किया गया है। इस प्रसंग में अनुभव और तर्क-शक्ति के आधार पर उठी हुई जिज्ञासा का समाधान सूक्तकार ने प्रस्तुत किया है। विभिन्न प्रकार से जगत की रचना के बारे में ऊहापोह के उपरान्त वह अन्त में यह स्वीकार कर लेता है कि सृष्टि के आरम्भ-बिन्दु के विषय में निश्चित रूप में कुछ कहना सम्भव नहीं है।^१ इस सूक्त में सृष्टि और सृष्टि की रचना करने वाली सत्ता के सम्बन्ध में जिस ढंग से विचार हुआ है, उससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि नामरूपात्मक जगत परम सत्ता में ही अव्यक्त रूप में विद्यमान था और सत्ता स्वयं निराकार अवस्था में ही विद्यमान थी। उस समय तक उसने कोई विशेष आकार धारण नहीं किया था। ऋग्वेद के बाद की रचनाओं के अध्ययन से यह तथ्य भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि की रचना के बारे में उठाये गये प्रश्न फिर से बार-बार चर्चा के विषय बनते रहे हैं और समय-समय पर विभिन्न उत्तर भी दिये गये हैं। तभी से जगत की रचना और उसके निर्मायक तत्त्वों के बारे में विचारकों में पर्याप्त मत-भेद भी रहा है। हम यह देखते हैं कि संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि की रचना की किसी निश्चित प्रक्रिया का उल्लेख नहीं मिलता। एतत्सम्बन्धी विचार पर्याप्त बिखरे हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तब तक विचारक जगत की रचना के विषय में किसी निश्चित निर्णय अथवा निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये थे।

शतपथ ब्राह्मण में अणु अर्थात् सूक्ष्म तत्त्व से विराट् या ब्रह्माण्ड की रचना का उल्लेख हुआ है।^२ इससे ऐसा लगता है कि संहिताओं में वर्णित 'हिरण्यगर्भ-सिद्धान्त' ही ब्राह्मण ग्रन्थों में विभिन्न रूपों में वर्णित हुआ है और कथात्मक शैली में उसी का अनुसरण पुराणों में भी किया गया है। मत्स्यपुराण में आगे चल कर सृष्टि-रचना सम्बन्धी जो कथा वर्णित हुई है, उसका आधार शतपथ ब्राह्मण में वर्णित सृष्टि की रचना से सम्बन्धित विचारधारा ही प्रतीत होती है। मनुष्य जरायुज प्राणी है, इसके सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण की एक कथा पर्याप्त आधार प्रस्तुत करती है।^३ प्राण तत्त्व से सृष्टि की रचना के सकेत भी हमें ब्राह्मण ग्रन्थों में ही मिल जाते

^१ ऋ० वे० नासदीयसूक्त, नासदासीन्नो सदासीत्तादानी नासीद्वजो नो व्योम परो यत् । × × × न मृत्युरासीद् × × × तम आसीत्तमसा × × ॥ योज्याध्यक्षः परमे व्योमन सो अग वेद यदि वान वेद ॥

^२ श० प० ब्रा० १-२-५-५, वामनोह विष्णुरास × × × वही० ५-२-५-४, विष्णो यद् वामन × × × ॥

^३ श० प० ब्रा०, ५-२-५-४, आपो हि वा इदमग्रेसलिलमेवास । ता अकामयन्त कथं नु प्रजायेय हीति । ता आश्राम्ये-स्तपोऽतप्यन्त, ताम् तपस्तप्यमानान् हिरण्यमय भाण्डं सं बभूवा जातो ह तर्हि संवत्सरा आस तदिदं हिरण्यमयमण्ड यावत् संवत्सरस्य वेला तावत्पर्यन्त प्लवत ॥

हैं।^१ वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि की रचना के प्रसंग में प्राणतत्त्व की चर्चा प्रतीकों के माध्यम से प्राप्त होती है। अग्नि के प्रतीक के द्वारा प्राण को सबसे पहली सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। आदित्य को भी प्राणतत्त्व का अभिधान देकर एवं प्रथम सृष्टि मानकर प्राणतत्त्व के महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है।^२

ऋग्वेद में इस विश्वास को कई प्रसंगों में दुहराया गया है कि स्रष्टा शक्ति सारी सृष्टि में प्रवेश कर उसकी रचना के कार्य को सम्पन्न करती है।^३ इससे ज्ञात होता है कि परवर्ती ईश्वरवादी दर्शनों में मान्य शक्तिमान की शक्ति के द्वारा सृष्टि की रचना की मान्यताओं का मूल बीज ऋग्वेद में ही विद्यमान है। इसी भाँति ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उनके बाद पुराणों आदि में भी उपर्युक्त प्रवेश-सिद्धान्त को किसी न किसी रूप में स्वीकार कर लिया गया है। इतना ही नहीं प्राणतत्त्व को अण्डे के प्रतीक के रूप में सृष्टि का आधार बतलाना भी वैदिक एवं ब्राह्मण ग्रन्थों की विचार-धारा का ही उपबृंहण प्रतीत होता है।^४ पुराणों में वर्णित सृष्टि सम्बन्धी विश्वास ऋग्वेद के नासदीयसूक्त तथा अन्य मन्त्रों में प्रतिपादित धारणाओं से ही ग्रहण किये गये प्रतीत होते हैं।^५ विद्वानों की खोज के अनुसार ऋग्वेद में पुरुष को प्राण और प्रकृति, को जड तत्त्व कहा गया है। भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में यह विचार 'हिरण्यगर्भ-विद्या' के नाम से पर्याप्त प्रसिद्ध एवं प्रचारित रहा है।^६ यजुर्वेद में सूर्य को (आदित्य) अनादि प्राणतत्त्व बतलाया गया है। यह विश्वास ब्रह्मा की परवर्ती धारणा का आधार भी हो सकता है।^७ एक पौराणिक कथा के अनुसार ब्रह्मा अपनी पुत्री को

^१ श० प० ब्रा० ६-१-१-१, असद् वा इदमग्रमासीत् तदाहु कि तदसदामीदिति । ऋषयो वाव ते अग्ने असदिति । तदाहु के ते ऋषय इति । × × × अग्ने तपसा अरिवंस्तस्माद् ऋषयः ॥

^२ सामवेद, ५।१।६, अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य ॥ ऋ० वे० १०।५।७, अग्निर्नः प्रथमजा ऋतस्य ॥ वही० १०।५।७, पूर्वं आयु नि वृषभश्च घेनुः ॥ मत्स्यपुराण, २।३१, वायुपुराण, ५।४०।४६, भागवतपुराण, २।४।१६,

^३ ऋ० वे० १०।६०।६, वही० १०।१३।१२, वही० १०।८१।१, प्रथमच्छद अवरां आविवेश ॥

^४ ऋ० वे० द्यौः पिता पृथिवी माता ॥ वही० १-१६६-१७ से १६, श० प० ब्रा० ७-५-१-१०, पृथिव्यो हि कूर्मः, वही० ७-५-१-७, प्राणो वै कूर्मः प्राणो होमाः सर्वाः प्रजाः करोति । मत्स्यपुराण, २-३२, सचाकरोद् दिश सर्वमध्ये व्योम च शाश्वतम् ॥

^५ ऋ० वे० १।१६४।५१, समानमेतदुदकमुच्चैस्त्यवचाहमि । भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यमनयः ॥ मत्स्य पु० २-३४, अण्ड नाड्ये नद्यः ॥

^६ ऋ० वे० १०-७२-७८, मत्स्य पु० २-३६, भूते-अण्डे जायते यस्माद् मार्तण्डस्तेन सस्मृतः ॥

^७ यजुर्वेद, १३-४८, ब्रह्मा सूर्य-समं ज्योतिः ॥

गर्भवती बनाते हुए वर्णित किये गये हैं। इस कथन की मूल चेतना अथवा प्रतीक की खोज करने पर पता चलता है कि इस प्रकार के कथन वेदों में वर्णित सृष्टि सम्बन्धी विश्वासों की मात्र प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। हम देखते हैं कि यही सन्दर्भ ऋग्वेद में दूसरे ही ढंग से वर्णित हुआ है। तदनुसार पिता के द्वारा पुत्री को गर्भवती बनाने के साथ ही दक्ष का पुत्र और आदिति का माँ के रूप में उल्लेख हुआ है,^१ जिसमें एक सृष्टि को मानसी और दूसरी सृष्टि को मंथुनी सृष्टि कहा गया है।^२

ऊपर दिये गये विवेचन से स्पष्ट है कि सृष्टि की रचना के बारे में प्रस्तुत किये गये विचारों के बीज संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों में मिल जाते हैं। सृष्टि की रचना के परवर्ती सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि यहीं से आरम्भ होती है। हम देखते हैं कि पंचरात्र संहिताओं में क्षोभ को सृष्टि का आरम्भ माना गया है। वैष्णव आचार्यों ने संहिताओं की मान्यता को जगत की रचना के सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया है। क्षोभ का सिद्धान्त बाद में आगे चल कर लम्बी प्रतीक-परम्परा का रूप धारण करता दिखाया देता है। पुराणों में संरमण, वीरण, परिस्फुरण, समिधन और प्रसरण आदि न जाने कितने शब्द क्षोभ के अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं। विद्वानों के अनुसार सांख्य दर्शन तत्त्व-विचार प्रधान दर्शन है। इसका प्रकृति-सिद्धान्त यद्यपि ईश्वर को विशेष मान्यता नहीं देता, लेकिन विचार करने पर ऐसा लगता है कि वह सृष्टि-सम्बन्धी वैदिक विश्वासों एवं मान्यताओं से अधिक भिन्न भी नहीं है। नासदीय सूक्त में ही मन या मनस् के द्वारा सृष्टि की रचना का साकेतिक उल्लेख विद्यमान है। ऋग्वेद का पंचजन और पंचवेद ही कालान्तर में पंच महाभूतों के रूप में हमारे सामने आता है। वेदों में दो पुरुषों की चर्चा भी हमें मिलती है, जिसे सांख्य दर्शन में सम्भवतः ब्रह्म एवं मुक्त जीवों के रूप में प्रतिपादित किया गया है।^३ सांख्य विचारधारा लोकायत विचारधारा है अथवा यह दर्शन भी ईश्वरवादी दर्शन ही है, यह विचार विद्वानों में चर्चा का विषय बना हुआ है, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक ओर भौतिकवादी विचारको ने यदि सांख्य दर्शन की व्याख्याएँ भौतिकवादी दृष्टिकोण से की हैं तो दूसरी ओर इसे सेश्वर सांख्य के रूप में भी स्वीकार किया गया है। ऐसा लगता है कि वैदिक विचारधारा से ही परवर्ती विचारकों ने ईश्वरवादी एवं भौतिकवादी विचारों के सूत्र प्राप्त किये हैं।

इसी प्रसंग में प्रत्यभिज्ञा या काश्मीर शैव दर्शन की मान्यताओं का उल्लेख करना असंगत नहीं होगा। तदनुसार परमशिव के दो पक्ष माने गये हैं—एक पक्ष शिव है और दूसरा शक्ति। इस विश्वास का मूल बीज भी हमें ऋग्वेद के उस प्रसंग

^१ ऋ० वे० १-१६४-३३, मात्रा पिता दुहितुर्गर्भवामात् ॥ वही० अदितेर्दक्षोज्जायत् दक्षात् वा अदितिः ॥

^२ गो० प० ब्रा० १-५-१५ से २० पर्यन्त ॥

^३ ऋ० वे० १-१६४-२०, वही० १२६४,

में मिलता है, जहाँ यह बतलाया गया है कि एक ही अण्ड द्विधा होकर सृष्टि या ब्रह्माण्ड के रूप में साकार हुआ है। संहिताओं में वर्णित विश्वासों के अनुसार 'अनादि अण्ड' अज एवं अमर अर्थात् अजन्मा एवं अविनाशी तत्त्व है। अतः इसी प्रकार के विश्वासों से ही बाद में सृष्टि की रचना करने वाली शक्ति का सिद्धान्त बनाया गया है।^१ यह विश्वास प्रायः उन सभी दर्शनों में स्वीकृत कर लिया गया है जो एक ही परमसत्ता के शक्तिमान और शक्ति दो स्वरूप स्वीकार करते हैं।

^१ ऋ० वे० १-१६४-६, मत्स्य पु० ३-३१, स्त्री रूपमर्धमकरोत् ऊर्ध्वं पुरुषवत् ॥
वही० ३-३१, शतरूपा च सा स्याता सवित्री च निगद्यते ॥ देवीमाहात्म्य, ११-५,
स्त्रियाः समस्ताः सकला जगत्सु ॥

● उपनिषदों का सृष्टि-सिद्धान्त

औपनिषदिक विचारधारा के सम्बन्ध में भी विद्वान परस्पर एकमत नहीं है। भौतिकवादी विचारक इनमें अपनी मान्यताओं के अनुकूल एकत्व की अवधारणा प्राप्त करते हैं। ब्रह्म को सविशेष एवं निविशेष सत्ता मानने वाले विचारकों ने भी अपने विचारों के लिए उपनिषदों की ही शरण ली है। अध्यात्मवादियों का मत है कि उपनिषदों पराविद्या है। उपनिषत्-ज्ञान को उन्होंने 'परासविन्-ज्ञान' कहा है। उपनिषदों में स्वतन्त्र रूप में सृष्टि की रचना का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। इनमें ब्रह्म के स्वरूप-निरूपण के प्रसंग में ही जगत के उल्लेख हुए हैं। तैत्तिरीय एवं छान्दोग्य उपनिषदों में सृष्टि की रचना से पहले सत् और असत् तत्त्वों की विद्यमानता को स्वीकार किया गया है। यहाँ पर हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि असत् से ऋषि का आशय नामरूपात्मक ब्रह्माण्ड की अनभिव्यक्त अवस्था ही हो सकता है। इसी तरह सत् का अर्थ परमात्मा की निराकार अवस्था (Unmanifested Condition) ही है। छान्दोग्य उपनिषद में अन्यत्र एक स्थान पर कहा गया है कि सृष्टि से पूर्व 'जो कुछ' भी था, वह मृत्यु से आच्छादित था।^१ यहाँ पर भी मृत्यु से ऋषि का आशय परमतत्त्व की उस अवस्था से है, जिसे 'शून्य अवस्था' कह सकते हैं। वस्तुतः यह जड़ और चेतन सृष्टि की पूर्ववस्था ही है। मंत्रायण्युपनिषद में भी सृष्टि की रचना से पहले की अवस्था को पूर्ण अन्धकार की स्थिति बतलाया गया है।^२ इसी विचार का उपबृंहण हमें मनुस्मृति में भी प्राप्त होता है और स्मृतिकार की यह धारणा औपनिषदिक विचारधारा से प्रभावित लगती है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में सृष्टि से पूर्व की अवस्था का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि अनारम्भावस्था में चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा था। उसी अन्धकार रूप शून्य में प्रवेश कर परमतत्त्व

^१ तैत्ति० उप० २-७-१, छान्दो० उप० ६-३-१, वही० १-८-१,

^२ मंत्रा० उप० प्रपाठक ४-५,

ने जब तत्त्व की सृष्टि की।^१ हम यह कह सकते हैं कि स्मृतिकार को यह प्रेरणा पूर्ववर्ती सृष्टि-रचना सम्बन्धी विश्वासों से ही मिली है। उपनिषदों में वर्णित एक प्रसंग में यह बतलाया गया है कि सृष्टि की रचना से पहले परमसत्ता अपनी महिमा के द्वारा सर्वत्र समायी हुई थी। उस समय अपना आधार वह स्वयं ही थी। इसी तरह के एक दूसरे प्रसंग में ब्रह्म को जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण के रूप में वर्णित किया गया है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार परमात्मा कर्णनाभ की भाँति अपने भीतर से ही सृष्टि की रचना करता है और इच्छा करने पर उसे पुनः स्वयं ही अपने भीतर समेट भी लेता है।^२

तैत्तिरीय उपनिषद् में यह बतलाया गया है कि 'सत् सत्ता' ने स्वयं अपने आपको जगत् के रूप में साकार किया है। कई स्थलों पर शून्य से सृष्टि की रचना की बात भी कही गयी है। अद्वैत सत्ता के द्वारा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से सृष्टि रूप हो जाने के उल्लेख भी उपनिषदों में मिलते हैं। असत् तत्त्व से सत्त्व की साकारता की स्वीकृति के द्वारा एक से अनेक रूप धारण करने वाला मत भी उपनिषदों में स्वीकार्य प्रतीत होता है। ब्रह्म को अनादि चैतन्य मान कर पुनः उसी से देव एवं देवेनर सृष्टि के साकार होने की चर्चा भी उपनिषदों में की गयी है।^३

उपनिषदों के उपर्युक्त उद्धारणों एवं उल्लेखों से प्रमाणित होता है कि नासदीयसूक्त का सृष्टि की रचना से सम्बन्धित यह प्रश्न कई माध्यमों में समाधान प्राप्त करता रहा है। धार्मिक विश्वासों के विकास की यात्रा में सृष्टि की रचना का सिद्धान्त भी निरन्तर विकसित होता रहा है। उपनिषदों के प्रमुख अध्येता इयूसन ने भी विद्वानों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया है। हम पहले ही बतला चुके हैं कि उपनिषदों में प्रत्यक्ष रूप से जगत् की रचना के सिद्धान्त का प्रतिपादन न कर केवल ब्रह्म के स्वरूप-वर्णन और जीव तथा जगत् के सम्बन्धों के प्रसंग में ही एतत्सम्बन्धी संकेत प्राप्त होते हैं। उपनिषदों का तत्त्व-विचार किसी रूढ़ि का अनुसरण नहीं है और न ही उनमें किसी एक विशिष्ट विश्वास ही को केन्द्र बनाया गया है। चिन्तन के समय जिस तरह के अनुभव उपनिषत्कारों को प्राप्त हुए हैं, उन्हें शिष्यों के सम्मुख केवल प्रस्तुत कर दिया गया है। सम्भवतः यही कारण है कि परवर्ती आचार्यों ने औपनिषदिक विचारधारा को अपने-अपने ढंग से प्रतिपादित किया है।

^१ मनुस्मृ० अध्या० १, श्लो० ५,

^२ छां० उप० ७-२४-१, मुण्डक उप० ख० १, मन्त्र ७,

^३ तैत्ति० उप० २-७, श्वे० उप० ५-१८, छां० उप० ६-२, बृ० उप० ४-१०-१, नारायणोपनिषद्, १-१,

● भगवद्गीता का सृष्टि-सिद्धान्त

साख्य और गीता में वर्णित सृष्टि-सिद्धान्त के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि दोनों में परस्पर पर्याप्त साम्य है। गीता में क्षर और अक्षर से अतीत पुरुषोत्तम की मान्यता का जो उल्लेख हुआ है, वह हमें गीताकार के निज के मौलिक चिन्तन के रूप में प्राप्त हुआ है। यही पर सांख्यो का प्रकृति-सिद्धान्त और गीता में स्वीकृत सृष्टि-रचना-विचार भिन्न-भिन्न दिखलायी देने लगते हैं, अन्यथा गीता में सांख्यो के प्रकृति-सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है। साख्य दर्शन में सृष्टि की रचना प्रकृति का कार्य या प्रकृति का परिणाम माना गया है। तदनुसार पुरुष चेतन्य तो है परन्तु सृष्टि की रचना के प्रसंग में वह निष्क्रिय ही रहता है। पुरुषोत्तम सिद्धान्त में प्रकृति को उसकी योनि एवं अधीनस्थ शक्ति बतलाया गया है। इस प्रकार सृष्टि की रचना को प्रकृति का परिणाम स्वीकार न कर पुरुषोत्तम की रचना मानना गीता के सृष्टि-सिद्धान्त की मुख्य विशेषता है। पुरुष और प्रकृति का स्थान गीता में क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र ने ले लिया है।^१

शैव एवं वैष्णव हिन्दू तांत्रिक सम्प्रदायों में भी अपने-अपने उपास्यों के द्वारा सृष्टि की रचना का उल्लेख हुआ है। हमारा विचार है कि इस प्रकार की प्रेरणा उन्हें गीता के पुरुषोत्तम-सिद्धान्त से ही प्राप्त हुई है। डा० दास गुप्ता भी तनिक अन्तर के साथ इसी मान्यता की पुष्टि करते हैं।^२ गीता में सृष्टि की रचना और संहार के बारे में जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं, उन्हें अधिक स्पष्टता से समझने के लिए सांख्यो के सृष्टि-सिद्धान्त को तनिक विस्तार से समझना आवश्यक है। साख्य दर्शन के मत के अनुसार जब प्रकृति में पुरुष का बिम्ब पड़ता है, तब उसमें स्वयंमेव विक्षोभ की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। तदनन्तर, एक बार, गुणों में विक्षोभ हो जाने पर प्रकृति (मूल-प्रधान) विकृतियों में परिणमित होने लगती है। इस तरह अन्ततोगत्वा जगत नामरूपात्मक स्वरूप प्राप्त कर लेता है। जिस समय तक प्रकृति में गुणों का विक्षोभ नहीं होता, उसकी गर्भ-स्थित शक्तियाँ या तत्त्व अव्यक्तावस्था में ही रहते हैं। परन्तु विक्षोभ के होते ही सबसे पहले ये तत्त्व एक तदुपरान्त अहंकार एक बाद में क्रमशः पाँच तन्मात्राएँ और ग्यारह इन्द्रिया एक पञ्च महाभूत, कुल मिलाकर पञ्चीस तत्त्व साकार रूप प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकृति-विकृति की विकास प्रक्रिया के पूर्ण होते ही नाम-रूप जगत अस्तित्व में आ जाता है। लेकिन गीता में प्रतिपादित सृष्टि की रचना की प्रक्रिया के अनुसार प्रकृति अनादि एक स्वतन्त्र मूल तत्त्व नहीं है। गीता के सृष्टि-सिद्धान्त की मौलिक विशेषता भी यही स्वीकार की जा सकती है। साख्य के सृष्टि-सिद्धान्त और गीता के सृष्टि-सिद्धान्त में यह स्वतन्त्र धारणा ही व्यापक अन्तर का कारण है। साख्य 'पुरुष' को स्वतन्त्र कर्ता के रूप में स्वीकार

^१ गीता, अध्या० १५-१६ से १८, वही० १३-२७, ६-१०,

^२ दि हिस्ट्री ऑफ पतजलि, पृ० ५१,

नहीं करते, बल्कि वे इसे कर्ता ही नहीं मानते। गीता में क्षर और अक्षर के निरूपण के द्वारा इसे इस ढंग से प्रतिपादित किया गया है कि पुरुष और प्रकृति दोनों ही 'पुरुषोत्तम (वासुदेव)' की अधीनस्थ सत्ताएँ हैं। गीताकार ने पुरुषोत्तम को क्षर और अक्षर से अतीत कहकर केवल उसी की सर्वोपरि सत्ता के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। अतः पुरुषोत्तम के पूर्ण स्वातन्त्र्य की मान्यता की स्थापना के द्वारा गीताकार ने परम्परागत दर्शन के क्षेत्र में एक नये अध्याय का सूत्रपात करने का कार्य भी किया है।

पुराणों का सृष्टि-सिद्धान्त—भारतीय विचारकों ने पुराणों को पाँचवाँ वेद मान कर उनके महत्त्व को स्वीकार किया है। पुराणों की रचना काफी पहले से आरम्भ होकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक होती रही है। पुराणों का वर्ण्य विषय यद्यपि एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्न है तथापि सभी पुराणों में सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में चर्चा हुई है। मत्स्यपुराण में वर्णित सृष्टि की रचना की प्रक्रिया के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों की मान्यताओं का ही उपबृंहण किसी न किसी रूप में हुआ है। इसमें मत्स्यावतार की कथा अत्यन्त सशक्त प्रतीकों के माध्यम से वर्णित की गई है। इसकी प्रधान कथा का सम्बन्ध आदि मानव (मनु) से है। घोर तपस्या में लगे हुए मनु को आकाशवाणी के द्वारा यह वरदान प्राप्त होता है कि प्रलयोपरान्त केवल वे ही जीवित रहेंगे। अतः प्रलय के उपरान्त अपने पितरों का तर्पण करते हुए मनु के हाथ में एक मत्स्य आ गया, जिसे उन्होंने अपने कमण्डलु में रख लिया। अपने कमण्डलु में रखे हुए मत्स्य को बढ़ता हुआ देखकर मनु ने उसे सागर में डाल दिया। परन्तु यह देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ कि मत्स्य ने सारे समुद्र को ही घेर लिया है। इससे उनके सामने यह भेद खुल जाता है कि स्वयं नारायण ने ही मत्स्य का अवतार धारण किया है। प्रलय के उपरान्त केवल उन्हीं के वच जाने की बात भी नारायण ने ही कही थी।

मत्स्यपुराण की उपर्युक्त कथा से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि यह कथा प्रतीकों के द्वारा सृष्टि की रचना का ही प्रतिपादन है। कथा में वर्णित नौका वेद है और मत्स्य स्वयं परमतत्त्व या ब्रह्मा (नारायण) है। मत्स्याण्ड, ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। ऐसा विदित होता है कि इस कथा का मूलस्रोत ऋग्वेद का 'हिरण्यगर्भ-सिद्धान्त' ही है। मनु के कमण्डलु को गर्भ और मत्स्य को गर्भ का भ्रूण समझा जा सकता है। जिस प्रकार माँ के गर्भ में भ्रूण धीरे-धीरे वृद्धि प्राप्त करता है, उसी प्रकार कमण्डलु में मत्स्य के आकार को बढ़ता हुआ दिखलाया गया है। पुनः सागर के समान उसके विस्तार का उल्लेख कर, उसकी सर्वव्यापकता की ओर संकेत किया गया है। इस कथा के अन्तर्बर्ती दार्शनिक विचार की ओर ध्यान दें तो पता चलता है कि अण्डे का बढ़ना मनस् (Mind) प्राण (Life) एवं द्रव्य (Matter) के क्रमिक विकास की ही चर्चा है। एकार्णव अर्थात् जलाशय को यहाँ सृष्टि की रचना का मूलाधार बतलाया गया है।

हरिवंशपुराण में भी एकार्णव के अर्थ से परिचित करवाते हुए, उसे महार्णव, एकार्णव एवं 'अगाध स्तब्ध सलिल' आदि कई अभिधानों से अभिहित किया गया है।^१ भागवतपुराण में अगाध स्तब्ध सलिल के स्थान पर युगान्ततोय (Water which remains after the dissolution of the world) का उल्लेख है। हरिवंश पुराण में प्रलय के जल को वाष्प से निकला हुआ बतलाया गया है।^२ इस तरह के सभी वर्णन इस धारणा की ओर संकेत करते हैं कि नामरूपात्मक विश्व के पहले अगाध एवं अथाह सागर की स्थिति में यह सृष्टि प्रकाश-विमर्श-चैतन्य स्वरूप परम-सत्ता में ही अव्यक्त रूप में अवस्थित थी। सृष्टि की रचना से पहले पूर्ण अन्धकार की स्थिति के वर्णनों से भी इसी अव्यक्तावस्था की ओर संकेत किया गया है। अथाह जल का अर्थ भी असीम एवं अनादि सत्ता की अनभिव्यक्तस्वरूपता ही माना जा सकता है। प्रलय का अर्थ धार्मिक विश्वासों के सदर्थ में सृष्टि के लय से है और आध्यात्मिकता के स्तर पर यही ब्रह्म की त्रिगुणातीतरूपता है। भगवान् के द्वारा एक से अनेक होने की इच्छा की अभिव्यक्ति ही ब्रह्माण्ड की रचना है। विष्णुपुराण में भी 'एकार्णव-मिद्धान्त' का उल्लेख कुछ इसी ढंग में हुआ है।^३

पुराणों में हम सृष्टि की रचना के सदर्थ में सागर-विस्तार के उल्लेख भी मिलते हैं। नारायण को शेष-शय्या पर नेत्रों को मूंद कर लेते हुए वर्णित करना परमतत्त्व की प्रशान्त अवस्था का सूचक है। उसे अनन्त की शेषदशा (Infinite Remainder) कह सकते हैं। इस प्रसंग में 'विष्णु' शब्द की व्युत्पत्ति विश् (to enter) धातु से मानी गयी है। विष्णु के द्वारा शेषशय्या में शान्त भाव में आमीन रहने वाली कथा का अर्थ भगवान् (परमसत्ता) के द्वारा सृष्टि का रूप धारण कर लेने पर भी उसकी शेषता की ओर संकेत है। इससे परमतत्त्व की सर्वव्यापकता भी ध्वनित होती है। जिस प्रकार कुण्डलिनी के द्वारा बलय के रूप में स्थित होने पर भी, उसका अन्तिम भाग ऊपर उठा हुआ दिखाया जाता है, उसी प्रकार 'शेष' से परमतत्त्व की शेषता की ओर संकेत किया गया है। शेषनाग के द्वारा विष्णु को धारण करने की कथा के माध्यम से यह बतलाया गया है कि ब्रह्माण्ड का रूप धारण करने पर भी जो कुछ शेष रह जाता है, वास्तव में वही विष्णु इस सारे साकार ब्रह्माण्ड का आधार है।^४ मनु की कथा के सभी प्रसंगों को यदि ध्यानपूर्वक देखें तो उसका अभीष्ट अर्थ ब्रह्माण्ड की परिपूर्ण चेतना ही प्रतीत होता है। मनुस्मृति में

^१ हरिवंशपुराण, ३-१०-३४, वही० ३-१०-१,

^२ वही० ३०-१०-३१, धुन्धुकारा चैकार्णवजले नीहारेण वृत्तान्तरे । अव्यक्त भीषणे लोके सर्वभूत-विवर्जितः ॥

^३ विष्णुपुराण, १-२-२२,

^४ विष्णुपुराण, ३-२४, एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मकः । भोगिसय्यागतः शेते त्रैलोक्यग्रास बृंहितः ॥ तुलनार्थं देखिए : ऋ० वे० १०-८१-१,

इस तथ्य की ओर स्पष्ट रूप से संकेत भी कर दिया गया है। स्मृतिकार लिखते हैं कि मनु शाश्वत अस्तित्व अर्थात् ब्रह्म का प्रतीक है, जिसके लिए प्रजापति, इन्द्र एवं अग्नि आदि नामों का प्रयोग होता आया है।^१

परमतत्त्व का आस्मिता-भाव (The feeling of His own Existence) उसकी इच्छा है। इसी को उसका मन भी मान सकते हैं क्योंकि संकल्प-विकल्प करना मन का धर्म है और बिना संकल्प-विकल्पात्मिका शक्ति के ब्रह्माण्ड की रचना या ब्रह्माण्ड रूप होना सम्भव नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कई प्रकार से परमतत्त्व की इच्छा या क्रियाशक्ति को सृष्टि-प्रसार का कारण बतलाया गया है। पुराणों में ब्रह्मा और नारायण को लेकर सृष्टि की रचना से सम्बन्धित जो कथाएँ वर्णित हुई हैं, वे परम्परा प्राप्त हैं। उपनिषदों का अथर्ववेदों का सहस्रवल्गु-सिद्धान्त इस तथ्य के प्रमाण हैं। इन्हीं को भिन्न-भिन्न प्रतीकों के माध्यम से पुराणों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।^२

पौराणिक सृष्टि-रचना की चर्चा के प्रसंग में नर, नार और नारायण की धारणा के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना चाहिए। नारायण का अर्थ मातृतत्त्व को जन्म देने वाला किया गया है। नर को पिता नार को माँ एवं नारायण को इन दोनों की संतान मानने की धारणा किसी समय प्रचलित रही है। नारायण को हिरण्यगर्भ एवं अण्ड से उत्पन्न प्राणतत्त्व मानने के संकेत भी मिलते हैं। सृष्टि की रचना के बारे में भारतीय दर्शनों, स्मृतियों एवं पुराणों में हमें इस प्रकार के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं।^३ मत्स्य एवं भागवतपुराण में ब्रह्मा के विष्णु रूप हो जाने की कथा आयी है।^४ अन्य पुराणों में भी सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा हुई है। किन्तु जिन पुराणों को यहाँ विशेष आधार बनाया गया है, इस दृष्टि से उन्हीं का विशेष महत्त्व है।

^१ मनुस्मृति, १०२,

^२ श० प० ब्रा० ६-१-१-१, विष्णुपुराण, १-३-२४, ब्रह्मा नारायणात्मक ॥ वही० भावयन् ब्रह्मरूपेण विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥ मत्स्यपुराण, २८४-१, जगदण्डमिदं पूर्वमासीत् दिव्यं हिरण्यमयम् । प्रजापतेरियं मूर्तिरितीयं बैदिकी श्रुतिः ॥

^३ मनुस्मृति, १।१०; आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरः सूनुवः । ता यदस्यायनं प्रोक्तं तस्मान्नारायणः स्मृतः ॥ महाभारत (शान्ति पर्व) ३३८।३५, मत्स्य पुराण, २४८।४६; भागवत पुराण, २।५।३४; वर्षा पूग सहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम् । कालं कर्म स्वभावस्यो जीवोऽजीवमजीवयत् ॥ वही० २।२।१।२३, भागवतः स्थूल रूप—..... ॥

लिंग पुराण, १।३।१८; वही० १।७०।५१; वही० १।८७।१६; भागवत पुराण, ३।६।४; लिंग पुराण, २।१६।२६-२७;

^४ मत्स्यपुराण, २-३०, भागवतपुराण, २-४-१६,

पंचरात्र का सृष्टि-सिद्धान्त—आरम्भ में आगम और निगम की विचार-धारा परस्पर विरोधी थी, लेकिन धीरे-धीरे यह विरोध कम होता गया और अन्त में वे परस्पर विरोधी विचारधाराओं एवं अवधारणाओं वाले न रह कर एक दूसरे के पूरक बन गये। आगमों में वैखानस, शाक्त एवं वैष्णव आगम प्रसिद्ध आगम माने गये हैं। पंचरात्र साहित्य और वैष्णव आगम-साहित्य एक ही अर्थ को द्योतित करने वाले हैं। महाभारत का 'नारायणीयोपाख्यान' पंचरात्र साहित्य का प्रेरणा-स्रोत है। महाभारत में हमें तांत्रिक तत्त्वों के विशेष उल्लेख नहीं मिलते। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आरम्भ में पांचरात्र के विश्वास तांत्रिक नहीं रहे होंगे। परन्तु श्रेडर के द्वारा सम्पादित संहिताओं के वर्ण्य-विषय के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में उनमें तांत्रिक प्रभाव पर्याप्त मात्रा में प्रवेश कर गये थे। सम्भवतः यह बौद्धों का प्रभाव है अथवा तांत्रिक विश्वासों की स्वीकृति के उपरान्त बौद्ध एवं हिन्दू धर्म की साधना-विधियों में समानता के कारण ऐसा हुआ है।

तांत्रिक धारणाओं के बारे में विद्वानों का विचार है कि विशेष सामाजिक स्थिति में इनका होना स्वाभाविक है। इसके सम्बन्ध में विस्तृत वर्चा न कर, हम केवल इतना ही कहेंगे कि किन्हीं विशेष ऐतिहासिक कारणों से बौद्ध धर्म को तांत्रिक प्रभावों ने अपने घेरे में ले लिया था। इसके फलस्वरूप शाक्त, शैव एवं वैष्णव साधनाओं ने बौद्ध धर्म के साधना-पक्ष एवं उसकी विचारधारा को काफी प्रभावित किया है। तांत्रिक विश्वासों के प्रचार के लिए हिन्दू एवं बौद्ध धर्म के प्रतिनिधियों के द्वारा अपने-अपने धर्म के प्रचार का अभियान भी उत्तरदायी माना जा सकता है।

पंचरात्र संहिताओं में वासुदेव को परब्रह्म स्वीकार किया गया है। जयाख्य संहिता में वासुदेव स्वयम्भू एवं आनन्द स्वरूप परमसत्ता के रूप में वर्णित हुए हैं। उसमें सृष्टि को वासुदेव से उत्पन्न बतलाकर प्रलय के समय पुन उसी में समा जाने का उल्लेख भी हुआ है।^१ प्रस्तुत संहिता में सृष्टि के तीन भेद स्वीकार किए गये हैं, जिनके नाम क्रमशः शुद्ध, प्राधानिक एवं ब्राह्मी सृष्टि हैं। शुद्ध सृष्टि की स्वरूप-वर्चा करते हुए यह कहा गया है कि सबसे पहले वामुदेव अच्युत् रूप धारण करते हैं। अच्युत् के उपरान्त 'सत्य' और सत्य के बाद पुरुष-रूप शुद्ध सृष्टि का यही संक्षिप्त विकास-क्रम है।^२ प्राधानिक सृष्टि से सम्बन्धित विचारधारा सांख्य दर्शन के प्रकृति-सिद्धान्त के अनुरूप है। अन्तर केवल यह है कि वैष्णव संहिताओं के अनुसार प्राधानिक सृष्टि में प्रकृति को स्वतन्त्र सत्ता न स्वीकार कर उसे भगवान् की शक्ति माना गया है। वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सृष्टि की रचना का सिद्धान्त मुख्यतः पंचरात्र संहिताओं और भागवत पुराण की विचारधारा का ही अनुसरण है। जयाख्यसंहिता में प्रकृति को त्रिगुणात्मिका बतलाया गया है और उसे जड़

^१ जयाख्य संहिता, पृ० ३५,

^२ जयाख्य संहिता, पृ० २८,

मानकर उसकी विभक्तियों अर्थात् महत् आदि को भी जड़तत्त्व ही स्वीकार किया गया है।^१

पंचरात्र संहिता में वासुदेव की सर्वव्यापकता स्वीकार करते हुए उसकी शक्ति या इच्छा के द्वारा जड़तत्त्वों की क्रियाशीलता का प्रतिपादन हुआ है।^२ सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति स्वयमेव परिणमित होती है। यह परिणाम दूध-दही की भाँति है। सांख्य दर्शनकार सृष्टि की रचना के लिए किसी अतिरिक्त चेतन सत्ता की आवश्यकता नहीं मानते। संहिताओं में स्वीकृत ब्राह्मी सृष्टि के प्रसंग में नारायण (वासुदेव) की भाँति से ब्रह्मा की उत्पत्ति का उल्लेख है। तदनुसार वासुदेव ही ब्रह्मा को सृष्टि-रचना का ज्ञान प्रदान करते हैं। तदनन्तर ब्रह्मा द्वारा रजोगुण की सहायता से देवताओं तथा सम्पूर्ण जड़-चेतन की रचना सम्पन्न होती है। इसके बारे में कई प्रकार की कथाएँ पंचरात्र संहिताओं एवं पुराणों में वर्णित हैं।

नारद पंचरात्र का सृष्टि-सिद्धान्त—पौराणिक धारणा के अनुसार मानवीय लोक के कई युगों में ब्रह्मा का एक दिन बनता है। इसका आशय यह है कि पौराणिकों की दृष्टि में जो जीव देवत्व प्राप्त कर लेते हैं, उनकी काल-धारणा भी बदल जाती है। खण्ड प्रलय और पूर्ण प्रलय की धारणाएँ इसी मान्यता पर आधारित हैं। अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार स्वयं ब्रह्मा (वासुदेव) ही अपनी इच्छा से शक्ति का रूप धारण करता है। नारदपंचरात्र में भी पूर्ण प्रलय के समय विष्णु और लक्ष्मी की अद्वैत स्वरूपता को स्वीकार किया गया है। प्रलय के उपरान्त नयी सृष्टि की इच्छा के समय लक्ष्मी, नारायण से अलग हो जाती है। इस प्रकार नारायण की इच्छा के अधीन परन्तु अलग स्वरूप प्राप्त कर लेने के उपरांत सृष्टि की रचना का कार्य लक्ष्मी के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इससे इस दार्शनिक धारणा का निर्माण हुआ है कि लक्ष्मी (शक्ति या प्रकृति) भगवान् नारायण (परमतत्त्व) का क्रियाशील पक्ष है। इसी मान्यता के आधार पर 'लक्ष्मीसारतन्त्र' एवं 'लक्ष्मीतन्त्र' में सृष्टि की रचना का अत्यन्त विस्तृत उल्लेख हुआ है।

^१ वही० पृ० २५-२७,

^२ जया० सं० पृ० २५, श्लो० २ से ८, वही० पृ० २५, श्लो० २१ से २४ पर्यन्त ।

● सांख्य-योग दर्शन का जगत-सिद्धान्त आरम्भिक

सांख्य विचारधारा के सम्बन्ध में अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि उसके आरम्भिक रूप का मूल स्वर भौतिकवादी ही था। यही कारण है कि आदर्शवादी दर्शन-साहित्य में सांख्यो की उन मान्यताओं का खण्डन किया गया है, जो उसके ब्रह्मवादी दृष्टिकोण के विपरीत पड़ती हैं। उपलब्ध सांख्य दर्शन की रचनाओं में विद्यमान परस्पर विरोधी विचारों के आधार पर ये अनुमान भी लगाये गये हैं कि ये रचनाएँ बाद में आदर्शवादी दृष्टिकोण से प्रभावित हो गयी थी। लेकिन विशेष ध्यान से देखने के बाद उनमें अब भी वे तत्त्व उपलब्ध हो जाते हैं, जो भौतिकवादी अवधारणा के ही अधिक निकट हैं। जहाँ तक जगत की रचना के मूल कारण की मान्यता का सम्बन्ध है, सांख्यकारिका एवं सांख्यप्रवचनसूत्र—दोनों ही रचनाओं में जगत को प्रकृति का ही परिणाम माना गया है और उसका स्वतः परिणमित होना स्वीकार किया है। बी० चट्टोपाध्याय के अनुसार आरम्भिक सांख्य एवं तान्त्रिक विचारधारा में पर्याप्त साम्य है। वे तो यह भी मानते हैं कि तन्त्र ही सांख्य विचारधारा का मूलधार है। जगत के सम्बन्ध में सांख्यों ने द्रव्य-सिद्धान्त, सत्कार्यवाद (कार्यकारण-वाद) ज्ञान एवं प्रकृति-विकृति की धारणाओं पर ही जगत सम्बन्धी मान्यताओं का निर्माण किया है। आरम्भिक सांख्य में एक ओर पुरुष (शरीरी चैतन्य) को 'स्वतन्त्र अनादि चैतन्य' स्वीकार करने का विरोध किया गया है और दूसरी ओर द्रव्य को जगत का आदि या मूलकारण माना गया है।

आरम्भिक सांख्य विचारधारा के अनुसार जगत की रचना का अनादि पदार्थ प्रकृति (द्रव्य) है। प्रकृति का उत्तरोत्तर परिणमन उसका स्वभाव माना गया है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अभिकरण (Agent) के रूप में ईश्वर की सत्ता की मान्यता आरम्भिक सांख्य धारणा नहीं है। तदनुसार प्रकृति ही यदृच्छया परिणमित होती हुई अन्त में नामरूपात्मक जगत का रूप धारण कर लेती है। अतः आरम्भिक सांख्य विचारकों के मत में अन्तिम सत्य प्रकृति (द्रव्य) है—आत्मा या ब्रह्म नहीं। भौतिकवादी दृष्टि को आधार बना कर किसी युग की दार्शनिक

मान्यताओं पर विचार करने वाले चिन्तकों का मत है कि कोई भी दार्शनिक मान्यता अथवा सिद्धान्त स्वतः पूर्ण एवं शाश्वत नहीं होता। वह युग विशेष की सामाजिक परिस्थितियों पर ही आधारित होता। सामाजिक परिस्थितियों से उनका आशय युगीन आर्थिक एवं धार्मिक आदि सभी परिस्थितियों से है। यही कारण है कि उन्होंने सांख्य विचारधारा के निर्माण का युग मातृसत्तात्मक समाज माना है; क्योंकि इस समाज में पुरुष की स्थिति अकर्ता एवं मात्र द्रष्टा की ही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि सांख्यों के पुरुष और प्रकृति सम्बन्धी आरम्भिक विश्वासों के अनुसार पुरुष को नगण्य स्थान प्राप्त हुआ है। पुरुष के हेतु परिणामन की मान्यता परवर्ती प्रतीत होती है। आरम्भ में तो केवल यही स्वीकार किया जाता था कि सम्पूर्ण जागतिक व्यापार प्रकृति का है और पुरुष की स्थिति मात्र द्रष्टा की है। पुरुष का मात्र द्रष्टा वाला रूप परवर्ती सांख्य विचारधारा में भी तद्वत् बना रहा है।

आरम्भिक सांख्य विचारधारा की उक्त मान्यताओं के प्रसंग में यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि पदार्थ की गति एवं क्रिया स्वभावतः उसी में अन्तर्निहित है। द्रव्य-समवाय स्वयमेव विभिन्न प्रकार की गति एवं क्रिया-व्यापार को करने लगता है। यही कारण है कि सांख्य विचारक आदर्शवादियों की भाँति जगत को विवर्तन मान कर परिणाम मानते हैं। इसके सम्बन्ध में सांख्य एवं ब्रह्मवादी विचारधाराओं के निर्माण एवं दोनों में पारस्परिक विरोध के कारण को जान लेना भी प्रासंगिक होगा। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि 'सिद्धान्त अन्वेषण की उपलब्धि' हुआ करता है। 'उसे शाश्वत सत्य' स्वीकार करना ठीक नहीं है। भौतिकवादी एवं आदर्शवादी विचारक यही पर एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न हो जाते हैं। आदर्शवादियों की जगत सम्बन्धी सम्पूर्ण अवधारणाएँ इस मान्यता से आरम्भ होती हैं कि वे पहले सिद्धान्त को शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार कर पुनः आगे बढ़ते हैं। लेकिन भौतिकवादी विचारक तथ्यों के अन्वेषण एवं विश्लेषण के उपरान्त 'उपलब्ध निष्कर्षों' को ही सिद्धान्त का नाम देते हैं। पाश्चात्य एवं पौराणिक विद्वानों ने एकमत होकर यह स्वीकार कर लिया है कि जैन एवं बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी होने पर भी आदर्शवादी ही हैं—भौतिकवादी नहीं। दोनों में कर्म और पुनर्जन्म की अवधारणाओं का जो रूप स्वीकार किया गया है, वह उन्हें आदर्शवादी ही सिद्ध करता है। इन दोनों धर्म-मतों की दार्शनिक मान्यताओं को आरम्भिक सांख्य विचारधारा ने भी प्रभावित किया है और इसी प्रभाव का यह फल है कि आरम्भिक जैन आत्म-सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखते। आरम्भिक बौद्ध विचारक एक ओर शून्य या 'विज्ञान' के रूप में जीव के स्वरूप की खोज करते हैं तथा ईश्वर के अस्तित्व को मौन के बहाने से अस्वीकार करते हैं। इसका दूसरा कारण यह भी है कि जिन सामाजिक मान्यताओं ने सांख्यों की विचारधारा का निर्माण किया था, उन्हीं को पुनरुज्जीवित करने अथवा उन्हीं के प्रति आस्था रखने वाले समाज में आरम्भिक बौद्ध एवं जैन विचारधारा का जन्म हुआ था। जगत के सम्बन्ध

में आरम्भिक साक्ष्य दृष्टिकोण एवं आरम्भिक जैनों की विचारणा में पर्याप्त साम्य है। बल्कि कुछ विद्वानों ने तो जैनों की जगत सम्बन्धी अवधारणाओं के सम्बन्ध में परमाणु-सिद्धान्त के प्रभाव को भी स्वीकार किया है। जिस सामाजिक परिवेश ने आरम्भ में देवाधिदेव और उसके उपरान्त ईश्वर या ब्रह्म की अवधारणा को जन्म दिया था वह उस परिवेश से भिन्न था, जिसमें आरम्भिक साक्ष्य विचारधारा का निर्माण हुआ था—एक दृष्टि भौतिकवादी थी और दूसरी आदर्शवादी। इन दोनों दृष्टियों को जन्म देने वाला एक समाज, वर्ग और वर्ण-व्यवस्था वाला था जबकि दूसरा वर्ग-हीन समाज था, जिसमें व्यक्ति कुलों और कबीलों वाली व्यवस्था में जीवन व्यतीत करता था।

'आरम्भिक साक्ष्य विचारधारा का मूलस्वर भौतिकवादी था'—इसकी पुष्टि एक अन्य दृष्टिकोण से भी होती है। उपनिषदों में—जो कि आदर्शवादी रचनाएँ हैं—प्रतिपक्षों के रूप में अथवा शका उठाने वाले व्यक्तियों के प्रश्नों के रूप में जो समस्याएँ उठायी गयी हैं, उनसे भी यही ध्वनि होता है कि जगत के मूलकारण की मान्यता के सम्बन्ध में तब ऐसा दृष्टिकोण अवश्य विद्यमान था, जिसका खण्डन करना आवश्यक था। जगत की रचना और उसके मूलकारण के सम्बन्ध में उपनिषदों में बार-बार भिन्न-भिन्न प्रसंगों में प्रश्न उठाये गये हैं और ऋषियों ने ब्रह्मवादी दृष्टिकोण के अनुसार उन प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया है। उसके बाद जिस समय ब्रह्मसूत्रों के रूप में औपनिषदिक विचारधारा को क्रमबद्ध किया गया तब भी बादरायण को जगत की रचना के सम्बन्ध में मूलकारण का प्रश्न उद्बलित करता रहा। ब्रह्मसूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि बादरायण ने स्वयं कई बार प्रकृति के द्वारा जगत की रचना के सिद्धान्त का विरोध किया है। तदनन्तर आचार्य शंकर ने साक्ष्यों के जगत-सिद्धान्त की चर्चा करते हुए उसका पर्याप्त विरोध ही नहीं किया अपितु प्रतिपक्षी विचारधारा के रूप में उसका खण्डन भी किया है। उनके इस खण्डन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साक्ष्य जगत को सत्य मानते थे—भ्रम या विवर्त नहीं।^१

साक्ष्यों के 'सत्कार्यवाद' सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। क्योंकि अनस्तित्व से अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा

^१ Sacred Books of the East (ed.) F. Max Muller, p. 300, the vedantic opinion that the intelligent Brahman is the material cause of this world is untenable because the effect would in the case be of an altogether different character from the cause. For this world, which the vedantin considers as the effect of the Brahman, is perceived to be non-intelligent and impure, consequently different in character from the BRAHMAN, the Brahman again is declared by the sacred texts to of a character different from the world, names intelligent and pure."

सकती। किसी भी यथार्थ अस्तित्व के लिए उसका यथार्थ कारण होना आवश्यक है।^१ उनके अनुसार जगत का मूल कारण प्रकृति (पदार्थ) है जो स्वयमेव अपने भीतर से प्रभावों को उत्पन्न करती रहती है। उनकी इस अवधारणा का आशय यह है कि कोई भी नयी वस्तु निमित्त नहीं होती, बल्कि वह प्रत्येक पदार्थ के अन्तर्निहित प्रभाव का ही प्रकटीकरण है। सांख्यों की प्रकृति के रूपान्तरण के रूप में पञ्चभूतात्मक जगत की रचना की मान्यता वस्तुतः शुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण हमें सांख्य दर्शन की उन परवर्ती रचनाओं में भी प्राप्त होता है, जिसे अब आदर्शवादी प्रभाव से युक्त बताया जाता है। 'सांख्यकारिका' में मूल प्रकृति और उसके अभिव्यक्त स्वरूप (नामरूपात्मक जगत) की चर्चा करते हुए स्वीकार किया गया है कि विकसित पदार्थ (प्रकृति का परिणमन) युग्मता से पूर्ण, विषमता से युक्त, चल एवं बहुरूपी होता है। वह जिसका अभिव्यक्त या परिणमित रूप है वही मूल पदार्थ या मूल प्रकृति है।^२ यह मान्यता इस धारणा का भी आधार है कि जगत की रचना के लिए ईश्वर (अभिकरण) की कोई आवश्यकता ही नहीं। प्रकृति के परिणमन के लिए 'पुरुष' के सान्निध्य की अवधारणा भी ईश्वरवादी प्रभाव है क्योंकि इन परवर्ती उपलब्ध रचनाओं का स्वर धीरे-धीरे आदर्शवादी बनता गया है।^३ जगत की रचना के सम्बन्ध में यदि पुरुष के सान्निध्य की बात सांख्यकारिका से निकाल दी जाय तो जो कुछ शेष रह जाता है, उसके अनुसार जगत के रूप में परिणमित होने के लिए मूल पदार्थ का किसी बाह्य शक्ति की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस प्रकार की मान्यताएँ और अवधारणाएँ यही सिद्ध करती हैं कि सांख्य विचारधारा मूलतः भौतिकवादी है।

जगत की रचना के सम्बन्ध में आदर्शवादी और भौतिकवादी मान्यताएँ पर्याप्त भिन्न हैं। आदर्शवादियों के अनुसार वस्तुगत यथार्थ एवं उसके सम्बन्धों का ज्ञान उससे भिन्न किसी स्वतन्त्र चेतन शक्ति का ही हो सकता है। लेकिन इसके विपरीत भौतिकवादियों का कहना है कि वस्तुगत जगत यथार्थ है और वह प्रकृति का विकास है। वे आत्मा (शरीरी चैतन्य) की उत्पत्ति पदार्थ से मानते हैं तथा उसके अनादि अस्तित्व को नहीं स्वीकार करते। आरम्भिक सांख्यों की मान्यताएँ भी ऐसी ही थीं।

● परवर्ती

भारतीय पद्धत-दर्शन-परम्परा में सांख्य और योग दोनों ही दर्शनों को परिणामवादी दर्शन स्वीकार किया गया है। 'भौतिकवादी दर्शन-परम्परा में परमतत्त्व' शीर्षक अध्याय में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भौतिकवादी विचारको एवं अध्यात्म-चिन्तको की एकत्व की अवधारणाएँ स्वतन्त्र मान्यताओं पर आधारित होने के कारण

^१ सांख्यकारिका, सध्या, १०,

^२ वही० सध्या १५,

एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। भौतिकवादी एकत्व की अवधारणा में ईश्वर (परम-सत्त्व) की मान्यता को अस्वीकार किया गया है। भौतिकवादियों का मत है कि जगत का मूलाधार प्रकृति (मूल पदार्थ) है। अतः जब वे एकत्व की चर्चा करते हैं, तब मूल कारण से उनका आशय प्रकृति ही होता है। तदनुसार सम्पूर्ण जागतिक व्यापार एवं दृष्ट जागतिक वैविध्य प्रकृति का ही विलाम है। प्रकृति ईश्वर (स्वतन्त्र चैतन्य) की तुलना में जड़तत्त्व है। भौतिकवादी विचारक ईश्वर (ब्रह्मा) को जगत का मूल-कारण (प्राथमिक तत्त्व) स्वीकार करने का विरोध करते हैं। तदनुसार ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु मूल पदार्थ अर्थात् प्रकृति का परिणाम अथवा विकास है। वे ब्रह्माण्ड को समवाय के रूप में स्वीकार करते हैं, और यह मानते हैं कि समवाय जिस समय टूटता है, उस समय वह पुनः अपने मूल कारण (प्रकृति) में समा जाता है। इसलिए ब्रह्माण्ड की रचना के लिए ईश्वर की सत्ता की स्वीकृति अनावश्यक है। उनके मत में आदिकारण (प्रकृति) का परिणाम ही जगत की रचना है।

भारतीय दर्शन-साहित्य का पुनर्विवेचन करने वाले कतिपय विद्वानों का मत है कि आरम्भ में सांख्य और योग दर्शन की अवधारणाएँ (विशेषकर जगत की रचना के मद्द्भ में) भौतिकवादी विचारधारा के ही अनुरूप थीं। कालान्तर में ईश्वरवाद के प्रभाव के कारण लोकायत दर्शन को छोड़कर, जिस प्रकार अन्य भारतीय दर्शनों (विशेषकर ब्राह्मण धर्म के) पर ईश्वरवाद का आत्यन्तिक प्रभाव पड़ा, उसी प्रकार सांख्य और योग-दर्शन में भी ईश्वरवादी मान्यताओं का प्रवेश हो गया। आरम्भ में जीव के स्वतन्त्र चैतन्य को भी विशेष महत्त्व प्राप्त नहीं था। यह विश्वास किया जाना था कि व्यक्ति चैतन्य भी समवाय-जन्य चैतन्य है—स्वतन्त्र, अनादि तथा प्राकृतिक धर्मों से अतीत चेतना नहीं। सांख्य का पुरुष-सिद्धान्त भी ईश्वरवादी विचार-धारा का ही प्रभाव प्रतीत होता है यद्यपि ईश्वर की स्वीकृति के अभाव के कारण उसके स्वरूप की चर्चा उस रूप में नहीं हो सकी है, जिस रूप में हमें जीव के स्वरूप की चर्चा अन्य शुद्ध ईश्वरवादी दर्शनों में उपलब्ध होती है। फिर भी सांख्य दर्शन में ब्रह्माण्ड का कर्ता ईश्वर को न मानकर प्रकृति (स्वरूप और स्वभाव में जड़तत्त्व) को ही माना गया है और उसके गुण-विक्षोभ के लिए केवल पुरुष का मात्र सांनिध्य ही पर्याप्त स्वीकार किया गया है। सांख्य-योग दर्शन आत्मा या पुरुष को चेतन तो मानते हैं, परन्तु उसे ब्रह्माण्ड का कर्ता नहीं स्वीकार करते।

उन दर्शन-द्वय के अनुसार (विशेषकर सांख्य दर्शन के मत में) जगत की रचना प्रकृति के परिणाम का फल है। तदनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मकधर्मा है। उसमें सत्त्व, रज एवं तम तीनों गुण आरम्भ में अक्षुब्ध अवस्था में विद्यमान रहते हैं। इससे यह सिद्ध है कि अस्तित्व में आने से पूर्व जगत प्रकृति में ही सूक्ष्म रूप में अवस्थित होता है। प्रकृति में जिस समय गुण-विक्षोभ होने लगता है, उस समय उसमें स्वयमेव गतिशीलता आ जाती है। पुरुष को चेतन मान कर भी सांख्य दार्शनिक उसे इन्द्रियों के धर्मों से अलिप्त बतलाते हैं। उसकी बढ़ता इसी में है कि वह प्रकृति के धर्मों का

अपने ऊपर आरोप कर लेता है। सांख्य-योग दर्शन के अनुसार परमाणु, सृष्टि की रचना के अनादि तत्त्व नहीं है, बल्कि प्रकृति का गुण-परिणाम ही जगत की रचना का हेतु है। सांख्यो ने दो अनादितत्त्व—पुरुष और प्रकृति माने हैं।

सांख्यो के अनुसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति का पहला गुण सत्त्व, दूसरा रज एवं तीसरा तम है। रजोगुण का धर्म क्रियाशीलता है, जबकि तमोगुण आलस्य, प्रमाद और अज्ञान है^१ तदनुसार पदार्थ न तो समूल नष्ट हो जाता है, न ही सर्वथा नवीन पदार्थ अस्तित्व में आता है।^२ सांख्य प्रकृति को जड़ बतलाते हुए यह मानते हैं कि तमोगुण के कारण सारा ब्रह्माण्ड अपने आप एक नियमित ढंग से प्रवाहमान रहता है।^३ सांख्य दर्शन में जगत की रचना के क्रम का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि मूल प्रकृति में विक्षोभ होते ही, वह उत्तरोत्तर अनेक तत्त्वों के रूप में परिणमित होने लगती है। यही सांख्यो का प्रकृति-विकृति सिद्धान्त है। स्थूल महाभूतो की रचना पूर्ण होने तक यह प्रक्रिया चलती रहती है। पुरुष की स्वीकृति प्रकृति के परिणाम के लिए ही मानी गयी है। क्योंकि परिणमित होने के लिए प्रकृति को पुरुष का सामीप्य चाहिए। प्रकृति परिणाम-सिद्धान्त में यह कहा गया है कि जिस समय बुद्धि में पुरुष की चेतनता का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उस समय प्रकृति में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है और सृष्टि की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। प्रकृति का यह प्रसार पुरुष के हेतु माना गया है। जिस समय तक पुरुष को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, प्रकृति का दाँव उसी समय तक चलता है, अन्यथा वह अपना प्रपञ्च समेट लेती है। प्रत्येक व्यक्ति में भिन्नता को देखते हुए सांख्य पुरुषों की संख्या अनन्त मानते हैं। उनका कहना है कि यदि सभी व्यक्तियों का अन्त करण एवं संस्कार आदि भिन्न न हो तभी यह माना जा सकता है कि पुरुष एक है—अनेक नहीं।^४

^१ सां० का० ११, त्रिगुणमविवेकिविधय सामान्यमचेतन प्रसवधर्मी व्यक्त तथा प्रधानम् × × × ॥ वही संख्या १३, सत्त्व लघुप्रकाशकमिष्टमुपप्लव्य भवतः च रजः ॥ गुरुवर्णकमेव तमः प्रदीपवाच्यार्थतो वृत्तिः ॥

^२ सां० का० ६, असदकारणादुपादान ग्रहणात् सर्वं सम्भवाभावात् शक्तस्य शक्त-करणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

^३ वही० १३, गुरुवर्णकमेव तमः × × × ॥ तथा सांख्यतत्त्वकौमुदी, १३, रजस्तु-चलतया परितस्त्रैगुण्य × × × ॥

^४ सांख्यकारिका, १७; सघात परार्थत्वात् त्रिगुणादि विषयाभिष्ठानात् पुरुषोऽपि भोक्तुं अभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च । वही० संख्या १८, जननमरणकारणानां प्रति नियमादयुगपद् प्रवृत्तेश्च । पुरुष बहुत्व सिद्धं त्रैगुण्य विपर्ययाच्चैव ॥ वही० सं० ६२; तस्मान्नबध्यतेऽर्द्धं न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् । संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ सांख्यतत्त्वकौमुदी, २१; भोग्येन प्राधान्येन समिन्न पुरुषस्तद् गत दुःखमय स्वात्मन्यभिमतमानः कैवल्यं प्रार्थयते ॥ सां० का० २०; तस्मात्तत्त्वयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ॥

सांख्य दर्शन की यह मान्यता भी इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत करती है कि आरम्भ में यह विचारधारा भौतिकवादी एकता की अवधारणा (मूल पदार्थ या प्रकृति) के अनुकूल थी। तदननुसार जगत को मूल पदार्थ का ही विकास एवं ब्रह्माण्ड को पदार्थ का समवाय स्वीकार किया गया था। इस मान्यता का संकेत परवर्ती सांख्य दर्शन में भी प्राप्त होता है।

सांख्य दर्शन आगे चलकर दो वर्गों में विभाजित हो गया—एक सेश्वर और दूसरा निरीश्वर। सेश्वर सांख्यवादी मानते हैं कि ईश्वर जीवों के प्रति अनुकम्पा के भाव से प्रेरित होकर, प्रकृति के माध्यम से जगत की रचना करता है, लेकिन निरीश्वरवादी सांख्य ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करते। वे जगत के हेतु जीव के प्रति प्रकृति का अनुकम्पा-भाव स्वीकार करते हैं। प्रकृति का यह अनुग्रह किसी अन्य चेतन सत्ता के द्वारा किया गया एवं उसके अपने विवेक में परिचालित नहीं है। निरीश्वरवादियों के मत में प्रकृति स्वयं जड़ होने के कारण विवेक आदि चेतन धर्मों से विहीन है।^१ योग साधना प्रधान दर्शन है। सांख्य और योग दोनों मिलकर ही सिद्धान्त और साधना के दोनों पक्षों की पूर्ति करते हैं। इस प्रसंग में यह जान लेना जरूरी है कि वैष्णव आचार्य भी जगत की रचना के हेतु आगे चलकर सांख्यों के प्रकृति-सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते हैं।

न्याय-वैशेषिक का जगत-सिद्धान्त

● आरम्भिक

कणाद के सूत्रों एवं उनके ऊपर लिखे गये शंकरमिश्र के भाष्य से यह स्पष्ट है कि जगत की रचना के सम्बन्ध में वैशेषिक दर्शन में पदार्थ को ही अनादि तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। तदनुसार नामरूपात्मक जगत पदार्थों का समवाय है। कणाद के अनुसार जगत की सत्ता पदार्थात्मक (वस्तुगत) है। मानव-चेतना का उसके निर्माण में कोई हाथ नहीं। कणाद ने वैशेषिक सूत्रों का आरम्भ ही इस विश्वास को आधार बनाकर किया है कि यह जगत ईश्वर नामक किसी दैवी और शाश्वत शक्ति के द्वारा नियमित नहीं है। वैशेषिक दर्शन में इस धारणा का भी प्रतिपादन हुआ है कि जगत इस अर्थ में यथार्थ है क्योंकि वह विभिन्न वस्तुओं (पदार्थों) का समवाय है। द्रव्य को वैशेषिक आचार्य जगत का मूलकारण मानते हैं। द्रव्य ही मूल पदार्थ सत्ता है। तदनुसार पदार्थ गुण-क्रिया-सम्पन्न तत्त्व है और वही प्रभावों का अन्तर्निहित भौतिक कारण भी है। द्रव्य जिस समय भौतिक वस्तुओं का

^१ सा० का० संख्या ५६; इत्येष प्रकृति कृती महदादि विशेषभूत पर्यन्तः। प्रति-पुरुष विश्वोभाय स्वार्थ इव परार्थ आरंभः॥ सा० का० संख्या ५७; वत्सविवृद्धि निमित्त क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुष विश्वोभ निमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥ वही पृ० संख्या १६; करणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदायाच्च। परिणामतः सलिलवत् प्रति-प्रति गुणाश्रय विशेषात्।

रूप धारण करते हैं तब जगत (नामरूपात्मक) साकार हो जाता है। तदनुसार सम्पूर्ण और अंश अर्थात् अंश (पदार्थ या परमाणु) और अंश-समूह (वस्तुजगत) में यह अन्तर है कि पहले को घटकों में बदला जा सकता है, जबकि दूसरा (अंश) अविभाज्य है।

वैशेषिकों के अनुसार, जगत के निर्मायक तत्त्व परमाणु शाश्वत एवं अविनाशी हैं। ब्रह्माण्ड की विविधरूपता के सम्बन्ध में उनका कहना है कि समानधर्मी परमाणुओं के समवाय से विशिष्ट पदार्थ बनते हैं। परस्पर एक दूसरे से मिलने की प्रवृत्ति इन परमाणुओं का स्वभाव—अन्तर्निहित धर्म है। परमाणुओं में गति रहती है, अतः वे निष्क्रिय एवं स्थैतिक नहीं हैं। इस सम्बन्ध में वैशेषिकों की यह निश्चित धारणा है कि जगत की रचना में परमाणु समवाय से भिन्न किसी अन्य अभिकरण (Agent) की आवश्यकता नहीं है। परमाणुओं को वे अस्तित्वमयी निरन्तर प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं। समवाय से पूर्व परमाणु की स्थिति निराकार मानी गयी है, क्योंकि वह देखा नहीं जा सकता। कणाद की इस विशिष्ट अवधारणा को मैक्समूलर ने मौलिक चिन्तन स्वीकार किया है।^१ अन्यथा जगत-रचना की प्रक्रिया के सम्बन्ध में परमाणु-सिद्धान्त जैन विचारकों की तत्सम्बन्धी मान्यता का ही दार्शनिक प्रतिपादन है।

ब्रह्मसूत्रों के आदर्शवादी व्याख्याकार आचार्य शंकर वैशेषिक दर्शन की इस मान्यता का खण्डन करते हैं कि पदार्थ का न तो नाश किया जा सकता है और न निर्माण ही।^२ यदि गहराई से विचार किया जाए तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उनकी दृष्टि में भी वैशेषिकों की विचारधारा भौतिकवादी ही थी। उनका साक्ष्य की भाँति ही वैशेषिकों का खण्डन भी इसी दृष्टि का परिचायक है। अनुमान एवं प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही जगत की रचना के विषय में वैशेषिकों ने विचार किया है। जगत के वैविध्य को देखकर उन्होंने परमाणुओं में भिन्न-भिन्न विशेषताएँ स्वीकार की और उनके आधार पर परमाणुओं (पदार्थों) को वर्गीकृत किया। द्रव्यों में वे कई प्रकार के गुणों एवं धर्मों की स्थिति स्वीकार करते हैं।^३ इससे यह स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शन की मूलभूत दृष्टि भौतिकवादी है और यह विचारधारा पर्याप्त समय तक आदर्शवादी दृष्टिकोण से जगत की रचना के सम्बन्ध में चेतनासत्ता को मूल कारण मानने वालों का विरोध करती रही है। इसी विचारधारा ने आगे चलकर लोकायत दर्शन का रूप प्राप्त किया है। लेकिन कालान्तर में इस भौतिकवादी दृष्टिकोण को ईश्वरवादी मान्यताओं के द्वारा रंजित कर दिया गया। अतः यह

^१ दि सिक्स सिस्टम्स आफ इण्डियन फिलासोफी, वैशेषिक प्रकरण।

^२ ब्रह्म सू० शा० भा० १-१२,

^३ वैशेषिक सूत्र २-१, वही० १-१, एक द्रव्यमगुण सयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्म लक्षणम् ॥

मानना पड़ता है कि जो स्थिति, भारतीय दर्शन-परम्परा में, सांख्यों की आरम्भिक विचारधारा की हुई, वही स्थिति वैशेषिक दर्शन की भी। भारतीय विद्वान हिरियन्ना के विचार इस सम्बन्ध में ध्यातव्य हैं। वे लिखते हैं कि कणाद के सूत्रों पर लिखा गया सबसे पहला भाष्य प्रशस्तिपाद का है। वे इस भाष्य का रचना-काल पाँचवीं शती के आस-पास मानते हैं। उनका यह भी मत है कि भाष्यकार ने भाष्य लिखते समय अपनी मौलिक दृष्टि से काम लिया है। सम्भवतः यही पहला भाष्य है, जिसमें पदार्थ (परमाणु) के स्वतन्त्र कर्तृत्व को अमान्य ठहरा कर ईश्वर को जगत का रचयिता माना गया है।^१ हिरियन्ना महोदय के इस कथन से भी यह बात प्रमाणित हो जाती है कि वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत कर्म के सिद्धान्त को बाद में आदर्शवादी विचारको ने भिन्न अवधारणा के रूप में ग्रहण किया और ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा एवं केवल उसी में कर्तृत्व की शक्ति को स्वीकार किया है। धीरे-धीरे यह विश्वास प्रचलित होता गया कि ईश्वर के बिना स्वयं पदार्थ में ब्रह्माण्ड जैसी मुख्यवस्थित रचना सम्भव नहीं हो सकती। इस प्रकार आरम्भिक वैशेषिक धारणाएँ बाद में अधिकांशतः आदर्शवादी प्रभाव के अन्तर्गत आ गयी।

वैचारिक दृष्टि में न्याय एवं वैशेषिक दर्शन का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों दर्शनों की मूलभूत धारणाओं से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। 'भारतीय दर्शन-परम्परा में ब्रह्मा के स्वरूप' की चर्चा के प्रसंग में यह बतला दिया गया है कि लगभग ई० पूर्वं चौथी शताब्दी तक न्याय-विचारधारा एक व्यवस्थित दर्शन का रूप प्राप्त कर चुकी थी, जिसे गौतम ने सुशुद्ध किया। न्याय दर्शन की आरम्भिक मान्यताओं के अनुसार प्रत्येक वास्तविकता वस्तुगत क्रम के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत होती है और परमाणु जगत के मूल कारण है। यह विचार ब्रह्मवादी दृष्टि-कोण से पर्याप्त भिन्न है और यह मकेतित करता है कि इस दर्शन की मूलभूत मान्यताएँ आरम्भ में भौतिकवादी ही रही हैं। इस दर्शन के परमाणु-सिद्धान्त के अनुसार परमाणुओं में ही क्रियाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ अन्तर्निहित हैं। परमाणु-समवाय के रूप में ब्रह्माण्ड की विविधरूपता स्वयमेव निमित्त होती रहती है। न्याय दर्शन के अनुसार जीव का साध्य मुक्ति माना गया है, लेकिन मुक्ति का अर्थ 'सही ज्ञान' ही स्वीकार किया गया है। न्याय दर्शन की आरम्भिक अवधारणा यही है। जगत के सम्बन्ध में आरम्भिक न्याय-विचारधारा इस अवधारणा से प्रेरित लगती है कि चेतन की सत्ता का ज्ञान अचेतनतत्त्व में क्रियाशीलता की मान्यता के उपरान्त ही हो सकता है।

न्याय दर्शन के अनुसार पारमाणविक तत्त्व ही अनादि सत्ता है। उन्हीं से जगत की रचना होती है। सृष्टि की रचना में ईश्वर की कोई भूमिका नहीं है। वैशेषिक दर्शन की भाँति नैय्यायिक भी परमाणुओं के सम्मिश्रण से ही जैव-अजैव

^१ ए० एम० हिरियन्ना, आउट लाइन्स ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृ० २२६,

जगत की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। इसके सम्बन्ध में रिचार्ड गार्बे के विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। वे लिखते हैं कि न्याय और वैशेषिक दर्शन की मूलभूत मान्यताओं में यह स्वीकार नहीं किया गया है कि पदार्थ की रचना कोई अन्य शक्ति (ईश्वर आदि) करती है। बल्कि दोनों ही दर्शनों में ईश्वर के अस्तित्व को नकारने के स्पष्ट लक्षण प्राप्त होते हैं। वे यह भी मानते हैं कि वैशेषिक दर्शन में जिस तरह ईश्वर के कर्तृत्व का प्रवेश परवर्ती है, उसी तरह न्याय दर्शन में भी।^१ न्यायसूत्रों के अनुसार आत्मा भी जगत की अन्य भौतिक (विषयगत) वस्तुओं के ही अन्तर्गत आती है।^२

न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान के महत्त्व पर बहुत अधिक बल दिया गया है। यह विचार मूलतः भौतिकवादी है एवं ब्रह्मवादी आदर्शमूलक दृष्टि से पर्याप्त भिन्न है। इसी आधार पर नैयायिक जगत को यथार्थ एवं उसका मूल कारण परमाणुओं को स्वीकार करते हैं। परमाणु रूपी घटकों की सहायता से ईश्वर के द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना करने की अवधारणा इस विचारधारा में बाद में जोड़ी गयी प्रतीत होती है। लेकिन मूलतः भौतिकवादी दृष्टि रखते हुए भी कालान्तर में न्याय दर्शन के परवर्ती प्रस्ताव एवं व्याख्याता आदर्श मूलक प्रवृत्तियों से अपने आपको पूर्णतया मुक्त नहीं रख सके। आरम्भ में न्याय दर्शन में 'आत्मा' का अर्थ आदर्शवादी धारणाओं से भिन्न केवल चेतना ही रहा है। लेकिन बाद में आत्मा के सम्बन्ध में उनकी धारणा में अन्तर्गम्य आ गया और उसे शुद्ध एवं स्वतन्त्र चेतनसत्ता स्वीकार कर लिया गया।

● परवर्ती

ईश्वर को केवल निमित्तकारण मानते हुए, उपादान सामग्री के रूप में परमाणुओं की अनादि सत्ता को भी स्वीकार किया गया है। ईश्वर को सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान सत्ता मान कर उसमें ब्रह्माण्ड की रचना करने की अलौकिक शक्ति-सामर्थ्य को स्वीकार किया गया। यह भी बतलाया गया है कि सर्वज्ञ होने के कारण ब्रह्माण्ड की रचना के लिए आवश्यक उपादान सामग्री का उसे पूरा ज्ञान रहता है। परमाणु अन्तिम एवं अभेद्य इकाई स्वीकार किये गये हैं और उन्हें ब्रह्माण्ड की रचना का मूलाधार स्वीकार किया गया है।^३

उपर्युक्त दर्शनों में सृष्टि की रचना एवं उसके विस्तार आदि की विशेष चर्चा नहीं की गयी है। इन दर्शनों की तुलना में हमें सांख्य दर्शन में प्रकृति-परिणाम के आधार पर जगत की रचना की सुसम्बद्ध व्याख्या प्राप्त होती है।

^१ रिचार्ड गार्बे, फिलासफी आफ एन्शियेण्ट इण्डिया, पृ० ३३,

^२ गौतम-न्यायसूत्र, १-२३,

^३ न्यायमंजरी, ख० १, पृ० १७६, कर्त्रविनाभावतया यथाविधस्य सन्न-वैशस्य
× × × × ॥ वही० ख० १, पृ० १८६, अथवानुकम्पयैव सर्गसंहारावरमता-
मीश्वर ॥ न्या० मुक्ता० १-३६,

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन का मुख्य स्वर आरम्भ में भौतिकवादी अवधारणाओं वाला था, जिसमें सृष्टि के अनादितत्व के बारे में ईश्वर नामक सत्ता की अवधारणा का विशेष दखल नहीं था। कालान्तर में ईश्वरवाद के प्रभावाधिक्य के कारण इन दर्शनों की मान्यताओं में परिवर्तन हो गया और अनीश्वरवाद के विरोध के फल-स्वरूप ये दोनों दर्शन भी ईश्वरवादी दर्शनों की कोटि में गिने जाने लगे। न्याय और वैशेषिक दर्शनों के परवर्ती स्वरूप के अनुसार ईश्वर को सृष्टि की रचना करने वाली शक्ति स्वीकार करने के साथ ही, उसे उसका पालक एवं संहारक भी मान लिया गया है। सृष्टि की रचना ईश्वर ने क्यों की ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जीवों को आवागमन के बन्धन से मुक्त करवाने के लिए ईश्वर ब्रह्माण्ड का निर्माण करता है। जगत को जीवों की कर्म भूमि मान कर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है कि वे जैसा कर्म करते हैं, उसी के अनुसार उन्हें फल की प्राप्ति होती है। अन्त में जीव जब शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है। अतः जगत की रचना का अन्तिम उद्देश्य जीव की मुक्ति के लिए आधार प्रस्तुत करना है।

विज्ञानवादी बौद्धों का मृष्टि-सिद्धान्त - विज्ञानवादी बौद्ध जगत को आभास सत्ता (Visionary Appearance) मानते हैं। इस प्रसंग में हमें यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिए कि अद्वैतवेदान्तियों एवं शून्यवादी बौद्धों ने भी जगत की प्रतीत सत्ता ही स्वीकार की है। परन्तु उपर्युक्त एक जैसी लगने वाली तीनों मान्यताएँ आभास सत्ता की सिद्धि का प्रतिपादन करते समय परस्पर पर्याप्त भिन्न हो जाती हैं। जगत को मिथ्या या आभास सत्ता मानते हुए भी अद्वैतवेदान्तियों के 'ब्रह्म' का स्वरूप विज्ञानवादी बौद्धों के द्वारा स्वीकृत एवं प्रतिपादित 'विज्ञान' के स्वरूप में पर्याप्त भिन्न है। ईश्वरवादी (अध्यात्मवादी) वेदान्ती ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता या तत्त्व को मृष्टि का निमित्तोपादान कारण नहीं मानते। परन्तु उनकी इस मान्यता के विपरीत विज्ञानवादी बौद्ध ब्रह्म जैसी किसी अनादि एवं स्वयन्त्र चेतन शक्ति के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करने। उनके मत में मृष्टि की रचना न तो प्रकृति की परिणाम है और न ही गीता के पुरुषोत्तम-सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति परब्रह्म की सहद् योगि हो स्वीकार की गयी है।^१

विज्ञानवादी बौद्ध जगत को परिवर्तनशील सत्ता स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यताओं के अनुसार पहला विज्ञान दूसरे विज्ञान को जन्म देता है और इस प्रकार विज्ञानों का नैरन्तर्य बना रहता है। परवर्ती विज्ञान को पूर्ववर्ती विज्ञान की सहायता प्राप्त होती रहती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विज्ञानवादी विज्ञान को ही स्वप्रकाशित चैतन्य-प्रतीति ही स्वीकार करते हैं। विज्ञान के स्वरूप की चर्चा करते हुए वे उसकी उपमा 'आलात चक्र' या 'जल-प्रवाह' से देते हैं।

^१ गौ० पा० का० ४।७१; न किञ्चज्जायते जीव सम्भवोऽस्य न विद्यते। एतदुत्तम सत्यं यत्र किञ्चन जायते ॥ वही० ४।२८, यस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते। तस्य पश्यन्ति ये जालिं खे वे पश्यन्ति ते पदम् ॥ वही० ३।२८, असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते। बन्ध्या पुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ॥ म० पा० वि० २, परमार्थेन नोत्पादो निरोधोऽपि न तत्त्वतः। बुद्ध आकाशवत् तद्वत् सत्त्वा-अप्येक लक्षणा ॥ भा० शा० १७; व्लेशाः कर्माणि देहाश्च कर्तारश्च फलानि च। गन्धर्वं नगराकाराः मरीचिं स्वप्नं संनिभाम् ॥

से देते हैं। उनका विश्वास है कि जिस प्रकार जल-प्रवाह शाश्वत एवं निरन्तर भाव से गतिमान है और नदी की मत्ता उससे अलग एव स्वतन्त्र नहीं होती, उसी प्रकार जगत एवं विज्ञान दो अलग-अलग सत्ताएँ स्वीकार नहीं की जा सकती। विज्ञानवादियों की शब्दावली में इसे 'सृष्टिसत्य' कहा गया है।^१ तदनुसार ज्ञाता और ज्ञेय से सम्बन्धित सभी विचारों (Ideas) का आधार आलयविज्ञान है। यही विज्ञानवादियों का प्रमुख सिद्धान्त एव अवधारणा है,^२ जिसके अनुसार जीव के द्वारा उसे अपने होने अर्थात् 'मैं हूँ' का एहसास भी अस्थायी ही है।^३

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि विज्ञानवादी चित्त के अतिरिक्त किसी भी दूसरे विषय (object) के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। यही नहीं, उन्होंने चित्त की शाश्वत सत्ता की मान्यता को भी अस्वीकार कर दिया है। वे यह मानते हैं कि चित्त में अध्युषित वासनाओं के कारण ही एक चित्त दूसरे चित्त में भिन्न प्रकार का होता है। उसके अनुसार जगत चित्त की वासनाओं की प्रतीति से भिन्न कुछ नहीं है। उनका यह भी कहना है कि जिस तरह स्वप्न के पदार्थ वास्तविक नहीं हुआ करने, उसी प्रकार समार या जगत की सत्ता शाश्वत एव सत्य नहीं है।^४ उनके अनुसार कि प्रतीति की अवस्था का विज्ञान ही 'आलयविज्ञान' है। 'मैं हूँ', 'मेरे सामने जगत् है' इस प्रकार की प्रतीति को वे आलयविज्ञान की सज्ञा देते हैं। विज्ञानवाद को योगाचार भी कहा गया है। क्योंकि इस सम्प्रदाय में योग की साधना का विशेष महत्त्व है।

शून्यवादी बौद्धों का सृष्टि-सिद्धान्त—माध्यमिक बौद्ध ही शून्यवादी बौद्ध हैं। हीनयानी शून्यवादियों के सिद्धान्तों के अनुसार विद्वानों ने उन्हें दो भिन्न वर्गों में विभाजित किया है—एक वर्ग वैभाषिकों का है और दूसरे वर्ग को सौत्रांतिक बौद्ध कहा गया है। जगत के स्वरूप के सम्बन्ध में इन दोनों की मान्यताएँ भिन्न-भिन्न हैं। वैभाषिकों का मत है कि जगत को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, लेकिन सौत्रांतिक जगत को अनुमान-ग्राह्य बतलाते हैं। योगाचार मत में ज्ञाता और ज्ञेय की स्वतन्त्र सत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया गया है। तदनुसार सत्ता केवल विज्ञान की ही है।

^१ स० द० स, प्रकरण २, पृ० १३; नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति तस्य नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुयत् स्वयं संव प्रकाशते ॥ वही० अविभागीऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासित दर्शनं, ग्राह्य-ग्राहक सवित्ति भेदवानिव लक्ष्यते ॥

^२ म० वी० सू० टी० १-४, कुशलाकुशला व्याकृत धर्मवासनाभूतोऽस्ति कश्चिद्विशेषः आलयविज्ञानस्य पदाधिपत्येन परस्परभिन्नाभास विज्ञान प्रजायते ॥

^३ स० द० स० प्र० २, पं० १५, तस्य स्यादालय विज्ञानं यद् भवेदहमात्मकम् ॥

^४ म० वि० सू० टी० १-२, अभूतप रिकल्पो हि ग्राह्य-ग्राहक-रहितः शून्य इति न सर्वथा स्वाभावतो नास्ति '... इयमेव हि शून्यता या ग्राह्य-ग्राहक-रहितता ॥ वही० द्वयं (ग्राह्य-ग्राहक-रूप) शशविषाणवन्नास्ति। वही० १।१४; द्वयाभावो ह्यभावस्य भावश्च शून्य लक्षणम् ॥

इसके विपरीत माध्यमिक विज्ञान की भी शाश्वत सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इसका कारण यह है कि उन्होंने विज्ञान को भी वासनाओं पर आधारित बतलाया है। अतः वासना को शाश्वत न मानने के कारण विज्ञान की भी शाश्वत नहीं माना गया है। यहाँ पर आकर विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्ध विचारकों में पर्याप्त अन्तर आ गया है। शून्यवादी शून्य को परमतत्त्व मानते हैं।^१ उनका विचार है कि प्रतीति होने वाली सत्ताओं में केवल शून्य ही पूर्ण, स्वतन्त्र एवं भावात्मक सत्ता है। इसीलिए असंग एवं मैत्रेय ने शून्य को 'अभूतपरिकल्प' माना है।^२

अभूतपरिकल्प की अवधारणा के अनुसार विज्ञान को रूप सत्ता नहीं स्वीकार किया गया है। क्योंकि इससे ज्ञाता और ज्ञेय की केवल कल्पना ही की जा सकती है, उसका कोई स्वरूप हमारे सामने समुपस्थित नहीं होता। विज्ञान कल्पना का मात्र आधार प्रस्तुत करता है। शून्यवाद को अभूतपरिकल्प इसलिए माना गया है, क्योंकि इसके द्वारा हम ज्ञाता और ज्ञेय की परिकल्पना किया करते हैं।^३ असंग और वसुबन्धु दोनों आचार्यों के मत में ज्ञाता और ज्ञेय रूपी जगत की प्रतीति का कारण केवल 'अभूत परिकल्प' ही है।^४ उपर्युक्त दोनों आचार्यों के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य नागार्जुन ने 'शून्य' को परमसत्ता या परमतत्त्व स्वीकार कर लिया है। परन्तु 'शून्य' का स्वरूप क्या है, इस सम्बन्ध में नागार्जुन स्वयं मौन रहे हैं या उनके पास इसका कोई उत्तर ही नहीं है। जबकि अद्वैतवेदान्ती इसके विपरीत ब्रह्म को सच्चिदानन्दस्वरूप सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। नागार्जुन एवं गौड़पादाचार्य के शून्य एवं ब्रह्म-सिद्धान्त में यही सबसे महत्वपूर्ण अन्तर है। भेद में पाये जाने वाले अभेद के कारण ही अद्वैतवेदान्ती आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कह देते हैं। अद्वैतवेदान्ती और शून्यवादी बौद्धों के कई विचार परस्पर मिलते हैं। परन्तु पायी जाने वाली इस प्रकार की समानताओं में भी पर्याप्त भेद एवं एक दूसरे के अन्तर की सीमा अभिष्ट है। क्योंकि दोनों मतों के 'शून्य' और 'ब्रह्म' के स्वरूप में एक बिन्दु पर पहुँच कर बहुत बड़ा अन्तर आ गया है।

^१ तत्रालोक, खं० १, पृ० ६५; त्रयाभाववादिनो माध्यमिकाः ज्ञातृज्ञाभाववादिनो योगाचारः ॥ ज्ञात्रभाववादिनो वैभाषिकाः ॥

^२ मा० वि० सू० टी० १-२; अभूतपरिकल्पोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते। शून्यता विद्यते तु अत्र तस्यापि स विद्यते ॥

^३ मा० वि० सू० टी० १-२, अभूतमस्मिन् द्वयं परिकल्प्यतेऽनेन वेति अभूत-परिकल्पः; × × × अनादि कालिका निर्वाण पर्यवसानाः संसारानुरूपशिवत्त चैतसिका निर्विशेषेणाभूतपरिकल्पः; × × × अभूतपरिकल्पो हि ब्राह्मप्राहकरहितः शून्य इति सर्वथा स्वभावतो नास्ति ॥

^४ वही० अभूतपरिकल्पोऽस्ति × × × अभूतमस्मिन् द्वयं परिकल्प्यतेऽनेन वेति ॥

अद्वैतवेदान्त का सृष्टि-सिद्धान्त—अद्वैतवेदान्त की विचारधारा के मूलस्रोत मुख्यतः उपनिषदें हैं। डा० आर० के० मुकर्जी के मतानुसार ऋग्वेद के प्रतिपाद्य को दो मार्गों—ज्ञान का मार्ग और कर्मकाण्ड—में विभक्त किया जाना चाहिए। उनके विचार में कर्मकाण्ड का विस्तार ब्राह्मण साहित्य में यज्ञ सम्बन्धी विवेचन आदि के माध्यम से हुआ है और ज्ञानकाण्ड उपनिषदों का प्रधान विषय है।^१ परन्तु वहाँ जहाँ तक ब्रह्म, माया, जीव एवं जगत आदि की दार्शनिक स्तर पर चर्चा करने का सम्बन्ध है, उसे औपनिषदिक विचारधारा मानना ही ठीक होगा। उपनिषदों में मुख्य रूपेण परा-विद्या और अपराविद्या की चर्चा के द्वारा कर्मकाण्ड को मात्र स्वतन्त्र एवं महत्त्वपूर्ण मार्ग ही बतलाया गया है।^२ भगवद्गीता में ज्ञाग, कर्म और भक्ति, इन तीनों के समन्वय का सफल प्रयास है। अन्त में आचार्य शंकर ने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद, ब्रह्मसूत्र, गीता) की प्रामाणिकता के आधार पर स्वतन्त्र दर्शन के रूप में अद्वैतवेदान्त की प्रतिष्ठा की। इसलिए उन्हें अद्वैतवेदान्त का प्रथम आचार्य माना गया है। जीव और जगत के सन्दर्भ में उन्होंने ब्रह्म को सत्यसत्ता और जगत को मिथ्या सिद्ध करने का प्रयास किया है। आचार्य गौडपाद ने लिखा है कि नामरूपात्मक जगत की सत्य सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। उनके मत में जगत केवल प्रतीत सत्ता है और प्रतीति का कारण जीव की अविद्या है। आचार्य शंकर ने भी इसी रूप में अद्वैतवेदान्त की स्थापना के प्रसंग में गौडपादाचार्य के मत का उल्लेख किया है।^३ शंकराचार्य को मुख्य रूप से

^१ Hindu Civilization, P. I, p. 118,—Thus we find that in this age were enunciated the leading doctrine of Hinduism, those of transmigration, Karma, Maya and Mukti or final release by absorption in Brahman.

^२ मुं० उप० १-१-२, ३, वही० ३-२-६,

^३ गौडपादकारिका, (गी० पा० का०) ४।५८—धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते तेन तत्त्वतः। जन्म मायोपमं तेषां साच माया न विद्यते ॥ वही० १।१८—प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तते न संशयः। मायामात्रमिदं द्वैतं अद्वैतं परमार्थतः ॥ तथा पञ्चदशी, २-४०—तदास्तिमितं गम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदब्रशिष्यते ॥ वही० १-१५—चिदानन्दमयं ब्रह्म प्रतिबिम्बं समन्वितं ॥

बौद्धों के 'शून्य' के सिद्धान्त का खण्डन करना था। अतः उन्होंने योगाचार के क्षणिक-विज्ञान और माध्यमिकों के शून्य-सिद्धान्त के विरोध में ही अपने मत का प्रतिपादन किया है।

आचार्य शंकर पहले तो यह कहते हैं कि जगत की प्रतीति माया के कारण होती है, परन्तु आगे चलकर वे माया को मिथ्या या असत् भी मान लेते हैं। इस प्रकार से वे माया की केवल व्यावहारिक सत्ता ही मानते हैं और उसे अनिर्बचनीय कहकर ही चुप हो जाते हैं। उनके परवर्ती अद्वैतवेदान्तियों ने अपना मत तनिक अन्तर के साथ भी प्रस्तुत किया है। वे ब्रह्म को ईश्वर और जीव के रूप में प्रतीति करवाने वाली शक्ति को 'प्रकृति' बतलाते हैं और उसके माया और अविद्या दो अलग-अलग रूप मान लेते हैं। माया और अविद्या से उनका आशय प्रकृति के शुद्ध एवं अशुद्ध रूपों से है।^१ प्रकृति के माया और अविद्या नामक दो भेदों का उल्लेख भी उन्होंने सम्भवतः ईश्वर एवं जीव की स्वरूप-वर्णा के हेतु किया है। इस प्रकार उन्होंने माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म को ही 'ईश्वर', और अविद्या में प्रतिबिम्बित ईश्वर को 'जीव' मान लिया है।^२ बौद्धों के व्यक्तिचित्त-सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए वेदान्तियों ने ब्रह्म की स्वतन्त्र इच्छा या लीला के द्वारा ईश्वर, जीव एवं जगत का स्वरूप धारण करने के मत का प्रतिपादन भी किया है।^३

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार ईश्वर, जीव और जगत के रूप में ब्रह्म की ही प्रतीति होती है और केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और जगत मिथ्या है। ज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप के साक्षात्कार के उपरान्त जीव को जगत के मिथ्यात्व का अनुभव होने लगता है। उस अवस्था में वह आवागमन के बन्धन से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। उस समय उसे सभी कुछ ब्रह्ममय अनुभव होने लगता है या वह स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।^४ इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धों के 'शून्य' एवं अद्वैतवेदान्तियों के 'ब्रह्म' के स्वरूप में किसी प्रकार का विशेष एवं अधिक अन्तर नहीं है।^५

^१ पञ्चदशी, १-१६, सत्त्वं शुद्ध्यवशुद्धिम्या मायाविद्ये च ते मते ॥

^२ वही० १-१७, माया-विम्योवशीकृत्य ता स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः । अविद्यावशग-स्त्वन्य तद् वैचित्र्यादनेकधा ॥

^३ गौ० पा० का० २-१३, विकरोज्यपरान् भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान् । नियताश्च बहिःश्चित्ते एव कल्पयते प्रभु ॥ वही० १-१६, जीव कल्पयते पूर्वं ततो भावान् पृथग्विधान् । बाह्यानाध्यात्मिकाश्चैव यथा विद्यस्तथा स्मृतिः ॥

^४ गौ० पा० का० २-१२, कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मदेवः स्वमायया । स एव बुद्ध्यते भेदानिति वेदान्त निश्चयः ॥ वही० १-१६, अनादिमाययासुप्तो यदा जीवः प्रबुद्ध्यते । अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैत बुद्ध्यते तदा ॥

^५ प्र० श्री० वी० प० २२२, अन्तर्गतविश्ववीर्यसमुच्छलतात्मक-विसर्गविश्लेषानन्द-शक्त्यैकघनं ब्रह्म बृहद्ब्यापकं बृहत्तत्त्वम् । न तु वेदान्त पाठकांगीकृत केवल शून्यवाद्यविद्वद् वति ब्रह्म दर्शन इव ॥

प्रत्यभिज्ञादर्शन का दृष्टि-सिद्धान्त—इस दर्शन के प्रमुख आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि प्रकाश एवं विमर्श-सम्पन्न अगाध चैतन्यस्वरूप परमतत्त्व को नाम की सीमा में बाँध कर उसके स्वरूप की जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती। 'विज्ञानभैरव' नामक रचना में भी इसी विचार का प्रतिपादन हुआ है।^१ उत्पलदेव तथा दूसरे आचार्यों का विश्वास है कि सारा ब्रह्माण्ड अनुत्तर अर्थात् परमतत्त्व में समाया हुआ है। भाव यह है कि ब्रह्माण्ड का कोई भी रूप परमतत्त्व से रहित नहीं है। इसलिए अनुत्तर तत्त्व को किसी विशेष नाम विशेष और रूप आदि की सीमाओं में बाँधा नहीं जा सकता। काश्मीर शैव 'अनुत्तर' को सर्वव्यापक प्रकाशसत्ता मानते हैं। साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि उसे अपने स्वरूप का पूर्ण ज्ञान भी है। स्पंदकारिकार के मत में सारा जगत अनुत्तर की शक्ति का साकार रूप है।^२ 'शिवदृष्टि' के अनुसार अनुत्तर स्वयं ही अपने शक्ति-स्वातन्त्र्य के कारण जगत का रूप धारण कर लेता है।^३ प्रकाश और विमर्श परमशिव का स्वरूप या स्वभाव है, जिसे इस दर्शन में शिव और शक्ति—दो भिन्न रूपों में वर्णित किया गया है। तदनुसार शक्ति अनुत्तर

^१ तंत्रालोक, २-२४ से २८, नैष शक्तिर्महादेवी न परत्राश्रितो यतः । न चैष शक्तिमान् देवो न च कस्याप्याश्रयो यतः ॥ नैष ध्येयो ध्यात्रभावात् ध्याता-ध्येयविवर्जनात् ॥ न पूज्यो पूजकाभावात् पूज्याभावात् पूजकः ॥ न च मन्त्रो न च मंत्र्योऽसौ न च मंत्रयिता प्रभुः । न दीक्षा न दीक्षको वापि न च दीक्षावान् महेश्वरः । न सन्नचासत् सदसन्न तत्रोभयोऽज्ज्ञितम् । दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येदमनुत्तरम् ॥ विज्ञान भैरव, १५, व्यपदेष्टुमशक्या सावकथ्यः परमार्थतः ॥

^२ स्पं० का० २, यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ॥

^३ शिव दृष्टि, १-४४ से ४५, योगिनामिच्छया यद्विज्ञानारूपोपपत्तिता । नचास्ति साधनं किञ्चिन्मृदादीच्छां विना प्रभोः ॥ तथा भगवदिच्छैव तथात्वेन प्रजायते । दूषयन्तोऽत्र तदिच्छातो भावाः कामादियोगतः ॥

का सृष्टिरूप है और शिव उसका परमरूप। एक अनुत्तर का प्रकृति (Phenomenal) रूप और दूसरा तात्त्विक रूप माना गया।^१

इस दर्शन में शांकर सिद्धान्त की भाँति जगत को मिथ्या, आभास या प्रतीति नहीं माना गया। शंकराचार्य का माया-सिद्धान्त एवं शैव दर्शन का शक्ति-सिद्धान्त भी एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न एवं स्वतन्त्र हैं। शैव दर्शन के अनुसार परमशिव का क्रियाशील पक्ष होने के कारण शक्ति असत् न होकर सृष्टि का रूप धारण करने वाली सत्यसत्ता है।^२ इसलिए इसमें जगत अनुत्तर के स्पंद का विलास माना गया है। उन्मीलन एवं निमीलन परमशिव के स्वभाव के निरन्तर गतिमान दो छोर हैं। वह कभी ब्रह्माण्ड रूप हो जाता है और कभी, सभी कुछ अपने भीतर समेट लेता है। शैव दर्शन में अनुत्तर की तीन अवस्थाएँ—शक्ति, माया और अविद्या—स्वीकार की गयी हैं। अनुत्तर दशा में शिव स्पंद नहीं है। उस समय वह परिपूर्ण सवितागर स्वरूप होता है। परमशिव का इच्छा के रूप में तरंगयित होना ही स्पंद है, जिसे उसकी स्वतन्त्र इच्छा की रूपायित अवस्था मान सकते हैं। अनुत्तर को सृष्टि की रचना के लिए अपने से भिन्न किसी तरह के उपादान कारण की आवश्यकता नहीं होती।^३

ऊपर हम अनुत्तर के जिस स्वरूप की चर्चा कर आये हैं, वह न तो बौद्धों के शून्य जैसा है एव न ही अद्वैतवेदान्तियों के ब्रह्म जैसा ही। उसे शैव आचार्यों ने शक्ति का पूज बतलाया है। विभिन्न शक्ति-रूपों द्वारा रूपायित होते रहना अनुत्तर का स्वभाव माना गया है।^४ अनुत्तर की भाँति ही उसकी इच्छा (शक्ति) भी हर दृष्टि से सर्व-सामर्थ्य-सम्पन्न है। उसे भी सृष्टि की रचना करने के लिए किसी प्रकार के अतिरिक्त उपादान की आवश्यकता नहीं होती है।^५ विद्या-दशा की अनुभूति शिव को द्वैत की स्थिति में ले आती है। इस प्रकार माया-दशा में पहुँच कर शिव ही जीव (पशु) रूप

^१ पर० च०, ३,—इत्थं स्वयं विद्धि न एक एव, शिवः स विश्वस्य परःप्रकाशः ॥ सं० मं०—शक्तिश्च शक्तिमाश्रये पदार्थद्वयमिष्यते । शक्त्योऽस्य जगत्कृत्स्न शक्तिमाश्रय महेश्वरः । बौ० पं० दं० २, स एव सर्वभावानां स्वभावः परमेश्वरः । भाव-जातं हितस्यैव शक्तिरेश्वरतामयी ॥

^२ प्रत्य० ह० पृ० १८, विश्वोत्तीर्णं विश्वमयमिति त्रिकादि दर्शनविदः ॥ विज्ञान भैरवः, ३०, पृ० १२७, स्वतंत्रं परिपूर्णञ्च, शिवाख्यं शून्यधाम तत् । तत्त्वानि यत्र लीयन्ते यस्मात् समुदयन्ति च ॥ तत्त्वेश्वरास्तत्रो जातास्तत्रैव निवसन्ति च । लीयन्ते किल तत्रैव शिवाख्ये शून्य धामनि ॥ दर्शनान्तरं दृष्टानि यानि शून्यान्तरान्यपि । तेषामुत्पत्तिविलयी शिव-शून्ये सदोषिते ॥ न तदस्ति न यत्तत्र न तदस्ति न तत्र यत् । अन्वर्तहिरुतया ततोऽन्यत्रोपपद्यते ॥

^३ ई० प्रत्य० १-५-७, योगीव निरुपादानमर्थज्ञातं प्रकाशयेत् ॥

^४ शिवदृष्टि, १-१७, औन्मुहस्य च आभोगः स्थूला सेच्छा व्यवस्थिता ॥

^५ वही० १-२, अनिच्छेच्छा प्रसरः प्रसरत् दृक् क्रियः शिवः ॥

प्राप्त कर लेता है ।^१ जीव के स्वरूप को प्राप्त कर लेने के उपरान्त इन्द्रियों की आसक्तियों के कारण वह मोक्ष की प्राप्ति तक कर्म-जाल के चक्कर में फँसा रहता है ।^२ अनुत्तर शक्ति-रूप धारण करने के बाद जड़ एवं चेतन सृष्टि के सूक्ष्म एवं स्थूल रूपों में अपने आपको अभिव्यक्त करता है । इस प्रकार शिव की इच्छा अथवा उसका स्पन्द-स्वभाव ही ब्रह्माण्ड के निर्माण एवं विस्तार का मूलकारण है । यही उसकी शक्ति के स्वातन्त्र्य की लीला है ।

नाथसम्प्रदाय-दर्शन के अनुसार सृष्टि की रचना—नाथ सम्प्रदाय की प्रधान कृति 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में यह कहा गया है कि स्वयं शिव ही 'आदिपिण्ड' या 'ब्रह्माण्डपुरुष' का रूप धारण करता है । वही अपने भीतर से शक्ति का विस्तार कर, जगत का अभिधान ग्रहण कर लेता है । इससे यह स्पष्ट है कि इस दर्शन में ब्रह्माण्ड को केवल शिव का अभिव्यक्त (Manifested) रूप स्वीकार किया गया है । अभिव्यक्त होने से पहले ब्रह्माण्ड सूक्ष्म रूप में शिव के गर्भ में विद्यमान रहता है । सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार शिव ही शक्ति के साथ सारे विश्व में समायी हुई चेतनता है ।^३

नाथ सम्प्रदाय की उक्त प्रसिद्ध रचना 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के अनुसार सबसे पहले पाँच मुख्य महाभूतों के रूप में महापिण्ड साकार होता है । इसके बाद ही स्थूल ब्रह्माण्ड नाम और रूप में आता है । भौतिक सृष्टि, शिव और शक्ति का स्थूल पिण्ड मानी गयी है । प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों में तनिक अन्तर के साथ भौतिक सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में इसी प्रक्रिया को स्वीकार किया गया है । लोकायत या चार्वाक ही ऐसे विचारक हैं, जो जड़-चेतन सृष्टि की प्रक्रिया (Process) को प्रकृति-विधान (Law of Nature) मानते हैं । उनका विश्वास है कि सृष्टि की रचना के लिए ईश्वर नामक किसी स्वतन्त्र सर्वशक्तिमान चेतनसत्ता की आवश्यकता नहीं है । वे चिदचित् सृष्टि के अतिरिक्त किसी स्वतन्त्र चेतन शक्ति के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करते ।

गोरखनाथ ने योग के क्षेत्र में कुण्डलिनी-साधना को अपनाया है । लेकिन दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने बहुत कुछ काश्मीर शैवदर्शन की विचारधारा को स्वीकार कर लिया है । सिद्धसिद्धान्त पद्धति पूर्णतः काश्मीर (प्रत्यभिज्ञा) दर्शन से प्रभावित है । शैव दर्शन

^१ प० सा० १६, माया-परिग्रह-वशान् बोधो मलिनः पुमान् पशुर्भवति । काल-कलानियति-वशाद् रागादिद्या-बधेन सम्बद्धः ॥ ई० प्र० वि० ३-१-६, मायापह-तैश्वर्यं सर्वैश्वर्यः सन् पुनरपि प्रतिवितीर्णं तत्सर्वस्वरशिष्यगतभागमात्र एवं भूतोऽयं मितः प्रमाता भाति ॥

^२ ई० प्र० वि० ३-२-१०, तत्रापि काममेवैकं मुख्यं संसार कारणम् ॥

^३ सि० सि० प० १-३१, आद्यान्महाकाशे, महाकाशान्महाबायुः, महाबायोर्महातेजो, महातेजसो महासत्त्वः, महासत्त्वान्महापृथ्वी ॥

की भाँति ही इसमें भी पाँचों महाभूतों की उत्पत्ति शिव से मानी गयी है। वैसे इसे उपनिषदिक विचारधारा की स्वतन्त्र व्याख्या भी माना जा सकता है। गीता में भी महायोनि के रूप में इसी प्रकार की धारणा व्यक्त हुई है। लेकिन गोरखनाथ पर काश्मीर शैवदर्शन का ही सीधा प्रभाव है या इन दोनों ही विचारधाराओं का कोई एक ही मूलस्रोत है। प्रसिद्ध शैवाचार्य सोमानन्द, उत्पलदेव और अभिनवगुप्त की रचनाओं एवं सिद्धसिद्धान्तपद्धति के तुलनात्मक अध्ययन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। उपनिषदों में भी ब्रह्म की तीन शक्तियों—ज्ञान, इच्छा और क्रिया—के उल्लेख मिलते हैं। इससे यह पता चलता है कि 'सारी सृष्टि में ब्रह्म के समाने रहने' वाले विचार को ही भारतीय दर्शनों में भिन्न-भिन्न रीतियों से व्याख्यात किया गया है। संक्षेप में नाथसम्प्रदाय के दर्शन में ब्रह्माण्ड को शिव से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न कर शिव को ही ब्रह्माण्ड का रूप बतलाया गया है।^१

^१ सि० सि० प० १-३७, स एवं शिवः × × × ॥

● विशिष्टाद्वैत की जगत सम्बन्धी मान्यता

रामानुजाचार्य शाश्वत एवं आनन्दमय ब्रह्म को ही सर्वोपरि सत्य सत्ता मानते हैं, लेकिन उनका परमतत्त्व-सिद्धान्त शाकर अद्वैत से भिन्न प्रकार का है। उनके अनुसार यह जगत भ्रम मात्र नहीं है। वे एक प्रकार से ब्रह्म, और जीव के साथ-साथ भौतिक जगत को भी यथार्थ ही मानते हैं। उन्होंने जीव की भाँति ब्रह्म को ही जगत की आत्मा स्वीकार किया है। चित् और अचित ब्रह्म से भिन्न तो है, लेकिन विशिष्टाद्वैत के अनुसार वे ब्रह्म से स्वतन्त्र नहीं हैं। विशिष्टाद्वैत का अर्थ ही अपरिमित ब्रह्म (अद्वैत) का अपने भिन्न और परिमित (विशिष्ट) अंगों से एकाकार होना है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत के अनुसार परमात्मा और जगत की एकता में भी भेद निहित है। शंकराचार्य का निर्गुण ब्रह्म इसी कारण विशिष्टाद्वैत में सगुण हो गया है। रामानुजाचार्य ने जगत को मिथ्या मानने के स्थान पर यह स्वीकार किया है कि सर्वशक्तिमान ईश्वरनारायण अपने भीतर से ही जगत की रचना करता है।

रामानुज ने शाकर मायावाद का खण्डन करते हुए जगत को मिथ्या मानने से इन्कार किया है। उनके अनुसार ब्रह्माण्ड ब्रह्म के प्रकाश से दीप्त है। स्वर्ण के आभूषणों में मूल तत्त्व स्वर्ण की भाँति ब्रह्म ही जगत का आधार या मूल तत्त्व है। जगत के कण-कण में उन्होंने ब्रह्म के अस्तित्व या उसकी सत्ता को स्वीकार किया है। जगत की विविधरूपता उतनी ही सत्य मानी गयी है, जितना स्वयं ब्रह्म को। अन्तर केवल ससीमता एवं अससीमता, सर्वज्ञता एवं सीमित ज्ञान और सर्व शक्तिमत्ता एवं सीमित शक्ति का माना गया है। रामानुज हर प्रकार के ज्ञान को वास्तविक ज्ञान के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। उन्होंने जगत की यथार्थता में यह युक्ति दी है कि यथार्थ सत्ता ब्रह्म पर आधारित होने के कारण जगत भी यथार्थ है। युक्ति और तर्क का प्रयोग करते हुए भी उन्होंने जगत की सत्यता सिद्ध की है। उनका इस सम्बन्ध में यह तर्क है कि जो उपस्थित है, वह वास्तविक है। जगत दिखायी देता है, वह उपस्थित है—अतः वास्तविक है।^१ रामानुज ने तो विषय-वस्तु, चेतन-अचेतन के साथ-साथ उनके सम्बन्धों की भी स्थायी ही स्वीकार किया है। केवल सम्पूर्ण जगत को ब्रह्म द्वारा नियन्त्रित माना गया है। चेतन और अचेतन दोनों विशिष्टाद्वैत

^१ वेदान्तसूत्र १-१, श्री भाष्य (जार्ज थीबौट-अनुवाद),

के अनुसार परिवर्तनशील है, केवल परमसत्ता ही अपरिवर्तनशील है। तदनुसार ज्ञाता-ज्ञात एवं यथाथ में अन्तर्विरोध नहीं है। चेतन (जीवात्मा) के सीमित होने के कारण उसे केवल यथाथ का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। जगत की सत्थता और भक्ति का आधार प्राप्त हो जाने के बाद इस विचार से समाज को पर्याप्त बल मिला है। राधाकृष्णन के शब्दों में : 'शंकराचार्य का अद्वैत बौद्धिक प्रतिभा-रत्न होने पर भी पवित्र धार्मिक भावनाओं को उद्बुद्ध करने में समर्थ नहीं'। रामानुज ने धार्मिक भावनाओं की आवश्यकता का तर्क-संगत विचार के व्याख्यान के साथ पूरा-पूरा तारतम्य बिठला दिया है।^१

● शुद्धाद्वैत की जगत सम्बन्धी मान्यता

शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा भी शंकर मायावाद के खण्डन के लिए हुई है। इसके आदि आचार्य वल्लभ के अनुसार जगत परब्रह्म की रचना है। इसलिए वह मिथ्या या प्रतीति सत्ता न होकर सत्य है। जगत की रचना करते समय परमसत्ता स्वयं ही उपादान भी है और निमित्तकारण भी। वल्लभाचार्य ने स्पष्ट कहा है कि यदि जगत असत् या मिथ्या होता तो उसकी भावात्मक सत्ता भी नहीं होती।^२ जगत की रचना के सम्बन्ध में उनका विचार है कि जिस प्रकार स्फुलिंग अग्नि से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार जगत भी परब्रह्म के सदश से आविर्भूत होता है।^३ जगत का निमाण जिन तत्त्वों से होता है, वे भी भगवान से ही आविर्भूत माने गये हैं।^४ ब्रह्म सूत्रों के भाष्य (अणुभाष्य) में व्यक्त आचार्य वल्लभ की मान्यताओं के अनुसार ब्रह्म, जगत का कारण है और जगत ब्रह्म का कार्य है। उन्होंने भी ऊर्णनाभ का उदाहरण देकर ब्रह्म से जगत की रचना के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं कि ऊर्णनाभ जिस तरह अपने भीतर से ही तन्तु को बाहर निकाल कर पुनः उसे अपनी इच्छा से भीतर समेट लेता है, इसी तरह ब्रह्म भी लीला या रमण करने की इच्छा करते ही अपने सदश को नामरूप प्रदान करता है और जब चाहता है, उसे पुनः अपने में समेट लेता है।

शुद्धाद्वैत के अनुसार जगत उत्पन्न नहीं होता, बल्कि उसका आविर्भाव होता है। इसलिए यह न तो परिणाम है और न विकार ही। इसीलिए शुद्धाद्वैत को अविकृतपरिणामवाद भी कहा जाता है। आचार्य वल्लभ रामानुज की भांति यह भी स्वीकार नहीं करते कि जीव और जगत की सत्ता ब्रह्म में पहले से ही सजातीय अंश के रूप में बनी रहती है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत के जगत सिद्धान्त में पर्याप्त अन्तर आ गया है।

^१ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी (विशिष्टाद्वैत प्रकरण),

^२ गीता, १२।१६, नासतो विद्यते भावो नाभावे विद्यते सत्. ॥

^३ तत्त्व निर्णय २८, विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि ॥

^४ तत्त्व दी० निर्णय, २७, तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांश्च जेतनाः ॥

शुद्धाद्वैत के अनुसार जगत और संसार दोनों भिन्न हैं। जगत ब्रह्म की योगमाया की रचना है, लेकिन संसार अविद्यामाया के कारण जीव के अहन्ताभाव का कार्य है। जिस समय विद्यामाया की शरण ग्रहण कर जीव भगवान की भक्ति में लीन हो जाता है, उस समय उसका संसार समाप्त हो जाता है। संसार ब्रह्म के चिदंश का आविर्भाव नहीं है, इसीलिए जगत की भाँति उसका ब्रह्म में तिरोभाव भी नहीं होता। यद्यपि विद्यामाया की भाँति अविद्यामाया भी ब्रह्म की योगमाया की ही शक्ति है लेकिन वह जीव को संसारी बनाती है।^१ शुद्धाद्वैतवादी अविद्या के निरसन के लिए भक्ति के साथ ही ज्ञान को भी आवश्यक मानते हैं। उनका मत है कि भक्ति और ज्ञान के द्वारा जीव अपने संसार का नाश कर सकता है। वल्लभाचार्य की जगत और ब्रह्म तथा जीव और संसार की द्वैत सम्बन्धी मान्यता मीलिक एवं मध्वाचार्य से भिन्न है। वे संसार को मिथ्या मानते हैं, इसीलिए ज्ञान के उपरान्त उसका परिहार भी स्वीकार कर लेते हैं। ब्रह्म और जगत के द्वैत को भी वे मानते हैं, लेकिन उसे मिथ्या नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार जगत ब्रह्म के सदंश का आविर्भाव है। इसीलिए उसका नाश न होकर तिरोभाव होता है। वे जीव की भाँति ही जगत का तिरोभाव (लय) भी ब्रह्म में ही मानते हैं। जीव और जगत का ब्रह्म में पुनर्लय मानने के कारण इसे शुद्धाद्वैत का लय-सिद्धान्त भी माना जा सकता है। तदनुसार संसार अविद्या का परिणाम होने के कारण विनाशी है और जगत ब्रह्म का सदंश होने के कारण उसी की भाँति अविनाशी। जिस समय जीव के भीतर के राय-द्वेष आदि दूर हो जाते हैं, उस समय संसार का अस्तित्व भी उसके लिए नहीं रहता।^२

वल्लभाचार्य की जगत सम्बन्धी मान्यताओं का आधार यह है कि वे आत्मा के साथ ही पदार्थ को भी ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि चित् और आनन्द तत्त्व के साथ ही परमतत्त्व (ब्रह्म) में सत् तत्त्व भी है और वही स्वयं अपरिवर्तित बना रह कर जीव और जगत के रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। वल्लभाचार्य जगत और संसार को एक ही अवधारणा के समानार्थक शब्द स्वीकार नहीं करते। उन्होंने ब्रह्म की अभिव्यक्ति के रूप में ही जगत की अवधारणा को स्वीकार किया है और अज्ञान के (जीव के) कारण जन्म और मृत्यु का प्रवाह ही उनके अनुसार संसार है। वे बार-बार इस तथ्य का उल्लेख करते हैं कि संसार का नाश होता है—जगत का नहीं। किसी जीव के लिए संसार की सत्ता उसी समय तक है, जब तक उसका अज्ञानान्धकार दूर नहीं हो जाता। ज्यों ही किसी जीव का अज्ञान मिट जाता है, उसके लिए संसार भी समाप्त हो जाता है।

^१ तत्त्वदीपनिर्णय, ३१, विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते । ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीजता ॥

^२ तत्त्वदीपनिर्णय, ३३, पंचपर्वत्वविद्येयं यं यद् बद्धो याति संसृतिम् । विद्या विद्यानाशे जीवन्मुक्तो भविष्यति ॥

● सृष्टि से पूर्व की स्थिति

सिक्ख मत के अनुसार गुरुनानक एवं परवर्ती सिक्ख गुरुओं में कोई अन्तर नहीं है। तदनुसार सभी गुरु एक ही ज्योति (गुरुनानक) के भिन्न-भिन्न शरीर हैं। गुरुनानक की जन्मसाखियों से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि वे देश-देशान्तर में घूम-घूम कर अपने धार्मिक एवं सामाजिक विश्वासों का प्रचार करते रहे हैं। भारत एवं भारत से बाहर उनका दूसरे सम्प्रदाय वालों से परस्पर वार्तालाप होता रहा है। उनका अधिकांश साहित्य ऐसे अवसरों पर एवं विस्मादावस्था की स्थिति में व्यक्त एवं अनुभव-प्राप्त विचार है। मैकालिफ महोदय ने अपनी रचना 'सिक्ख रिलिजन' में काजी-मुल्ला, पण्डित और सिद्धों तथा योगियों आदि को सम्बोधित की गयी बानियों के सम्बन्ध में किसी न किसी कथा-सन्दर्भ का उल्लेख किया है। गुरुनानक की उदासियों (यात्राओं) के बारे में किसी को सन्देह नहीं है। अपने भक्त अनुयायी 'मरदाना' को साथ लेकर अपने धार्मिक, सामाजिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रचार करने के लिए वे स्थान-स्थान पर घूमते रहे हैं। अतः इस सुधारक भक्त के नये विचारों को सुनने एवं उनसे विचार-विनिमय करने के हेतु भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के आचार्य एवं अनुयायी अवश्य उसके पास एकत्रित होते रहे होंगे।

गुरुनानक बाल्यकाल से ही अन्तर्मुखी वृत्ति वाले थे। परन्तु जनेऊ पहनाते समय एवं पहली बार मंदर में तथा पाठशाला जाकर मुल्ला, काजी और पाण्डे को दिए गए उनके उपदेशों को ध्यान में रखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस प्रकार की अधिकांश कथाएँ परवर्ती (अनुयायियों द्वारा निमित्त) उद्भावनाएँ हो सकती हैं। महापुरुषों के जीवन में अलौकिकता के समावेश की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन है। मध्यकालीन साहित्य में धार्मिक विश्वासों के प्रचारार्थ विभिन्न प्रकार की कथाओं की परिकल्पना की जाती रही है। पुराणों में इस शैली को विशेष रूप से अपनाया गया है। 'भक्तमाल' और 'दो सौ बावन बंणवन की बार्ता' तक हमें यह परम्परा उपलब्ध होती है। कबीरपण्डितों ने भी कबीर की जीवन-घटनाओं के सम्बन्ध में

इसी प्रकार की बहुत सी कथाएँ गढ़ ली हैं। प्रायः सभी सन्तों और भक्तों के बारे में यही हुआ है। साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह से मुक्त होकर तटस्थ भाव से देखें तो गुरुनानक की जन्म साखियों के कई प्रसंग हमें बाद के जोड़े हुए ही प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं ये प्रसंग ऐतिहासिक तथ्यों के विपरीत भी पड़ते हैं। फिर भी गुरुनानक के नाम से प्राप्त साहित्य में ही उनकी साम्यताओं एवं विश्वासों का संघान पाया जा सकता है एवं परवर्ती गुरुओं ने भी उन्हीं विचारों का पल्लवन किया है।

गुरुनानक ने सिद्धों, योगियों, काजी-मुल्लाओं, पंथियों, कर्मकाण्डी पुरोहितों और मन्दिरों के पुजारियों, से कही प्रश्नोत्तर के रूप में और कही उपदेश की शैली में योगियों और सिद्धों की विशेष चर्चा की है। योगियों से उनका मुख्य तात्पर्य हठयोगियों से है एवं सिद्धों तथा अवधूतों के रूप में उन्होंने तान्त्रिकों और शाक्तों को सम्बोधित किया है। आदिग्रन्थ में बार-बार शाक्तों, तान्त्रिकों और योगियों को माया-लिप्त और विषयगामी बतलाया गया है। साथ ही उन्हें नाम-सिमरन, बाह्यगुरु के इच्छा-स्वातन्त्र्य तथा भक्ति के मार्ग का उपदेश दिया गया है। जगत की रचना के बारे में उनके विचार सिध गोसट (सिद्धगोष्ठी) के प्रसंग में मिलते हैं। उनका मत है कि सृष्टि के आरम्भ के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उनकी यह धारणा ऋग्वेद में नासदीयसूक्त से पर्याप्त मेल खाती है। नासदीयसूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ की स्थिति या सृष्टि से पूर्व की अवस्था के बारे में हिरण्यगर्भ ही जानता है। परन्तु इस प्रश्न को सूक्तकार ने इतना अनिर्वचनीय माना है कि अन्त में उसने यहाँ तक कह दिया है कि सम्भवतः हिरण्यगर्भ भी न जानता हो। गुरुनानक बाह्यगुरु को जगत का कर्ता मानने के कारण ऐसा तो नहीं कहते, लेकिन इस प्रश्न की गहनता को कहीं-कहीं स्वीकार अवश्य कर लेते हैं।

सिद्धों ने गुरु नामक से यह प्रश्न किया है कि सृष्टि के आरम्भ के बारे में उनका क्या मत है। इसका उत्तर वे बिना किसी खण्डन-मण्डन की पद्धति के अपनाए स्वतंत्र चिंतक के रूप में देते हैं। उनके अनुसार पुराण, कुरान, अन्य धर्म-ग्रन्थ एवं सिद्ध-योगी सृष्टि के आरम्भ के बारे में जो कुछ भी कहते हैं वह ठीक नहीं है। उनके मत में यह प्रश्न अत्यन्त गूढ़ है और इस रहस्य को केवल बाह्यगुरु ही जानता है। 'कुरान में इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है'—उनके इस कथन का आशय यही है कि वे कुरान में वर्णित सृष्टि-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। 'खुदा द्वारा 'कुन' का उच्चारण करते ही सारे ब्रह्माण्ड का एक दम निर्माण हो जाना' कुरान की मान्यता है, जो गुरुनानक को ग्राह्य नहीं है। वे यह भी कहते हैं कि पुराणों एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थों में भी इस प्रश्न का उत्तर देने के यत्न हुए तो हैं लेकिन उनसे भी इस प्रश्न का पूर्ण समाधान नहीं होता। आदिग्रन्थ में इस प्रश्न को स्वतन्त्र रूप में किसी भी गुरु ने चर्चा का विषय नहीं बनाया। जो कुछ गुरुनानक ने इसके बारे में कहा है, उसी को उन्होंने स्वीकार कर लिया है। सिक्ख मत में बाह्यगुरु से भिन्न किसी स्वतन्त्र एवं अनादि सत्ता का अस्तित्व न मानने के कारण सृष्टि से पूर्व की अवस्था

को अविर्बचनीय बतलाया गया है। गुरुनानक का यदि सृष्टि की रचना से सम्बन्धित प्रश्नों के बारे में अपना कोई मत न होता तो वे दूसरों की मान्यताओं को अस्वीकार न करते।

जगत को वे उस रूप में अनादि नहीं मानते जैसा कि साख्य एवं दूसरे दर्शनों में स्वीकार किया गया है। जगत को अनादि तो निरीश्वर साख्य-विचारक भी मानते हैं परन्तु ईश्वर को जगत का रचयिता न मान कर वे पुरुष के सान्निध्य के कारण प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होने के सिद्धान्त को ही स्वीकार करते हैं। यह आरम्भ कब से हुआ, उसके पहले क्या स्थिति रही है, इन प्रश्नों का समुचित समाधान साख्य विचारकों ने प्रस्तुत ही नहीं किया है। गुरुओं के अनुसार बाहगुरु निरंजन (मायातीत) चैतन्य है। आदिग्रन्थ में 'खसम' शब्द का प्रयोग भी मिलता है, लेकिन उसका वही अर्थ नहीं है जो सिद्धों ने स्वीकार किया है। उन्होंने निरंजन और 'खसम' के अर्थ ही बदल दिए हैं। कबीर के अनुसार निरंजन समूचे जगत-प्रपञ्च का कारण है। 'खसम' का अर्थ सिद्धो एवं योगियो के मत में स्वामी, पति एवं मालिक नहीं है। आदिग्रन्थ में बतलाया गया है कि 'आदि निरंजन' 'खसम' युगयुगान्तर तक शून्यावस्था (अन्धकार) में समाधिस्थ रहता है। यह परम तत्त्व की वह अवस्था है, जिसमें वह अपनी ही महिमा में स्थित रहता है।^१ गुरुओं के जगत-विचार की यही कुंजी है, जिसे उन्होंने विभिन्न रूपों में प्रतिपादित किया है।

आदिग्रन्थ में एक दार्शनिक के रूप में नहीं, बरन् अनन्य भक्त के रूप में ब्रह्म, माया और जीव के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किये गये हैं। जगत सम्बन्धी विचार भी हमें प्रभु-स्तवन के रूप में ही प्राप्त होते हैं। सृष्टि से पूर्व की स्थिति के सम्बन्ध में उठाये गये प्रश्नों का उत्तर देते हुए गुरुनानक ने कहा है कि सृष्टि से पहले जो कुछ भी था, वह नाम-रूप से पूर्णरूपेण भिन्न एवं बिल्कुल विलक्षण था।^२ उनके 'जो कुछ' का तात्पर्य निराकार बाहगुरु से ही है। अन्यत्र भी एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि जिस समय नाम-रूप सृष्टि नहीं थी, उस समय सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार था। उस समय पृथ्वी आदि पंच महाभूतों में से किसी एक की भी दृश्य सत्ता नहीं थी। उस समय न दिन थे, न रातें, न चन्द्रमा और न ही सूर्य। सर्वत्र शून्य ही शून्य था, जिसकी सत्ता भी बाहगुरु के हुक्म के कारण ही अस्तित्व में थी :

^१ आ० ग्रं० १०६६, तुष्टु रूपु न रेखिआ जाति तू बरना बाहरा ॥ बही० ॥ ३०, नानक निहचलु साचा एको न ओहु मरै न जाइआ ॥ बही० पृ० ११४८, पुरख निरंजन सिरजनहार..... ॥ बही० ११७७, जिउ पसारी सूरज किरणि जोति ॥ एको हरि रविआ खब थाई ॥ बही० १३१३, सब जोति तेरी जगजीवना ॥ बही० १३८५-८७ सति-सति हरि सति जाणीअ ॥

^२ आ० ग्रं० पृ० २६१, जब अकार इहु कछु न द्रिस्टेता ॥ पाप पुन तब कह ते होता ॥ जब धारी आपन सुन समाधि ॥ तब बैर विरोध किनु संगि कमाती ॥

केते जुल बरते नुबारे ॥ ताही लाई अपर अपारे ॥ धुंधुंकारि
मिरालसु बंढा ना तबि धुंधु पसारा हे ॥ जुय छतीह तिनै
बरताए ॥ जिउ तिसु भाषा तिवै चलाए ॥ जगु जगु एक एकी बरतै
कोई नुसै गुरबीचारा हे ॥

(आ० ग्रं० पृ० १०२६-२७)

उपर्युक्त वर्णनों में 'शून्य' शब्द का प्रयोग साम्प्रदायिक है। इस 'शून्य' का स्वरूप शून्यवादी बीड़ों के शून्य जैसा नहीं है। आदिग्रन्थ के अनुसार शून्य (अनभि-व्यक्त) परमसत्ता अभावात्मक न होकर भावात्मक सत्ता है। शून्य से गुरुनानक का आशय परमात्मा के उस स्वरूप से है, जिसमें सृष्टिरूप होने की सम्पूर्ण शक्तियाँ विद्यमान हैं। उन्होंने परमतत्त्व के जिस स्वरूप की ओर संकेत किया है, वह अनिर्वचनीय प्रकाश-विमर्श-सम्पन्न चैतन्य है। अनिर्वचनीय चैतन्य से उनका आशय उस सत्ता से है, जिसे बाह्यगुरु की पूर्ण अभेदावस्था कहा जा सकता है। इसके सम्बन्ध में गुरुनानक ने अपनी बानियों में यह स्पष्ट कर दिया है कि बाह्यगुरु शून्य से ही जगत की रचना करता है। वह स्वयं पराद्वैत सत्ता है, जो सृष्टि के आरम्भ में भी पूर्णाद्वैत की स्थिति में रहती है और सृष्टि का रूप धारण कर लेने के उपरान्त भी जिसकी पूर्णाद्वैतता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता। अनभिव्यक्तावस्था में भी बाह्यगुरु को सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ सत्ता ही माना गया है। बाह्यगुरु निष्काम सत्ता है, अतः उसकी अपनी कोई कामना नहीं। अतः सृष्टि की रचना, स्थिति और संहार उसका स्वभाव है। कहीं-कहीं इस विचार का प्रतिपादन भी हुआ है कि बाह्यगुरु जीवों की अनुकम्पा के हेतु जगत की रचना करता है ताकि वे सत्कर्मों के बीज बोकर अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकें। आदिग्रन्थ की मान्यता के अनुसार बाह्यगुरु को अपने कर्तृत्व के लिए किसी अतिरिक्त उपादान कारण की कोई आवश्यकता नहीं है।

आदिग्रन्थ में बाह्यगुरु के शून्य स्वरूप से ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उत्पत्ति के भी उल्लेख हुए हैं। इस सम्बन्ध में गुरुनानक ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से लिखा है कि सूर्य, चन्द्र, आकाश और वायु आदि प्राकृतिक शक्तियों एवं तत्त्वों का निर्माण 'शून्य' अर्थात् पराद्वैत बाह्यगुरु से ही हुआ है। यहाँ 'शून्य' बाह्यगुरु के उस स्वरूप का अभिधान है, जिसमें भेदाभेदावस्था की प्रतीति का भी पूर्णभाव है। परन्तु उसका शक्ति-पक्ष जब उसकी इच्छा से साकार रूप धारण करता है, तभी सृष्टि की लीला आरम्भ होती है। बाह्यगुरु अ-कल सत्ता है। अ-कल बाह्यगुरु अपनी इच्छा या स्पन्द स्वभाव के कारण स-कल रूप धारण करता है। जब उसकी निमीलन की इच्छा होती है, उसी क्षण सारी नाम-रूप सृष्टि पुनः उसी मूलाधार (शून्य) में समा जाती है :

हुकमे आइआ हुकमे समाइआ ॥ हुकमे बीसै जगु उपाइआ ॥ हुकमे
सुरगु मधुपइआला हुकमे कला रहाइरा ॥ हुकमे सिब सकती
घरि बासा ।

(आ० ग्रं० पृ० १०३७)

अद्वैत विचारक होने के कारण सिक्ख गुरु सांख्य, न्याय, योग और वैशेषिक दर्शनों की भाँति जगत का न प्रकृति-परिणाम स्वीकार करते हैं और न ही पदार्थ को जगत का मूलकारण मानते हैं। उनके अनुसार परमात्मा केवल निमित्त कारण नहीं, जिसके लिए अतिरिक्त एवं अनादिकाल से विद्यमान उपादान सामग्री की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़े। उनकी दृष्टि में जगत सत्य है क्योंकि उसे वे सत्यस्वरूप बाह्य-गुरु की रचना के रूप में ही स्वीकार करते हैं। यद्यपि जगत और संसार दोनों ही शब्दों का प्रयोग आदिग्रन्थ में जगत के लिए किया गया है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि इन दोनों के अन्तर्गत पड़ने वाली मान्यताएँ एक ही अवधारणा की सूचक हैं। आदिग्रन्थ में इस मान्यता का बारम्बार प्रतिपादन हुआ है कि परमात्मा ने तीनों भुवनों को नाम और रूप देकर जगत की रचना की है।^१ इसके साथ ही यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि संसार (जगत) की रचना बाह्यगुरु ने की है।

तुधु संसार उपाइआ

(वही० पृ० ७२)

आदिग्रन्थ के अनुसार जगत का अर्थ चित् (जीव) एव अचित् (जड़ सृष्टि) है। परमात्मा ने ही (अपने आपको सर्वव्यापक रूप में साकार होने के लिए) निर्गुण से सगुण रूप धारण किया है। परमात्मा का निर्गुण स्वरूप त्रिगुणातीत है और उसके द्वारा ब्रह्माण्ड का रूप धारण करना ही उसका सगुण होना है। इसी अर्थ में जगत को बाह्यगुरु की रचना स्वीकार किया जा सकता है। इसके सम्बन्ध में आदिग्रन्थ की निम्नलिखित मान्यता ध्यातव्य है—

सभ आपे तुधु उपाइकं आपे कारे लाई ॥

तूँ आपे देखि विगसबा आपणी बडिआई ॥

हरि, तुबहु बाहरि किछु नाही तूँ सबा साई ॥

तूँ आपे आपि घरतदा सभनी ही थाई ॥

(आ० ग्र० पृ० ८३)

एक अन्य प्रसंग में इसी विचार का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना भगवान् (बाह्यगुरु) ने ही की है।^२ वही सृष्टि का कर्ता है और सभी प्राणियों का पालक-पोषक भी वही है।^३ परमात्मा को अद्वैत (एक) तत्त्व मान कर जगत को इस तरह की शाखाएँ बतलाना भी गुरुओं के उपर्युक्त आशय को

^१ आ० ग्र० पृ० २०, जिनि एहु जगतु उपाइआ त्रिभवणु करि आकारु..... ॥

^२ आ० ग्र० पृ० ८३, तुधु आपे घरती साजीअै, चंदु सूरजु दुइ दीवे ॥ दस चारि हट तुधु साजिआ, वापारु करीवे ॥

^३ आ० ग्र० पृ० ८५, सिसटि उपाई मभ तुधु आपे रिजकु संबाहिआ ॥ इकि वलु छलु करि के खावदे, मुहहु कूडु कुसतु तिनि हाहिआ ॥ तुधु आपे भावै सो करहि..... ॥

ही प्रकट करता है। यही पर बाह्यगुरु को असत्त्व-निरंजन (मायातीत चैतन्य) बतला कर इस मान्यता का प्रतिपादन भी कर दिया गया है कि वह अपने मूल रूप में स्वयं अदृश्य सत्ता है परन्तु इसी अदृश्यरूप के द्वारा उसने दृश्य (नाम-रूप) जगत की रचना की है। विवर्तवाद की भाँति आदिग्रन्थ में इसी आशय को एक और ढंग से अभिव्यक्ति देते हुए कहा गया है कि वह (बाह्यगुरु) अद्वैत सागर है और जगत उसकी झाग तथा बुलबुले हैं। परन्तु साथ ही शंकर के मिथ्यावाद से मित्र जगत को परमात्मा का रूप मान कर उसे सत्य स्वीकार किया गया है—

तूँ पेड़ साख तेरी फूली ॥ तूँ सुखधु होआ असखूली ॥ तूँ जलनिधि
तूँ फेनु बुदबुदा तुधु बिनु अवह न भालीअं जोउ ॥ तूँ सूतु मणीए
भी तूँ है ॥ तूँ गंठि मेह सिरि तूँ है ॥ आदि मधि अंतु प्रभु सोइ ॥
अवह न कोह दिख्ता लीअंजोउ ॥ तूँ निरगुणु सरगुणु सुखदाता तूँ
निरबाणु रसिआ रंगि राता ॥ आपणे करतब आपे जाणहि आपे तुधु
सखलीअं जोउ ॥ तूँ ठाकुर सेवकु फुनि आपे ॥ तूँ गुपतु परगटु प्रभु
आपे ॥

(आ० प्र० पृ० १०२)

उक्त उद्धरण आदिग्रन्थ की जगत सम्बन्धी धारणाओं और मान्यताओं का विषद प्रतिपादन है। तदनुसार बाह्यगुरु को सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही बतलाया गया है। सिक्ख गुरुओं के द्वारा स्वीकृत सगुण-निर्गुण-सिद्धान्त की व्याख्या भी इसी कथन में अन्तर्निहित है। यहाँ पर सूक्ष्म से उनका आशय बाह्यगुरु के उस रूप से है, जब तक वह ब्रह्माण्ड का रूप धारण नहीं करता। इसी तरह स्थूल से उसके ब्रह्माण्ड रूप होने की ओर संकेत किया गया है। जगत को फेन और बुदबुदा कहना उसे परमात्मा का सगुण रूप स्वीकार करना है। परन्तु, 'तुधु बिनु अवह न भालीअं' के द्वारा इस मत का प्रतिपादन भी हुआ है कि मात्र बाह्यगुरु की सत्ता ही अनादि और अनन्त है, जबकि नाम-रूप जगत उसकी तुलना में आदि और सात-दोनों—है। जिस प्रकार माला के मनके घागे के कारण ही माला का अभिवान प्राप्त करते हैं, उसी तरह सारी सृष्टि का अस्तित्व बाह्यगुरु की सत्ता के ही कारण है। बाह्यगुरु को आदि, मध्य और अन्तिम सत्ता बतलाना उसके अद्वैत स्वरूप की ही स्वीकृति है। 'वह निर्गुण भी है और सगुण भी' इस मान्यता से यह स्पष्ट है कि सिक्ख गुरु परमात्मा के अवतार को न मान कर उसके द्वारा जगत का रूप धारण करना ही उसका सगुण रूप स्वीकार करते हैं। प्रभु को स्वामी और सेवक—दोनों रूपों में वर्णित कर इस मान्यता की ओर भी संकेत कर दिया गया है कि लीला-भाव से वही शिव और पशु (जीव) बनता है परन्तु एक बार जीवत्व में आ जाने के बाद वह अपने स्वरूप को भूल जाता है। आदिग्रन्थ के अनुसार इसे 'भुला देना' मान सकते हैं, भूल जाना नहीं।

परमात्मा के गुणैश्वर्य का उल्लेख त्रिस प्रकार से सगुण भक्तों ने किया है, प्रायः उसी प्रकार निर्गुण सन्तों ने भी। आदिग्रन्थ में बाह्यगुरु के गुणैश्वर्य का प्रति-

भावन करते हुए कहा गया है कि वन-प्रान्त, अर्थात् तीनों भुवनों को उसी ने हरा-भरा किया हुआ है। उसी ने समूचे ब्रह्माण्ड की रचना एक क्षण के भीतर कर दी है। यही उसका गुणैश्वर्य है।^१ परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता की चर्चा करते हुए उसके द्वारा जगत की रचना के उल्लेख भी हुए हैं। जगत को परमात्मा का खेल बतलाया गया है और इस खेल को अनेक रूप देने वाला बाह्यगुरु ही माना गया है।^२ परमात्मा की कर्तृत्व-शक्ति की चर्चा इस प्रकार से हुई है :

सम किछु तेरा तू करण हार ॥
अंतु नाही किछु पारावार ॥

(वही० पृ० १७८)

गुरुमत के अनुसार परमात्मा निर्गुण और सगुण तो है ही, लेकिन सारी सृष्टि को विविधरूपता प्रदान कर कोतवाल की भाँति उसके कण-कण का नियामक भी वही है। वह ऐसा कोतवाल है जो न बूढ़ा होता है और न ही मरता है।^३ गुरुओं के अनुसार जगत परमात्मा की क्रीड़ा भी है और उसकी क्रीड़ा-भूमि भी। परमात्मा की यह क्रीड़ा इतनी विचित्र है कि उसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता।^४ जीवों के माया-मोह-लिप्त होने एवं बाह्यगुरु को 'आदिपुरुष' और उसके द्वारा जगत की रचना करने के उल्लेख भी आदिग्रन्थ में हुए हैं।

जगत की अवधारणा

जगत परमात्मा की रचना—द्वैतवादी दर्शन (आदर्शवादी) जगत एवं जीव के सम्बन्ध में एक से अधिक अनादि सत्ताएँ स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर जगत की रचना करता है, अतः रचना की सामग्री के लिए यह स्वीकार किया गया है कि वह भी अनादि है और उसका संयोजन ईश्वर इस नैपुण्य एवं चातुर्य के साथ करता है कि जिसके कारण ब्रह्माण्ड जैसी यह सुन्दर रचना साकार हो उठती है। लेकिन अद्वैत विचारकों की मान्यताएँ उक्त धारणा से बिल्कुल भिन्न हैं। उनका मत है कि परमात्मा स्वयं ही सृष्टि का रूप धारण करता है। जगत को परमात्मा की रचना मानने का उनका यही आशय है। जिस समय आदर्शवादी चिन्तकों एवं भौतिकवादी विचारकों का भेद स्पष्ट हुआ, उस समय जगत की रचना

^१ आ० प्र० पृ० १०३, वणु त्रिणु त्रिभङ्गु कीतोनु हरिआ ॥ करणहारि खिन भीतरि करिआ.....॥

^२ आ० प्र० पृ० १०३, जीअ जंत समि तुष्टु उपाए ॥ जितु जितु भाणा तितु तितु लाए ॥ वही० पृ० ३८, सभु आप उपाए आपे वेखै.....॥

^३ वही० पृ० ७४६, निरगुन हरीआ सरगुन घरीआ अनिक कोठरीआ ॥ भिन-भिन-भिन करीआ विचि मन कोटवरीआ ॥ निज मंदरि पिरीआ ॥ तहा आनद करीआ न मरीआ न जरीआ × × × ॥

^४ वही० पृ० ४७६, रासि मंडलु कीनो आखारा ॥ सगलो साजि रखिओ पासारा ॥ × × × × कहनु न जाई खेलु तम हारा × × × ॥

के विषय में दो भिन्न एवं स्वतन्त्र अवधारणाएँ सामने आईं। आदर्शवादियों ने जगत की रचना अर्थात् कर्तव्य के लिए किसी चैतन्य सत्ता की धारणा से काम लिया, लेकिन भौतिकवादी विचारक यही स्वीकार करते रहे कि जगत की रचना के लिए किसी अतिरिक्त दैवीय शक्ति (ईश्वर आदि) की मान्यता की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने बार-बार यही माना है कि जगत का मूल कारण पदार्थ (प्रकृति) है और यदृच्छया या स्वभाववाद के अनुसार पदार्थ समवायित एवं बिघटित होते रहते हैं। जिस समय पदार्थों का समवाय या संघात होता है, उस समय ब्रह्माण्ड रचना की स्थिति में आ जाता है और इस समवाय के बिघटित होते ही पदार्थ बिखर कर अपनी मूलावस्था को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार की भौतिकवादी अवधारणाओं के आधार पर जगत की रचना स्वीकार करने वाले विचारक उपनिषत्काल में ही वर्तमान थे, क्योंकि उपनिषदों में हमें जगत की रचना से सम्बन्धित भौतिकवादी दृष्टिकोण भी प्राप्त होते हैं। उपनिषदों में यद्यपि प्राधान्य आदर्शवादी दृष्टिकोण का ही है तथापि खण्डन के हेतु जिन प्रतिपक्षी विचारों की चर्चा की गयी है, उससे स्पष्ट अनुमित होता है कि उस समय भौतिकवादी अवधारणाओं के अनुसार जगत की रचना के विषय में विचारों का प्रचलन अवश्य था। वह परम्परा वही नहीं समाप्त हो जाती। हम देखते हैं कि सांख्य और वैशेषिक दर्शनों की जगत सम्बन्धी मान्यता किसी समय अवश्य भौतिकवादी ही रही है। कालान्तर में आदर्शवाद के अत्यधिक प्रभाव के कारण ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने के जो समझौते हुए भी हैं, उनके कारण उक्त दर्शनों की मौलिक दृष्टि पूर्ण रूपेण समाप्त एवं खण्डित नहीं हो सकी हैं। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों के साक्ष्य तथा रामायण और महाभारत के कुछ एक प्रसंग यह प्रमाणित करते हैं कि इन रचनाओं में व्यक्त विचारधारार के प्रचार-काल में भी पदार्थ को मूलकारण मानकर जगत की रचना के सम्बन्ध में विचार करने वाले चिन्तक विद्यमान थे। सांख्य और वैशेषिक दर्शन बाद में द्वैतवादी दर्शनों जैसे बन गये और उनको जगत की रचना के हेतु निमित्त कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया गया। बाद में शांकर अद्वैत वेदान्त के मायावाद एवं जगत को मिथ्या स्वीकार करने के विरोध में वैष्णव आचार्यों ने नये-नये वादों की स्थापना की और जीव और जगत के सम्बन्ध में कहीं पर परमसत्ता में ही चित् और अचित् की स्थिति स्वीकार की और कहीं पर जीव और जगत (जड़ तत्त्व) की भी अनादि सत्ता मान ली। इस प्रकार भारतीय चिन्तन परम्परा में भौतिकवादी अद्वैतवादी एवं द्वैतवादी दृष्टियों के माध्यम से जगत की रचना के सम्बन्ध में विचार किया जाता रहा है। आदिग्रन्थ की जगत सम्बन्धी मान्यताएँ इससे कुछ भिन्न हैं। उनके अनुसार न तो जगत को मिथ्या माना गया है और न ही जीव और जगत (जड़) की अनादि सत्ता ही स्वीकार की गयी है। सिक्ख गुरुओं की जगत सम्बन्धी अवधारणा बिल्कुल काश्मीर शैव दर्शन (प्रत्याभिज्ञादर्शन) की जगत सम्बन्धी अवधारणाओं जैसी तो नहीं है, लेकिन यह अवश्य

स्वीकार किया गया है कि जगत परमात्मा की रचना होते हुए भी उस प्रकार की रचना नहीं जिसके लिए परमात्मा से अतिरिक्त किसी अन्य अनादि तत्त्व या पदार्थ की स्थिति को स्वीकार किया जाए।

आदिग्रन्थ के अनुसार जगत परमात्मा की रचना है। गुरुओं ने जगत को सत्य स्वरूप परमतत्त्व का शरीर बतला कर उसे सत्य माना है—मिथ्या नहीं। अतः उनका जगत-सिद्धान्त, जगन्मिथ्या वाली मान्यता से पर्याप्त भिन्न है। जगत और संसार का प्रयोग आदिग्रन्थ में एक ही अर्थ में नहीं हुआ है। जब कभी नाम-रूप की नश्वरता का उल्लेख करना अभीष्ट रहा है, गुरुओं ने जगत के स्थान पर संसार शब्द का ही प्रयोग किया है और जगत को सत्य बतलाने के प्रसंग में वे उसे बाह्यगुरु की रचना मानते हैं। गुरुमत में बाह्यगुरु को अलख एवं निरंजन बतलाया गया है। बार-बार अजन्मा और निराकार कहकर जगत के शरीर के रूप में उसकी सत्ता स्वीकार की गयी है। तदनुसार बाह्यगुरु सर्वव्यापक चैतन्य है। कण-कण में व्याप्त होने के कारण वह अन्तर्यामी भी है। 'एकोह बहुस्याम्' के अनुसार जगत का रूप धारण करना बाह्यगुरु का खेल बतलाया गया है। आदिग्रन्थ के अनुसार एकत्व में बहुत्व का यही आशय है। भारतीय दर्शन भी एकत्व में बहुत्व को स्वीकार करते हैं, लेकिन उनमें इसकी व्याख्याएँ अलग-अलग ढंग से की गयी हैं। इन भिन्न व्याख्याओं के कारण उनकी जगत सम्बन्धी मान्यताएँ भी भिन्न-भिन्न हो गयी हैं।

द्वैतवादी दर्शन एक से अधिक अनादि सत्ताओं को मानते हैं। तदनुसार ईश्वर जगत का कर्ता है, लेकिन अद्वैत विचारक स्वयं परमात्मा द्वारा सृष्टि का रूप धारण करना स्वीकार करते हैं। इसलिए ये दोनों मान्यताएँ परस्पर भिन्न हैं। आदिग्रन्थ में सांख्य और योग दर्शनों की भाँति जगत को न तो प्रकृति का परिणमन माना गया है और न ही परमाणुओं का अनादि अस्तित्व स्वीकार कर, ईश्वर के द्वारा जगत के कर्तृत्व का प्रतिपादन हुआ है। गुरुओं ने बार-बार इस विश्वास को दुहराया है कि परमात्मा की रचना होने के कारण जगत भी उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार स्वयं परमात्मा। गुरुमत के अनुसार जगत और संसार एक ही अवधारणा के दो भिन्न नाम नहीं हैं। जगत को परमात्मा का शरीर या उसके द्वारा व्यक्त उसी का अपना रूप माना गया है और संसार को नाम और रूप के अर्थ में स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि सिक्ख गुरु जगत को तो सत्य मानते हैं, लेकिन नामरूपात्मक संसार के सम्बन्ध में उनका वही मत है जैसा कि शंकरया दूसरों का। आदिग्रन्थ में स्वीकृत अद्वैतवादी विचारधारा की यह मौलिकता है, जो उसे एक ओर अद्वैतवेदान्तियों से और दूसरी ओर अन्य निर्गुण सन्तों से विशिष्ट बनाती है।

आदिग्रन्थ में संसार की बात उसी समय चलाई गयी है, जब नाम और रूप की आसक्तियों में भटक रहे जीव को उपदेश देना अभीष्ट होता है। तदनुसार मायिक पदार्थ एवं लौकिक सम्बन्ध ही संसार हैं। सिक्ख गुरु कोरे दार्शनिक न होकर भक्त हैं तथा उनकी भक्ति गलदधुभावुकता से परिपूर्ण, प्रेमरूपा या भावरूपा है।

शक्ति के विभिन्न प्रकारों एवं अंगों की चर्चा करते हुए उनका ध्येय जीव को उसकी बहिर्मुखता से हटा कर प्रभु की ओर उन्मुख करना रहा है। उनका यह विश्वास है कि जीव संसार रूपी पीहर में मोहासक्त होकर अपने प्रिय के वास्तविक घर की सुधी खो बैठा है। अतः उसे अपने प्रिय के वियोग की अनुभूति उसी समय हो सकती है, जब गुरु उसके हृदय में प्रेम की चिनगी फँकता है। परन्तु गुरु के उपदेश का प्रभाव केवल उसी के हृदय पर पड़ता है, जिसका मन सासारिक आसक्तियों से विरक्त हो चुका है। संसार को, आदिग्रन्थ में, संसरणशील बतला कर जीव को उसके प्रति निरासक्त बने रहने का उपदेश, इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर दिया गया है। इस प्रकार गुरुओं की दृष्टि में जगत और संसार दोनों भिन्न हैं और सम्भूत आदिग्रन्थ में इनकी चर्चा स्वतन्त्र अवधारणाओं के रूप में ही की गयी है।

परमात्मा के कर्तृत्व के स्वातन्त्र्य, उसके सर्व व्यापकत्व तथा जगत की रचना एवं उसकी स्थिति तथा संहार (प्रलय) की चर्चा के प्रसंग में भी यही बतलाया गया है कि धरती और आकाश (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड) उसी के बनाये हुए हैं। यहाँ पर 'बनाये हुए' से गुरुओं का आशय उसके 'अपने ही व्यक्त रूप' से है क्योंकि आदिग्रन्थ में निमित्तोपादान कारण की चर्चा करते हुए बाह्यगुरु को ही जगत का निमित्त एवं उपादान कारण—दोनों ही—स्वीकार किया गया है। जैसे :

जिनि घर साजी गगनु अकासु ॥

जिनि सम बापि, बापि उबापि ॥

सरब निरंतर आपे आपि ॥

(आ० ग्रं० पृ० ४१२)

गुरुमत के अनुसार यह सारी सृष्टि उसी (बाह्यगुरु) की है और उसमें वही सर्वव्यापक बन कर समाया हुआ है। वही जगत का रचयिता है और उसी ने सभी जीवों को विभिन्न प्रकार के कार्य-कलापों में नियोजित कर रखा है। कहा गया है कि अद्वैत प्रभुरूपी सूत ही सारे ब्रह्माण्ड के भीतर व्याप्त है। अपनी सत्ता (सूत्र) को समेट कर वही स्वयं 'निरंकार' रूप से अवस्थित हो जाता है। गुरुओं की ये मान्यताएँ इस तथ्य की प्रमाण हैं कि जगत की रचना प्रकृति (सांख्यों की प्रधान) का स्वातन्त्र्य (जिसे सांख्य विचारक प्रकृति-स्वभाव स्वीकार करते हैं) न होकर प्रभु का कार्य है और उसके अपने ही सूक्ष्म रूप का स्थूल विस्तार है। यह बाह्यगुरु का स्वभाव या उसकी 'इच्छा' है कि कभी वह सृष्टि का रूप धारण करता है और कभी पुनः सारी सृष्टि को अपने भीतर समेट कर अनभिन्नव्यक्तता (सूक्ष्मरूपता) की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उसी के अधीन स्वीकार किया गया है। गुरुमत के अनुसार जो शक्ति अपने रूप का इच्छा-स्वातन्त्र्य के बल पर विस्तार कर सकती है, वह उसे अपने भीतर समेट सकने में भी पूर्ण समर्थ हो सकती है। गुरुओं की उपर्युक्त मान्यताओं के अनुसार ही जगत को बाह्यगुरु की रचना कहा है। बाह्यगुरु सत्य सत्ता है, अतः गुरुमत की दृष्टि में उसके सूक्ष्म रूप का विस्तार (जगत) भी सत्य

है। उसे भिद्य्वा नहीं माना जा सकता। केवल नाम और रूप ही बिनाशी हैं क्योंकि वे संसार की अवधारणा के अन्तर्गत आते हैं।

● जगत : वाहगुरु (परमात्मा) का शरीर

आदिग्रन्थ में जगत को वाहगुरु का शरीर स्वीकार करते हुए, उसे 'परमात्मा का छेत' कहा गया है। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जगत मात्र प्रतीति या भ्रमसत्ता नहीं बल्कि सत्यस्वरूप वाहगुरु (प्रभु) की सच्ची रचना है। जिस समय वह इच्छा करता है, सृष्टि के रूप में अपने आप को व्यक्त कर लेता है :

आपुन छेतु आप ही कीनो। (आ० ग्र० पृ० २५३)
एवं—आपि सति कीआ सभु सति ॥ (वही० पृ० २५३)

उक्त आशय को एक और ढंग से व्यक्त करते हुए कहा गया है कि सम्पूर्ण जागतिक पदार्थ एवं प्राणी परमात्मा से भिन्न नहीं है क्योंकि वे उसी (वाहगुरु) के स्रोत में पिरोए हुए मनके हैं :

जा तिसु भावें ता बिसटि उपाए ॥
आपणे भाणें सए सभाए ॥
तुम ते भिन न ही किछु होइ ॥
आपन सूति सभु जगतु परोई ॥

(वही० पृ० २६२)

इसी आशय को इस प्रकार भी व्यक्त किया गया है : 'तू करता सचिआर मंडा साई' तथा सारी कायनात (ब्रह्माण्ड) को वाहगुरु से उत्पन्न स्वीकार करते हुए कहा गया है कि :

आपे सति कीआ सभु सति ॥ तिसु प्रभ ते सगली उत्तपति ॥
तिसु भावें ता करे बिसभाए ॥ तिसु भावें ता एकंकाए ॥
अनिक कला लखी नह जाई ॥ (आ० ग्र० पृ० २६४)

उक्त सन्दर्भों में यह स्पष्ट है कि गुरुमत के अनुसार नश्वरता नाम और रूप की है, जबकि उनका मूलाधार (परमात्मा) जो उन्हें नामरूपता देता है, मात्र नाम और रूप का ही त्याग करता है। लेकिन इस त्याग के उपरान्त उसका मूल अस्तित्व वैसे का वैसे ही बना रहता है। आदिग्रन्थ में इस धारणा के समर्थन में कहा गया है कि :

आपे छाणी आपे बाणी आपे लण्ड वरभंड करे ॥
आपु सभुं बु आपि है सागर आपे ही बिचि रतन धरे ॥

(आ० ग्र० पृ० ५५१-५२)

एवं—सभु किछु तेरा तू अंतरजामी।
तू सभना का प्रभु सोई ॥

आदिग्रन्थ के अनुसार बाह्यगुरु पुर-पुर (प्रत्येक प्राणी) एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में परिब्याप्त चेतन सत्ता है। गुरुओं के मत में परमसत्ता अजन्मा है—अरूप और स्वयम्भू है। वे अवतार के सिद्धान्त को मान्यता नहीं देते। यद्यपि उनके बाह्यगुरु का स्वरूप गीता के पुरुषोत्तम जैसा है, जिसे क्षर एवं अक्षर से अतीत एवं इन दोनों की सर्वोपरि शक्ति बतलाया गया है, तथापि गीता में जिस प्रकार पुरुषोत्तम द्वारा अवतार धारण करना स्वीकार किया गया है, इस प्रकार से गुरुओं की दृष्टि में बाह्यगुरु माता-पिता से जन्म धारण नहीं करता। जगत को वे सत्य मानते हैं—मिथ्या नहीं। उनके अनुसार बाह्यगुरु अवतार की तुलना में अदृश्य एवं अशरीरी सत्ता होते हुए भी सगुण है। बाह्यगुरु को सगुण एवं निर्गुण—दोनों मानकर सिक्ख गुरु अन्य निर्गुण सन्तों की भाँति जगत के रूप में बाह्यगुरु की स्वाभिव्यक्ति (Manifestation) को ही उसका सगुण होना स्वीकार करते हैं। अतः उनकी दृष्टि में बाह्यगुरु द्वारा ब्रह्माण्ड का रूप धारण करना ही उसे सगुण स्वीकार करना है। उसे निर्गुण केवल इसी अर्थ में स्वीकार किया गया है, क्योंकि वह प्रकृति के धर्मों (रज, सत्य तथा तम) वाला न होकर त्रिगुणातीत सत्ता है। पुरुष (जीव) और प्रकृति उसी के धारण किये हुए रूप है। उनकी स्वतन्त्र एवं अनादि सत्ता नहीं है। उक्त मान्यताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि जगत बाह्यगुरु का शरीर है और वही कण-कण में परिब्याप्त एकमात्र चैतन्य सत्ता है।

आदिग्रन्थ के अनुसार जगत को बाह्यगुरु का रूप एवं उसका शरीर मानने का प्रधान आधार यह है कि सभी गुरु बाह्यगुरु को ही ब्रह्माण्ड का मूलधार स्वीकार करते हैं। तदनुसार सृष्टि परम सत्ता का प्रसाद है, जिसमें वह निवास कर रहा है। चारों दिशाएँ उस महल की चार दीवारें हैं। आकाश उसका छत और धरती उसका फर्श है। ब्रह्माण्ड भर का नाम-रूप बाह्यगुरु की टकसाल में ढाल कर बनाया गया है। जिधर देखे उधर बाह्यगुरु का ही रूप दिखाई देता है लेकिन उसे किसी निश्चित आकार के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। अण्डज, सेतज, जेरज एवं उद्भिज—सभी प्राणी उसी के बनाये हुए हैं। जैसे :

पुड़ धरती पुड़ पाणी आसणु चारि कुंठ चउबारा ॥ सगल भवण
की भूरति एका, मुखि तेरे टकसाला ॥ मेरे साहिबा तेरे चोज
बिद्याणा ॥ जलि थलि महीअलि भरपूरि लीणा आये सरब समाणा ॥
जह जह बेखा तह जोति तुमारी तेरा रूपु किनेहा ॥ इकतु रूपि
फिरहि परछंन कोइ न किस ही जेहा ॥ अंबज जेरज उतभुज
सेतज तेरे कीते जंता ॥ एहु पुरबु मैं तेरा देखिआ तू सभना माहि
रबंता ॥

(आ० ग्र० ४—५००)

जगत के नाम और रूप को बाह्यगुरु का शरीर बतला कर इस मान्यता की ही ओर संकेत किया गया है कि वह जगत का आधार है और जगत को शरीर का

रूप देकर वह स्वयं ही उसकी प्रत्येक कण में समाया हुआ है।^१ जगत के रूप में अपने आपको प्रकाशित करने एवं असंख्य जीवों को विभिन्नरूपता प्रदान करने के कारण गुरुनानक ने बाह्यगुरु के गुणों से चकित होकर कहा है कि अग्नि, धरती, पवन और पानी सभी उसी की शक्ति का गुण-मान कर रहे हैं। धर्मराज उसके द्वार पर उसका बिरद गाता रहता है। चित्रगुप्त सदा उसी के गुणों का लेखा लिखा करता है :

गावनि तुषनो पवणु पाणी बसंतर गावँ तुषनो धरमु बुधारे ॥ गावनि
तुषनो चितु गुपतु लिखि जाणनि लिखि लिखि धरमु बीधारे ॥

(आ० ग्रं० पृ० ८)

आदिग्रन्थ के अनुसार सृष्टि का रूप धारण करना परम तत्त्व की अपार महिमा है। गुरुनानक बाह्यगुरु के इस महान कार्य का स्तवन करते हुए लिखते हैं कि बाह्यगुरु ने ही सारी सृष्टि रची है, और वही इसका संहार करता है। वही सबके हृदयों एवं ब्रह्माण्ड के रहस्य को जानता है।^२ इस प्रकार के उदाहरणों से यही सिद्ध होता है कि जगत परमसत्ता द्वारा धारण किया हुआ उसका शरीर है। 'किते तेरे रूप रग केते जाति अजाति' (पृ० १८) द्वारा भी इसी आशय का प्रतिपादन किया गया है। बाह्यगुरु द्वारा जगत का रूप धारण करने अथवा जगत को उसका शरीर कहने का प्रधान कारण यही है कि वे केवल उसी (बाह्यगुरु) को परमसत्ता मानते हैं। वही अनादि एव अनन्त है; उसे छोड़कर अन्य सभी जन्म लेते हैं और उनका विनाश भी होता है। मछली पकड़ने वाला एव मछली, पानी, जाल तथा उस जाल के मणके एवं मांस का टुकड़ा आदि सभी कुछ वही है। स्वयं वही रस-परिपूर्ण पदार्थ भी है उसका रस भी। वही स्त्री है, सेज भी वही है और रमण करने वाला भर्ता भी वही है।^३ गुरुमत अनुसार परमात्मा को निमित्तोपादान कारण मानने का अर्थ यही हो सकता है कि जगत परमात्मा का शरीर है अन्यथा ब्रह्माण्ड के आधार के सिद्धान्त की सार्थकता ही कोई नहीं रहती। इस सम्बन्ध में गुरु नानक लिखते हैं कि :

करण कारण एक ओही जिनि कीआ आकार ॥

तिसहि धिआवहु मन मेरे, सरब को आचार ॥

(आ० ग्रं० पृ० ५०)

इसी आशय को प्रकारान्तर से स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं :

^१ आ० ग्रं० पृ० ८३४, —इहु जगु वरनु रूपु सभु तेरा जितु लावहि से करम कमईआ ॥ नानक जंत बजाए बाजहि भावै तितु रहि बलईआ ॥

^२ आ० ग्रं० पृ० १०-११, तुधु आपे सिसष्टि सभ उपाई जी, तुधु आपे सिरजि सभ गाई ॥ जनु नानक गुण गावँ करते के जी, जो सभसै का जाणोई ॥

^३ आ० ग्रं० पृ० २३, आपे रसिआ आपे रनु आपे रावणहार ॥ आपे होवँ चोलड़ा आपे सेज भतार ॥ आपे माछी मछुली आपे पाणी आलु ॥ आपे जाल मणकड़ा आपे अंदरि लालु ॥

जो बीसैं सो सयल तूँ है बसरिआ पासस ॥
कहु नानक गुरि भरसु काटिआ सगल ब्रह्म बीचाह ॥

(ग्रं० पृ० ५१)

बाहगुरु को सागर और 'बोहिय', सागर के दोनों किनारे तथा दोनों किनारों का मध्यवर्ती अन्तराल बतलाकर भी उपर्युक्त दृष्टिकोण का ही प्रतिपादन हुआ है।^१ बाहगुरु के सम्बन्ध में जो यह कथन है कि 'असथिर करता देखीअँ होर केती आबै जाई' से भी यही प्रमाणित होता है कि आदिग्रन्थ के अनुसार नाम और रूप ही परिवर्तनशील एवं विनाशी हैं जबकि जगत का मूलाधार बाहगुरु शाश्वत सत्य सत्ता है। मूल सामग्री होने के कारण जगत को उसका शरीर मानना ही गुरुओं की जगत सम्बन्धी मूल धारणा है। यही उनका अभीष्ट मत है।

बाहगुरु ने स्वयं अपने आपको जगत के आकार में प्रकट किया है। दिखाई देने वाला द्वैत तो उसका खेल है। भीतर एवं बाहर उसी के 'ओंकार स्वरूप' का प्रसार है। शब्द-ब्रह्म भी उसी का धारण किया हुआ रूप है। अतः जगत की विभिन्नताएँ उसकी लीला है, अन्यथा आदि, मध्य एवं अन्त में केवल उसी की सत्ता है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी स्वतन्त्र अनादि तत्त्व नहीं है।^२ आदिग्रन्थ में परमात्मा को गीता के अश्वत्थ वृक्ष की भाँति विश्व-तरु बतला कर नाना-विध सृष्टि को उसकी फूली हुई शाखाएँ कहा गया है। इस प्रकार जगत को उस सूक्ष्म का ही स्थूल रूप स्वीकार किया गया है। बाहगुरु को जलनिधि और ब्रह्माण्ड की अनेकता को उस जलनिधि का बुद-बुद कहना भी इसी तथ्य की ओर संकेत है कि जगत उसका शरीर है :

तूँ पेडु साख तेरी फूली ॥ तूँ सुखसु होआ असखली ॥
तूँ जलनिधि तूँ फेनु बुदबुदा तुघु बिन अबर न भालीअँ जीउ ॥

(आ० ग्रं० पृ० १०२)

बाहगुरु को निराकार के साथ ही साकार मान कर गुरुओं ने जगत को उसका शरीर सिद्ध किया है। वे अवतार का खण्डन करते हैं—मात्र इसी कारण वे और सगुणोपासकों से भिन्न हैं। आदिग्रन्थ के अनुसार परम सत्ता का कोई अन्त नहीं। वह निरजन है और ब्रह्माण्ड के रूप में वही सर्वत्र व्याप्त है। वह स्वयं ही साकार भी है और निराकार भी :

जा का अंतु न जाणँ कोइ ॥ आपि आपे निरंजन सोइ ॥
आपि अकार आपि निरंकार ॥ घट-घट-घट सभ घट आहार ॥

(आ० ग्रं० पृ० ८६३)

^१ आ० ग्रं० पृ० ५४, आपे सागर बोहिया आपे पार अपार ॥ वही० पृ० ५४, आपे हीरा निरमला आपे रंग मजीठ ॥ आपे मोती ऊजलो आपे भगत बसीठु ॥

^२ आ० ग्रं० पृ० ७२, तुघु आपो आपु उपाइआ ॥ दूजा खेलु करि दिखलाईआ ॥ वही० पृ० २।५३, एकसु ते सभि रूप हरि रंगा ॥

एक स्थान पर तो स्पष्ट रूप से यह स्वीकार कर लिया गया है कि जगत परत्मामा का शरीर है :

हरि का सभु शरीर है हरि रवि रहिआ सभु आप ॥

(प्र० पृ ६५३)

गुरुओं ने जगत को बाह्यगुरु का शरीर सिद्ध करने के लिए विभिन्न प्रतीकों, उदाहरणों, तर्कों आदि का सहारा लेकर अपनी मान्यता को ग्राह्य बनाने का भरसक यत्न किया है। उनके अनुसार धरती और आकाश का रूप स्वयं बाह्यगुरु ने ही धारण किया हुआ है। सत्यस्वरूप परमात्मा ने जगत के रूप में अपनी शक्तियों का प्रकाश किया हुआ है। वह स्वयं ही जती, सती, सन्तोषी आदि सब कुछ है।^१ संसार की अवधारणा

● संसार : जीव का मायका

ससार गुरुओं की दृष्टि में जीव का मायका है। जीव-नारी मायके (ससार) में ही अपने आपको पति-परमेश्वर को प्राप्त कर सकने के योग्य बनाती है। यदि वह अपने भीतर उन गुणों को संचित नहीं कर लेती, जिन्हें उसका पति पसंद करता है, तो वह यथार्थ में सौभाग्यवती नहीं कहला सकती। ससार का नाम-रूप विनाशी है, परन्तु जीव की यही कर्म-भूमि भी है। ससरणशीलता ससार का स्वभाव है। उसमें कुछ भी स्थिर नहीं है। अतः जो जीव सामारिक पदार्थों में आसक्त रहते हैं, उन्हें अन्त में पछताना पड़ता है। जिसे वे सर्वाधिक प्रिय मानकर तदर्थ सभी प्रकार के उचित एवं अनुचित उपायों का सहारा लेते हैं, वह भी अन्त समय उसका साथ छोड़ देता है। धन-दौलत, पुत्र-कलत्र आदि कोई भी उसका साथ नहीं देता। इस प्रकार पति-परमेश्वर को अच्छे लगने वाले गुणों को धारण किये बिना जो जीव-नारी उस लोक से जाती है, उसे वह स्वीकार नहीं करता और उसे पुनः भव के बन्धन में भटकना पड़ता है। ऐसी ही जीव-नारी को सावधान करते हुए कहा गया है कि जो जीव-स्त्री ससार रूपी मायके में ही पति-परमेश्वर के प्रणय-सूत्र में अपने को नहीं बाँध लेती, वह उससे किसी प्रकार का मानसिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाती। वह मिथ्या मोह के कारण प्रभु-चरणों से परित्यक्ता ही रह जाती है। अन्त में उसे फूट-फूट कर रोना पड़ता है। पाप उसके जीवन को लूट लेते हैं और वह पति-परमेश्वर के महल में प्रवेश प्राप्त नहीं कर पाती।

पेईअहुं पिर जातो नाही ॥ झूठि बिछुनी रोवें बाही ॥

अवगणि मुठी महलु न पाए अवगण गुणि बलसावणिआ ॥

(आ० प्र० पृ० १०६)

^१ आ० प्र० १०२१ आपे धरती घडल अकास ॥ आपे सावे गुण परगास जती । सती सतोखी आपे, आपे कार कमाई हे ॥ जिसु करणा सो करि-करि वेखें ॥ कोई न मेटे सावे लेखें ॥ आपे करे कराए आपे-आपे दे बडिआई हे ॥

वही जीव-नारी अनन्त गुणों के स्वामी पति-परमेश्वर से परिचय प्राप्त कर सकती है, जिसने गुरु की शरण में उसकी भक्ति की है। ऐसी जीव-नारी सत्य स्वरूप बाह्यगुरु का स्मरण करती रहती है। वह प्रभु के गुणश्रवण पर मोहित होकर, उसी के आगे अपने हृदय के कपाट खोलती एवं उससे अनुनय-विनय करती है। यही अपने प्रिय से उसके द्वारा सम्बन्ध स्थापित करना है। गुरु की शरण में रहकर वह मूल सत्ता (पति-परमेश्वर) के गुणों को पहचानती एवं उसका चिन्तन करती है। इसके फलस्वरूप उसका आवागमन मिट जाता है :

पेईअईं जिनि जाता पिआरा ॥ गुरमुखि ब्रह्मं तनु बीचारा ॥

आवणु जाणा ठाकि रहाए सचं नामि समावणिआ ॥

(आ० ग्रं० पृ० १०६)

संसार को जीव-नारी का मायका बतला कर उसके द्वारा पति-परमेश्वर से प्रेम का नाता जोड़ने एवं सासारिक विषयों में लीन रहने के अच्छे एवं बुरे परिणामों की चर्चा करते हुए अन्यत्र भी इसी भाव एवं विचार का प्रतिपादन किया गया है। तदनुसार ससार-मायके में ही पति-परमेश्वर को याद न करने वाली जीव-नारी को अकुलीना एवं कुरूपा बतलाया गया है। परन्तु जो ससार में ही पति-परमेश्वर को अपने मन में बसा लेती है और अपने हृदय में उसी को रमता हुआ अनुभव करती है, उसे बाह्यगुरु अपने गले से लगा लेता है। केवल वही प्रिय के मिलन के सुख का अनुभव करती है।

पेईअईं पिरु चेतं नाही ॥ ब्रह्मं मुठि रोवें धाही ॥

खरी कुआलिओ कुरुपि कुलखणी सुपनं पिरु नहीं पावणिआ ॥

पेईअईं पिरु मंनि बसाइआ ॥ पूरं गुरि हबूरि बिलाइआं ॥

कामाणि पिरु राखिआ कंठि लाइ, सबदे पिरु रावें सेज सुहावणिआ ॥

(आ० ग्रं० पृ० १२६)

जीव-नारी ससार रूपी मायके में मात्र अतिथि है क्योंकि अन्त में उसे यहाँ से विदा होना है। इसलिए उसके यौवन की सार्थकता इसी में है कि उसका परिणय हो। उसका परिणय तभी हो सकता है जब उसका मायके में ही पति-परमेश्वर से लगाव हो जाय। क्योंकि परमेश्वर उसी जीव-नारी को अपनी सगिनी बनाता है जो पहले से ही उसके प्रेम में लीन रही है। अतः ससार रूपी मायके में अपने यौवन में मस्त रहकर उसे बाह्यगुरु को भुला नहीं देना चाहिए। इसके लिए उसे गुरु की शरण में अर्पित होना पड़ता है और तभी उसमें वे गुण आते हैं, जिन्हें बाह्यगुरु पसंद करता है। जो प्रभु के गुणों की महिमा से अनभिज्ञ है और दूसरे 'भरमों' में भटकती रहती है, वह व्यर्थ में ही अपने यौवन को गँवा बैठती है। उसे प्रिय का दर्शन प्राप्त नहीं होता और न उसका घर ही। वह जीवन की रात सोते-सोते बिता देती है। इस तरह उसे बाल विधवा बनना पड़ता है और बिना प्रिय के सग को प्राप्त किये वह कुम्हला जाती है। यही कारण है कि समझदार जीव-नारी पिता (गुरु) से विनय

करती है कि वह उसी हरि-धर से बिना दे। इसी तरह वह सीमाव्यवृत्ती बन सकती है। अवयुग्मिधारिणी जीव-नारी से प्रसु सदा दूर रहता है, लेकिन जो अनन्धासक्ति वाली है, उसी की सेवा पर वह सीता है। सत्यस्वरूप बाह्यगुरु भक्त जीव-नारीको ही अच्छा समझता है। उसकी सुरति सदा अपने प्रिय से लगी रहती है। वह मायके में अधिक देर रहना पसंद नहीं करती। इसलिए वह अपने बाबा (गुरु) से विनय कर कहती है कि वह उसे सपुराल में भेज दे।^१

● संसार : 'सुपना'

आदिग्रन्थ के अनुसार संसार की सत्ता स्वप्न जैसी है। जिस प्रकार 'सुपना' यथार्थ नहीं होता, उसी तरह संसार का अस्तित्व भी यथार्थ नहीं। जगत को केवल इसी अर्थ में सत्य बतलाया गया है कि वह बाह्यगुरु का धारण किया हुआ रूप है। परन्तु बाह्यगुरु की सत्ता की धरती पर जिस नाम-रूप का तब अपनी शाखाओं एवं फूल-पत्तों का विस्तार किये हुए है, वह परिणामी है, और अन्ततः नाशवान भी। आदिग्रन्थ में जब 'जगन्मिथ्या' वाली धारणा का खण्डन करना अभीष्ट रहा है, उस समय जगत को सत्यस्वरूप बाह्यगुरु की सच्ची रचना माना गया है, परन्तु जिस समय नाम-रूप की आसक्तियों में लीन जीव को सम्बोधित किया गया है, तब संसार के रूप में जगत को विनाशी बतलाया गया है। विनाशी, सराय, 'सुपना' आदि का गुरुमत अनुसार यही अर्थ है कि जीव जिन सम्बन्धों के लिए पाप-कर्म करता है, वे अन्त में नष्ट हो जाने वाले हैं। वह जिस घन-दौलत के पीछे भटक रहा है, वह अन्त समय यही रह जाती है—उसका साथ नहीं देती। इसलिए इस सुपने को यथार्थ मानने की उसकी आसक्ति भ्रम है; और ये भ्रम ही उसे आवागमन में भटकाने के कारण है 'दे नर, इह साची जीअ धारि ॥ सगल जगनु है जैसे सुपना बिनसत लगत न बार ॥'

आदिग्रन्थ के अनुसार जो योगी, मुल्ला, पण्डित, सुर, सिद्ध, गंधर्व, मुनिजन, सेख और पीर अपने-अपने लक्ष्यों से गिर गये हैं, वे इस भ्रम में भटके हुए हैं कि सभी कुछ स्थिर है और वे स्वयं स्थिर ही बने रह कर इसका मन चाहा भोग कर सकेंगे। वे दूसरों को इस संसार रूपी सराय से कूच करते हुए देखते भी हैं, परन्तु मोहासक्तियों में डूबे हुए होने के कारण सावधान नहीं हो पाते। इस प्रकार के पथ-भ्रष्ट लोगों को सम्बोधित करते हुए यह कहा गया है कि संसार के सभी जीवों में

^१ आ० प्र० पृ० १२६ (प्र०) भरी जोबनि मैं मत पेईअई पाहुणी बलि राम जीउ ॥ मैली अवगणि चिति बिनु गुरु गुण न समावणी ॥ × × × सतिगुर पूछि न मारणि चाली सूती रैणि विहाणी ॥ नानक बाल तणि राडेपा बिनु पिर घन कुमलानी ॥ बाबा मैं वरु देहि मैं हरि वरु भावै × × × हरि की नारि सु सरब सोहागणि अवगणवती दूरै × × × बाबा लगनु गणाइ हंभी बंभा साहुरै × × × ॥

से कुछ तो विज्ञा हो रहे हैं और कुछ की जल्दी ही ख़ासी जाने वाली है। यह मान्यता संसार को अयथार्थ, स्वप्न एवं सराय सिद्ध करती है।^१

जीव को संसार की नश्वरता एवं उसे सराय तथा स्वप्न जैसा बतला कर समझाया गया है कि वह यात्री की भाँति इस संसार रूपी सराय में कुछ देर ठहरने के लिए आया हुआ है लेकिन आश्चर्य यह है कि वह इस अल्पकालिक 'मुजरान' को इस तरह समझ रहा है कि वह कई युगों तक यहीं बना रहेगा। वह यह नहीं जानता कि उसका घर-महल एवं धन-पदार्थ तरु की छाया से अधिक स्थिर नहीं हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वह 'मैं' और 'मेरी' की ममता में भटक जाता है। वह यह मान बैठता है कि शरीर उसका है, धन एवं पदार्थ सभी कुछ उसका अपना है। उद्यान, शस्यश्यामल खेत सभी सदा के लिए उसी के हैं। उसे इन पदार्थों और सम्बन्धों को देने वाला वाहगुरु भूल जाता है :

इक रैन के पाहुन तुम आए बहु जुग आस बधाए ॥
 पिह मंवर संपे जो बीस जित तरवर की छाए ॥
 तनु मेरा संपे सभ मेरी बाग मिलल सभ जाए ॥
 देवनहारा बिसरिओ ठाकुर, खिन महि होत पराए ॥
 पहिर बागा करि इसनाना, चोआ चन्दन लाए ॥
 निरभउ निरंकाह नही चीनिआ जित हसती नवाए ॥

(आ० प्र० पृ० २१२-१३)

जीव यह भूल जाता है कि वह इस संसार में उसी प्रकार है जिस प्रकार किसी तरु की डाली पर रैन-बसेरा करने वाला पंखी। वह 'भरमों' के जुए में, अपना सभी कुछ हार जाता है; और हारे हुए जुआरी की भाँति हाथ मलता हुआ, संसार के स्वप्न की अयथार्थता पर पछताता है। उसे सम्बोद्धित कर आदिग्रन्थ में कहा गया है कि :

टटै टंघु (टंटा) करहु किय़ा प्राणी घड़ि की मुहति कि
 उठि चलणा ॥

जौ अनम न हारहु अपना भाजि पड़हु तुम हरि सरणा ॥

(आ० प्र० पृ० ४३३)

जीव यह देखता है कि साधक और सिद्ध, गृहस्थ और योगी सभी अपना-अपना घर-स्थान छोड़ कर चले जाते हैं। अतः उसे यह पता लग जाना चाहिए कि वाहगुरु ने इस संसार को बालू के भवन के समान बनाया है। इसे नष्ट होते देर नहीं लगती। यह तो उस कागद के समान है जो कुछ एक बूंदों से ही भीग कर नष्ट हो जाता है। अतः संसार की स्वप्नमयता एवं नश्वरता को देखकर उसे चेत जाना चाहिए :

^१ आ० प्र० पृ० ६४, जोगी त आसणु करि बहै, मुलां बहै मुकामि ॥ पंडित वख़ाणहि पोथीआ सिध बहहि देव सथानि ॥ सुर सिध गण गंघरव मुनिजन सेख पीर सत्तार ॥ दरि कूचा-कूचा करि गए, अवरे भि चलनहार ॥

विभ्र मंडल जगु साजिआ, जिउ दासु घर-बार ॥

दिन सत बार न लागई जिउ कागब ब'वार ॥

सुनि मेरी मनसा मने माहि, मति देखु बीचारि ॥

सिख साधिक गिरही जोगी तजि गए घर बार ॥

(आ० ग्र० पृ० ८०८)

संसार तो रात का 'सुपना' है और नाम रूपात्मक दृश्य जगत को नष्ट होते हुए क्षण भर की देर भी नहीं लगती। कुछ इस सुपने से दूर चले जा रहे हैं और जो बाकी बचे हैं^१ उन्हें भी इसको छोड़ कर जाते हुए देर नहीं लगेगी।

जीव की बढ़ता यही है कि वह संसार रूपी सराय को अपना शाश्वत मुकाम (स्थिर महल) समझ बैठता है। वह माया का उकसाया हुआ है और मस्त बन कर आचरण करता है।^२ सभी यह जानते हैं कि संसार कभी खण्ड प्रलय के और कभी महाप्रलय के रूप में नष्ट होता एवं पुनः बनता-बिगड़ता रहता है। लेकिन उसकी आँखों पर माया की पट्टी बँधी रहती है और वह इस संसार की अस्थिरता की पहचान में वचित रहता है। इसीलिए उसे सम्बोधित कर आदिग्रन्थ में कहा गया है :

भनि भनि घड़ीअँ घड़ि घड़ि भजै ॥ दाहि उसारँ उसरे दाहै ॥

(आ० ग्र० पृ० ६१८२१)

अनादृष्टि के समय ग्वाले जिस तरह अपनी गजएँ लेकर नदियो-दरियाओं के किनारे वाली भूमि में चले जाते हैं। वे स्थान उनके एवं उनके पशुओं के लिए विल्कुल अस्थायी होता है। उसी तरह जीव एवं उनकी धन-सम्पत्ति इस संसार के 'गोइल' अर्थात् नदियों के किनारे वाली चरागाह जैसी है, जिसे छोड़ कर अन्त में उसे जाना ही पड़ता है। अतः संसार प्रभु द्वारा रची हुई जीव की क्रीड़ा-भूमि है। उसे कुछ देर तक ही वहाँ खेलने का हुकम है। जीव की यह अज्ञानता है कि वह संसार की वास्तविक स्थिति से अवगत नहीं हो पाता। वह बाजीगर की भौति माया में खेलता हुआ किसी भी समय यहाँ से प्रयाण कर सकता है। यहाँ से जीव के हाथ कुछ नहीं आता और वह उसी प्रकार वचित रह जाता है, जैसे रात को सुपने में घन की गठरी पाने वाला आँख खुलने पर खाली हाथ ही रहता है। इस तरह के उपदेशों द्वारा जीव को समझाते हुए गुरुओं ने प्रकारान्तर से संसार को नश्वर, सराय एवं सुपना ही बतलाया है।^३ जैसे :

^१ आ० ग्र० पृ० ८०८, जैसा सुपना रैन का तैसा संसार ॥ दिसटिमान सभु बिनसीअँ किआ लागहि बार ॥ × × × × इक चाले इकि चालसहि सभि अपनी बार ॥

^२ आ० ग्र० पृ० ८८६-६०, छाडि विडाणी ताति भूड़े ॥ ईहा बसना राति भूड़े ॥ माइआ के माते तँ उठि चलना ॥ रात्रि रहो तू सगि सुपना ॥

^३ आ० ग्र० पृ० ७१५३५, जैयै गइलडा दिन चारे ॥ खेलु तमासा धुधुकारे बाजी खेलि गए बाजीगर जीउ निति सुपनँ मखलाई हे ॥

इह संसार सगल है सुपनो देखि कहा लोभायें ॥
जो उपजै सो सगल बिनास रहनु न कोउ पायें ॥

(आ० ग्रं० पृ० १२३१)।

संसार की स्वप्नमयता एक और ढंग से भी प्रतिपादित की गयी है। गुरुओं के अनुसार, गुरु से हीन अथवा विमुख जीव, जिस की 'लिव' सत्य स्वरूप परमात्मा के नाम में नहीं, वह बिल्कुल कच्चा (अधूरा) है। ऐसे जीव के लिए जगत सुपना है क्योंकि आत्म साक्षात्कार के अभाव में उसे सभी कुछ छोड़ कर चला जाना पड़ता है और उसे आवागमन से मुक्ति नहीं मिलती।^१ संसार को कागज का किला भी बतलाया गया है, जो परमात्मा की निर्माण-कला का चमत्कार है। रूप और नाम सभी कुछ वाङ्मय का ही दिया हुआ है, परन्तु यह नाम और रूप का दुर्ग उसी प्रकार ढह जाता है, जिस तरह कागज का किला पानी की छोटी-छोटी बूंदों से ही नष्ट हो जाता। संसार जन्म और मरण के रूप में नाशवान एव सुपना है—वह स्थिर सत्ता नहीं। उसकी स्थिरता उतनी ही अल्पकालिक है जितनी नदी के किनारे बाले घर अथवा वृक्ष की। संसार का कब नाश हो जाये, इसका कुछ पता नहीं। वह उस घर के समान है, जिसमें सर्प का निवास हो और उसे में अध्युषित व्यक्ति को किसी भी समय वह डस कर उसका अन्त कर दे। इस प्रकार के अन्य उदाहरणों द्वारा भी गुरुओं ने संसार की नश्वरता की व्याख्या की है—उसे सराय और स्वप्न बतलाया है :

कागज कोट इह जगु है, बपुरो रंगनि चिह्न चतुराई ॥
नान्ही सो बूँद पबनु पति लोवे जनमु मरें खिनु ताँइ ॥
नदी उपकंठि जैसे घर तरबह सरपनी घर घर माही ॥
उलटि नदी कहाँ घर तरबह सरपनी डसं डूबा मन माही ॥

(आ० ग्रं० पृ० १२७४)।

प्रपंच कभी स्थिर नहीं होता। संसार भी प्रपंच है, अतः अस्थिर है। इसे कुसुम की मुगन्धि एव कच्चे परन्तु घने-गहरे रंग से उपमित किया गया है। गुरुमत अनुसार वह मिथ्या है, क्योंकि उसका नाम-रूप नाशवान है। आदिग्रन्थ में इसी आशय का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि यह संसार मात्र प्रपंच और ठगी है। इसकी कोई भी वस्तु स्थिर एवं शाश्वत नहीं है।^२

^१ आ० ग्रं० पृ० १२७३-७४, निरगुण देह साच बिनु काची में पूछउ गुरु अपना ॥
नानक सो प्रभु प्रभू दिखावैं बिनु साचे जगु सुपना ॥

^२ आ० ग्रं० पृ० २६७, पंचमी पंच प्रधान ते जिहि जानिओ परपंचु ॥ कुसम बास
बहु रंग घणो सभ मिथिआ बलबंचु बलबंचु ॥ वही० पृ० ४१६, इह सभु
किछु आवणु जाणु है जेता है आकार ॥

आदिग्रन्थ में वर्णित जगत-सिद्धान्त का वैशिष्ट्य

प्रस्तुत अध्ययन में 'उपनिषत्पूर्व जगत-रचना सम्बन्धी विचार' के प्रसंग में जगत सम्बन्धी आरम्भिक धारणाओं की चर्चा करते हुए यह बतलाया गया है कि जगत के बारे में परवर्ती चिन्तन-पद्धतियों की विचारधारा का निर्माण कोई आकस्मिक घटना नहीं है। विभिन्न प्रसंगों में हम इस धारणा को कई बार दुहरा चुके हैं कि जीवन और जगत के प्रति मानव का दृष्टिकोण आरोपित या बना-बनाया नहीं होता। जैसे-जैसे उसके ज्ञान का क्षितिज विस्तृत होता जाता है, वैसे-वैसे उसकी चिन्तन-दिशा में भी परिवर्तन-परिवर्द्धन की प्रक्रिया सक्रिय रहती है। जिस समय वह पारिवारिक जीवन का निर्माण कर पुनः सामाजिक बनता है, उस समय उसकी जीवन-यापन की विधि में भी अन्तर आ जाता है। जीवन-यापन के तौर-तरीकों के बदल जाने के कारण उसके धार्मिक विश्वासों में भी परिवर्तन होता है। आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन के कारण धार्मिक चिन्तन की दिशा में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।

मानव के धार्मिक विश्वास आरम्भ में बहुधा 'गणचिह्न' के रूप में बने एवं मानव की चेतना के द्वारा दूसरे शरीर में प्रवेश करने की धारणा ने जन्म लिया। कालान्तर में प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व की परिकल्पना की गयी जो धीरे-धीरे देवतावाद से अग्रसर होती हुई देवाधिदेव की अवधारणा तक पहुँची। लेकिन मानव की चिन्तन-जिज्ञासा तब भी शान्त न हुई। उसने देवताओं के भी देवता (देवाधिदेव) की अवधारणा के बाद निराकार परमचैतन्य की अवधारणा की। इसके साथ ही उसने यह विश्वास बनाया कि यही सर्वोपरि चैतन्य सत्ता अपने शक्ति-ऐश्वर्य के बल पर ब्रह्माण्ड (जो उसी की रचना है) को सुचारु रूप से चलाने के लिए समय-समय पर अवतार धारण करती है। इसके उपरान्त मानव-जीवन, उसके कर्म एवं कर्म-फल के हेतु जीव (मानव-चेतना) एवं अदृश्य जगत (प्रकृति) के सम्बन्ध में भी विभिन्न दृष्टियों से सोचा गया। इस प्रकार की समूची चिन्तन-परम्परा आदर्शवादी चिन्तन-प्रणाली के अन्तर्गत आती है।

जगत के सम्बन्ध में आदर्शवादी दृष्टिकोण के समानान्तर निरन्तर गति-शील एक और चिन्तन-धारा रही है, जिसे भौतिकवादी कहा जाता है। भौतिकवादी चिन्तन-पद्धति के प्रारम्भ के सम्बन्ध में विद्वान् यद्यपि एक मत नहीं; फिर भी यह सभी मानते हैं कि पदार्थ को जगत का मूल कारण मानने वाले, जैन-बौद्ध एवं रामायण-महाभारत काल से काफी पहले से विद्यमान थे। अतः यह परम्परा भी उतनी ही प्राचीन है, जितनी आदर्शवादी। भारतीय चिन्तन-परम्परा में न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग अपने मूल रूप में भौतिकवादी दृष्टि प्रधान ही रहे हैं। भौतिकवादी दर्शन के अनुसार जगत का मूलकारण पदार्थ (प्रकृति) है। पदार्थ-समवाय से जगत का निर्माण स्वभावतः या यदृच्छया (स्वयमेव) होता है उसका निर्माण ईश्वर आदि किसी अलौकिक शक्ति के द्वारा सम्भव नहीं होता। कालान्तर में ईश्वरवादी प्रभाव के कारण उक्त भौतिकवादी दर्शन भी आदर्शवादी रगत में रंग गये। भौतिकवादी चिन्तन-परम्परा के इसी पराभव-काल के अन्त में आदिग्रन्थ की रचना हुई। फलस्वरूप यह भी आदर्शवादी चिन्तन-परम्परा को ही आगे बढ़ाता है।

आदिग्रन्थ की रचना उस समय हुई जिस समय भौतिकवादी विचारकों को अनीश्वरवादी एवं ऐहिक सुखों में लिप्त बतला कर उपेक्षित कर दिया गया था। साधना-पद्धतियों में योग एवं 'मैं ब्रह्म हूँ' की धारणा बलवती हो गयी थी। अवतारवादी वैष्णव दर्शनों के अन्तर्गत अवतारवाद एवं मूर्ति-पूजा का विशेष प्रचलन था। भगवान् राम और कृष्ण के अवतारी रूप की भक्ति का प्रचार अपने पूरे जोर पर था। बहुदेववाद ने धार्मिक क्षेत्र को चारों ओर से आक्रान्त कर रखा था। जगत की रचना के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की अवधारणाएँ बन चुकी थी एवं इस्लामी एकेश्वरवादी समाज के धार्मिक विश्वास नवागत प्रभावशाली विश्वासों के रूप में क्रियाशील थे। इस वातावरण में आदर्शवादी चिन्तन-पद्धति के सहारे कबीरदास ने एक क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया, जिसे आदर्शवादी चिन्तन-धारा का एक नया मोड़ कहा जा सकता है। इस धारा को अत्यन्त सुव्यवस्थित रूप से आगे बढ़ाने में गुरुनानक एवं अन्य सभी सिक्ख गुरुओं ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

आदिग्रन्थ के रचना-काल तक भारतीय चिन्तन-धारा दर्शन के क्षेत्र में विभिन्न रूपों में विभक्त हो चुकी थी। इसके द्वारा जन-जीवन को एकता के सूत्र में पिरोया तो अवश्य गया, लेकिन साथ ही विभिन्न प्रकार के मत-सम्प्रदायों का इतना अधिक एवं पेचीदा जाल बिछ गया, जिसके कारण चिन्तन का स्वच्छन्द प्रवाह अवरुद्ध हो गया। फलस्वरूप धार्मिक जीवन में चारों ओर अराजकता व्याप्त हो गयी। निर्गुण सन्तो (विशेष कर सन्त कबीर) के समय यह स्थिति और अधिक गम्भीर हो गयी थी। सच्चे धर्म की मूल भावना का लोप होने लगा था। इस्लामी एकेश्वरवाद के अन्तर्गत भी अनेक विकार प्रवेश पा चुके थे। कबीर ने क्रान्तिकारी दृष्टि से समूची समस्या को देखा एवं परम तत्त्व के निराकार स्वरूप की महत्ता पर बल दिया। गुरु नानक इसी परम्परा के दूसरे सशक्त व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने इस युग के

धर्म-मतों के नेताओं एवं धार्मिक समाज को दर्शन और साधना का नया संदेश दिया। इसी प्रसंग में उन्होंने जगत-रचना के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। ये विचार मुख्यतः सिधगोसट (सिद्ध गोष्ठी) के अन्तर्गत आते हैं एवं वाहगुरु द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना के सन्दर्भ में भी इनका विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। वस्तुतः उनके परवर्ती सिक्ख गुरुओं ने उन्हीं के विचारों को समय-समय पर व्याख्यात किया। उन्होंने इस सम्बन्ध में परम्परा का पूर्ण त्याग तो नहीं किया, लेकिन अपनी मूल मान्यताओं के सन्दर्भ में परम्परा के दाय से जो ग्राह्य हो सकता था, उसे ही स्वीकार किया।

जगत की रचना के सम्बन्ध में गुरुओं का दृष्टिकोण दोनो—जगत को मिथ्या मानने वाले अद्वैतवेदान्तियों एवं पदार्थ को जगत का मूल कारण स्वीकार करने वाले भौतिकवादी विचारकों-में भिन्न रहा है। वे प्रकृति के द्वारा जगत की रचना को स्पष्ट रूप से तो स्वीकार नहीं करते, लेकिन जगत की अवधारणा के सन्दर्भ में प्रकृति के विकास (उत्तरोत्तर परिणमन) से जगत की उत्पत्ति स्वीकार करते दिखाई देते हैं, जैसा कि प्रायः सभी अद्वैत विचारकों ने माना है यद्यपि एतत्सम्बन्धी उनकी मान्यताएँ विभिन्न धारणाओं पर आधारित हैं। आदिग्रन्थ के अनुसार प्रकृति उस रूप में 'परमात्म निर्भर' एवं उस (वाहगुरु) की इच्छा के अधीन नहीं है, जिस प्रकार 'निम्बार्क', वल्लभाचार्य एवं रामानुज ने स्वीकार किया है। सिक्ख गुरुओं की जगत सम्बन्धी प्रधान मान्यताएँ परमाणुवादियों एवं पदार्थवादियों की सृष्टि-रचना के मूल कारण से बिल्कुल भिन्न प्रकार की हैं। जगत की रचना के प्रसंग में आदिग्रन्थ में प्रयुक्त 'वाहगुरु की कुदरत' एवं 'उसकी इच्छा' या 'हुकम' का ही प्रधान उल्लेख हुआ है। वाहगुरु के 'हुकम' या इच्छा-सिद्धान्त की व्याख्या परिणमन की अवधारणा के आधार पर की जा सकती है, लेकिन यह परिणाम (जगत) साक्ष्यों की 'प्रकृति' का 'परिणमन' न होकर परमात्मा द्वारा स्वयं ही जगत का रूप धारण करना है। इस प्रकार आदिग्रन्थ के अनुसार जगत मिथ्या न होकर सत्यस्वरूप परमात्मा का शरीर है, अतः वह भी सत्य ही है। आदिग्रन्थ में बारम्बार इस तथ्य पर बल दिया गया है कि जगत का आधार भी वही (वाहगुरु) है। ऐसे एक प्रसंग में हम पीछे बतला आये हैं कि जगत-निर्माण सम्बन्धी आदिग्रन्थ की उक्त मान्यता काश्मीर शैव दर्शन (प्रत्यभिज्ञावाद) की जगत-निर्माण सम्बन्धी मान्यता के अधिक निकट है। अतः आदिग्रन्थ की जगत-निर्माण या जगत की रचना से सम्बन्धित मान्यताओं की पूरी जानकारी के लिए भारतीय चिन्तन-परम्परा में स्वीकृत जगत-सिद्धान्त पर संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए।

'नासदीय सूक्त' के अनुसार जगत परमसत्ता की अभिव्यक्ति है। तदनुसार आरम्भ में परमसत्ता निराकार रूप में व्याप्त थी और जगत उसी में बीजरूप में स्थित था। नासदीय सूक्त की यह धारणा आदर्शवादी जगत-रचना सम्बन्धी अवधारणा का मूलधार है। परन्तु जगत की रचना के प्रश्न का यही समाधान

नहीं हुआ। भौतिकवादियों ने भी नासदीयसूक्त में प्रयुक्त 'सत्' और 'असत्' शब्दों की व्याख्याएँ अपने मत के अनुसार की हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी जिस रीति से जगत की रचना के उल्लेख हुए हैं, उनके आधार पर मूल पदार्थ से जगत की रचना के संकेत प्राप्त होते हैं। भारतीय चिन्तन की जगत सम्बन्धी परम्परा के अध्ययन से पता चलता है कि जगत की रचना के बारे में 'प्रकृति-सिद्धान्त' कालान्तर में जोर पकड़ने लगा था और आदर्शवादी चिन्तन के लिए पुनः अन्तर्विरोध उठ खड़ा हुआ था। तब तक वैदिक देवता (जो प्राकृतिक शक्तियों के रूप में कल्पित हुए थे) स्वतन्त्र व्यक्तित्व धारण करने लग गये थे और उनके द्वारा जगत की रचना का विश्वास बल पकड़ने लगा था। गीताकार ने अन्यान्य क्षेत्रों में समन्वय के साथ ही जगत की रचना के सम्बन्ध में सांख्यों के 'प्रकृति-सिद्धान्त' में भी समन्वय लाने की चेष्टा की। तदनुसार प्रकृति जगत की रचना में स्वतन्त्र है और न ही उसे अनादि (स्वतन्त्र) सत्ता ही स्वीकार किया गया है। वासुदेव कृष्ण को परब्रह्म मानकर उसके अवतारी शरीर को भी उतना ही सत्य स्वीकार किया गया, जितना उसके निष्कल, निर्विशेष एवं निर्गुण रूप को। इस दृष्टि से जगत की रचना करने वाली महद्योनि (प्रकृति) उसकी इच्छा के अधीन स्वीकार कर ली गई। गीता का जगत-सिद्धान्त भौतिकवादी एवं आदर्शवादी दृष्टिकोणों का समन्वय होने के बावजूद भी आदर्शवादी दृष्टिकोण का ही प्रवक्ता है। जगत-रचना सम्बन्धी धारणाओं के निर्माण के उपरान्त पुराणों ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। पुराण उस समय रचे जाने आरम्भ हुए, जिस समय आर्य एवं आर्योत्तर जातियाँ अन्तर्भुक्ति की प्रक्रिया के फलस्वरूप परस्पर बहुत कुछ घुल-मिल चुकी थी। अवतारवाद की धारणा पुष्ट हो चुकी थी एवं भारतीय धर्म-मतों का पर्याप्त प्रसार-प्रचार हो गया था। पुराणों में विभिन्न देवी-देवताओं को उपास्य परमसत्ता स्वीकार कर उनकी शक्तियों के द्वारा जगत की रचना के उल्लेख हुए हैं। प्रकृति-सिद्धान्त सभी पुराणों में वर्णित जगत-रचना का प्रधान आधार है। तदनुसार प्रकृति स्वतन्त्र नहीं, उसे परमसत्ता (विष्णु आदि) की इच्छा के अधीन स्वीकार किया गया है। पुराणों में बहुधा प्रतीकों एवं रूपकों के माध्यम से जगत की रचना का उल्लेख हुआ है। इस दृष्टि से मत्स्यपुराण महत्त्वपूर्ण है। हरिवंशपुराण का एकार्णव-सिद्धान्त भी जगत की रचना के सम्बन्ध में विशेष रूप से व्याप्त है। विष्णुपुराण और मनुस्मृति में भी सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में विस्तृत उल्लेख प्राप्त होते हैं। धीरे-धीरे वासुदेव (नारायण) को धर्म के क्षेत्र में विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। पंचरात्र संहिताओं के ब्यूह-सिद्धान्त के आधार पर सृष्टि-रचना की समूची प्रक्रिया, उत्तरोत्तर विकास, उसकी स्थिति एवं संहार आदि के बारे में विस्तार सहित विचार किया गया है।

सांख्य-योग, न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों की परम्परा पर्याप्त प्राचीन है एवं उनमें जगत और उसके मूलकारण पर विशेष रूप से विचार किया गया है। इन दर्शनों का मूलस्वर भौतिकवादी है, जो उन्हें लोकायत विचारधारा की परम्परा

से ओड़ता है। सांख्य और योग प्रकृति (मूलतः त्रिगुणात्मक) को ही जगत का मूल कारण मानते हैं एवं उसे स्वतः प्रसववर्मा स्वीकार करते हैं। न्याय और वैशेषिक दर्शनों में पदार्थ या परमाणु को जगत का मूलकारण माना गया है। तदनुसार परमाणु या पदार्थ स्वयमेव समवेत होकर जगत की रचना करते हैं। आरम्भ में चेतना (आत्मा) को भी इन दर्शनों में पदार्थ-समवाय-जनित ही स्वीकार किया गया था। कालान्तर में ईश्वरवादी प्रभाव से अच्छछ हो जाने पर भी इनकी भौतिकवादी शलक बनी ही रही।

पूर्व वेदान्तिक (ब्रह्मसूत्रों एवं शांकर अद्वैतवेदान्त से पहले) चिन्तन-परम्परा के अन्तर्गत जैन एवं बौद्धों (प्राचीन) विचारधारा का उल्लेख किया जाता है। बौद्धों में विज्ञानवादी बौद्धाचार्यों एवं शून्यवादी बौद्ध चिन्तकों ने जगत के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया है। विज्ञानवादी जगत की आभाससत्ता (Visionary Appearance) स्वीकार करते हैं। अध्यात्मवादियों की भाँति वे ईश्वर या ब्रह्म (परमचेतन सत्ता) की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। तदनुसार विज्ञान ही परम सत्ता है। सृष्टि की रचना न तो प्रकृति (सांख्यो के अनुसार) के द्वारा ही हुई है और नहीं गीता के पुरुषोत्तम द्वारा ही। उनके मतानुसार जगत परिवर्तनशील आभास अस्तित्व है। आलातचक्र की भाँति एक विज्ञान दूसरे को निरन्तर जगत का रूप देता रहता है। विज्ञानवादी आलयविज्ञान को सम्पूर्ण विचार-समवाय का मूलाधार स्वीकार करते हैं। सारांश यह कि विज्ञानवादियों के मत में चित्त के सिवाय किसी (विषय) का अस्तित्व ही नहीं।

शून्यवादी विचारक जगत को प्रत्यक्ष एवं अनुमान-ग्राह्य मानते हैं। योगाचारवादी ज्ञाता और ज्ञेय की स्वतन्त्र सत्ता न मान कर केवल विज्ञान की ही सत्ता स्वीकार करते हैं और विज्ञान का आधार वासनाएँ बतलाते हैं। वासनाओं को शाश्वत न मानने के कारण अन्त में उन्होंने विज्ञान की शाश्वत सत्ता के आगे भी प्रश्न-चिन्ह लगा दिया है। शून्यवादी परमसत्ता को 'शून्य' किन्तु भावात्मक सत्ता बतलाते हैं। असंग एवं मंत्रेय दोनों ने शून्य का उल्लेख 'अभूत परिकल्प' के रूप में किया है। इनके अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय की परिकल्पना सम्भव है। शून्य के स्वरूप के सम्बन्ध में स्वयं अनिश्चय की स्थिति में होने के कारण बौद्ध दार्शनिकों का यह वर्ग जगत के मूल को मात्र 'शून्य' कहकर ही मोन धारण कर लेता है।

विज्ञानवादी एवं शून्यवादी दोनों के परमसत्ता सिद्धान्त का खण्डन करते हुए आचार्य शंकर ने ब्रह्म को चेतन परमसत्ता स्वीकार किया है। गौडपादाचार्य एवं बादरायण ने जगत की मात्र प्रतीति ही मानी है। जगत की प्रतीति के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्तियों का माया और अविद्या का सिद्धान्त विशेष कर विचारणीय है। यह मात्र ब्रह्म की प्रतीति है, जिसका विस्तार ईश्वर और उसके बाद जीव तक भी माना गया है। उक्त बौद्ध दर्शनों एवं शांकर अद्वैतवेदान्त की जगत सम्बन्धी मान्यताओं के आगे प्रश्न-चिन्ह लगाते हुए काश्मीर शैवों (प्रत्यक्षिवावादियों) का कहना है कि

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अन्तर (परमशिव) का साकार रूप है। 'स्पर्शकारिका' एवं 'शिवदृष्टि' में इस तथ्य का स्पष्ट प्रतिपादन है कि परमशिव अपनी शक्ति से स्वयं जगत का रूप धारण करते हैं। यह दर्शन शून्य एवं विज्ञानवादी बौद्ध दर्शनों तथा शांकर अद्वैतवेदान्त के विपरीत एक प्रकार से जगत की सत्यता में विश्वास करता है। यही मत कुछ अन्तर के साथ गोरखनाथ के नाम से प्रचलित रचना 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में भी प्रतिपादित हुआ है।

अवतारवादी वैष्णव दर्शन ब्रह्म और जीव के साथ-साथ माया एवं जगत की व्याख्या भी भिन्न ढंग से करते हैं। आचार्य रामानुज के अनुसार परमसत्ता चिदचिन्मयी है—अतः जगत यथार्थ है मिथ्या नहीं। शुद्धाद्वैत की मान्यता है कि जगत परब्रह्म की रचना है। तदनुसार जगत का निमित्त एवं उपादान कारण स्वयं ब्रह्म है। जगत का आविर्भाव परब्रह्म के सदृश से होता है। वे सभी तत्त्व जो जगत के निर्मायक हैं, शुद्धाद्वैत के अनुसार भगवान् से ही आविर्भूत होते हैं। अतः स्पष्ट है कि वल्लभाचार्य ब्रह्म को जगत का कारण एवं जगत को उसका कार्य स्वीकार करते हैं। यह ब्रह्म का लीला-भाव है कि वह अपने सदृश को नामरूपात्मक जगत का रूप दे देता है। जब वह चाहता है, तब अपने सदृश रूप को समेट भी लेता है। यही जगत का संहार है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वल्लभाचार्य के मत में जगत का आविर्भाव होता है—उत्पत्ति नहीं। जगत एवं संसार को एक न स्वीकार कर, शुद्धाद्वैत में, इन्हें दो भिन्न अवधारणाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जगत यदि ब्रह्म की योगमाया की रचना है तो संसार जीव के अहन्ताभाव का कार्य। जीव के द्वारा इस प्रकार की सृष्टि अविद्यामाया के कारण है। जगत की समाप्ति (तिरोभाव) ब्रह्म की इच्छा के अधीन है, जबकि संसार का विनाश जीव के द्वारा भक्ति का आश्रय ग्रहण कर किया जा सकता है। द्वैताद्वैत एवं द्वैतदर्शन परमसत्ता के अतिरिक्त जीव और जगत का अलग-अलग अस्तित्व प्रतिपादित करते हैं, लेकिन द्वैताद्वैत के द्वारा यह द्वैत अन्ततः अद्वैत स्वीकार कर लिया गया है। जगत सम्बन्धी उक्त अवधारणाएँ भारतीय दर्शन-परम्परा के वैविध्य एवं उसकी व्यापकता को प्रस्तुत करती हैं। हम पहले इस तथ्य की ओर संकेत कर आए हैं कि इस विशाल (भौगोलिक दृष्टि से वैविध्य-युक्त) उपमहाद्वीप में विभिन्न धर्म-मतों एवं दर्शन-प्रणालियों का होना स्वाभाविक है। लेकिन आदर्शवादी विचार-परम्परा के सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि इस वैविध्य में भी ऐसी एकत्व-भावना निहित है कि विभिन्न आदर्शवादी चिन्तन-पद्धतियाँ अन्तिम बिन्दु पर प्रायः एक सा निष्कर्ष प्रस्तुत करती हैं।

आदिग्रन्थ में जगत और संसार को, दो भिन्न अवधारणाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ये अवधारणाएँ एक ओर शुद्धाद्वैत की जगत और संसार की अवधारणाओं से मेल खाती हैं तो दूसरी ओर उनका स्वर प्रत्यभिज्ञावादियों के जगत-सिद्धान्त से भी मिलता है। आचार्य वल्लभ के अनुसार जगत भगवान् की योगमाया की रचना है तथा संसार अविद्यामाया के कारण जीव का अहन्ताभाव है। प्रत्यभिज्ञा-

बादी परमेश्वर (अनुत्तर) के दो पक्ष—शिव और शक्ति—मानते हैं तथा जगत को शक्ति का विनाश स्वीकार करते हैं। आदिग्रन्थ में इस प्रकार के संकेत भी प्राप्त होते हैं, जिससे उनकी जगत सम्बन्धी विचारधारा विशिष्टाद्वैतवादी प्रतीत होती है। लेकिन ब्रह्म के बिदाचिशिष्ट स्वरूप पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिग्रन्थ में वर्णित जगत-स्वरूप रामानुज के जगत-सिद्धान्त से पर्याप्त भिन्न है।

आदिग्रन्थ के अनुसार अनादि सत्ता केवल बाह्यगुरु की है, जीव और जगत उसी के धारण किये हुए रूप हैं। यद्यपि सिक्ख गुरु जीव के प्रसंग में जगत को सुषुप्ता, नश्वर, बाजीगर का चमत्कार, जीव का मायका एवं सराय आदि भी बतलाते हैं, लेकिन उनके ये विचार संसार से सम्बन्धित हैं—जगत से नहीं। क्योंकि संसार जीव के अहन्ताभाव का नाम है—जगत की भाँति बाह्यगुरु की रचना नहीं। जगत को मिथ्या मानकर, ब्रह्म को ही सत्य स्वीकार करने वाले अद्वैतवेदान्तियों की मान्यताओं से भी आदिग्रन्थ की जगत सम्बन्धी अवधारणा भिन्न है। सिक्ख मत के अनुसार जगत बाह्यगुरु का शरीर है। यह मान्यता शुद्धाद्वैत के अधिक निकट है, जिसके अनुसार जगत को 'परमात्मा के सदांश का आविर्भाव' माना जाता है।

सिक्ख गुरु परमात्मा को कण-कण में परिब्याप्त सत्ता मानते हैं। उनकी यह मान्यता प्रत्यभिज्ञावादियों के शक्ति-विलास से मिलती-जुलती है। तदनुसार पशु और शिव में तत्त्वतः अन्तर है। शिव के शक्ति रूप का ही विलास (विस्तार) होने के कारण जगत मिथ्या नहीं—सत्य सत्ता है। वह शक्ति का ही व्यक्त रूप है, जो अनभिब्यक्तावस्था में उसी में विद्यमान रहता है। परमसत्ता की 'एक से अनेक बनने' की इच्छा वाली औपनिषदिक मान्यता ही प्रायः सभी अद्वैतवादी दर्शनों की जगत सम्बन्धी धारणाओं का आधार है। अन्तर केवल यह है कि इन दर्शनों (अद्वैतवादी) में इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न ढंग से की गई है।

आदिग्रन्थ के अनुसार 'ओकार' बाह्यगुरु का शब्दरूप है। जगत का पार्वर्ती सम्पूर्ण विस्तार ओकार का ही विस्तार है। आदिग्रन्थ का मूलमंत्र इस तथ्य की स्थापना करता है कि " 'एक'—१—" अर्थात् पूर्णभेद रूप में अवस्थित परमसत्ता ही पहले ओकार रूप धारण करती है और उसके बाद शब्दब्रह्म (ओकार) का विस्तार ही नामरूपात्मक जगत का अभिधान ग्रहण कर लेता है। जगत को प्रभु का रूप स्वीकार करना भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है कि आदिग्रन्थ में जगत को मिथ्या नहीं माना गया है। वस्तुतः कर्म एवं जन्मान्तर की मान्यता के सम्बन्ध में यह स्वीकार भी नहीं किया जा सकता कि जगत प्रतीति या आभास सत्ता है। परमात्मा अकाम है और कामना से अतीत सत्ता के प्रसंग में यही सम्भव है कि ब्रह्म या तौ लीला-वश स्वयं को जगत के रूप में व्यक्त करता है अथवा जीव के प्रति अनुकम्पा-भाव से प्रेरित होकर कर्म-भूमि के रूप में उसके लिए जगत का आधार प्रस्तुत करता है। आदिग्रन्थ में बाह्यगुरु की तरह एवं सम्पूर्ण नाम-रूप जगतको उस तरीके विकसित

शाखाएँ बतला कर गीता की अश्वत्थ-धारणा के अनुरूप परमसत्ता के निर्गुण और सगुण स्वरूप की चर्चा की गयी है। गीता में अवतारवाद की स्वीकृति के कारण वासुदेव के अवतारी शरीर को ब्रह्म से अभिन्न बतलाया गया है, लेकिन आदिग्रन्थ में व्यक्त सगुण की धारणा बाह्यगुरु द्वारा जगत का रूप धारण करना है। तदनुसार वह निराकार परम चैतन्य है। जगत का रूप धारण करना ही उनकी सगुणता है। जगत उसका स्थूल रूप है। जगत को बाह्यगुरु को क्रीड़ा एवं क्रीड़ा-भूमि बतला कर भी इसी ओर संकेत किया गया है कि 'एकत्वं बहुत्वं' ही जगत है। अतः जगत सत्य एव बाह्यगुरु का शरीर है। वह उसके कण-कण में अवस्थित है।

आदिग्रन्थ की जगत-रचना सम्बन्धी मान्यता द्वैतवादी दर्शनो से भिन्न है। द्वैतवादी दर्शन रचयिता (ईश्वर) के अस्तित्व के साथ-साथ उपादान-सामग्री और जीव चैतन्य (जीवात्मा) के अस्तित्व को भी प्रायः अनादि ही मानते हैं। आदिग्रन्थ का जगत-सिद्धान्त इससे भिन्न है कि पदार्थ-समवाय से स्वयमेव जगत की रचना, स्थिति एवं संहार का कार्य सम्पन्न होता रहता है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं

आदिग्रन्थ के अनुसार जगत और समार भिन्न-भिन्न अवधारणाएँ हैं। जगत परमात्मा का शरीर (स्थूल रूप) है। उसके निर्माण के हेतु उसे किसी सामग्री (अनादि तत्त्व) की आवश्यकता नहीं। यह सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के जगत-सिद्धान्त एवं प्रत्यभिज्ञा-वादियों की विश्व-रचना सम्बन्धी मान्यताओं से पर्याप्त समानता रखता है। शुद्धाद्वैत के अनुसार जगत परब्रह्म (वासुदेव) के सदृश का विस्तार है एवं प्रत्यभिज्ञावादियों के मत में शक्ति का विलास।

संसार माया (शुद्धाद्वैत के अनुसार अविद्यामाया) के प्रभाव के कारण जीव के अहन्ताभाव का फल है। आदिग्रन्थ में मनमुख और गुरुमुख जीवों की चर्चा इसी अहन्ताभाव के सन्दर्भ में ही की गयी है। तदनुसार मनमुख जीव ससारी बतलाये गये हैं। उनका आवागमन उस समय तक नहीं मिट सकता जब तक वे अहन्ताभाव की स्थिति से ऊपर उठकर गुरु की कृपा द्वारा बाह्यगुरु के स्वरूप-ज्ञान को प्राप्त नहीं कर लेते। यही कारण है कि गुरुओं ने संसार को सुपना, जीव का मायका, नश्वर एवं बाह्यगुरु रूपी बाजीगर का चमत्कार बतलाया है। अतः आदिग्रन्थ का जगत-सिद्धान्त भारतीय दर्शन-परम्परा से बहुत कुछ स्वीकार करने हुए भी स्वतन्त्र चिन्तन (गुरुओं के) का परिणाम है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

१. अर्थशास्त्र एस० शास्त्री (अनुवाद) मैसूर १९२६
२. अहिर्बुध्न्यसंहिता
३. अग्नि पुराण, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, १९००
४. अनिरुद्धाज कमेटरी आन दि ओरिजनल पार्ट्स आव वेदांतिन मन्वाज कमेटरी, रिचार्ड गार्बे
५. अहिर्बुध्न्यसंहिता, सम्पादक—एम० डी० रामानुजाचार्य, आड्यार लायब्रेरी, मद्रास, १९१६
६. अथर्ववेदसंहिता सम्पादक—शंकर पांडुरंग, प्रकाशक-गर्वनमेण्ट सेंट्रल बुकडिपो, बम्बई संस्क० १७६५
७. आर्यभट्टोर रिलिजस कस्टम एज बैकग्राउण्ड आव बैंगाली लिटरेचर
८. आइडलिस्ट घाट आव इण्डिया, पी० टी० राजू पृ० ८५-८६
९. आदिग्रन्थ, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर (देवनागरी संस्करण)
१०. आदिग्रन्थभाष्य, भाई वीरसिंह, अमृतसर, १९५६, बाल्यू० १-१०
११. आस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एनशियेण्ट इण्डिया आर० एस० शर्मा
१२. आन रिलिजन, मार्क्स एण्ड एंगेल्स
१३. आधुनिक बौद्ध धर्म, नगेन्द्रनाथ बसु
१४. आत्मविलस, अमृतवाग्भवाचार्य १९३६
१५. आन दि साख्य सूत्राज, आर० गार्बे, कलकत्ता, १८६२
१६. इण्डिया फाम प्रिमिटिव कम्युनिज्म टु सलेक्सी, एस० ए० डांगे, बम्बई १९४६
१७. इण्डियन विजडम, मोनियर विलियम्स, लंडन, १८७५
१८. इण्डियन फिलासफी, राधाकृष्णन, १९५६, बाल्यू० १-२
१९. ईस्टर्न रिलिजन एण्ड वेस्टर्न थॉट, एस० राधाकृष्णन
२०. इंट्रोडक्शन टु वेदान्त, नारायणराव,
२१. इण्डियन फिलासफी, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय
२२. इन्फ्लुयेन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, डा० ताराचन्द
२३. ऋग्वेदसंहिता, मैक्समूलर संस्करण (१८४६) लन्दन

२४. ऋग्वेद, स्वाध्यायमंडल, पारडी मूरत, १९५७
२५. ऋग्वेद एच० एच० विल्सन (अनुवाद), कलकत्ता
२६. ईशोपनिषद्, अजमेर, १९५३
२७. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विहृति-विमर्शिनी, अभिनवगुप्त, सन् १९३८-४१
२८. ईश्वर सिद्धि, उत्तलदेव, सन् १९२१
२९. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, काशमीर सिरोज, १९१८-२१,
३०. ईशावास्योपनिषद्, कल्याण उपनिषद् अंक, संस्क० १९४६
३१. ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी, एस० एन० दास गुप्ता, केम्ब्रिज, १९२२-५५
३२. ए विमन आव इण्डियाज हिस्ट्री, पृ० ३४,
३३. ऐतरेय आरण्यक, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरोज, पूना, संस्क० द्वि, १९४३
३४. एनसाइक्लोपीडिया आव रिलिजन ऐण्ड एथिक्स, आर० गाबे, खं० १२
३५. " " " " " आर० आर० फ्रेजर, ख० २
३६. ऐतरेय ब्राह्मण, आनन्द आश्रम संस्कृत सिरोज, पूना, संस्क० द्वि०, १९३१
३७. ऐतरेयोपनिषद्, कल्याण उपनिषद् अंक, १९४६
३८. औट लाइन्ज आव इण्डियन फिलासफी, एम० हिरियन्ना
३९. कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी, आर० जी० रानाडे, ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९२६
४०. काशमीर शैविज्म, भा० १, १९१४, जे० सी० चैटर्जी, जम्मू-काशमीर स्टेट
४१. कल्चरल हेरिटेज आव इण्डिया, विनयतोष भट्टाचार्य, ख० २, पृ० २१८
४२. कठोपनिषद्, अजमेर, १९५६
४३. कुलार्णव तन्त्र, नारायण प्रेस, कलकत्ता, १८६७
४४. केनोपनिषद्, कल्याण उपनिषद् अंक, संस्क० १९४६
४५. कठोपनिषद् " " " "
४६. गोखलानी, डा० पीतम्बरदत्त बड़धवाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, भा० १, संस्क० २, वि० २००३
४७. गौतम न्याय सूत्र
४८. गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद्, निर्णय सागर बम्बई, १९३२
४९. छान्दोग्योपनिषद्, निर्णय सागर बम्बई, १९३२,
५०. जैनयूत्राज, एच० जैकोबी (भूमिका) पृ० ३४
५१. जैमिनी मीमांसा सूत्र अध्या० १
५२. त्रिपुरा रहस्य, सम्पादक—मुकुंदलाल शास्त्री, प्रकाशक—चौखम्भा संस्कृत सिरोज, बनारस, संस्क० द्वि० १९३२
५३. तंत्रालोक, अभिनवगुप्त, भा० १—७ तक सन् १९१८-२४ रिसर्च डिपार्टमेंट जम्मू-काशमीर

५४. तंत्रसार, अभिनवगुप्त, १९१२
५५. तैत्तिरीयोपनिषद्, कल्याण, उपनिषद् अंक, १९४९
५६. दि मदर्स, आर० बिफाल्ट, लंडन, १९५२
५७. दि मोल्डन बी, जे० सी० फ्रेजर, लंडन, १९५७
५८. दि डिस्कवरी आव इंडिया, जे०, नहरू, कलकत्ता, १९५६
५९. दि आइडिया आव गाड इन शॉय सिद्धान्त, टी० एम० पी० महादेवन,
अन्नामलायी यूनी० १९५५
६०. दि लाइफ आव बुद्ध, ई० जे० धामस, लंडन, १९३१
६१. दि शिवाहुत आव श्रीकठ, एस० एस० शास्त्री, मद्रास यूनी० १९३०
६२. दि इडस सिविलीजेशन, एम० ह्वीलर, कैम्ब्रिज, १९५३
६३. दि उपनिषत्स (अनुवाद) एक० मैक्समूलर, बाल्यू० २
६४. दि थर्टीन प्रिंसिपल उपनिषत्स, आर० ई० ह्यूम, १९५८
६५. दि एलिमेण्ट्री फार्म्स आव दि रिलिजस लाइफ, दुर्लूम, (अगरेजी अनुवाद) १९६१
६६. दि रिलिजन्स आव दि वर्ल्ड मेड सिम्पल, जान लेविस, पृ० २१
६७. दि प्रिंसिपल उपनिषत्स, एस० राधाकृष्णन, पृ० ५८१
६८. दि भक्ति कल्ट इन एनशियेण्ट इंडिया (अनुवादक भागवत कुमार) पृ० १६-१८
६९. दि सिक्स सिस्टम्स आव इंडियन फिलासफी, मैक्समूलर पृ० ८६
७०. दि कल्चरल हिस्ट्री आव इंडिया, हरिदास भट्टाचार्य, ख० ३
७१. दि इट्रोडक्शन टु नात्रिक बुद्धिज्म बी० दासगुप्ता, कलकत्ता, १९५०
७२. दि हिस्ट्री आव साउथ इंडिया, नीलकंठ शास्त्री, पृ० ४१४
७३. थर्टीन प्रिंसिपल उपनिषत्स, आर० ई० ह्यूम, आक्सफोर्ड, १९२१
७४. धम्मपद, विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थ-माला, वाराणसी १९६८
७५. न्यू एज, राहुल सांकृत्यायन, १९५६
७६. न्यायमंजरी, काशी सिरीज, १९३६
७७. न्यायभाष्य, काशी सिरीज, १९४२
७८. प्रिंसिपल उपनिषत्स, डा० राधाकृष्णन, लंडन, १९५३
७९. प्रिमिटिव कल्चर, टायलर भा० १, पृ० २३
८०. पातञ्जल योगसूत्र
८१. प्रिंसिपल आव तन्त्रात्र, जान बुडरफ, मद्रास १९६०
८२. परमार्थसार, आदिवोष, अख्युत ग्रन्थमाला, बनारस, वि० १९८९
८३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, काश्मीर सिरीज, १९१८-२१ तथा आद्वयार लाइब्रेरी
मद्रास, १९३८
८४. पंचवशी, निर्णय सागर बम्बई, विद्यारण्य स्वामी, व्याख्याकार धं० रामावतार,
१९३५
८५. प्रश्नोपनिषद्, अजमेर, १९५२ तथा कल्याण, उपनिषद् अंक १९४९

८६. प्रपञ्चसारतंत्र, तांत्रिक टेक्स्ट सिरीज, कलकत्ता १९१४-१७
८७. प्रिंसिपल्स आव तंत्राज, आर्थर ऐबर्ली, लंडन, १९१४
८८. (क) पोस्ट फिलासर्फ्स आव दि ऋग्वेद बी० सी० कुन्हन, (ख) पतंजलि योगदर्शन, प्रकाशक—लखनऊ विश्वविद्यालय, संस्क० १, १९५५
८९. फिलासफी आव दि उपनिषत्स ए० ई० गफ, लंडन, १८८२
९०. फिलामफी आव इंडिया, जिम्मेर, लंडन, १९५१
९१. फिलासफी आव गोरखनाथ, अक्षयकुमार बनर्जी, गोरखपुर, १९६१
९२. बुद्ध, हिज लाइफ, हिज टीचिंग्स, हिज आर्डर ओलडनबर्ग, कलकत्ता, १९२७
९३. बुद्धिष्ट इंडिया, राई डेविड्स, टी० डब्ल्यू० आर० कलकत्ता, १९५०
९४. ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, रामकृष्ण, आगरा, १९६०
९५. ब्रह्मसूत्र-भाष्य, आचार्य शंकर, अध्या० १
९६. ब्रह्मसूत्र-भाष्य (शांकर) स्वामी गम्भीरानन्द (अनुवादक)
९७. ब्रह्मसूत्र-भाष्य रा० कृष्णन (अनुवाद)
९८. बुद्धिष्ट लाजिक, स्तचेर्बात्सकी, खं० १
९९. ब्रह्मपुराण, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, १८९५
१००. बाल्मीकि रामायण, सम्पादक—वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस बम्बई, संस्क० तृ० १९०९
१०१. ब्रह्ममीमांसा-भाष्य, निम्बार्क, चौल्लम्बा संस्कृत सिरीज, वि० १९६७
१०२. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, निर्णयसागर, १९२७
१०३. भारतीय चिन्तन-वारा, के० दामोदरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६१
१०४. भागवतपुराण, गीता प्रेस गोरखपुर, संस्क० वि० १९९७
१०५. भगवद्गीता, शांकरभाष्य, गीता प्रेस गोरखपुर, संस्क० १, वि० १९८८
१०६. मनुस्मृति, प्रकाशक—हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता संस्क० ६, १९९३
१०७. मदर राइट इन इण्डिया, ओ० आर० एहरेनफेल्स, हैदराबाद, १९४१
१०८. महाभारत, पी० सी० रे (अनुवाद) कलकत्ता, १८८३-८५
१०९. मैजिक एण्ड रिलिजन, जे० फेजर
११०. मैटीरियलिज्म, कलकत्ता, १९५१
१११. माध्यमिक सूत्र, नागार्जुन
११२. मध्वाज टीचिंग्स इन हिज ओन वर्ड्स, एन० आर० शर्मा, भारतीय विद्या-भवन, बम्बई
११३. मोहेब्रोदडो एण्ड दि इंडियन सिविलिजेशन, मार्शल, लंडन, १९३१
११४. मुण्डकोपनिषद्, अजमेर, १९५२ तथा कल्याण उपनिषद् अंक, १९४९
११५. माण्डूक्योपनिषद्, अजमेर, १९५२
११६. मालिनीविजयतंत्र, काश्मीर सिरीज, १९२२

११७. महाभारत, निर्णयसागर, बम्बई, १९०७-९ एवं प्रकाशक—नरहरि जोशी, पूना, संस्क० १, १९०७
११८. महायान विज्ञानिका, विश्वभारती, भ्रान्तिनिकेतन
११९. महोपनिषद्, निर्णयसागर, बम्बई, १९३२
१२०. मत्स्यपुराण, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, बम्बई, १९०७
१२१. योगवशिष्ट और उसके सिद्धान्त, भीखनलाल आश्रय, तारा पब्लिशिंग बाराणसी, वि० २०१४
१२२. लोकायत, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, प्युपल्स पब्लिशिंग हाउस १९५९
१२३. वैष्णवविजय, शंविजय एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, आर० जी० मण्डारकर, पूना
१२४. वेदान्त सूत्र (रामानुजभाष्य), जार्ज विबौट (अनुवाद)
१२५. वेदान्त दीप, बनारस संस्कृत सिरीज, १९०२
१२६. वैशेषिक सूत्र, सरस्वती प्रेस, कलकत्ता, १८८६
१२७. विशतिका शास्त्र, भरतपुर, १९५९
१२८. विशतिका शास्त्र-विमर्शिनी, निर्णय सागर, १९२७
१२९. विष्णुपुराण, वैकटेश्वर प्रेस बम्बई तथा कल्याण संस्करण
१३०. शंकराज टीविमस इन हिज ओन वर्ड्स, स्वामी आत्मानन्द, भारतीय विद्या मवन, बम्बई, १९६४
१३१. शब्दार्थ श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी अमृतसर, देवनागरी संस्करण
१३२. शिवसूत्र विमर्शिनी, काश्मीर सिरीज, १९१८-२१
१३३. शिवसूत्र वातिक भट्टभास्कर, काश्मीर सिरीज, १९३८
१३४. श्वेताश्वतरोपनिषद्, अजमेर १९५२
१३५. शिवदृष्टि वृत्ति, काश्मीर सिरीज, १९३४
१३६. शिवदृष्टि, उत्पल देव, काश्मीर सिरीज, १९३४
१३७. शुक्ल यजुर्वेद संहिता, सम्पादक—प० ज्वाला प्रसाद मिश्र, प्रकाशक—वैकटेश्वर प्रेस बम्बई, संस्करण वि० १९६९
१३८. शतपथ ब्राह्मण—अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी
१३९. शिवपुराण, वैकटेश्वर प्रेस बम्बई
१४०. सांख्य कारिका, कलकत्ता, १८८७
१४१. सर्वदर्शनसंग्रह, कावेल एवं गफ (अनुवाद) लन्दन, १९१४
१४२. सांख्य प्रवचनभाष्य, केम्बेज, १९८५
१४३. सेक्रिड बुक्स आव दि ईस्ट, मैक्समूलर, आक्सफोर्ड, १८७९
१४४. स्टडीज इन एनशियेण्ट ग्रीक सोसाइटी, बाल्यू० १-२, लंडन, १९४९-५५
१४५. स्टडीज इन एनशियेण्ट सोसाइटी, ज्यार्ज थामसन

१४६. दि सिक्ख सिस्टम्स आव इंडियन फिलासफी, मैक्समूलर
 १४७. सांख्यप्रवचनसूत्र
 १४८. सांख्य कारिका, झा का अनुवाद
 १४९. सम फण्डेमेण्टल प्राबलम्स आव इण्डियन फिलासफी, सी० कुन्हुन
 १५०. स्याद्वाद् मंजरी, भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९३३
 १५१. सामवेद, अजमेर, १९४५
 १५२. सौन्दरनन्द, संस्कृत भवन, कठौतिया, १९४८
 १५३. सिद्धत्रयी, काश्मीर सिरीज, १९२१
 १५४. सर्वदर्शन संग्रह, आनन्दाश्रम प्रेस पूना, १९०६
 १५५. स्वातंत्र्यदर्पण, पं० बलजिन्नाथ, श्रीनगर, १९६४
 १५६. स्पन्दकारिका भट्टभास्कर, काश्मीर सिरीज, १९१६
 १५७. सर्वदर्शन संग्रह, प्रकाशक—आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, संस्करण
 द्वि० १९८८
 १५८. सांख्यदर्शन, प्रकाशक—क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, संस्के०
 प्रथम वि० १९५०
 १५९. सौन्दर्य लहरी (शंकराचार्य), प्रकाशक—बी० रामास्वामी, शास्त्रुलु एण्ड सन्स
 चेन्नपुरी (दक्षिण भारत) संस्क० १, १९५२
 १६०. हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, पी० बी० काने, वाल्यू० १, १९३०, वाल्यू० २,
 १९४१
 १६१. हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, ए० ए० मेकडूनल, लंडन, १९०५
 १६२. हिन्दू फिलासफी, डैवीज
 १६३. हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी, एस० एन० दास गुप्ता, ख० १
 १६४. हिन्दू मैनेर्स, कास्ट्स एन्ड सेरेमनीज, ख० १, जे० ए० दुबा, आक्सफोर्ड,
 १८९७
 १६५. हरिवंशपुराण, सम्पादक—डी० एन० बोस (अंग्रेजी अनुवाद)

अनुक्रमणिका

अतिमानवी १५८
 असम्प्रज्ञातसमाधि १६६
 अपवर्ग १७७
 अभिनवगुप्त ७५, ७६, ११०, १५०
 अभिघम्मपिटक १०६
 अद्वैतवेदान्त ८७
 अवतार-सिद्धान्त ६४
 अविकृत परिणामवाद १०५
 अजूनी-सिद्धान्त १२३
 अनादिशेष-सिद्धान्त २१४
 अविकृत परिणामवाद २१६
 अनुकम्पा-सिद्धान्त २४५
 अन्तर्भुक्ति ७०, १६२
 अन्तःप्रज्ञा ७३
 अंशावतार ६२, २०८
 अवरोहण २०४
 अंश २०८
 अंशी २०८
 अनारम्भावस्था २०६
 अनुग्रह २१०, २१६, २४४
 अनुकम्पा-भाव २११, २२८
 अष्टषाप्रकृति २१२
 अणु २१७
 अष्टयामपूजा २३४
 अर्थशास्त्र ३४
 अपराप्रकृति २१२
 अविगुणिमारी २४२
 अविद्या ७४, १८६, ६७, २१७

अपराविद्या ५, ११
 अवधारणा ५, १०, १७, ३३, ४५, १८१,
 १६४, २६७, २७२
 अष्टधामार्ग २२
 अनुभवातीतसत्ता ३८
 अवतारवाद ८, ८३
 अक्षर १५
 अशोक २४
 अर्जुनदेव १२१
 अभिनवगुप्त २७७
 अथर्ववेद १४
 अहिर्बुध्न्यसहिता २०७
 अमृतानुभव २५६
 असंख्यधर्मिता १७
 अमिमित १७
 अवधूती २७
 अनन्यासक्ति २०७
 अद्वैत-सिद्धान्त २८
 अविनाभाव-सम्बन्ध ४०
 अभिकरण ४५, ४७, ४८
 अशांतिभाव ६६, ८८
 अनुग्रह-पात ७४
 अनुत्तर ७५, २०२
 अकालपुरुष ११४, ११७
 अकालभूरति १२३
 अजूनी १२७
 अकल १४०
 अस्मिताचैतन्य १५२

अव्यय १६	ईशावास्योपनिषद् २१२
आवागमन १६२, २१०, २१६	ईश्वर-सिद्धान्त ११३
आरोहण १६२, २००	उभेष्टमिथ १६
आत्मतत्त्व १७०	उन्मीलन १३५
आलयविज्ञान १८८, २२०	उपान्तरण-सिद्धान्त ४८
आलोकाकाशोन्मुख जीव १८६, २५४	उन्मेष २७८
आरोहणोन्मुख १६६	एकत्वावधारणा ३७
आर० गार्बे ४३, १७५	एकत्ववाद ३७
आधुनिक बौद्धधर्म २८	ए० ई० गफ २७२
आदिग्रन्थ २२४, २३६, २३८, २४४, २४७, २५२, २५५	एडिगटन २७६
आभास-सिद्धान्त २०८	एकाधिदेव १३, १४
आधाराद्येय-सम्बन्ध २१३	एकेश्वर ११६
आभास २१७	एकेश्वरवाद ११३, १४४
आवरण २२३	एकात्मवाद २१४
आत्मस्वातन्त्र्य २२५	ऋत ३७, १६२
आपाभाव २२६, २३१	ऋग्वेद १३
आणवमल ७३	कुन १५२
आत्म-सिद्धान्त ३, १६, ५२, १४५	कुन्हन १६४
आचार्य मध्व २१४, २५६	कणाद १४६
आस्तिक १७	कठसंहिता २७६
आत्म-अवधारणा १८	करुणा-सिद्धान्त २८
आम्नाय १६, २७, २८	कुण्डलिनी-साधना ११७
आर्यसत्त्व २४	कैवल्य २००
आलातचक्र २५	कर्म-विधान १६७
आलयविज्ञान २५	केशकम्बलिन् ६८, १६३, १८५
आत्म-स्वातन्त्र्य २२२	कच्चायन ६८
आत्मविद्या १२१	के० दामोदरन ७८, १७१, १८१
आत्मसाक्षात्कार-सिद्धान्त ६६	कर्म-सिद्धान्त १६१, २२३, २५१
अभिधम्म पिटक १८६	कुण्डलिनी-सिद्धान्त २०४
इन्द्रिय-बोध ३०	कूटस्थ १०७
इच्छा-स्वातन्त्र्य ७७, १३४, १६६, २४४, २५३	काल-धारणा ११०
इच्छा २७०	कुण्डलिनी २०२, २५७, २६५
ईशोपनिषद् १५, १६	कर्तृत्व-भाव २१६
	कंचुक २२६
	कर्म-संस्कार २४७

श्रीडा विलास २७०
 कुदरति २७०
 कपिल ४१
 गौडपादाचार्य २६
 गोरखनाथ ७, २०५, २५६
 गुरुनानक १२१, १३३, २२८, २७०
 गीता ६०
 गुरमत १३१
 गुरपरसादि १३२
 गोप्त-भाव ६४, २१३
 चिदचिद्विशिष्ट ८७, ९७
 चलुल २४२
 छान्दोग्योपनिषद् १५, १६, १६८
 जैकोबी १७, २७२
 जी० धामसन १८५
 जवाहरलाल नेहरू ३४
 जगन्मिथ्या-सिद्धान्त २७१
 जीवन्मुक्ति-सिद्धान्त २१५
 जन्मान्तरवाद १६६
 जेवडी २४६
 जयाख्यसहिता २०७
 जन्मान्तरण १६५
 टायलर १५७
 डी० भट्टाचार्य ३१
 झूसन २७२
 तिरुवकुल ७०
 तात्रिक २३, ८०
 तैत्तिरीयोपनिषद् १७०, २७३
 तैत्तिरीय संहिता २७६
 तुलसीदास २५०
 तुरीयावस्था २४०
 तिरोधान २१७, २५८, २७६
 तिरोभाव २७७
 त्रिक् दशन २७७
 देवतावाद ६, १२, १३०

देवाधिदेव ११, १३, ३६, ३७, २२०,
 २७२
 देवत्वारोपण ११, ३६
 दुर्लभ ६६, १५६
 दासगुप्ता ५६
 द्वैताद्वैतवाद ६६
 द्वैताद्वैत-सिद्धान्त ६५
 दुहागण २३५, २४१, २५०
 धम्मपद २३, ५२
 घाणक २२६
 निर्वैह १२७
 न्याय ५, ७, ३५
 नासदीयसूक्त ११, १४, ३६, १७१, २६६,
 २७३
 नैरात्म्यदेवी २७
 निर्विशेष ६३, ६८, १००
 निरवयव ६३
 निरपेक्ष ६३
 नाम-सिंमरन ११७, १३२
 निमीलन १३५
 निरीश्वरसांख्य १८०
 निर्वाण २३, १८८
 निष्कल २००
 नागार्जुन २६, २८, १८६, १६०
 नगेन्द्रनाथ बसु २८
 निर्विशेषस्वरूप-सिद्धान्त १०५, २१०
 निमित्तोपादानकारण ६१, १०७, ११८,
 १३४
 नूर २४७
 निमीलनोन्मीलन २७८
 निस्तरगता २७८
 निमेष २७८
 निरंजन १३७
 निम्बार्क ६६
 नालटियार ७०

पुरुषसूक्त १५, १६, ३६, ११२, १६४,
१६२
परमसत्ता ६, १०
पुरुषोत्तम-सिद्धान्त ११, १५, १४६
पुरोहितवाद ३०, ४६, ८२
पुरुषोत्तम १५, १६
पतञ्जलि ६, ३०
पुराणकस्सप ३१
पञ्चरात्र २५७
प्राथमिक सत्ता ७
पुद्गल १८, २०
प्रज्ञा ३५
परमसत्ता-सिद्धान्त ३८
परिणमन ५६
प्रकृति-प्रवाह १६८
प्रकृति-सिद्धान्त ३३, ४१, २१६
परमाणु-सिद्धान्त ४२
प्रपत्ति-सिद्धान्त ६४
प्रकृति-विकास ६८
प्रकृति-विकृति-सिद्धान्त ११८
पञ्चस्कन्ध-सिद्धान्त १८७
प्रत्यभिज्ञादर्शन १६६
पुरुष-सिद्धान्त २०६
प्रसवधर्मिता ६५
परिणामी १०३
पुष्टिमार्ग १०७
प्रतीत्यसमुत्पाद १८४, १८६, २२०
प्रतीति २००, २१६
पशु २००
प्रकृति २०१, २७४
पञ्चमकार २०१
प्रस्थानत्रयी २०६, २७१
प्राधानिक सृष्टि २०७
प्रकार २११
प्रकारी २११

पदार्थ-समवाय २२२
परमशिव २५६
परानुरक्ति २५०
पार्श्वनाथ १६, १६
पञ्चस्कन्ध २३
पराविद्या ५, १२८
पतञ्जलि ६, ३०
पुण्यमित्र २४
फेजर ६६, ७६
बहुदेववाद ६, १४४, २६६, २६७
बादरायण ५६, ५७, ५८, ८८, १२६
ब्रह्मसूत्र १२
बौद्धसहजिया ७, २६८
बृहदारण्यकोपनिषद् ६४, १६६, १७०
ब्रह्म १६७
बुद्ध १६, ५६
बृहस्पति २६, ३०, १६३
बी० चट्टोपाध्याय १७५
ब्रह्म-सिद्धान्त ४६, १०६
ब्रह्मपरिणाम-सिद्धान्त १०३
ब्रह्मपरिणामवाद १०४
ब्राह्मीसृष्टि २०७, २२२
बोविसत्त्व २६
भारद्वाज १६४
भौतिकवादी ३, १०
भेदाभेदावस्था ११५
भौतिकवाद १६७
भण्डारकार ८६
भारत की खोज ३४
मिथ्याज्ञान ६
महामाया ६६
माधवाचार्य ३०, ३४, ३५
मैक्समूलर २१, ३०, ५६, २७२
एम० के० वैकटराय अय्यर २७४
मीमांसा ६

माध्यमिक ६, २८, १८६

मूलकारण ६

मध्यम मार्ग ७

महाशक्ति २७८

मूलप्रकृति २७६

महावीर १६, ५६

माया १६७

महामारत ३०, ३३, ३५

महानारायणोपनिषद् ६३

मंत्रायण्युपनिषद् २७३

मायातीत १२१

मनमुख १२१

महायान २६, २८, १८८

महावीर १६, ५६

मणिभद्र २६

मध्वाचार्य ६६

माधवाचार्य १५६

मार्शल ६६, ७८

मक्सलिगोस्साल ३१, ६८, १८५

एम० हिरियन्ना १७७, १८३

माया-सिद्धान्त ५६, ६६, २०१, २७३, २७४

मायावाद २६६

माया-मल ७३

मनमुख २०१, २३३, २३६, २३७, २३६

महाकुण्डलिनी २०२, २५७, २६५

महामाया २०२

महाप्रलय २१०

मायासृष्टि २२२

भृगुमरीचिका २४२

मलावरण २४८

महद्योनि २७४

यदुच्छावाद ३३, १४८, १८७

योग ५, ७, ३५

योगाचार २६, १८८, १८६

राधाकृष्णन १६३, २७१

रामायण ३०, ३३, ३५

रक्षा-सिद्धान्त २४५

राहुल साकृत्यायन २३

रामानुज ८७, ६३, २१४, २५६

लीला २८

विश्वचैतन्य २०२

विजातीय २०८, २१४

विभु २१७

विचोला २३०

विस्मादावस्था २३४

वागोभूत्वा २६४

वत्सल १०६, २१४

व्यक्तिस्वारोपण १६१

विश्वात्मतत्त्व १७०

विश्वचैतन्य २०२

व्यूहावतार २०८

वैरोपिक ५, ३५

वर्धमान १६

वेदान्त ६

वैष्णव सहजिया ७, २६८

विष्णुपुराण २०६

विज्ञानवाद २५

विज्ञान २८, २५४

वाहगुरु ११४, १२७, १३७, १३६, २३६, २५४

वैभाषिक २६

वज्रयान २६, २८, २६८

विद्याग्न्यस्वामी १६८

वात्स्यायन १८३

व्यूह-सिद्धान्त २५७

विमर्श ७

वीरशैव ७६

विशेष्य-विशेषण भाव ६२

विचर्तवाद १०४

भातिरक्षित ३०
 शकराचार्य ५७, ६०, ८७, २१३, २७६
 श्रेष्ठ २०६
 श्वेताश्वतरोपनिषद् १५, १६८, २१२
 शारदातिलकसार २०४
 शिवदृष्टि २७७
 शून्यता २६, २८
 शून्य २८
 शाश्वतमुक्त १८६
 शून्य-अवधारणा १८६
 श्री निवासाचारी २०६
 शुद्धाद्वैत १०४, १५१, २५८
 शक्ति-सिद्धान्त २०२
 शून्यवाद २०६, २६६
 शुद्धमृष्टि २०७
 शक्ति-स्वातन्त्र्य २२४
 शब्द २३०, २४६
 शुद्धसवित् २७७
 सांख्य ५, ७, ३५
 सतज्ञानेश्वर २५६
 सांख्यकारिका १७४, १७५
 सांख्य प्रवचनसूत्र १७६
 समवाय १८, ४३
 सिद्धशील २०
 संवृत्तिमय २५
 सात्कार्यवाद ४१, ६२, १४८, १७५
 स्थितिक ४५, ४७
 सेखरसार १८०
 सुषुम्ना-मार्ग २०२

सोमानन्द ७०
 सविशेषब्रह्म-सिद्धान्त ६४
 सघात-सिद्धान्त १८७
 सृष्टि-सिद्धान्त २७३
 सति ११६
 सूक्ष्मवेद १३६
 सकल १४०
 सर्वात्मवाद १५८, १७२
 सतति १८७
 सर्वास्तिवाद १८८
 सौत्रातिक २६
 सहजयान २७ २८
 स्तचेर्बात्स्की १७५
 सृष्टि-सिद्धान्त २७३
 सजातीय २०८, २१४
 सुहागिन २२६, २३१, २५०
 सिद्धशील २५४
 सहस्रार २६५
 सिद्धसिद्धान्त-पद्धति २५६
 समीकृत ३
 हिरियम्ना ३१
 हठमभाव १३२, २४३
 हरिदास भट्टाचार्य १७७
 हुकम-सिद्धान्त २४६
 हृदय-कवल २३१
 हुकम २७०
 हेतुविद्या १८१
 हरिभद्र २६

